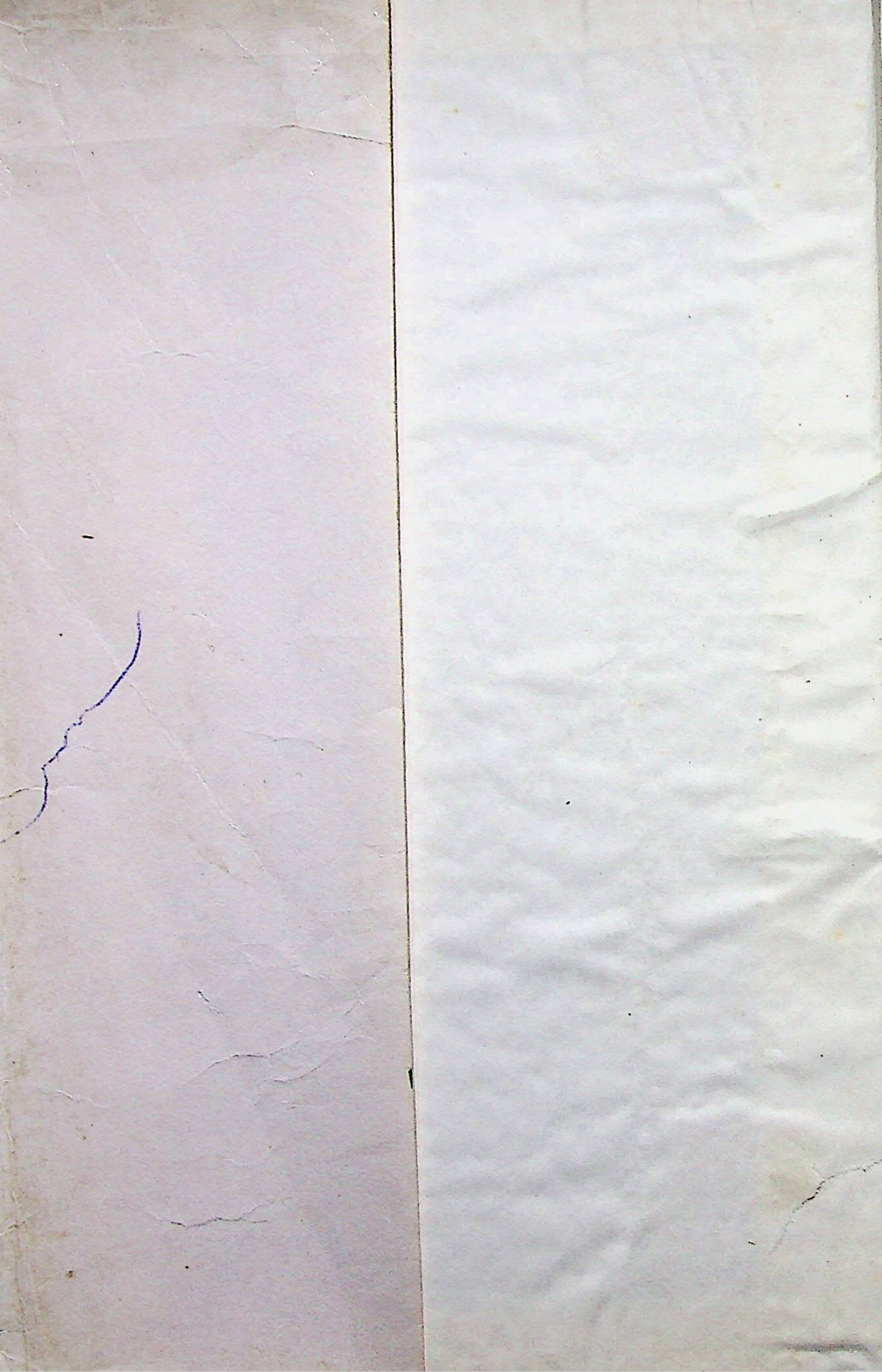
श्री मद्राजानककुन्तकविरचितं

वक्रोक्तिजीवितम्

सटिप्पण 'प्रकाश' हिन्दीव्याख्योपेतम्

व्याख्याकारः
श्री राधेश्याम मिश्र

चौखम्भा संस्कृत संस्थान
पो. बॉ. नं. 1139, वाराणसी



।। श्रीः ।।

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला

१८०



श्री मद्राजानककुन्तकविरचितं

वक्रोक्तिजीवितम्

सटिप्पण 'प्रकाश' हिन्दीव्याख्योपेतम्

व्याख्याकार :

श्री राधेश्याम मिश्र, एम० ए०



चौखम्भा संस्कृत संस्थान

भारतीय सांस्कृतिक साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक

पो० बा० नं. ११३९

के. ३७/११६, गोपाल मन्दिर लेन (गोलघर समीप मैदागिन)

वाराणसी - २२१ ००१ (भारत)

प्रकाशक : चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी
मुद्रक : चारू प्रिन्टर्स, वाराणसी
संस्करण : पंचम्, वि० सं० २०५९
मूल्य : प्रथम उन्मेष रु. ६०.००
द्वितीय उन्मेष रु. ४०.००
१-२ उन्मेष रु. १००.००
रु. २५०.०० सम्पूर्ण

फोन : ३३३४४५

शाखायें :

चौखम्भा संस्कृत भवन
पोस्ट बाक्स नं० ११६०
चौक, (दि बनारस स्टेट बैंक बिल्डिंग)
वाराणसी-२२१ ००१ (भारत)
फोन : ३२०४१४

चौखम्भा पब्लिकेशन्स
४२६२/३ अंसारी रोड, दरियागंज
नई दिल्ली-११०००२
फोन: ३२६८६३९, ३२५९०५०
E-mail : chaukhambha@mantraonline.com.

THE
KASHI SANSKRIT SERIES
180



VAKROKTIJĪVITA

OF

RĀJĀNAKA KUNTAKA

Edited with
The 'Prakāśa' Hindi Commentary

By
ŚRĪ RĀDHEŚYĀMA MIŚRA, M. A.,

CHAUKHAMBHA SANSKRIT SANSTHAN
Publishers and Distributors of Oriental Cultural Literature
Post Box No. 1139
K. 37 / 116, Gopal Mandir Lane (Golghar Near Maidagin)
VARANASI - 221001

Phone : 333445

Fifth Edition : 2001

Branches :-

CHAUKHAMBHA SANSKRIT BHAWAN
Post Box No. 1160
CHOWK (The Benaras State Bank Bldg.)
VARANASI - 221001
Phone : 320414

CHAUKHAMBHA PUBLICATIONS
4262/3, Ansari Road, Darya Ganj
New Delhi-110002
Phone : 3268639, 3259050
E-mail : chaukhambha@mantraonline.com.

जिनके

श्रीचरणों में बैठकर

साहित्य शास्त्र का अध्ययन किया

उन्हीं परम श्रद्धेय गुरुवर,

साहित्याचार्य, साहित्यरत्न

डॉ० लालरमायदुपाल सिंह जी,

एम० ए०, डी० फिल०,

के

कर कमलों

में

सादर सविनय

समर्पित



भूमिका

कुन्तक का काल

आचार्य कुन्तक का एकमात्र ग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवित' उपलब्ध होता है जो कि अपूर्ण एवं खण्डित है। अतः ग्रन्थकार ने ग्रन्थ की समाप्ति पर रचनाकाल इत्यादि का निर्देश किया था या नहीं, यह पता नही चल पाता। ग्रन्थ के आरंभ में ग्रन्थकार का अपने विषय में कोई निर्देश नहीं है। अतः कुन्तक के काल-निर्धारण में उनकी पूर्व सीमा का निश्चय उनके ग्रन्थ में उद्धृत कवियों अथवा आचार्यों के नामों एवं उनके ग्रन्थों से उद्धृत उदाहरणों के आधार पर तथा उत्तर सीमा का निर्धारण उनके परवर्ती ग्रन्थों में उनके विषय में किए गए उल्लेखों से करना होगा।

कुन्तक के काल की पूर्वसीमा

(१) आचार्य कुन्तक ने अपने ग्रन्थ में 'ध्वन्यालोक' की अधोलिखित कारिका उद्धृत की है—

'ननु कैश्चित् प्रतीयमानं वस्तु ललनालावण्यसाम्याल्लावण्यमित्युपपादित-मिति—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु॥'[1]

साथ ही रसवदलङ्कार के खण्डन के प्रसङ्ग में उन्होंने एक अन्य कारिका—

'प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गन्तु रसादयः।
काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः॥'[2]

उद्धृत कर उसकी वृत्ति में उद्धृत 'क्षिप्तो हस्तावलग्नः'[3] इत्यादि तथा 'किं हास्येन न मे प्रयास्यसि'[4] आदि उदाहरणों को उद्धृत कर उनका खण्डन किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अन्य कई स्थलों पर ध्वन्यालोक के वृत्तिभाग से उदाहरणादि प्रस्तुत किए हैं। उदाहरणार्थ 'क्रियावैचि-त्र्यवक्रता' के एक

---

१. ध्वन्या० १।४ उद्धृत व० जी० पृ०, १२०।
२. ध्वन्या० २।५ उद्धृत व० जी पृ० ३१८।
३. उद्धृत ध्वन्या०, पृ० १०५-६ तथा व० जी० पृ० ३१९।
४. उद्धृत वही, पृ० १९३ तथा व० जी० पृ० ३२०।

उदाहरण रूप में उन्होंने ध्वन्यालोक वृत्ति के मङ्गलश्लोक—'स्वेच्छाकेसरिणः'[1] इत्यादि को उद्धृत किया है। इससे स्पष्ट है कि कुन्तक ध्वन्यालोक के कारिकांश एवं वृत्त्यंश दोनों से पूर्णतः परिचित थे। अतः इसमें संशय नहीं रह जाता कि वे आनन्दवर्द्धन के परवर्ती थे।

(२) वैसे तो उद्धरण उन्होंने राजशेखर विरचित 'विद्धशालभञ्जिका' आदि से भी दिए हैं किन्तु नामोल्लेखपूर्वक 'प्रकरणान्तर्गतस्मृतप्रकरणरूप' प्रकरणवक्रता का उदाहरण देते हुए 'बालरामायण' से उद्धरण प्रस्तुत किया है—

'यथा बालरामायणे चतुर्थेऽङ्के लङ्केश्वरानुकारी नटः प्रहस्तानुकारिणा नटेनानुवर्त्यमानः—

कर्पूर इव दग्धोऽपि शक्तिमान यो जने जने।
नमः शृङ्गारबीजाय तस्मै कुसुमधन्वने॥'

इतना ही नहीं, राजशेखर का एक विचित्रमार्गानुयायी कवि के रूप में नाम्ना निर्देश भी किया है—

'तथैव च विचित्रवक्रत्वविजृम्भितं हर्षचरिते प्राचुर्येण भट्टबाणस्य विभाव्यते। भवभूतिराजशेखरविरचितेषु बन्धसौन्दर्यसुभगेषु मुक्तकेषु परिदृश्यते।'[2]

इस विषय में कोई संशय नहीं किया जा सकता कि दोनों आचार्यों में राजशेखर ही परवर्ती थे। वे स्पष्ट रूप से आनन्द का नाम्ना निर्देश करते हैं—

'प्रतिभाव्युत्पत्त्योः प्रतीभा श्रेयसीत्यानन्दः। सा हि कवेरव्युत्पत्तिकृतं दोषमशेषमाच्छादयति। तदाह—

अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कविः।
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य झगित्येवावभासते॥'[3]

अतः निश्चित रूप से कुन्तक के काल की पूर्वसीमा राजशेखर के काल के बाद निर्धारित होती है।

राजशेखर का काल

राजशेखर अपने तीन रूपों—'विद्धशालभञ्जिका', 'कर्पूरमञ्जरी' तथा 'बालभारत' में अपने को महेन्द्रपाल का गुरु बताया है—

(क) 'रघुकुलतिलको महेन्द्रपालः सकलकलानिलयः स यस्य शिष्यः।'[4]

(ख) 'रहुउलचूडामणियो महिन्दवालस्स को अ गुरु।'[5]

---

१. ध्वन्या० पृ० ४, उद्धृत व० जी० पृ० ७८।

२. व० जी० पृ० ११५।

३. का० मी० पृ० ७५-७६।

४. विद्धशालभञ्जिका १।६।

५. कर्पूरमंजरी १।५।

(ग) 'देवो यस्य महेन्द्रपालनृपतिः शिष्योः रघुग्रामणीः ।'[1]

इसके अतिरिक्त राजशेखर ने अपने को बालरामायण में 'निर्भयगुरुः,'[2] तथा कर्पूरमञ्जरी में 'बालकई कइराओ णिब्भरराअस्स तह उवज्झाओ'[3] कहकर अपने को 'निर्भयराज' का गुरु बताया है। पिशेल महोदय ने निर्भयराज और महेन्द्रपाल को एक सिद्ध किया है। इस महेन्द्रपाल का पुत्र था महीपाल जो आर्यावर्त का सम्राट था। उसका उल्लेख राजशेखर ने बालभारत में इस प्रकार किया है–

'तेन (महीपालदेवेन) च रघुवंशमुक्तामणिनाऽऽर्यावर्त्तमहाराजाधिराजेन श्रीनिर्भयनरेन्द्रनन्दनेनाराधिताः सभासदः' इत्यादि।[4]

फ्लीट महोदय ने इन महीपाल को 'अस्नीशिलालेख' के राजा महीपाल से अभिन्न सिद्ध किया है। इस शिलालेख का काल विक्रम संवत् ९७४ अर्थात् ९१७ ईसवी है। साथ ही पिशेल तथा फ्लीट महोदय ने यह भी निर्देश किया है कि राजशेखर के एक रूपक 'बालभारत' की रचना 'महोदय' नामक स्थान में हुई थी जिसे उन्होंने कान्यकुब्ज अथवा कन्नौज से अभिन्न सिद्ध किया है। वहीं पर राजा महेन्द्रपाल एवं उनके पुत्र महीपाल ने राज्य किया था। 'सियाडोनी' शिलालेख के अनुसार महेन्द्रपाल का काल ९०३–९०७ ईसवी तथा महीपाल का काल ९१७ ईसवी है। अतः राजशेखर का काल, यदि यह भी स्वीकार कर लिया जाय कि ९०३ ई० में जब कि महेन्द्रपाल कन्नौज के सम्राट् थे उस समय उनकी अवस्था ४० वर्ष भी रही होगी, तो सरलता से ८६० ई० के बाद स्वीकार कर सकते हैं। अतः राजशेखर का समय निश्चित रूप से ८६० तथा ९३० ई० के मध्य निर्धारित किया जा सकता है। और इस प्रकार कुन्तक के काल की पूर्व-सीमा ९२० या २५ ई० के बाद ही निश्चित होती है।

कुन्तक के काल की उत्तरसीमा

कुन्तक का नाम्ना निर्देश महिमभट्ट के 'व्यक्तिविवेक', विद्याधर की 'एकावली', नरेन्द्रप्रभसूरि के 'अलङ्कारमहोदधि' तथा सोमेश्वर की 'काव्यप्रकाशटीका' में किया गया है।

---

१. बालभारत १।११। २. बालरामायण १।५।

३. कर्पूरमंजरी १।९। ४. बालभारत, पृ० २।

५. जैसा कि डॉ० काणे ने अपने ग्रन्थ H. S. P. में पृ० २२६ एवं उसी पृष्ठ पर पादटिप्पणी सं० १ में निर्देश किया है कि—'सोमेश्वर (folio 7 a) सुकुमारेति यत्कुन्तकः—

सन्ति तत्र त्रयो मार्गाः कवि प्रस्थानहेतवः।
सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चोभयात्मकः॥"

(क) 'काव्यकाञ्चनकषाश्ममानिना कुन्तकेन निजकाव्यलक्ष्मणि।
यस्य सर्वनिरवद्यतोदिता श्लोक एष स निर्दिशतो मया॥'[१]

(ख) 'एतेन यत्र कुन्तकेन भक्तावन्तर्भावितो ध्वनिस्तदपि प्रत्याख्यातम्'।[२]

(ग) 'माधुर्यं सुकुमाराभिधमोजो विचित्राभिधं तदुभयमिश्रत्वसम्भवं मध्यमं नाम मार्ग केऽपि बुधा कुन्तु (न्त) कादयोऽवदवुक्तपन्तः। यदाहुः—

सन्ति तत्र त्रयो मार्गाः कविप्रस्थानहेतवः।
सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चोभयात्मकः॥'[३]

निश्चय ही इन ग्रंथकारों में प्राचोनतम महिमभट्ट हैं जिसको स्वीकार करने में विद्वानों को कोई आपत्ति नहीं है। और इसे भा स्वीकार करने में विद्वानों में दो मत नहीं हैं कि कुन्तक महिमभट्ट के पूर्ववर्ती थे।

कुन्तक तथा अभिनवगुप्त

कुन्तक और अभिनवगुप्त में कौन पूर्ववर्ती था और कौन परवर्ती, इस विषय में विद्वानों में बड़ा मतभेद है जब कि कुन्तक के कालनिर्धारण का इससे घनिष्ट सम्बन्ध है। अतः इस समस्या को सुलझाना परमावश्यक है। डॉ० मुकर्जी तथा डॉ० लाहिरो ने कुन्तक को अभिनव का पूर्ववर्ती स्वीकार किया है और यह माना है कि अभिनव कुन्तक के 'वक्रोक्तिजिवित' से भलोभाँति परिचित थे और अच्छी तरह जानते हुए उन्होंने भरत के लक्षण की कुन्तक की वक्रोक्ति के साथ समानता सिद्ध का।[४]

---

१. व्यक्तिविवेक २।२९।   २. एकावली पृ० ५१।

३. अलं० महो०, पृ० २०१-२०२।

४. डॉ लाहिरी का कथन है—

The terms expressions used by Abhinava are undoubtedly those of Kuntaka and this makes it highly probable that the Vakroktijīvita appeared earlier than the Abhinavabhāratī and Abhinava quite consciously identified (Bharata's) Laksana with Kuntaka's Vakrokti.

'Concept of Rīti and Guṇa'—P. 19.

डॉ० मुकर्जी का निबन्ध हमें प्राप्त नहीं हो सका। अतः उनके तर्कों के विषय में कुछ निश्चित नहीं कहा जा सकता। डॉ० काणे का कथन—

'Dr. Mookerji in B. C. Law Vol. I at p. 183 says the same thing what Dr. Lahiri said." H. S. P.-235. [Contd.]

डॉ० लाहिरी और डॉ० मुखर्जी का यह अभिमत पूर्णतः सत्य है। वस्तुतः कुन्तक के वक्रोक्ति सिद्धान्त का सरलता से प्रत्याख्यान करना असम्भव था अतः अभिनव ने उसका अन्तर्भाव भरत के लक्षणों में कर देने का प्रयास किया। अभिनव के लक्षणविवेचन के अतिरिक्त अन्य भी कुछ ऐसी बातें हैं जो अभिनव को कुन्तक का परिवर्ती सिद्ध करती है, यहाँ उन्हीं पर विचार किया जा रहा है—

(१) आचार्य आनन्दवर्द्धन ने ध्वन्यालोकवृत्ति में प्रतीयमान रूपक के उदाहरण रूप में 'प्राप्तश्रीरेव कस्मात्' आदि श्लोक उद्धृत किया है।[1] कुन्तक ने इसे ही 'प्रतीयमानव्यतिरेक' के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया हे किन्तु उन्होंने आनन्द के मत को भी बड़ी श्रद्धा के साथ इन शब्दों में व्यक्त किया है—

'तत्त्वाध्यारोपणात् प्रतीयमानतया रूपकमेव पूर्वसूरिभिराम्नातम्।'[2]

इसी श्लोक की व्याख्या करते हुए अभिनव ने कहा हैं—

'यद्यपि चात्र व्यतिरेको भाति तथाऽपि स पूर्ववासुदेवस्वरूपात् नायतनात्।'[3]

क्या अभिनव का यह कथन कुन्तक के अभिमत की ओर इङ्गित नहीं करता?

(२) समान वाचकों में से किसी एक के ही चारुतावैशिष्ट्य का प्रतिपादन करते हुए अभिनव ने कहा है—

'तटी तारं ताम्यति। इत्यत्र तटशब्दस्य पुंस्त्वनपुंसकत्वे अनादृत्य स्त्रीत्वमेवाश्रितं सहृदयैः—'स्त्रीति नामापि मधुरम्' इति कृत्वा। अभिनव का यह कथन निश्चित रूप से कुन्कक ने 'नामैव स्त्रीति पेशलम्' कारिकांश और उसकी वृत्ति का अनुवादमात्र है। कुन्तक के लिङ्गवैचित्र्यवक्रता का निरूपण करते हुए कहा है—

सति लिङ्गान्तरे यत्र स्त्रीलिङ्गञ्च प्रयुज्यते।
शोभानिष्पत्तये यस्मान्नामैव स्त्रीति पेशलम्॥

इसके उदाहरण रूप में उन्होंने 'तटी तारं ताम्यति' आदि श्लोक उद्धृत कर उसकी व्याख्या में कहा है—

सम्भवतः डॉ० मुकर्जी ने यह बताया था कि लोचन में कुछ स्थलों पर कुन्तक की बात का निर्देश किया गया है, जैसा कि डॉ० काणे के इस कथन से स्पष्ट है—

'Dr. Mookerji is not at all right in thinking that the Locana alludes to Kuntaka (B. C. Law Vol. I. P. 183). This is no evidence worth the name to prove this or events make the inference very probable" —H. S. P. (P. 188–189).

१. द्रष्टव्य ध्वन्या०, पृ० २६१–२६२। २. व० जी०, पृ० ३८९।
३. लोचन, पृ० २६२। ४. वही, पृ० ३५९।

'अत्र त्रिलिङ्गत्वे सत्यपि ,तट' शब्दस्य, सौकुमार्यात् स्त्रीलिङ्गमेव प्रयुक्त।'[१]

(३) इतना ही नहीं, कुन्तक की वक्रताओं की ओर अभिनवभारती में उन्होंने स्पष्ट निर्देश भी किया है। अभिनवभारती में नाम, आख्यात, उपसर्ग आदि की विचित्रता का प्रतिपादन करते हुए विभक्तिवैचित्र्य की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा है—

"विभक्तयः सुप्तिङ्वचनानि तैः कारकशक्तयो लिङ्गाद्युपग्रहाश्चोपलक्ष्यन्ते। यथा 'पाण्डिम्नि मग्नं वपुः। इति वपुष्येव मज्जनकर्तृकत्वं तदायत्तां पाण्डिम्नश्चाधारतां गदस्थानीयतां द्योतयन्तीव रञ्जयति न तु पाण्डुस्वभावं वपुरिति। एवं कारकान्तरेषु वाच्यम्। वचनं यथा 'पाण्डवा यस्य दासाः' सर्वे च पृथक् चेत्यर्थ तथा वैचित्र्येण 'त्वं हि रामस्य दाराः।' एतदेवोपजीव्यानन्दवर्द्धनाचार्येणोक्त 'सुप्तिङ्वचनेत्यादि।' अन्यैरपि सुबादिवक्रता।[२]

यहाँ 'अन्यैः' के द्वारा स्पष्ट ही कुन्तक की ओर निर्देश किया गया है। 'मैथिली तस्य दाराः' और 'पाण्डिम्नि मग्नं वपुः' आदि उदाहरणों को कुन्तक ने भी संख्या तथा वृत्तिवक्रता के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। ऐसा न स्वीकार करने का कोई समुचित कारण भी नहीं है। क्योंकि परवर्ती ग्रन्थों एवं ग्रन्थकारों के उल्लेख से सुवादि वक्रताओं का विवेचन करने वाला कुन्तक के अलावा कोई दूसरा आचार्य उल्लिखित नहीं है। वक्रोक्तिवादी के रूप में आचार्य कुन्तक ही प्रसिद्ध हैं। महिमभट्ट ने इन्हीं की वक्रताओं और आनन्द की ध्वनियों को एकरूप कहा है। साहित्यमीमांसाकार ने—

ध्वनिवर्णपदार्थेषु वाक्ये प्रकरणे तथा।
प्रबन्धेऽप्याहुराचार्याः केचिद् वक्रत्वमाहिमतम्॥[३]

कहकर षड्विध वक्रताओं का प्रतिपादन करने वाली कुन्तक की ही कारिकाओं को उद्धृत किया है, किसी अन्य आचार्य की नहीं, जब कि 'ध्वनिवक्रता' का विवेचन कुन्तक ने नहीं किया। यदि ध्वनिवक्रता की उद्भावना स्वयं साहित्यमीमांसाकार की न होती तो कम से कम उसके समर्थन में तो किसी अन्य आचार्य का उदाहरण देते। अतः निश्चित ही यहाँ सन्देह के लिये कोई स्थान नहीं है किन्तु जिसे सन्देह करने की आदत ही पड़ जाय उसका क्या उपाय? क्योंकि सन्देह तो किसी भी विषय में आसानी से किया जा सकता है। कुन्तक को अभिनव का पूर्ववर्ती न स्वीकार करनेवाले विद्वान हैं— डॉ० शंकरन[४]

---

१. व० जी० २।२२ तथा वृत्ति। २. अभि० भा०, पृ० २२७-२२९।
३. सा० मी०, पृ० ११५। ४. द्रष्टव्य Some Aspects-pp. ?

डॉ० डे[1], डॉ० राघवन[2] तथा भारतरत्न म० म० डॉ० काणे महोदय[3]। डॉ० शंकरन का तर्क है कि 'अभिनवगुप्त ने जो 'अन्यैरपि सुबादिवक्रता' में 'अन्यैः' कहा है, वह कुन्तक के लिए ही कहा गया है ऐसा हम इस लिए नहीं स्वीकार कर सकते क्योंकि वक्रोक्तिजीवित में हमें 'सुबादिवक्रता' शब्दों से कोई कारिका नहीं प्राप्त होती।[4]

निश्चित ही डॉ० साहब का यह कथन बहुत विचार के अनन्तर कहा गया प्रतीत नहीं होता क्योंकि जैसा अगले विवेचन से स्पष्ट होगा अभिनव ने 'सुबादिवक्रता' के द्वारा किसी कारिका के आरम्भ की ओर निर्देश नहीं किया बल्कि विषय की ओर किया है। अभिनव उक्त स्थल पर नाटयशास्त्र की—'नामाख्यातनिपातोपसर्ग०' (ना० शा० १४।४) आदि कारिका में आये हुए विभक्ति पद की व्याख्या कर रहे हैं। स्पष्ट रूप से उनका विवेचन यहाँ आनन्द से प्रभावित है। इसीलिए उन्होंने—'विभक्तयः सुप्तिङ्वचनानि' इस प्रकार व्याख्या प्रस्तुत की है। अतः इनके उदाहरणों को प्रस्तुत करने के अनन्तर उन्होंने कहा—

'एतदेवोपजीव्यानन्दवर्द्धनाचार्येणोक्तं—सुप्तिङ्वचनेत्यादि।'

यहाँ स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि उनका निर्देश आनन्द की, 'सुप्तिङ्वचनसम्बन्धैस्तथा कारकशक्तिभिः।' (ध्वन्या० ३।१६) आदि कारिका की ओर है। परन्तु यदि उन्हें 'वक्रोक्तिजीवित' में भी सुबादिवक्रता' इत्यादि किसी कारिका की ओर निर्देश करना होता तो वहाँ भी कहते—अन्यैरपि सुबादिवक्रतेत्यादि।' किन्तु ऐसा न कहकर उन्होंने जो केवल सुबादिवक्रता कहा, उसका आशय सुस्पष्ट है कि वहाँ उनका संकेत किसी कारिका की ओर नहीं बल्कि विवेचन मात्र की ओर है। जिसे आनन्द ने सुबादिध्वनि कहा है उसे ही दूसरों ने सुबादि-

---

१. द्रष्टव्य Introduction to V. J. (pp. XIV—XV) यद्यपि डॉक्टर साहब स्वयं कुछ दबी जबान से कुन्तक की ऊपर उद्धृत 'नामैव स्त्रीति पेशलम्' कारिका तथा उदाहरण 'तटी तारं' और उसकी व्याख्या के सम्बन्ध में V. J. पृ० ११४ पर पाद टिप्पणी में ऊपर उद्धृत अभिनव गुप्त की 'तटी तारं ताम्यति' आदि व्याख्या को उद्धृत कर कहते हैं—'It is possible that this is a reminiscence of Kuntaka's Kārikā and its illustation.'

२. द्रष्टव्य Some Concepts पृ० २३५ और Sr. Pra. p. 117.

३. द्रष्टव्य H. S. P. (p. 236).

४. 'But nowhere in the Vakroktijivita do we find any Kārikā with the words सुबादिवक्रता', Some Aspect. ?

वक्रता कहा है। अतः डॉ० साहब की यह धारणा कि 'वक्रोक्तिजीवित' की सुबादिवक्रता से आरम्भ होने वाली कोई कारिका होनी चाहिये पूर्णतया भ्रान्तिमूलक है। अतः इस आधार पर यह स्वीकार कर लेना कि अभिनव ने कुन्तक की बात का उल्लेख न कर किसी अन्य के अभिमत को प्रस्तुत किया है—समीचीन नहीं है।

(४) इनके अतिरिक्त रुय्यक ने 'अलङ्कारसर्वस्व' में ध्वनि के विषय में विभिन्न आचार्यों के अभिमतों का उल्लेख करते हुए पहले वक्रोक्तिजीवितकार और भट्टनायक के मतों का उल्लेखकर ध्वनिकार का मत बताया है और उसके बाद व्यक्तिविवेककार का मत प्रतिपादित किया है।[1] इस विषय में कालानुक्रम का निर्देश करते हुए जयरथ ने कहा है—'ध्वनिकारान्तरभावी व्यक्तिविवेककार इति तन्मतमिह पश्चान्निर्दिष्टम्। यद्यपि वक्रोक्तिजीवितहृदयदर्पणकारावपि ध्वनिकारान्तरभाविनावेव, तथापि तौ चिरन्तनमतानुयायिनावेवेति तन्मतं पूर्वमेवोद्दिष्टम्।'[2] रुय्यक और जयरथ द्वारा यहाँ वक्रोक्तिजीवितकार का हृदयदर्पणकार के पूर्व उल्लेख भी इस बात का समर्थक है कि या तो कुन्तक भट्टनायक के भी पूर्ववर्ती थे अथवा उनके समसामयिक थे। और इससे भी कुन्तक की अभिनव से पूर्ववर्तिता ही सिद्ध होती है।

आचार्य अभिनव तथा कुन्तक का कालनिर्धारण

जैसा कि अभिनव के अपने तीन ग्रन्थों में दिए गए काल के आधार पर डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने अपने शोधप्रबन्ध 'अभिनगुप्त' में उनका साहित्यिक कृतित्वकाल ९९०–९१ ईसवी से १०१४–१५ ईसवी तक निर्धारित कर उनका जन्मकाल ९५० और ९६० ई० के बीच निर्धारित किया है, स्पष्ट रूप से उसके २५ या ३० वर्ष पूर्व भी कुन्तक का जन्मकाल मान लिया जाय तो उनका जन्म समय लगभग ९२५ ईसवी के आसपास स्वीकार किया जा सकता है। साथ ही इस काल का पौर्वापर्य राजशेखर के काल से भी पूर्ण सामञ्जस्य रखता है। जैसा कि रचनाक्रम महामहोपाध्याय डॉ० मिराशी ने निर्धारित किया है उसके अनुसार 'बालरामायण' का रचनाकाल ९१० ई० के आस-पास ही पड़ेगा। क्योंकि सबसे पहली रचना मिराशीजी ने 'बालरामायण' को ही स्वीकार किया है। तदनन्तर बालभारत, कर्पूरमञ्जरी, विद्धशालभञ्जिका और काव्यमीमांसा

१. द्रष्टव्य अलं० स० पृ० ९—१६।

२. विमर्शिनी पृ० २१५।

का रचनाकाल स्वीकार किया है।[१] जैसा कि पीछे उल्लेख किया जा चुका है सियाडोनी शिलालेख के अनुसार निश्चित रूप से 'महीपाल' गद्दी पर बैठ गया होगा और इस तरह 'बालभारत' का रचनाकाल ९१५ ई० के आसपास मान लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। इसके बाद यदि दो-दो वर्ष के व्यवधान से भी एक-एक ग्रन्थ का रचनाकाल निर्धारित किया जाय तो काव्यमीमांसा का रचनाकाल ९२० ई० के आस-पास होगा। और इस ढंग से यदि कुन्तक का कृतित्वकाल उनकी २५ वर्ष की अवस्था के बाद ९५० के बाद से भी माना जाय तो ४०-५० वर्षों में बालरामायणदि का अत्यधिक प्रसिद्ध हो जाना असम्भव नहीं। अतः कुन्तक का कृतित्वकाल दशम शताब्दी के उत्तरार्द्ध का प्रारम्भ मानना ही उचित है। जो कि अभिनव कृतित्वकाल से भी सामञ्जस्य रखता है। २५ या ३० वर्षों में 'वक्रोक्तिजीवित' का सहृदय-समाज में प्रसिद्ध हो जाना असम्भव नहीं।

ग्रन्थ का प्रतिपाद्य

वर्तमान समय में जो वक्रोक्तिजीवित उपलब्ध है उनमें चार उन्मेष हैं। इन चार उन्मेषों में भी चतुर्थ उन्मेष असमाप्त है जैसा कि पाण्डुलिपि के विषय में डॉ० डे ने निर्देश किया है—

"There is no Colophon to this chapter but the scribe marks—असमाप्तोऽयं ग्रन्थः"— v. j. p. 246

परन्तु ग्रन्थ के विवेच्य विषय पर ध्यान देने से यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि ग्रन्थ या तो समाप्त ही है अथवा दो-तीन कारिकायें और भी अवशिष्ट हैं, इससे अधिक नहीं। डॉ० डे ने जो पं० रामकृष्ण कवि द्वारा संकेतित अध्यापक जी के पास पाँच उन्मेषों के वक्रोक्तिजीवित की चर्चा (व० जी० भूमिका पृ० ६) की है वह सत्य से कोसों दूर जान पड़ती है। अतः प्राप्त ग्रन्थ के आधार पर जो क्रम से विवेचन प्रस्तुत किया जा सकता है उसे हम प्रस्तुत करेंगे।

वर्तमान वक्रोक्तिजीवित के तीन भाग मिलते हैं—१ कारिकाभाग, २. वृत्तिभाग, ३. उदाहरणभाग। सम्भवतः कुन्तक ने पहले कारिकाएँ लिख कर उनकी व्याख्या, उन पर वृत्ति और उदाहरण प्रस्तुत किए हैं।

---

१. I would place the works of Rājaśekhara chronologically as follows—1. The Bālarāmāyaṇa, 2. The Bālabhārata, 3. The Kāvyamañjarī, 4. The viddhaśālabhañjikā and 5. The Kāvyamīmāṁsā. —Studies in Indology, vol I. p.

कुन्तक प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के अनुयायी थे

ग्रन्थ के आरम्भ में वृत्तिभाग का प्रारम्भ कुन्तक शिव की वंदना करते हुए करते हैं--उनके शिव शक्तिपरिस्पन्दमात्रोपकरण वाले हैं--

जगत्त्रितयवैचित्र्यचित्रकर्मविधायिनम् । शिवं शक्तिपरिस्पन्दमात्रोपकरणं नमः ।

प्रत्यभिज्ञादर्शन में शिव को ही एकमात्र परम तत्व स्वीकार किया गया है। इस सम्पूर्ण जगत्प्रपञ्च की रचना करने के लिए केवल उनकी शक्ति का परस्पन्द ही पर्याप्त है। उन्हें किसी अन्य उपकरण की आवश्यकता नहीं पड़ती। शक्ति और शक्तिमान शिव में पूर्ण अभेद है। इसी बात को कुन्तक मार्गों का विवेचन करते समय स्वयं कहते हैं--'शक्तिशक्तिमतोरभेदात्' (पृ० ९९)। साथ ही उनके ग्रन्थ में आये हुए अनेक प्रयोगों से यह बात स्पष्ट होती है कि वे प्रत्यभिज्ञादर्शन के अनुयायी थे। इसका और विवेचन हम आगे करेंगे।

इसके अनन्तर कुन्तक प्रथम कारिका में वाग्रूपा सरस्वती की वन्दना प्रस्तुत करते हैं।

ग्रन्थ का अभिधान, अभिधेय और प्रयोजन

अभिधान--सरस्वती की वन्दना के अनन्तर ग्रन्थकार द्वितीय कारिका--

लोकोत्तरचमत्कारकारिवैचित्र्यसिद्धये ।
काव्यस्यायमलङ्कारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते ॥

के द्वारा अभिधानादि का प्रतिपादन करते हैं।

इस कारिका एवं इसके वृत्तिभाग ने महामहोपाध्याय डॉ० काणे आदि को इस निष्कर्ष पर पहुँचाया है कि कुन्तक ने कारिकाभाग का नाम काव्यालङ्कार और वृत्तिभाग का नाम वक्रोक्तिजीवित रखा था।

"It appears that कुन्तक meant the Kārikās alone to be called काव्यालङ्कार as the Kārikā of the first उन्मेष states 'लोकोत्तर' (इत्यादि). The वृत्ति on this says ननु च सन्ति चिरन्तनास्तदलङ्काराास्तत्किमर्थमित्याह- अपूर्वः तद्व्यतिरिक्तार्थाभिधायी । ··· ··· कोऽपि अलौकिकः सातिशयः । लोको ······ सिद्धये-असामान्याह्लादविधायिविचित्रभावसम्पत्तये । यद्यपि सन्ति शतशः काव्यालङ्कारास्तथापि न कुतश्चिदप्येवंविधवैचित्र्यसिद्धिः। It my be noticed that the works of भामह, उद्भट and रुद्रट were called काव्यालङ्कारs. Though the कारिकाs thus appear to have been meant to be called काव्यालङ्कार, the whole work has been referred to by later writers as वक्रोक्तिजीवित. The वृत्ति is

quite clear on this point—तदयमर्थः। ग्रन्थस्यास्य अलङ्कार इत्यभिधानम्, उपमादिप्रमेयजातमभिधेयम्, उक्तरूपवैचित्र्यसिद्धिः प्रयोजनमिति।"

H. S. P. (p. 225—26)

वस्तुतः डा० साहब का यह मत समीचीन नहीं प्रतीत होता। क्योंकि—

१. यदि कुन्तक ने अपने कारिकाग्रन्थ का नाम 'काव्यालङ्कार' रखा होता तो सम्भवतः कारिका इस प्रकार लिखते—'काव्यालङ्कार इत्येष कोऽप्यपूर्वो विधीयते' जैसे कि अपने ग्रंथों का 'काव्यालंकार' नाम रखनेवाले आचार्यों ने लिखा है—भामह लिखते हैं—

'काव्यालङ्कार इत्येष यथाबुद्धि विधास्यते' (१।१), तथा रुद्रट लिखते हैं—

'काव्यालङ्कारोऽयं ग्रन्थः क्रियते यथायुक्ति' (१।२)। रही बात उद्भट की तो उन्होंने कहीं अपने ग्रंथ के नाम का निर्देश ही नहीं किया, और फिर उनके ग्रन्थ का नाम 'काव्यालंकार' नहीं बल्कि 'काव्यालङ्कारसंग्रह' था। जैसा कि प्रतीहारेन्दुराज कहते हैं—

विद्वदग्र्यान्मुकुलकादधिगम्य विविच्यते।
प्रतिहारेन्दुराजेन काव्यालङ्कारसंग्रहः॥

अन्यथा डा० साहब को अपने उक्त कथन में वामन का भी नामग्रहण करना चाहिए था क्योंकि उनके भी ग्रन्थ का नाम तो 'काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति' है।

२. यदि कुन्तक को ग्रन्थ का नाम 'काव्यालङ्कार' ही अभिप्रेत होता तो वे वृत्ति में—'अलङ्कारो विधीयते अलङ्करणं क्रियते। कस्य—काव्यस्य, कवेः कर्म काव्यं तस्य' न कहते। बल्कि यह कहते कि 'काव्यालङ्कार' इति ग्रन्थः क्रियते।'

३. साथ ही जिस कथन के आधार पर डा० साहब उस ग्रन्थ का नाम काव्यालङ्कार कहते हैं वह स्वयम्—ग्रन्थस्यास्य अलङ्कार इत्यभिधानम्' न होकर 'ग्रन्थस्यास्य काव्यालङ्कार इत्यभिधानम्' होता।

४. फिर कुन्तक के इस कथन—'ननु च सन्ति चिरन्तनास्तदलङ्काराः' की सङ्गति भी नहीं बैठेगी। क्योंकि इसका मतलब यह होगा कि कुन्तक ने केवल भामह तथा रुद्रट के ग्रन्थ के अतिरिक्त किसी अन्य ग्रंथ (जैसे दण्डी का काव्यादर्श, आनन्द का ध्वन्यालोक आदि) के विवेच्य की ओर ध्यान ही नहीं दिया। उन्होंने अपने को केवल 'काव्यालङ्कारों' तक ही सीमित रखा। और ऐसा अर्थ करना सर्वथा अनुपयुक्त होगा क्योंकि कुन्तक ने स्थल-स्थल पर दण्डी तथा आनन्द दोनों की आलोचना की है।

५. यदि 'काव्यालङ्कार' और 'वक्रोक्तिजीवित' अलग-अलग सञ्ज्ञायें क्रमशः कारिका और वृत्ति भाग की होती तो निश्चय ही प्रत्येक उन्मेष की कारिकाओं की समाप्ति पर भी—"इति श्रीराजानककुन्तकविरचिते 'काव्यालङ्कारे' प्रथम उन्मेषः, द्वितीय उन्मेषः", आदि उपलब्ध होता। परन्तु ऐसा कहीं भी उपलब्ध नहीं होता।

यदि डा० साहब यहाँ यह सन्देह प्रकट करना चाहें कि प्रथम उन्मेष की समाप्ति पर—

'इति श्रीराजानककुन्तकविरचिते वक्रोक्तिजीविते काव्यालङ्कारे प्रथम उन्मेषः' प्राप्त होता है। यहाँ 'वक्रोक्तिजीवित' से तात्पर्य वृत्तिभाग से है और 'काव्यालङ्कार' से आशय कारिका ग्रन्थ से है तो यह ठीक नहीं। क्योंकि—द्वितीय उन्मेष की समाप्ति पर केवल—

'इति श्रीमत्कुन्तकविरचिते वक्रोक्तिजीविते द्वितीय उन्मेषः' तथा तृतीय उन्मेष की समाप्ति पर—

'इति कुन्तकविरचिते वक्रोक्तिजीविते तृतीयोन्मेषः समाप्तः' ही उपलब्ध होता है वहाँ 'काव्यालङ्कार' की कोई चर्चा ही नहीं है।

६. साथ ही यदि कुन्तक के कारिका ग्रन्थ का नाम 'काव्यालङ्कार' होता तो उन्हें बाद के सभी आचार्य केवल 'वक्रोक्तिजीवितकार' के रूप में ही क्यों याद करते, कम से कम इनकी कारिकाओं को उद्धृत करते समय 'काव्यालङ्कार' के नाम से अथवा 'कुन्तकविरचिते काव्यालंकारे' इत्यादि के द्वारा स्मरण करते। अतः यह मन्तव्य कि इनके कारिका ग्रन्थ का नाम 'काव्यालङ्कार' और वृत्तिग्रन्थ का नाम 'वक्रोक्तिजीवित' था सर्वथा असमीचीन है।

अब रही बात यह कि कुन्तक की इस कारिका और उसके वृत्तिभाग का फिर अर्थ क्या है यह अत्यन्त सुस्पष्ट है। अलङ्कार से तात्पर्य है अलङ्कारों का प्रतिपादन करने वाला ग्रन्थ या अलङ्कार ग्रन्थ। इस प्रकार कारिका का अर्थ हो जायगा कि कुन्तक काव्य के अलङ्कारग्रन्थ का निर्माण कर रहे हैं। क्योंकि कुन्तक स्वयं बड़े स्पष्ट ढङ्ग से इस बात को उसी वृत्तिभाग में कहते हैं—

'अलङ्कारः-शब्दः शरीरस्य शोभातिशयकारित्वान्मुख्यतया कटकादिषु वर्तते, तत्कारित्वसामान्यादुपचारादुपमादिषु, तद्वदेव च तत्सदृशेषु गुणादिषु तथैव च तदभिधायिनि ग्रन्थे।' यहाँ यदि कुन्तक को 'अलङ्कार' का अर्थ—'अलङ्कार-प्रतिपादक ग्रन्थ' न अभिप्रेत होता तो इतनी लम्बी-चौड़ी अलङ्कार शब्द की व्याख्या की कोई आवश्यकता नहीं थी। क्योंकि गुण इत्यादि को तो दण्डी, वामन आदि सभी पूर्वाचार्य अलङ्कार शब्द द्वारा व्यवहृत कर ही चुके थे उसे

दुहराने की कोई आवश्यकता ही नहीं थी, यदि इन्हें अलङ्कार शब्द का 'अलङ्काराभिधायक ग्रंथ' अर्थ अभीष्ट न होता।

साथ ही यदि हम अलङ्कार का अर्थ 'अलङ्कारग्रन्थ' मान लेते हैं तो कुन्तक का यह कथन 'ननु च सन्ति चिरन्तनास्तदलङ्काराः' पूर्णतया सङ्गत हो जाता है, इससे इनके विवेचन की अनभिप्रेत सीमितता समाप्त हो जाती है। क्योंकि इसका अर्थ हो जायगा कि 'यदि प्राचीन बहुत से अलङ्कारग्रन्थ हैं तो आपके इस नवीन अलङ्कारग्रन्थ की क्या आवश्यकता?' और फिर यह भी कथन कि 'यद्यपि सन्ति शतशः काव्यालङ्कारास्तथापि न कुतश्चिदप्येवंविधवैचित्र्यसिद्धिः' का अर्थ भी सङ्गत हो जायगा।

साथ ही 'काव्यस्यायमलङ्कारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते' से हमें अभिधान और अभिधेय दोनों का बोध हो जायगा 'अर्थात् इस प्रकार अलङ्कारों का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थों का नाम उपचार से 'अलंकार' होता है और उनके अभिधेय उपमादि अलङ्कार रूप प्रमेय होते हैं। अन्यथा प्रयोजन और अभिधान के अतिरिक्त अभिधेय की कोई चर्चा ही इस कारिका से सामने नहीं आ पायेगी। और तब 'ग्रन्थस्यास्यालङ्कार इत्यभिधानम्' का अर्थ होगा कि इस (प्रकार के) अलङ्कार के प्रतिपादक ग्रन्थ को उपचार से अलङ्कार सञ्ज्ञा दी जायगी। न कि यह अर्थ 'कि हमारे इस ग्रन्थविशेष का नाम 'अलङ्कार' है'। क्योंकि ऐसा अर्थ कर लेने पर तो फिर 'काव्यालङ्कार' नाम मानना भी अनुचित ही होगा। और ऊपर कही गई 'अलङ्कार' शब्द की व्याख्या निरर्थक सिद्ध होगी। अतः कुन्तक के ग्रन्थ का नाम 'वक्रोक्तिजीवित' है (कारिका तथा वृत्ति दोनों भागों का) यही स्वीकार करना समीचीन है।

अभिधेय—इसका अभिधेय तो उपमादि प्रमेय समूह है ही जैसा कि वे स्वयं कहते हैं-'उपमादिप्रमेयजातमभिधेयम्'। कुन्तक का 'उपमादिप्रमेयजातमभिधेयम्' यह कथन भी इसी बात का समर्थन करता है कि कुन्तक यहाँ सामान्य रूप से अलङ्कारग्रन्थों के प्रयोजन को बता रहे हैं, केवल अपने 'वक्रोक्तिजीवितमात्र' के नहीं अन्यथा अपने ग्रन्थ का प्रतिपाद्य वक्रोक्ति आदि कुछ कहते। क्योंकि उपमा आदि तो सबके सब अलङ्कार उनकी एकमात्र 'वाक्यवक्रता' में ही अन्तर्भूत हैं—

'वाक्यस्य वक्रभावोऽन्यो भिद्यते यः सहस्रधा।
यत्रालङ्कारवर्गोऽसौ सर्वोऽप्यन्तर्भविष्यति ॥' (१।२०)

साथ ही जब वे केवल वक्रोक्ति को ही अलङ्कार मानते हैं—

तयोः पुनरलङ्कृतिः वक्रोक्तिरेव। (१।१०)

प्रयोजन—ग्रन्थ का प्रयोजन बताते समय भी कुन्तक ने एक नवीनता प्रदर्शित की है। इनके पूर्व के सभी आचार्यों ने तथा बाद के सभी आचार्यों ने केवल

काव्य के ही प्रयोजन बताये हैं और, उन्हीं को उसका अङ्ग होने के कारण इसका भी प्रयोजन मान लिया है—जैसा कि साहित्यदर्पणकार स्पष्ट शब्दों में कहते हैं—

'अस्य ग्रन्थस्य काव्याङ्गतया काव्यफलैरेव फलवत्त्वमिति काव्यफलान्याह—' इत्यादि ।

परन्तु कुन्तक ने अलङ्कारग्रन्थ का अलग प्रयोजन और अलङ्कार्य काव्य का प्रयोजन अलग से बताया है—

अलङ्कार ग्रन्थ का प्रयोजन है—'असामान्य आह्लाद को उत्पन्न करने वाले वैचित्र्य की सिद्धि'। अर्थात् कुन्तक ने अपने ग्रन्थ का निर्माण उक्तरूप वैचित्र्य की सिद्धि कराने के लिए किया है। अन्य प्राचीन आचार्यों के ग्रन्थों में कहीं भी ऐसे वैचित्र्य की सिद्धि नहीं हुई।—"यद्यपि सन्ति शतशः काव्यालङ्कारास्तथापि न कुतश्चिदप्येवंविधवैचित्र्यसिद्धिः।" तथा ग्रन्थस्यास्य···उक्तरूपवैचित्र्यसिद्धिः प्रयोजनम्। (पृ० ७-८)

इस प्रकार अलङ्कार ग्रन्थ का प्रयोजन बताने के बाद वे उसके अलङ्कार्यभूत काव्य का प्रयोजन बताते हैं क्योंकि बिना अलङ्कार्य के प्रयोजन के अलङ्कार सप्रयोजन होते हुए भी बेकार होता है। काव्य के प्रयोजन को उन्होंने क्रमशः प्रथम उन्मेष की तीसरी, चौथी और पाँचवीं कारिका में प्रतिपादित किया है—

१. काव्य का पहला प्रयोजन तो यह होता है कि वह धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष रूप पुरुषार्थचतुष्टय की सिद्धि का उपाय होता है। शास्त्रादिक से इसका वैशिष्ट्य यह होता है कि शास्त्रादि कठोर क्रम से अभिहित होने के कारण सुकुमारमति, एवं क्लेशभीरू राजकुमारादिकों के लिए आह्लादकारक नहीं होते जब कि काव्य सुकुमार क्रम से अभिहित होने के कारण हृदयाह्लादकारक होता हुआ पुरुषार्थचतुष्टय की सिद्धि का उपाय होता है। जैसा कि कुन्तक अन्तरश्लोक द्वारा आगे कहते हैं:—

कटुकौषधवच्छास्त्रमविद्याव्याधिनाशम् ।
आह्लाद्यमृतवत्काव्यमविवेकगदापहम् ॥

२. काव्य का दूसरा प्रयोजन है उसका समुचित व्यवहार का बोध कराने में सहायक होना। प्रत्येक मनुष्य को सत्काव्यों में वर्णित राजा, अमात्य, भृत्यादि के व्यवहारों से उनके लिए अनुकरणीय उचित व्यवहार का ज्ञान होता है।

३. काव्य का सर्वातिशायी, यहाँ तक कि पुरुषार्थचतुष्टय के आस्वाद का भी अतिक्रमण कर जाने वाला, तीसरा प्रयोजन है उसके आस्वाद से (जो अमृतरसास्वाद के समान होता है) सहृदयों को तत्काल आनन्द की अनुभूति कराना। कुन्तक का कहना है—'योऽसौ चतुर्वर्गफलास्वादः प्रकृष्टपुरुषार्थतया सर्वशास्त्र-

प्रयोजनत्वेन प्रसिद्धः सोऽप्यस्य काव्यामृतचर्वणचमत्कारकलामात्रस्य न कामपि साम्यकलनां कर्तुमर्हतीति ।" (पृ० १५)

काव्यलक्षण

इस प्रकार काव्य का प्रयोजन बताने के बाद कुन्तक काव्यलक्षण प्रस्तुत करते हैं। उनका कथन है कि अलंकृत शब्द और अर्थ ही काव्य होते हैं। यदि हम काव्य में अलङ्कार्य और अलङ्कार का विवेचन अलग-अलग करते हैं तो वह केवल अपोद्धार बुद्धि के द्वारा। वस्तुतः अलङ्कार और अलङ्कार्य की अलग-अलग सत्ता ही काव्य में नहीं है—

'तत्वं सालङ्कारस्य काव्यता......तेनालंकृतस्य काव्यत्वमिति स्थितिः। न पुनः काव्यस्यालङ्कार योग इति।'

इसके अतिरिक्त काव्यलक्षण वे प्रथम उन्मेष की सातवीं कारिका में इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि॥

अर्थात् सहृदयों को आह्लादित करने वाले, एवं वक्रकविव्यापार से सुशोभित होने वाले वाक्यविन्यास में साहित्ययुक्त शब्द और अर्थ काव्य होते हैं।

वस्तुतः कुन्तक का सम्पूर्ण ग्रन्थ इसी काव्यलक्षण की व्याख्या को प्रस्तुत करता है। इस काव्यलक्षण में आने वाले तत्त्व जिनका उन्होंने व्याख्यान किया है—वे हैं—

१. शब्द और अर्थ

२. साहित्य

३. वक्रकविव्यापार

४. बन्ध और

५. तद्विदाह्लादकारित्व

१. (क) कुन्तक के अनुसार शब्द और अर्थ दोनों मिल कर काव्य होते हैं, केवल रमणीयताविशिष्ट शब्द अथवा केवल चारुताविशिष्ट अर्थ काव्य नहीं होता। उनका कहना है—

'तस्मात् स्थितमेतत्—न शब्दस्यैव रमणीयताविशिष्टस्य केवलस्य काव्यत्वम्, नाप्यर्थस्येति'। तथा कुन्तक अपने इस मत को समर्थन देते हैं—भामह की प्रथम परिच्छेद की 'रूपकादिरलङ्कारस्तस्यान्यैर्बहुधोदितः।......शब्दाभिधेयालङ्कारभेदादिष्टं द्वयन्तु नः॥' इत्यादि १३ वीं, १४ वीं और १५ वीं कारिका को उद्धृत करके। (व० जी० पृ० २३-२४)

(ख) साथ ही काव्य में शब्द और अर्थ का स्वरूप लोक में प्रसिद्ध वाच्य-वाचक रूप में विद्यमान शब्द और अर्थ में स्वरूप से सर्वथा भिन्न होता है—

शब्द—काव्य में वही शब्द होता है जो कि विवक्षित अर्थ के बहुत से वाचकों के विद्यमान रहने पर भी उस अर्थ का एकमात्र वाचक होता है। तात्पर्य यह है कि विवक्षित अर्थ को समर्पित करने में जिस प्रकार वह समर्थ हो वैसा समर्थ अन्य कोई दूसरा वाचक न हो।

शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि।

अर्थ—तथा काव्य में वही अर्थ अर्थ होता है जो कि अपने स्वभाव की रमणीयता से सहृदयों को आह्लादित करने में समर्थ होता है:—

'अर्थः सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दरः' (१।९)

साहित्य

शब्द और अर्थ के साहित्य की जैसी व्याख्या आचार्य कुन्तक ने प्रस्तुत की है, वैसा साहित्य का स्वरूप न तो किसी भी पूर्वाचार्य ने ही बताया था और न ही बाद में होने वाले अन्य आचार्यों ने, जिन्होंने साहित्य का विवेचन किया। वे कुन्तक ने इस साहित्यस्वरूप को उपेक्षित कर सकने में ही समर्थ हुए।

कुन्तक शब्द और अर्थ के वाच्यवाचक सम्बन्ध रूप साहित्य को साहित्य नहीं मानते क्योंकि ऐसा साहित्य काव्य के अतिरिक्त भी सर्वत्र विद्यमान रहता ही है। इसीलिए वे कहते हैं:—

विशिष्टमेवेह साहित्यमभिप्रेतम्। (पृ० २५)

और वह साहित्य है कैसा ?

'जहाँ पर वक्रता से विचित्र गुणों एवं अलंकारों की सम्पत्ति में परस्पर स्पर्धा (होड़) लगी रहती है।' और यह परस्पर स्पर्धा शब्द की दूसरे शब्द के साथ तथा अर्थ की दूसरे अर्थ के साथ ही अभिप्रेत है क्योंकि काव्यलक्षण की समाप्ति वाक्य में होती है, केवल एक ही शब्द और अर्थ में नहीं। इसीलिए कुन्तक ने कहा है:—

'द्विवचनेनात्र वाच्यवाचकजातिद्वित्वमभिधीयते। व्यक्तिद्वित्वाभिधाने पुनरेकपद-व्यवस्थितयोरपि काव्यत्वं स्यात्'—(पृ० २७)

साहित्य का लक्षण कुन्तक के अनुसार इस प्रकार है:—

साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः॥ (१।१७)

अर्थात् शब्द और अर्थ की उस स्थिति को हम साहित्य कहेंगे जो सौन्दर्य-शालिता के प्रति अर्थात् सहृदयों को आह्लादित करने के विषय में दोनों की

अपने सजातीयों के साथ परस्पर स्पर्धा के कारण रमणीय होती है। सौन्दर्य-श्लाघिता के प्रति होड़ वाक्य में प्रयुक्त शब्द की शब्दान्तर के साथ और अर्थ की अर्थान्तर के साथ होती है। स्पष्ट है कि जब सौन्दर्यश्लाघिता के प्रति शब्द अपने सजातीयों से और अर्थ अपने सजातियों से होड़ करेगा तो निश्चय ही दोनों सम्मिलित होकर रमणीय काव्य की सृष्टि करेंगे। शब्द का अर्थान्तर के साथ साहित्य अथवा अर्थ का शब्दान्तर के साथ साहित्य मानना उचित नहीं क्योंकि ऐसा मानने पर कोई समन्वय हो सकना कठिन हो जायगा। स्पर्धा का निर्णय सजातीयों में ही किया जा सकता है भिन्न जातीयों में नहीं। इसी लिए कुन्तक कहते हैं—'ननु वाचकस्य वाच्यान्तरेण वाच्यस्य वाचकान्तरेण कथं न साहित्यमिति चेत्, तन्न, क्रमव्युत्क्रमे प्रयोजनाभावादसमन्वयाच्च।' (पृ० ५८)

केवल वक्रोक्ति ही अलङ्कार

कुन्तक का कहना है कि यद्यपि अलंकृत शब्द और अर्थ मिल कर काव्य होते हैं किन्तु जब हम अपोद्धार बुद्धि से अलङ्कार्य और अलङ्कार का विभाग कर लेते हैं तो उस दशा में—शब्द और अर्थ अलङ्कार्य होते हैं तथा उनका (उन दोनों का) अलङ्कार केवल एक वक्रोक्ति ही होती है। 'तयोः द्वित्वसङ्ख्याविशिष्टयोरप्यलंकृतिः पुनरेकैव, यया द्वावप्यलङ्क्रियेते' (पृ० ४८)।

वक्रोक्ति का स्वरूप

वक्रोक्ति कहते किसे हैं? 'शास्त्र अथवा लोकप्रसिद्ध उक्ति से अतिशायिनी विचित्र ही उक्ति को वक्रोक्ति कहते हैं—'वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा।' यह वक्रोक्ति कैसी होती है?—वैदग्ध्यभङ्गीभणितिस्वरूप होती है अर्थात् काव्यकुशलता की विच्छित्ति द्वारा किए गये कथन को वक्रोक्ति कहते हैं। और यह कथन शोभातिशयकारी होने के कारण एकमात्र अलङ्कार है—"शब्दार्थौ पृथगवस्थितौ केनापि व्यतिरिक्तेनालङ्करणेन योज्येते किन्तु वक्रतावैचित्र्ययोगितयाभिधानमेवानयोरलङ्कारः तस्यैव शोभातिशयकारित्वात्।'

—पृ० ४८

स्वभावोक्ति की अलङ्कारता का प्रत्याख्यान (१।११-१५)

इस प्रकार कुन्तक इस सिद्धान्त को स्थापित करके कि 'वक्रोक्ति ही एक मात्र अलङ्कार है' वे स्वभावोक्ति की अलङ्कारता का प्रत्याख्यान करते हैं। उनके तर्क इस प्रकार हैं—

१. स्वभावोक्ति का अर्थ हुआ कहा जाने वाला स्वभाव अर्थात् पदार्थ का धर्म और वही काव्यशरीर होता है अतः काव्यशरीर होने के कारण वह अलङ्कार्य होगा, अलङ्कार कैसे हो सकता है। यदि कोई यह कहे कि नहीं काव्य-शरीर स्वभाव से भिन्न होता है, तो वह सम्भव नहीं क्योंकि स्वभाव शब्द की व्युत्पत्ति है—'भवतोऽस्माद् 'अभिधानप्रत्ययौ इति भावः, स्वस्य आत्मनो भावः स्वभावः।' अर्थात् जिसके द्वारा (किसी का) कथन और ज्ञान हो उसे भाव कहते हैं, अपने भाव को स्वभाव कहते हैं। निःस्वभाव वस्तु शब्द का विषय बन ही नहीं सकती। अर्थात् किसी भी पदार्थ का स्वभाव ही उसे शब्द का विषय बनाता है। इसलिए सभी वाक्य जो सार्थक होंगे निश्चित ही स्वभाव-युक्त होंगे। अतः सर्वत्र स्वभावोक्ति ही रहती है और यदि इसी शरीरभूता स्वभावोक्ति को अलङ्कार मान लिया जाय तो एक गाड़ीवान की कही गई बात भी अलङ्कार युक्त होने लगेगी जो किसी भी आलङ्कारिक को अभीष्ट नहीं।

२. यदि शरीरभूत स्वभावोक्ति को ही अलङ्कार मान लिया जाय तो फिर अलङ्कार्य क्या होगा। अगर यह कहें कि वह अपने को ही अलङ्कृत करती है तो यह एक गैरमुमकिन बात है क्योंकि शरीर ही अपने कन्धे पर स्वयं नहीं चढ़ पाता, अपने में ही क्रियाविरोध होने के कारण।

३. कुन्तक का तीसरा तर्क है कि यदि आप स्वभावोक्ति को अलङ्कार मान लेते हैं तो वह सर्वत्र ही विद्यमान रहेगा। ऐसी अवस्था में यदि वहाँ कोई अन्य अलङ्कार स्पष्ट रूप से आता है तो वहाँ संसृष्टि होगी और यदि अस्पष्ट रूप से आता है तो संकर होगा। इस प्रकार सर्वत्र संसृष्टि और संकर के अलावा अन्य अलङ्कार नहीं हो पायेंगे। और इस प्रकार अन्य अलङ्कारों का क्षेत्र ही समाप्त हो जायगा। अतः स्वभावोक्ति को अलङ्कार मानना उचित नहीं, वह अलङ्कार्य ही है।

४. इस प्रकार काव्य लक्षण के, शब्द अर्थ और उनके साहित्य का व्याख्यान करने के अनन्तर कुन्तक वक्रकाव्यापार को प्रस्तुत करते हैं।

कविव्यापार की वक्रता के उन्होंने मुख्य रूप से छः भेद प्रस्तुत किए हैं और बताया है कि इन छः भेदों के बहुत से अवान्तर भेद हैं। वे छः प्रकार हैं—

१. वर्णविन्यासवक्रता	४. वाक्यवक्रता
२. पदपूर्वार्द्धवक्रता	५. प्रकरणवक्रता
३. प्रत्ययाश्रयवक्रता	६. प्रबन्धवक्रता

आचार्य कुन्तक ने इन छहों प्रकार की वक्रताओं का सामान्य ढङ्ग से विश्लेषण प्रथम उन्मेष में किया है। तदनन्तर उनका विशेष विश्लेषण द्वितीय,

तृतीय और चतुर्थ उन्मेषों में किया है। द्वितीय उन्मेष में उन्होंने वर्णविन्यास-वक्रता, पदपूर्वार्द्धवक्रता तथा प्रत्ययाश्रयवक्रता का, तृतीय उन्मेष में वस्तुवक्रता और वाक्यवक्रता का तथा अन्तिम चतुर्थ उन्मेष में प्रकरणवक्रता और प्रबन्ध-वक्रता का विशेष विश्लेषण प्रस्तुत किया है। प्रबन्धवक्रता का विवेचन पूर्ण नहीं हो पाता है कि ग्रन्थ परिसमाप्त हो जाता है। इसीलिए यह अनुमान है कि ग्रन्थ लगभग परिपूर्ण ही है क्योंकि प्रबन्धवक्रता का ही विश्लेषण आखिरी है। लगभग उसके ६ प्रभेदों की व्याख्या कुन्तक प्रस्तुत करते हैं। पाण्डुलिपि में प्राप्त होनेवाली अन्तिम कारिका—

नूतनोपायनिष्पन्ननयवर्त्मोपदेशिनाम्।
महाकविप्रबन्धानां सर्वेषामस्ति वक्रता॥

से यह आशय स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्रबन्धवक्रता के सभी प्रकारों का विवेचन वे समाप्त कर चुके हैं।

अस्तु, हम संक्षेप से इन वक्रता के छहों प्रकार का सम्पूर्ण ग्रन्थ के आधार पर विवेचन प्रस्तुत करते हैं।

१. वर्णविन्यासवक्रता

जहाँ पर वर्णों अर्थात् अक्षरों को उनके सामान्य प्रयोग करने के ढङ्ग से भिन्न रमणीय ढङ्ग द्वारा विन्यस्त किया जाता है जिसके कारण उनका वह विन्यास सहृदयों को आह्लादित करने में समर्थ हो जाता है, वहाँ वर्णविन्यास-वक्रता होती है। इस वर्णविन्यासवक्रता के कारण शब्द का सौन्दर्य उत्कर्षयुक्त हो जाता है। यह एक, दो अथवा बहुत से व्यंजनों की बार-बार आवृत्ति से आती है। यह आवृत्ति कभी व्यवधान से कभी अव्यवधान से होती है। कभी अनियत स्थान वाली होकर तथा कभी नियत स्थान वाली होकर (यमक-रूप में) सौन्दर्य प्रदान करती है। कुन्तक ने इस वक्रता को इस ढङ्ग से प्रस्तुत किया है कि इसमें अन्य आचार्यों के सभी अनुप्रासप्रकार और यमकप्रकार अन्तर्भूत हो जाते हैं। इस वक्रता का प्राण औचित्य है। वर्ण्यमान के औचित्य से च्युत होने पर यह वक्रता नहीं मानी जायगी। इसीलिए उन्होंने व्यसनिता-पूर्वक निबद्ध किए जाने वाले वर्णविन्यास का निषेध किया है—

'नातिनिर्बन्धविहिता नाप्यपेशलभूषिता।
पूर्वावृत्तपरित्यागनूतनावर्तनोज्ज्वला॥ (२।८)

वही यमक वर्णविन्यासवक्रता को प्रस्तुत कर सकेगा जो प्रसादगुण सम्पन्न हो, श्रुतिपेशल हो और औचित्ययुक्त हो।

अत्रारुणपरिस्पन्दनमन्दीकृतवपुषः शशिनः कामपरिक्षामवृत्तेः कामिनीकपोलफलकस्य च पाण्डुत्वसाम्यसमर्थनादर्थालंकारपरिपोषः शोभातिशयमावहति । वक्ष्यमाणवर्णविन्यासवक्रतालक्षणः शब्दालंकारोऽप्यतितरां रमणीयः । वर्णविन्यासविच्छित्तिविहिता लावण्यगुणसंपदस्त्येव ।

यहाँ पर अरुण के सञ्चरण से मन्द कर दी गई प्रभा वाले चन्द्रमा की और काम के कारण परिक्षीण हो गये व्यापार वाले कामिनी के गण्डस्थल की पाण्डुता की समानता का समर्थन करने से (उपमा रूप) अर्थालङ्कार का परिपोषण अत्यधिक शोभा को धारण करता है । (साथ ही) आगे कही जाने वाली वर्णविन्यासवक्रतारूप (जिसे अन्य आलङ्कारिकों के आधार पर अनुप्रास अलङ्कार कहा जा सकता है) शब्दालङ्कार भी अत्यन्त ही रमणीय बन पड़ा है। और वर्णविन्यास की शोभा से उत्पन्न लावण्य गुण की सम्पत्ति तो है ही । (अतः यहाँ पर गुण शब्दालङ्कार एवं अर्थालङ्कार सभी का परस्पर स्पर्धा से प्रयोग शब्दार्थ-साहित्य का सूचक है जिससे यह पद्य एक सुन्दर काव्य का उदाहरण बन गया है ।)

यथा च—

लीलाइ कुवलअं कुवलअं व सीसे समुव्वहंतेण ।
सेसेण सेसपुरिसाणं पुरिसआरो समुप्पसिओ ॥ २० ॥

[लीलया कुवलयं कुवलयमिव शीर्षे समुद्वहता ।
शेषेण शेषपुरुषाणां पुरुषकारः समुपहसितः ॥]

और जैसे (दूसरा साहित्य (काव्य) का उदाहरण)—

कुवलय (नील कमल) के सदृश कुवलय (पृथ्वी-मण्डल) को शिर पर बिना किसी श्रम के ही धारण करने वाले शेषनाग ने शेष पुरुषों के पौरुष की अच्छी हँसी उड़ाई है ॥ २० ॥

अत्राप्रस्तुत प्रशंसोपमालक्षणवाच्यालंकारवैचित्र्यविहिता हेलामात्र विरचितयमकानुप्रासहारिणी समर्पकत्वसुभगा कापि काव्यच्छाया सहृदयहृदयमाह्लादयति ।

यहाँ पर अप्रस्तुतप्रशंसा एवं उपमारूप अर्थालङ्कारों के वैचित्र्य से उत्पन्न, एवं बिना परिश्रम के ही विरचित यमक एवं अनुप्रास (रूप शब्दालङ्कारों) से चित्ताकर्षक तथा शीघ्र ही अर्थ स्पष्ट हो जाने (समर्पकत्व) के कारण सुन्दर कोई (अनिर्वचनीय) काव्य की शोभा सहृदयों के हृदयों को

आनन्दित करती है (इस प्रकार इस पद्य में भी परस्पर शब्द और अर्थ के साहित्य का स्वरूप स्पष्ट किया गया है ।)

द्विवचनेनात्र वाच्यवाचकजातिद्वित्वमभिधीयते। व्यक्तिद्वित्वाभिधाने पुनरेकपदव्यवस्थितयोरपि काव्यत्वं स्यादित्याह—बन्धे व्यवस्थितौ। बन्धो वाक्यविन्यासः तत्र व्यवस्थितो विशेषेण लावण्यादिगुणालंकार-शोभिना संनिवेशेन कृतावस्थानौ। सहितावित्यत्रापि यथायुक्ति स्व-जातीयापेक्षया शब्दस्य शब्दान्तरेण वाच्यस्य वाच्यान्तरेण च साहित्यं परस्परस्पर्धित्वलक्षणमेव विवक्षितम्। अन्यथा तद्विदाह्लादकारित्वहानिः प्रसज्येत।

यहाँ (शब्दार्थौ सहितौ···।। कारिका में 'शब्दार्थौ' आदि पदों में) द्विवचन के प्रयोग से अर्थ और शब्द के जातिगत द्वित्व का अभिधान किया गया है (व्यक्तिगत द्वित्व का नहीं अर्थात् एक ही शब्द और अर्थ का ही नहीं अपितु वाक्य में प्रयुक्त अनेक शब्दों और अर्थों का सहभाव होना चाहिए क्योंकि) व्यक्ति के द्वित्व का अभिधान करने पर एक पद में भी व्यवस्थित शब्द और अर्थ का काव्यत्व होने लगेगा। इसीलिए कहा है—'बन्ध में व्यवस्थित (शब्द और अर्थ। वन्ध अर्थात् वाक्य की विशेष प्रकार की रचना, उसमें व्यवस्थित। विशेष अर्थात् लावण्यादि गुणों एवं अलङ्कारों से शोभित होनेवाली रचना के द्वारा स्थित। 'सहितौ इस पद में भी उक्त युक्ति के अनुसार स्वजातीय (शब्द) की अपेक्षा अर्थ शब्द का दूसरे शब्द से तथा (स्वजातीय अर्थ की अपेक्षा) अर्थ के साथ परस्पर स्पर्धा से युक्त स्वरूप वाला ही साहित्य (सहभाव) बताना अभीष्ट है। नहीं तो (उक्त प्रकार के शब्द के शब्दान्तर एवं अर्थ के अर्थान्तर के साथ परस्पर स्पर्धा से युक्त साहित्य के अभाव में उस काव्य द्वारा) काव्यमर्मज्ञों की आह्लादकारिता की हानि होने लगेगी।

यथा—

असारं संसारं परिमुषितरत्नं त्रिभुवनं
निरालोकं लोकं मरणशरणं बान्धवजनम्।
अदर्पं कन्दर्पं जननयननिर्माणमफलं
जगज्जीर्णारण्यं कथमसि विधातुं व्यवसितः ॥ २१ ॥

जैसे—(महाकवि भवभूति विरचित 'मालतीमाधव' नामक प्रकरण में कापालिक को मालती का वध करने के लिए उद्यत देख माधव उस कापालिक से कहता है कि इस मालती के वध से तुम इस) संसार को सारहीन, तीनों

(ग) उपचारवक्रता—जहाँ पर कवियों द्वारा अत्यन्त भिन्न स्वभाव वाले पदार्थों के धर्म का एक दूसरे पर अत्यन्त अल्प साम्य के आधार पर उसके लोकोत्तर सौन्दर्य को प्रस्तुत करने के लिये आरोप किया जाता है वहाँ उपचारवक्रता होती है। जैसे अमूर्त पदार्थ का मूर्त पदार्थ के वाचक शब्द द्वारा कथन, ठोस पदार्थ का द्रव पदार्थ के वाचक शब्द द्वारा कथन, अचेतन पदार्थ का चेतन पदार्थ के प्रतिपादक शब्द द्वारा कथन उपचारवक्रता के प्रथम प्रकार को प्रस्तुत करता है। इस वक्रता प्रकार के अनन्त प्रकार सम्भव होते हैं—'सोऽयमुपचारवक्रताप्रकारः सत्कविप्रवाहे सहस्रशः सम्भवतीति सहृदयैः स्वयमेवोत्प्रेक्षणीयः'—(पृ० २२१)।

स्वभावविप्रकर्ष के प्रत्यासन्न होने पर वक्रता नहीं होगी—'अत एव च प्रत्यासन्नान्तरेऽस्मिन्नुपचारे न वक्रताव्यवहारः, यथा गौर्वाहीक इति। (पृ० २२१)

दूसरे प्रकार की उपचारवक्रता वह होती है जिसके मूल में विद्यमान रहने पर रूपकादि अलङ्कार सरस उल्लेख वाले हो उठते हैं। कहने का आशय यह कि यह दूसरे प्रकार की उपचारवक्रता रूपकादि अलङ्कारों की प्राणभूता है—'तेन रूपकादेरलङ्करणकलापस्य सकलस्यैवोपचारवक्रता जीवितमित्यर्थः'—पृ० २२२।

तथा 'आदि—' ग्रहणादप्रस्तुतप्रशंसाप्रकारस्य कस्यचिदन्यापदेशलक्षणस्योपचारवक्रतैव जीवितत्वेन लक्ष्यते (पृ० २२३)

इन दोनों प्रकार की वक्रताओं का भेद कुन्तक ने इस ढङ्ग से प्रस्तुत किया है—

'पूर्वस्मिन् स्वभावविप्रकर्षात् सामान्येन मनाङ्मात्रमेव साम्यं समाश्रित्य सातिशयत्वं प्रतिपादयितुं तद्धर्ममात्राध्यारोपः प्रवर्तते, एतस्मिन् पुनरदूरविप्रकृष्टसादृश्यसमुद्भवप्रत्यासत्तिसमुचितत्वादभेदोपचारनिबन्धनं तत्त्वमेवाध्यारोप्यते।' (पृ० २२२)

(घ) विशेषणवक्रता—जहाँ पर क्रिया रूप अथवा कारक रूप पदार्थ का सौन्दर्य उसके विशेषणों के माहात्म्य से समुल्लसित होता है वहाँ विशेषणवक्रता होती है। क्रिया अथवा कारक रूप पदार्थ के सौन्दर्य से अभिप्राय पदार्थ स्वभाव की सुकुमारता की प्रकाशकता एवं अलङ्कार के सौन्दर्यातिशय की परिपुष्टि से है। इसके विषय में कुन्तक का कहना है कि—

'एतदेव विशेषणवक्रत्वं नाम प्रस्तुतौचित्यानुसारि सकलसत्काव्यजीवितत्वेन लक्ष्यते, यस्मादनेनैव रसः परां परिपोषपदवीमवतार्यते'—पृ० २२६

इसी से विशेषण का स्वरूप निर्धारण करते हुए वे कहते हैं—

स्वमहिम्ना विधीयन्ते येन लोकोत्तरश्रिय ।
रसस्वभावालङ्कारास्तद विधेयं विशेषणम् ॥ (पृ० २२७)

(ङ) संवृतिवक्रता—जहाँ पर पदार्थ का स्वरूप किसी वैचित्र्य का प्रतिपादन करने के लिए उसके अपूर्व वाचकभूत सर्वनाम आदि के द्वारा छिपा दिया जाता है, वहाँ संवृतिवक्रता होती है। यह संवरण अधोलिखित अवस्थाओं में प्रयुक्त होकर संवृतिवक्रता की सृष्टि करता है—

(१) जहाँ पर साक्षात् शब्दों द्वारा कही जा सकने योग्य भी उत्कर्षयुक्त वस्तु का सामान्यवाची सर्वनाम के द्वारा यह सोचकर संवरण कर दिया जाता है कि कहीं साक्षात् प्रतिपादन के कारण इस वस्तु का उत्कर्ष इयत्ता से परिच्छिन्न होकर परिमितप्राय न हो जाय वहाँ संवृतिवक्रता होती है।

(२) जहाँ पर अपने स्वभावोत्कर्ष की चरम सीमा को पहुँची हुई वस्तु को वाणी का अविषय सिद्ध करने के लिए उसे सर्वनामादि के द्वारा आच्छादित करके प्रस्तुत किया जाता है—वहा दूसरे प्रकार की संवृतिवक्रता होती है।

(३) जहाँ किसी अत्यन्त सुकुमार वस्तु को बिना उसके कार्यातिशय को कहे ही केवल संवरणमात्र से सौन्दर्य की पराकाष्ठा को पहुँचा दिया जाता है वहाँ तीसरे प्रकार की संवृतिवक्रता होती है।

(४) जहाँ किसी स्वानुभवसंवेद्य वस्तु को वाणी का अविषय सिद्ध करने के लिये ही सर्वनामादि के द्वारा संवरण कर दिया जाता है, वहाँ चौथे प्रकार की संवृतिवक्रता होती है।

(५) पाँचवें प्रकार की संवृतिवक्रता वहाँ होती है जहाँ परानुभवैकगम्य वस्तु को वक्ता की वाणी का अविषय सिद्ध करने के लिए ही सर्वनामादि द्वारा संवरण कर दिया जाता है।

(६) छठी संवृतिवक्रता वहाँ होती है जहाँ पर स्वभावतः अथवा कवि की विवक्षा से किसी दोष से युक्त वस्तु का सर्वनामादि के द्वारा संवरण उसकी महापातक के समान अकथनीयता का प्रतिपादित करने के लिए किया जाता है।

(च) पदमध्यान्तर्भूत प्रत्ययवक्रता—जहाँ पर पद के मध्य में आने वाले कृदादि प्रत्यय अपने उत्कर्ष के द्वारा वर्ण्यमान पदार्थ के औचित्य की रमणीयता को अभिव्यक्त करते हैं वहाँ पदमध्यान्तर्भूत प्रत्ययवक्रता होती है।

अथवा जहाँ पर सुमादि आगमों के विलास से रमणीय कोई प्रत्यय बन्ध-सौन्दर्य को परिपुष्ट करता है वहाँ दूसरी प्रत्ययवक्रता होती है।

(छ) वृत्तिवैचित्र्यवक्रता—जहाँ पर वैयाकरणों के यहाँ प्रसिद्ध अव्ययी-

भाव आदि समास, तद्धित, एवं सुब्धातु वृत्तियों की अपने सजातियों की अपेक्षा विशिष्ट रमणीयता समुल्लसित होती है, वहाँ वृत्तिवैचित्र्यवक्रता होती है।

(ज) **भाववैचित्र्यवक्रता**—भाव की वक्रता से आशय धात्वर्थ अर्थात् क्रिया की वक्रता से है जहाँ कविजन यह समझ कर कि यदि भाव को साध्यरूप में कहा जायगा तो प्रस्तुत पदार्थ की भलीभाँति पुष्टि नहीं होगी; उसकी साध्यता की अवज्ञा करके उसे सिद्ध रूप से प्रस्तुत करते हैं वहाँ भाववैचित्र्यवक्रता होती है।

(झ) **लिङ्गवैचित्र्यवक्रता**—जहाँ पर पुंलिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग के विशिष्ट प्रयोगों के कारण काव्य में रमणीयता आती है वहाँ लिङ्गवैचित्र्यवक्रता होती है।

(१) जहाँ पर कवि द्वारा विभिन्न स्वरूप वाले लिङ्गों के सामानाधिकरण्य रूप में प्रस्तुत किए जाने पर किसी अपूर्व सौन्दर्य की सृष्टि हो जाती है वहाँ प्रथम प्रकार की लिङ्गवक्रता होती है।

(२) जहाँ पर अन्य लिङ्गों के सम्भव होने पर भी कवि लोग काव्यसौन्दर्य को प्रस्तुत करने के लिए यह सोचकर कि 'स्त्री, यह नाम ही मनोहर है', केवल स्त्रीलिङ्ग का ही प्रयोग करते हैं, वहाँ दूसरे प्रकार की लिङ्गवक्रता होती है। ऐसा करने से उन्हें शृङ्गारादि रसों की परिपुष्टि कराना बहुत ही आसान हो जाता है क्योंकि स्त्रीलिङ्ग के प्रयोग के कारण दूसरी विच्छित्ति से नायक-नायिका आदि के व्यवहार की प्रतीति होने से रसादि की परिपुष्टि अधिक रमणीय ढंग से हो जाती है।

(३) तीसरे प्रकार की लिङ्गवैचित्र्यवक्रता वहाँ होती है, जहाँ कविजन वर्ण्यमान पदार्थ के औचित्य के अनुरूप, तीनों लिङ्गों के सम्भव होने पर भी किसी विशिष्ट लिङ्ग को उपनिबद्ध करके सौन्दर्यातिशय को प्रस्तुत करते हैं।

३. क्रियावैचित्र्यवक्रता—

अभी तक कुन्तक द्वारा प्रतिपादित पदपूर्वार्द्धगत प्रतिपादक की वक्रताओं का विवेचन प्रस्तुत किया गया। अब धातु की वक्रता का विवेचन करना है। चूंकि धातु की वक्रता का मूल क्रिया की विचित्रता है अतः कुन्तक ने इसका नाम क्रियावैचित्र्यवक्रता रखा और यही प्रतिपादित किया कि क्रियावैचित्र्य के कितने प्रकार हो सकते हैं—

"तस्य च (अर्थात् धातुरूपस्य पूर्वभागस्य च) क्रियावैचित्र्यनिबन्धनमेव वक्रत्वं विद्यते। तस्मात् क्रियावैचित्र्यस्यैव कीदृशाः कियन्तश्च प्रकाराः सम्भवन्तीति तत्स्वरूपनिरूपणार्थमाह।" (पृ० २४५)

क्रियावैचित्र्य के कुन्तक ने पाँच प्रकार बताये हैं। वे पाँचों प्रकार वक्रता तभी प्रस्तुत करेंगे जब कि वे वर्ण्यमान पदार्थ के औचित्य से रमणीय होंगे—प्रस्तुतौचित्यचारवः—२।२५

(१) क्रिया का पहला वैचित्र्य है उसका 'कर्ता का अत्यधिक अन्तरङ्ग होना'—कर्तुरत्यन्तरङ्गत्वम्—(२।२४)। आशय यह कि कवि काव्य में कर्ता के उस क्रियाविशेष को प्रस्तुत करके जिस सौन्दर्य की सृष्टि करता है उसे कोई दूसरी क्रिया नहीं कर सकती। इसीलिए वहाँ क्रियावैचित्र्यवक्रता होती है। जैसे—

क्रीडारसेन रहसि स्मितपूर्वमिन्दो-
लेंखां विकृष्य विनिबध्य च मूर्ध्नि गौर्या।
किं शोभिताऽहमनयेति शशाङ्कमौलेः
पृष्टस्य पातु परिचुम्बनमुत्तरं वः॥

में भगवान् शङ्कर द्वारा उत्तर रूप में चुम्बन से भिन्न किसी अन्य क्रिया द्वारा पार्वती के उस लोकोत्तर सौन्दर्य का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता था। इसलिए चुम्बनरूप क्रिया उत्तररूप कर्ता की अत्यधिक अन्तरङ्ग है। अतः यह क्रियावैचित्र्यवक्रता हुई।

(२) क्रियावैचित्र्य का दूसरा प्रकार है—कर्ता की अपने सजातीय दूसरे कर्ता की अपेक्षा विचित्रता। कर्ता की विचित्रता यही होती है कि वह अपने अन्य सजातीय कर्ताओं की अपेक्षा विचित्र स्वरूप वाली क्रिया को ही सम्पादित करता है। जैसे—'त्रायन्तां वो मधुरिपोः प्रपन्नार्तिच्छिदो नखा।' में जो कर्ताभूत नख के द्वारा अपने सजातीयों की अपेक्षा विचित्र 'प्रपन्नार्तिच्छेदनरूप' क्रिया प्रस्तुत की गई है, वह कर्ता की विचित्रता को प्रतिपादित करते हुए क्रियावैचित्र्य-वक्रता को प्रस्तुत करता है।

(३) क्रियावैचित्र्य का तीसरा प्रकार है—अपने विशेषण के द्वारा आने वाली विचित्रता। आशय यह है जहाँ क्रियाविशेषण के द्वारा ही क्रिया का सौन्दर्य सहृदयहृदयहारी हो जाता है वहाँ क्रियावैचित्र्यवक्रता होती है।

(४) क्रियावैचित्र्य का चतुर्थ प्रकार है—इसकी उपचार अर्थात् सादृश्य आदि सम्बन्ध का आश्रय ग्रहण कर किये गए दूसरे धर्म के आरोप के कारण आने वाली रमणीयता। जैसे—'तरन्तीवाङ्गानि स्खलदमललावण्यजलधौ' में अङ्गों की लावण्यसागर में तैरने रूप क्रिया की उत्प्रेक्षा की गई है, वह उपचार के कारण ही लोकोत्तर रमणीयता को प्राप्त कर गई है।

(५) क्रियावैचित्र्य का पाँचवाँ प्रकार है—उसके द्वारा कर्म इत्यादि कारकों का संवरण। जहाँ पर वर्ण्यमान पदार्थ के औचित्य के अनुरूप उसके

लोकोत्तर उत्कर्ष की प्रतीति कराने के लिये कर्म आदि को सर्वनामादि के द्वारा छिपा कर क्रिया का प्रतिपादन किया जाता है, वह क्रिया के वैचित्र्यवक्रता को प्रस्तुत करने के कारण क्रियावैचित्र्यवक्रता को प्रस्तुत करता है। जैसे—

'नेत्रान्तरे मधुरमर्पयतीव किञ्चित्' में किसी लोकोत्तर कर्म को सम्पादित करती हुई क्रिया को, उपनिबद्ध किया गया है, कर्म का 'किञ्चित्' द्वारा संवरण किया गया है।

इस प्रकार द्वितीय उन्मेष की २५ वीं कारिका तक कुन्तक पदपूर्वार्द्धवक्रता का विवेचन कर उसकी समाप्ति इन शब्दों में करते हैं:—

इत्ययं पदपूर्वार्द्धवक्रभावो व्यवस्थितः।
दिङ्मात्रमेवमेतस्य शिष्टं लक्ष्ये निरूप्यते॥

पदपरार्ध अथवा प्रत्ययवक्रता

(क) कालवैचित्र्यवक्रता—प्रत्ययवक्रता का विवेचन प्रारम्भ करते हुए कुन्तक सर्वप्रथम कालवैचित्र्यवक्रता को प्रस्तुत करते हैं। जहाँ पर वर्ण्यमान पदार्थ के औचित्य का अत्यन्त अन्तरङ्ग होने के कारण अर्थात् उसके उत्कर्ष को उत्पन्न करने वाला वैयाकरणों में प्रसिद्ध लट् आदि प्रत्ययों द्वारा वाच्य वर्तमान आदि काल रमणीयता को प्राप्त करता है, वहाँ कालवैचित्र्यवक्रता होती है।

(ख) कारकवक्रता—जहाँ पर भङ्गीभणिति की किसी अपूर्व रमणीयता को परिपुष्ट करने के लिए कवि कारकों के परिवर्तन को प्रस्तुत करते हैं, वहाँ कारकवक्रता होती है। कहने का आशय यह कि जहाँ कविजन प्रधान कारक को गौण बना कर और गौण कारक को उस पर प्रधानता का आरोप करके प्रधान रूप से उपनिबद्ध करते हैं वहाँ कारकवक्रता होती है। इस प्रकार से करणभूत गौण अचेतन आदि पदार्थ मुख्य चेतन में सम्भव होने वाली कर्तृता के आरोप से कर्तारूप में उपनिबद्ध होकर चमत्कार जनक हो जाते हैं। जैसे—

'स्तनद्वन्द्वं मन्दं स्नपयति बलाद् बाष्पनिवहः' में बाष्प निवह' अचेतन, गौण, एवं करणभूत है किन्तु कवि ने यहाँ उस पर चेतन में सम्भव होनेवाली कर्तृता का आरोप कर उसे कर्तारूप में उपनिबद्ध कर अपूर्व कारकवैचित्र्य को प्रस्तुत किया है।

(ग) सङ्ख्यावक्रता—जहाँ कविजन काव्यवैचित्र्य का प्रतिपादन करने की इच्छा से वचन विपरिणाम को प्रस्तुत करते हैं वहाँ सङ्ख्यावक्रता होती है। आशय यह कि जहाँ एकवचन या द्विवचन का प्रयोग करने के बजाय बहुवचन का प्रयोग कर देते हैं अथवा दो भिन्न वचनों का सामाना-

धिकरण्य प्रस्तुत कर देते हैं वहाँ संख्यावक्रता होती है। जैसे—'प्रियो मन्युर्जातस्तव निरनुरोधे न तु वयम्' में ताटस्थ्य का प्रतिपादन करने के लिये एकवचन 'अहम्' का प्रयोग न करके बहुवचन 'वयम्' का प्रयोग किया गया है। अथवा 'फुल्लेन्दीवरकाननानि नयने' में नयन में प्रयुक्त द्विवचन का काननानि में प्रयुक्त बहुवचन के साथ सामानाधिकरण्य सहृदयहृदयाह्लादकारी है।

(घ) पुरुषवक्रता—जहाँ कविजन काव्यसौन्दर्य को प्रस्तुत करने की इच्छा से उत्तम अथवा मध्यमपुरुष के स्थान पर कभी प्रथमपुरुष का प्रयोग कर देते हैं, अथवा अस्मद् या युष्मद् आदि का प्रयोग न कर केवल प्रातिपदिकमात्र का प्रयोग करते हैं वहाँ पुरुषवक्रता होती है। जैसे 'जानातु देवी स्वयम्' में वक्ता ने अपनी उदासीनता का प्रतिपादन करने के लिए 'युष्मद्' मध्यमपुरुष का प्रयोग न कर प्रादिपदिकमात्र का प्रयोग किया है जो सहृदयावर्जक होने के कारण पुरुषवक्रता को प्रस्तुत करता है।

(ङ) उपग्रहवक्रता—धातुओं के लक्षण के अनुसार निश्चित पद (आत्मनेपद अथवा परस्मैपद) के आश्रय वाले प्रयोग को उपग्रह करते हैं—

"धातूनां लक्षणानुसारेण नियतपदाश्रयः प्रयोगः पूर्वाचार्याणाम् 'उपग्रह'—शब्दाभिधेयतया प्रसिद्धः।"—(पृ० २६३)

अतः जहाँ कविजन वर्ण्यमान पदार्थ के औचित्य के अनुरूप सौन्दर्य का सृष्टि के लिये आत्मनेपद अथवा परस्मैपद में से किसी एक पद का ही प्रयोग करते हैं वहाँ उपग्रहवक्रता होती है

(छ) प्रत्ययविहित प्रत्ययवक्रता—जहाँ पर तिङादि प्रत्ययों से बनाया गया अन्य प्रत्यय किसी अपूर्व रमणीयता को प्रस्तुत करता है वह अभी तक बतायी गयी वक्रताओं से भिन्न एक प्रत्ययविहित प्रत्ययवक्रता को प्रस्तुत करता है जैसे—

"वन्दे द्वावपि तावहं कविवरौ वन्देतरां तं पुनः" में 'वन्देतराम्' पद में तिङ्प्रत्यय से विहित प्रत्ययवक्रता को प्रस्तुत करता है।

उपसर्गनिपातजनित पदवक्रता

अभी तक कुन्तक ने यथासम्भव नाम एवं आख्यात पदों में से प्रत्येक के प्रकृति एवं प्रत्यय से सम्भव होने वाली वक्रताओं का विवेचन प्रस्तुत किया। किन्तु इनके अतिरिक्त उपसर्गों और निपातों के अव्युत्पन्न होने के कारण उनका अवयवों के अभाव में कोई विभाग सम्भव नहीं था। अतः उन्हें न वे पदपूर्वार्द्धवक्रता के अन्तर्गत ही विवेचित कर सकते थे और न पदपरार्धवक्रता के अन्तर्गत

ही । अतः इन दोनों का अलग-अलग विवेचन कर अब सम्पूर्ण पद की वक्रता के रूप में उपसर्गों एवं निपातों की वक्रता को प्रस्तुत करते हैं । जहाँ उपसर्ग तथा निपात सम्पूर्ण वाक्य के एकमात्र प्राण रूप में शृङ्गार आदि रसों को प्रकाशित करते हैं, वहाँ उपसर्ग एवं निपातजनित पदवक्रतायें हुआ करती हैं । यद्यपि इन उपसर्गादिक से लगे हुए अन्य प्रत्यय भी पदवक्रता को प्रस्तुत करते हैं—जैसे—"येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते ते" में अति के बाद आया हुआ 'तराम्' प्रत्यय, किन्तु इसका पूर्वोक्त प्रत्ययवक्रता के अन्तर्गत ही अन्तर्भाव हो जाने से अलग विवेचन कुन्तक ने नहीं किया । इस तरह चार प्रकार के पदों की विषयभूत वक्रताओं का उनके भेद-प्रभेद सहित विवेचन करके अन्त में उसके विषय में इस प्रकार कहते हैं:—

'तदेवमियमनेकाकारा वक्रत्वविच्छित्तिश्चतुर्विधपदविषया वाक्यैकदेशजीवितत्वेनापि परिस्फुरन्ती सकलवाक्यवैचित्र्यनिबन्धनतामुपयाति ।

वक्रतायाः प्रकाराणामेकोऽपि कविकर्मणः ।
तद्विदाह्लादकारित्वहेतुतां प्रतिपद्यते ॥ (पृ० १६९)

जहाँ पर इन वक्रता प्रकारों में से कई एक वक्रताप्रकार एक स्थल पर ही परस्पर एक दूसरे के सौन्दर्य को प्रस्तुत करने के लिए कवियों द्वारा उपनिबद्ध किए जाते हैं वहाँ ये नानाविध कान्ति से रमणीय वक्रता को प्रस्तुत करते हैं ।

वस्तुवक्रता अथवा पदार्थवक्रता

द्वितीय उन्मेष में पदवक्रता का भेद-प्रभेद सहित विवेचन कर चुकने के बाद कुन्तक ने तृतीय उन्मेष के प्रारम्भ में वस्तुवक्रता का विवेचन प्रस्तुत्त किया है ।

(१) जहाँ पर विवक्षित अर्थ को प्रतिपादन करने में पूर्णतया समर्थ, एवं अनेक प्रकार की वक्रताओं से विशिष्ट शब्द के द्वारा ही अत्यन्त रमणीय स्वाभाविक धर्म से युक्त रूप में वस्तु का वर्णन किया जाता है, वहां वस्तुवक्रता होती है । ऐसी वस्तुवक्रता को प्रस्तुत करते समय कविजन बहुत से उपमादि अलङ्कारों का उपयोग नहीं करते क्योंकि वैसा करने से वस्तु की सहज सुकुमारता के म्लान हो जाने का भय रहता है । जहां कवियों को विभाव आदि के औचित्य से शृङ्गारादि रसों की प्रतीति करानी होती है वहां वे इसी वस्तुवक्रता का सहारा लेते हैं । अलङ्कारादि का उपयोग बहुत कम करते हैं । जहाँ कहीं भी अलङ्कारों का उपयोग करते हैं वह केवल उस वस्तु की स्वाभाविक सुकुमारता को ही और भी अधिक समुन्मीलित करने के लिए ही न कि किसी अलङ्कार वैचित्र्य को प्रस्तुत करने के लिए ।

(२) कवि की शक्ति एवं व्युत्पत्ति के परिपाक से प्रौढ कुशलता से सुशोभित होने वाली वस्तु की सृष्टि दूसरी प्रकार की वस्तुवक्रता को प्रस्तुत करती है जिसका विषय कोई अभूतपूर्व एवं अलौकिक वस्तु का उत्कर्ष होता है। आशय यह कि कविजन किसी सत्ताहीन पदार्थ की सृष्टि तो करते नहीं, बल्कि अपनी सहज एवं आहार्य कुशलता से केवल सत्तारूप से ही स्फुरित होने वाले पदार्थों के किसी ऐसे उत्कर्ष को प्रस्तुत कर देते हैं जिससे कि वह सहृदयहृदयावर्जक हो उठता है। इस प्रकार सहज आहार्य भेद से वर्णनीय वस्तु की दो प्रकार की वक्रतायें होती हैं। वस्तु की सहज वक्रता उसके स्वाभाविक सौन्दर्य, एवं रसादि को परिपुष्ट करती है जब कि आहार्यवस्तुवक्रता अलङ्कारवैचित्र्य को प्रस्तुत करती है।

वर्णनीयवस्तु का विषयविभाग

कुन्तक ने वस्तुवक्रता का विवेचन करने के बाद तृतीय उन्मेष की पाँचवीं कारिका से दसवीं कारिका तक, छः कारिकाओं में, वर्णनीय वस्तु के विषय-विभाग एवं उसके स्वरूप को प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार वर्णनीय पदार्थों का, अभिनवपरिपोष के कारण रमणीय स्वभाव के अनुरूप होने के कारण मनोहारी स्वरूप दो प्रकार का होता है:—

१. चेतनों अर्थात् प्राणियों का स्वरूप और

२. अचेतनों अर्थात् जड़ों का स्वरूप। इनमें चेतन पदार्थों का स्वरूप प्रधानता एवं गौणता के आधार पर फिर दो प्रकार का हो जाता है:—

१. सुर, असुर, सिद्ध, विद्याधर आदि प्रधान चेतनों का स्वरूप

तथा (२) सिंहादि अप्रधान चेतनों का स्वरूप।

(१) इनमें से प्रधानभूत चेतनों अर्थात् सुरादिकों का वही स्वरूप कवियों के वर्णन का विषय बनता है जो कि रति आदि स्थायीभावों को भलीभांति परिपुष्ट करने के कारण रमणीय होता है।

(२) तथा गौणभूत चेतनों अर्थात् पशु, पक्षि एवं मृगादिकों का वही स्वरूप कवियों का वर्णनीय होता है जो कि अपनी जाति के अनुरूप स्वाभावानुसार व्यापार से युक्त होने के कारण सहृदयहृदयाह्लादक होता है।

(३) साथ ही गौणभूत चेतनों एवं अचेतनरूप वृक्षादिकों का शृङ्गारादि रसों को उद्दीप्त करने की सामर्थ्य द्वारा रमणीय स्वरूप ही ज्यादातर कवियों की वर्णना का विषय होता है।

(४) इसके अतिरिक्त चेतन और अचेतत सभी पदार्थों का लोकव्यवहार

के योग्य, तथा धर्मादि पुरुषार्थचतुष्टय की सिद्धि कराने वाले अपने व्यापार से रमणीय स्वरूप कवियों के वर्णन का बनता है।

वाक्यवक्रता एवम् अलङ्कार

सुकुमार, विचित्र एवं मध्यम मार्गों में विद्यमान वक्र शब्दों, अर्थों, गुणों एवं अलङ्कारों के सौन्दर्य से भिन्न, कवि की लोकोत्तर कुशलतारूप, किसी अनिर्वचनीय ढंग की शक्ति के ही प्राणवाली वाक्य की वक्रता होती है। जिस प्रकार किसी रमणीय चित्र में उसके फलक, रेखा-विन्यास, रंग और कान्ति से भिन्न ही चित्रकार की कुशलता प्राणरूप में झलकती रहती है उसी प्रकार वाक्य में मार्ग आदि, उनके शब्द, अर्थ, गुण एवं अलंकार आदि से बिल्कुल भिन्न कवि की कुशलता रूप वाक्यवक्रता, जो कि सहृदयहृदयसंवेद्य एवं समस्त प्रस्तुत पदार्थों की प्राणभूत होती है, दिखाई पड़ती है।

यद्यपि पदार्थों के स्वाभाविक सौकुमार्य को रमणीय ढंग से प्रस्तुत करने में, अथवा शृङ्गारादि रसों की मनोहारी ढंग से अबाध निष्पत्ति कराने में भी वाक्य-वक्रता रूप कवि-कौशल ही प्राणभूत होता है फिर भी रमणीय ढंग से अलंकार को प्रस्तुत करने में कवि कौशल का ही विशेष अनुग्रह होता है, अतः यथापि अलंकार पृथग् भाव से स्थित होते हैं फिर भी उनका कविकौशलाधीन स्थित वाली वाक्यवक्रता में ही अन्तर्भाव युक्तिसंगत है—इसीलिए कुन्तक ने प्रथम उन्मेष की २० वीं कारिका में स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया था—

वाक्यस्य वक्रभावोऽयो भिद्यते यः सहस्रधा।
यत्रालंकारवर्गोऽसौ सर्वोऽप्यन्तर्भविष्यति ॥

अलङ्कार-विवेचन

आचार्य कुन्तक ने पूर्वाचार्यों द्वारा स्वीकृत अलंकारों में से केवल बीस अलंकार नाम्ना स्वीकार किए हैं। उनमें प्रायः सभी अलंकारों को उन्होंने अपने ढङ्ग से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। तथा जिन अलंकारों के प्राचीन आलंकारिकों द्वारा दिये गये लक्षण उन्हें युक्तियुक्त नहीं प्रतीत हुए उनका अपने तर्कों द्वारा खण्डन कर उन्होंने नया लक्षण प्रस्तुत किया है। वे स्वीकृत २० अलंकार हैं—

१. रूपक २. अप्रस्तुतप्रशंसा ३. पर्यायोक्त ४. व्याजस्तुति ५. उत्प्रेक्षा ६. अतिशयोक्ति ७. उपमा ८. श्लेष ९. व्यतिरेक १०. दृष्टान्त ११. अर्थान्तर-न्यास १२. आक्षेप १३. विभावना १४. ससन्देह १५. अपह्नुति १६. संसृष्टि

और १७, संकर, तथा ३ अन्य अलंकार जिनके पूर्वाचार्यों द्वारा किए गए लक्षणों का खण्डन कर अपने ढङ्ग से नये लक्षण दिये—वे हैं—१८ रसवत् १९. दीपक और २० सहोक्ति। इन अलंकारों के अतिरिक्त उन्होंने पूर्वाचार्यों द्वारा स्वीकृत निम्न १९ अलंकारों की अलंकारता का खण्डन किया हैः—

१. प्रेयस् २. ऊर्जस्विन् ३. उदात्त ४. समाहित ५. प्रतिवस्तूपमा ६. उपोमपमा ७. तुल्ययोगिता ८. अनन्वय ९. निदर्शना १०. परिवृत्ति ११. विरोध १२. समासोक्ति १३. यथासङ्ख्य १४. आशीः १५ विशेषोक्ति १६. हेतु १७. सूक्ष्म १८. लेश और १९. उपमारूपक।

परन्तु बड़े ही असौभाग्य का विषय है कि इन अलंकारों का विवेचन-स्थल पाण्डुलिपि में अत्यन्त भ्रष्ट और खण्डित था। जिसकी वजह से डा० डे महोदय उसे समीचीन ढंग से प्रकाशित करने में असमर्थ रहे। फिर भी उनसे द्वारा दिए गये मूल और Resume के आधार पर इन अलंकारों के जो विषय में निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं उन्हें हम संक्षेप से प्रस्तुत करते हैं। हम यहाँ पर पूर्वाचार्यों द्वारा स्वीकृत इन्हीं अलंकारों का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत करेंगे जिनका कि कुन्तक ने खण्डन किया हैः—

१. रसवदलङ्कार

प्राचीन आचार्यों द्वारा स्वीकृत रसवदलंकार को कुन्तक ने अलंकार्य कहा और उसकी अलंकारता का खण्डन दो आधारों पर किया हैः—

१. वर्ण्यमान के स्वरूप से भिन्न किसी अन्य वस्तु का बोध होने से—तथा

(२) शब्द और अर्थ की सङ्गति न होने सेः—

१. प्रथम आधार के विषय में कुन्तक प्राचीन आचार्यों भामह, दण्डिन् तथा उद्भट के लक्षणों को प्रस्तुत कर उनमें दिखाते हैं कि इनके लक्षणों से अलंकार और अलंकार्य का विभाग किया ही नहीं जा सकता क्योंकि जो अलंकार्य है उसी को ये लोग अलंकार कहते हैं। इन तीनों आचार्यों की परिभाषाओं में मुख्यतः रस को ही रसवदलंकार कहा गया है। रस तो अलंकार्य है, उसे अलंकार माना ही नहीं जा सकता। क्योंकि ऐसा मानने पर अपने में ही क्रियाविरोध होगा, साथ ही यदि रस को हम अलंकार मान भी लें तो अलंकार्य किसे मानें? ऐसी कोई व्यवस्था इन आचार्यों के लक्षणों में नहीं है। उनके लक्षणों की इस ढङ्ग की अव्यवस्था का बड़े ही सूक्ष्म तर्कों द्वारा कुन्तक ने प्रतिपादन किया है, उसे विस्तार के भय से यहाँ प्रस्तुत करना ठीक नहीं, उसे मूल ग्रन्थ में देखें।

भामह, उद्भट, दण्डी आदि के अतिरिक्त कुछ आचार्यों ने सम्भवतः यह सिद्धान्त प्रस्तुत किया था कि चेतन पदार्थों के वर्णन प्रसङ्ग में रसवदलङ्कार

और अचेतन पदार्थों के प्रसङ्ग में उपमादि अलंकार मानना चाहिए। कुन्तक ने इस पक्ष को उठाकर उसका विशेष खण्डन स्वयं नहीं किया क्योंकि इसका खण्डन आनन्दवर्धन कर चुके थे। अतः इन्होंने उसका केवल निर्देश मात्र कर दिया है।

इसके अनन्तर कुन्तक आनन्दवर्धन के भी रसवदलंकार के लक्षणः—

प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः।
काव्ये तस्मिन्नलंकारो रसादिरिति मे मतिः॥

से भी सहमत नहीं हैं। वे आनन्दवर्धन द्वारा उद्धृत 'क्षिप्तो हस्तावलग्नः' और 'किं हास्येन न मे प्रयास्यसि' उदाहरणों का खण्डन करते हैं। उनके लक्षण का खण्डन करने में भी कुन्तक के दो तर्क सामने आते हैं:—

१. रस अलंकार्य है। यह अलंकार नहीं हो सकता।

२. जब आप 'तस्मिन्नलंकारो रसादिरिति म मतिः' कहते हैं तो फिर आपको रसालंकार कहना चाहिए 'रसवदलंकार' नहीं क्योंकि 'मत्' प्रत्तय का कोई आशय नही प्रतिपादित किया गया।

(२) रसवदलंकार के खण्डन का दूसरा आधार था शब्द और अर्थ की असङ्गति। कुन्तक का कहना है कि 'रसवदलंकार' में आप दो प्रकार समास कर सकते हैं—(क) षष्ठीसमास—जिसमें रस विद्यमान है वह हुआ रसवद् और उसका अलंकार रसवदलंकार। इस पक्ष को स्वीकार करने में आपत्ति यह है कि रस से भिन्न कौन सा पदार्थ जिसमें रस विद्यमान है और उसका यह अलंकार है। यदि उत्तर यह दें कि काव्य में रस विद्यमान है, तो काव्य का अलंकार केवल 'रसवद्' ही नही है बल्कि अन्य सभी अलंकार है। अतः इसकी अन्य अलंकारों से कोई विशिष्टता रह ही नहीं जायगी।

(ख) विशेषण समास—अगर हम कहें कि जो रसवान् और अलंकार है वह रसवदलंकार है तो यहां उस विशेष्यभूत अलंकार के अतिरिक्त और कोई पदार्थ है ही नहीं जो अलंकार वन सके। अतः शब्द और अर्थ की संगति भी न होने से 'रसवदलङ्कार' नहीं हो सकता।

कुन्तकाभिमत रसवदलङ्कार का लक्षण—इस प्रकार सभी प्राचीन आचार्यों के रसवदलङ्कार के स्वरूप का खण्डन कर कुन्तक अपना लक्षण इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

जो उपमा रूपकादि अलङ्कार काव्य में शृंगारादि रसों के समान सरसता का सम्पादन करते हुए सहृदयों को आह्लादित करने में समर्थ होते हैं वे रस के तुल्य होने के कारण रसवदलङ्कार कहे जाते हैं। जैसे कोई क्षत्रिय ब्राह्मणों के तुल्य आचार करने प्रर 'ब्राह्मणवत्क्षत्रिय' कहा जाता है।

और इस प्रकार से वह रसवदलङ्कार समस्त अलंकारों का प्राणभूत होकर काव्यैकसर्वस्वता को प्राप्त करता है।

२. प्रेयस् अलङ्कार

प्रेयस् अलंकार का खण्डन करते हुए कुन्तक ने दण्डी के लक्षण को प्रस्तुत किया है। भामह ने तो लक्षण दिया ही नहीं केवल उदाहरण दिया है। इसके विषय में भी कुन्तक इसी तर्क को प्रस्तुत करते हैं कि यहां जो अलंकार्य है उसी को अलंकार माना गया है। अतः वर्ण्यमान के स्वरूप से भिन्न किसी अन्य वस्तु का वोध न करा सकने के कारण यह अलंकार नहीं हो सकता। और यदि अलंकार्य को ही अलंकार मानने का दुराग्रह करें तो अपने में ही क्रियाविरोध दूर नहीं किया जा सकता। किन्तु यदि कोई दण्डी और भामह के—'अद्य या मम गोविन्द' इत्यादि उदाहरणों के अतिरिक्त 'इन्द्रोलक्ष्मं त्रिपुरजयिनः' आदि जैसे उदाहरणों को उद्धृत करके यह कहे कि यहां प्रियतर आख्यान होने के कारण प्रेयस् अलंकार और निन्दामुखेन स्तुति होने के कारण 'व्याजस्तुति' अलंकार का संकर है। तो ठीक नहीं क्योंकि यहाँ प्रियतर कथन ही तो अलंकार्य है, क्योंकि यदि उसे भी अलंकार मान लिया जाय तो अलंकार्य रूप में कुछ शेष ही नहीं बचता। अतः ऐसे स्थलों पर भी प्रेयस् अलंकार्य ही रहेगा अलंकार नहीं।

३. ऊर्जस्वि अलङ्कार

इसे भी कुन्तक ने अलंकार्य की कोटि में ही रखा है। भामह ने तो कोई लक्षण दिया नहीं केवल उदाहरण दिया है। कुन्तक दण्डिन् के 'अपहर्ताहमस्मीति' आदि उदाहरण को प्रस्तुत कर किस ढंग से आलोचना की यह कह सकना कठिन है। उद्भट के लक्षण—

'अनौचित्यप्रवृत्तानां कामक्रोधादिकारणात्।
भावानां रसानाञ्च बन्ध ऊर्जस्वि कथ्यते॥'

की आलोचना में उन्होंने यह निर्देश किया कि यदि भाव अनौचित्य प्रवृत्त होगा तो वहाँ रसभङ्ग हो जायगा जैसा आनन्द ने कहा है—'अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्'। इसके बाद वे कहते हैं—'न रसवदाद्यभिहितदूषणपात्रतामतिक्रामति, तदेतदुक्तमत्र योजनीयम्।' (पृ० १७१)

४. उदात्त अलङ्कार

उदात्त को भी कुन्तक अलंकार्य ही मानते हैं। वे उद्भट के दोनों प्रकार के उदात्त की आलोचना करते हैं। उद्भट का लक्षण है:—

उदात्तमृद्धिमद्वस्तु चरितञ्च महात्मनाम् ।
उपलक्षणतां प्राप्तं नेतिवृत्तत्वमागतम् ॥

पहले प्रकार के विषय में कुन्तक कहते हैं जिस ऋद्धिमद्वस्तु तुम अलंकार कहते हो वही तो वर्ण्यशरीर होने के कारण अलंकार्य है । अतः यहाँ स्वात्मनि क्रियाविरोध दोष उपस्थित है और यदि तुम यह कहो कि ऋद्धिमद्वस्तु जिसमें हो वह उदात्तालंकार है तो काव्य ही अलङ्कार होने लगेगा । जब कि काव्य ही नहीं बल्कि काव्य के अलङ्कार होते हैं ऐसी प्रसिद्धि है । अतः यहाँ 'शब्दार्थासङ्गति' रूप दोष विद्यमान है । अतः इस प्रथम प्रकार की अलंकार्यता ही उचित है ।

दूसरे भेद के विषय में कुन्तक कहते हैं कि क्या उपलक्षणमात्र वृत्ति वाले महानुभावों के व्यवहार का प्रस्तुत वाक्यार्थ में कोई अन्वय है, या नहीं है । अगर अन्वय है तो वह उसके अंग रूप में आ जायगा, अलङ्कार नहीं बन जायगा जैसे शरीर के हाथ आदि अङ्ग हैं, अलङ्कार नहीं । और यदि उसका प्रस्तुत वाक्यार्थ में कोई अन्वय ही नहीं है तो सत्ता का ही अभाव होने पर अलङ्कारता की चर्चा तो बहुत दूर की बात है । अतः दोनों प्रकार का उदात्त अलंकार्य ही है, अलङ्कार नहीं ।

५. समाहित अलङ्कार

समाहित की भी अलंकार्यता ही कुन्तक को मान्य है—'एवं समाहितस्याप्य-लंकार्यत्वमेव न्याय्यम्' न पुनरलंकारभावः ।' समाहित के उन्होंने दो प्रकार बताकर दोनों का खण्डन किया है । पहले प्रकार के रूप में उन्होंने उद्भट के लक्षण को प्रस्तुत कर उसका खण्डन किया है । खण्डन किस ढंग से किया यह कहना कठिन है । फिर दूसरे प्रकार के उदाहरण रूप में दण्डी के लक्षण का खण्डन प्रस्तुत किया है—

'यदपि कैश्चित् प्रकारान्तरेण समाहिताख्यमलङ्करणमाख्यातं तस्यापि तथैव भूषणत्वं न विद्यते ।'

६. दीपक अलङ्कार

कुन्तक ने भामह के दीपकालंकार के लक्षण का खण्डन किया है । उनका कहना है कि प्राचीन आचार्यों में आदिदीपक, मध्यदीपक और अन्तदीपक के इस प्रकार के क्रियापद के ही आदि, मध्यम और अन्त में विद्यमान रहने से क्रियापद को ही दीपकालंकार कहा है । इसी बात का कुन्तक कई तर्कों द्वारा खण्डन करते हैं । उसे मूल ग्रन्थ से देखें । उन्हें केवल क्रियापद ही दीपक होता है यही स्वीकार

करने में विरोध है जैसा कि वे अपने दीपकालङ्कार के विवेचन के बाद 'मदो जनयति प्रीतिम्' आदि भामह के उदाहरण को प्रस्तुत करने के बाद स्वयं कहते हैं—'क्रियापदमेकमेव दीपकमिति तेषां तात्पर्यम्, अस्माकं पुनः कर्तृपदादि निबन्धनानि दीपकानि बहूनि सम्भवन्तीति।'

दीपक के लक्षण में वे उद्भट को बल्कि अभियुक्ततर कहते हैं—'प्रस्तुताप्रस्तुतविष्यसामर्थ्यसम्प्राप्तिप्रतीयमानवृत्तिसाम्यमेव. नान्यत् किञ्चित् इत्यभियुक्ततरैः प्रतिपादितमेव—'आदिमध्यान्तरविषयाः प्राधान्येतरयोगिनः। अन्तर्गतोपमा धर्मा यत्र तद्दीपकं विदुः।' और उद्भट के साथ वे सहमति व्यक्त करते हैं कि यदि प्रस्तुत और अप्रस्तुत में प्रतीयमानवृत्ति साम्य नहीं होगा तो दीपक होगा ही नहीं। और उनकी 'अन्तर्गतोपमा धर्म' की विशेषता को समर्थन देते हैं। उनका दीपक का लक्षण है—

"औचित्यावहनम्लानं तद्विदाह्लादकारणम्।
अशक्तं धर्ममर्थानां दीपयद् वस्तुदीपकम्॥"

पाण्डुलिपि के अस्पष्ट और खण्डित होने के कारण यह कह सकना कठिन है किस प्रकार उन्होंने उसकी व्याख्या और विभाजनादि किया।

७. उपमा में अन्तर्भूत होने वाले अलङ्कार

(क) प्रतिवस्तूपमा—कुन्तक प्रतिवस्तूपमा का अन्तर्भाव प्रतीयमानोपमा में करते हैं—"समानवस्तुन्यासोपनिबन्धनं प्रतिवस्तूपमापि न पृथग् वक्तव्यतामर्हति पूर्वोदाहरणेनैव समानयोगक्षेमत्वात्" तथा—"तदेवं प्रतिवस्तूपमायाः प्रतीयमानोपमायामन्तर्भावोपपत्त्यो सत्याम्।" (पृ० ३७६)

(ख) उपमेयोपमा—उपमेयोपमा भी उपमा से भिन्न नहीं। वह सामान्य है। क्योंकि उसके लक्षण की उपमा के लक्षण से अन्यथास्थित नहीं। अन्तर केवल इतना ही तो है कि उसमें उपमान उपमेय और उपमेय उपमान हो जाता है।

(ग) तुल्ययोगिता—तुल्ययोगिता भी स्पष्ट रूप से उपमा ही होती है—'सा भवत्युपमितिः स्फुटम्।' क्योंकि उसमें दो पदार्थों के बीच साम्यातिरेक विद्यमान रहता है जिनसे से प्रत्येक मुख्यरूप से वर्णनीय पदार्थ होता है। वे भामह के लक्षण के अनुसार भी उनके तुल्ययोगिता के 'शेषो हिमगिरिः' आदि उदाहरण को उपमा में अन्तर्वृत कर कहते हैं—'उक्त (भामह) लक्षणे तावदुपमान्तर्भावस्तुल्ययोगितायाः।

(घ) अनन्वय—अनन्वय के विषय में भी कुन्तक का यही कहना है कि

उसका भी अलग से लक्षण करने की कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि उसमें एक उपमान ही तो काल्पनिक रहता है। इसके विषय में वे कहते हैं—

"तदेवमभिधावैचित्र्यप्रकाराणामेवंविधं वैश्वरूप्यम्, न पुनर्लक्षणभेदानाम् ।"

(ङ) निदर्शना—निदर्शना भी उपमा में ही अन्तर्भूत है—'निदर्शनमप्येवम्प्रायमेव'।

(च) परिवृत्ति—परिवृत्ति को भी वे उपमा से अलग नहीं स्वीकार करना चाहते—"परिवृत्तिरप्यनेन न्यायेन पृथङ् नास्तीति निरूप्यते।" उनका कहना है यहाँ पर दो पदार्थों का विनिवर्तन होता है और दोनों ही मुख्य रूप से अभिधीयमान होते हैं। इसलिए कोई किसी का अलंकार नहीं हो सकता। हाँ, जब इनका रूपान्तरनिरोध होता है तो साम्य के सद्भाव में अवश्य ही उपमा अलंकार हो जाती है।—"रूपान्तरनिरोधेषु पुनः साम्यसद्भावे भवत्युपमितिरेषा चालङ्कृतिः समुचिता।" (पृ० ३८२)

८. विरोध और ९. समासोक्ति

इस स्थल की पाण्डुलिपि अत्यन्त भ्रष्ट होने के कारण डॉ० डे कोई विशेष निर्देश नहीं कर सके। उनके निर्देशानुसार—विरोध श्लेष से अभिन्न होने के कारण उसी में अन्तर्भूत है उसकी अलग से अलंकारता कुन्तक को स्वीकार नहीं—'श्लेषेणासम्भिन्नत्वात्।'

समासोक्ति के विषय में उनका कहना है कि वह भी अन्य अलंकार के रूप में शोभाशून्य होने के कारण श्लेष से अभिन्न है—'अलङ्कारान्तरत्वेन शोभाशून्यतया।'

१०. सहोक्ति अलङ्कार

कुन्तक भामह के सहोक्त अलंकार के लक्षण और उदाहरण को प्रस्तुत कर उसका खण्डन करते हैं और कहते हैं कि भामह की यह सहोक्ति तो उपमा में ही अन्तर्भूत है क्योंकि वह चारुत्व साम्यसमन्वय के ही कारण है—भामह के उदाहरण के विषय में उनका कहना है—'अत्र परस्परसाम्यसमन्वयो मनोहारिनिबन्धनमित्युपमैव'।

कुन्तकाभिमत सहोक्ति लक्षण

जहाँ पर प्रधान रूप से विवक्षित अर्थ की प्रतीति कराने के लिए कई वाक्यार्थों का एक साथ ही कथन किया जाता है, वहाँ सहोक्ति अलंकार होता

है। कहने का आशय यह है कि जिस बात को दूसरे वाक्य द्वारा कहना चाहिए उसे भी प्रस्तुत अर्थ की सिद्धि कराने के लिए रमणीयता के साथ उसी वाक्य द्वारा कह दिया जाता है। इसके उदाहरण रूप में वे अन्य उदाहरणों के साथ-साथ विक्रमोर्वशीय से—

"सर्वक्षितिभृतान्नाथ दृष्टा सर्वाङ्गसुन्दरी।
रामा रम्ये वनोद्देशे मया विरहिता त्वया ॥'

को प्रस्तुत कर व्याख्या करते हैं—

"अत्र प्रधानभूतविप्रलम्भश्रृङ्गाररसपरिपोषणसिद्धये वाक्यार्थद्वयमुपनिबद्धम्।"

इसके बाद कुन्तक ने स्वयं ही प्रश्न उठाकर इसकी श्लेष से भिन्नता सिद्ध किया है।

११. यथासङ्ख्य

यथासंख्य में किसी भी प्रकार के उक्तिवैचित्र्य का अभाव होने से उसकी अलंकारता कुन्तक को मान्य नहीं—'भणितिवैचित्र्यविरहान्न काचिदत्र कान्तिर्विद्यते'।

१२. आशीः

आशीः को वे अलंकार्य मानते हैं अलङ्कार नहीं—क्योंकि उसमें आशंसनीय अर्थ ही मुख्य रूप से वर्णनीय होने के कारण अलङ्कार्य होता, जैसे कि प्रेयोऽलंकार में प्रियतराख्यान वर्णनीय होने कारण के अलङ्कार्य होता है। अतः जो दोष प्रेयस की अलंकारता मानने से आते हैं वे ही दोष आशीः को भी अलङ्कार मानने में आते हैं।

१३. विशेषोक्ति

कुन्तक विशेषोक्ति को भी अलंकार्य ही मानते हैं। इस विषय में वे भामह के—

स एकस्त्रीणि जयति जगन्ति कुसुमायुधः।
हरतापि तनुं यस्य शम्भुना न हृतं बलम् ॥

उदाहरण को उद्धृत कर आलोचना करते हैं कि इसमें समस्त लोकों में प्रसिद्ध विजय के उत्कर्षवाला कामदेव का स्वभाव ही तो वर्णित है अतः यह अलंकार्य है।

१४. हेतु, १५. सूक्ष्म तथा १६. लेश अलङ्कार

हेतु सूक्ष्म, और लेश की अलङ्कारता का खण्डन करते हुए वे भामह की—

हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालङ्कारतया मतः ।
समुदायाभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः ॥

इस उक्ति को समर्थन देते हैं और कहते हैं यहाँ किसी वैचित्र्य को प्रस्तुत न करने के कारण अलङ्कारता सम्भव नह । साथ ही दण्डी के उदाहरणों को प्रस्तुत कर कहते हैं कि यहाँ तो केवल वस्तु स्वभाव ही रमणीय है । अतः वह अलङ्कार्य है, अलङ्कार नहीं ।

१७. उपमारूपक

कुन्तक उपमारूपक की भी अलङ्कारता का खण्डन करते हैं । परन्तु किस ढंग से, यह कहना कठिन है । डा० डे ने केवल इतना ही अंश मुद्रित किया है कि—केचिदुपमारूपकाणामलंकरणत्वं मन्यन्ते, तदयुक्तम् , अनुपपद्यमानत्वात् ।"



प्रकरणवक्रता

इस प्रकार तृतीय उन्मेष तक कुन्तक प्रथम उन्मेष में परिगणित, वर्णविन्यास, पदपूर्वार्द्ध, पदपरार्द्ध और वाक्य की वक्रता का विवेचन प्रस्तुत कर अवशिष्ट प्रकरण और प्रबन्ध की वक्रता का चतुर्थ उन्मेष में विवेचन करते हैं। अनेक वाक्यों का समूह और सम्पूर्ण प्रबन्ध का एक अंश प्रकरण कहलाता है। जहाँ कवि इन प्रकरणों को अपनी सहज और आहार्य सुकुमारता से रमणीय बना देता है वहाँ प्रकरणवक्रता होती है। इसके अनेक प्रभेद कुन्तक ने प्रस्तुत किए हैं:—

१. जहां पर कवि पुरातनी कथा में अपनी अबाध स्वतन्त्रता का आश्रयण करके इस प्रकार से अपने अभीष्ट अर्थ को प्रस्तुत करता है कि न तो मूल का उच्छेद होने पाता है और न इस नयी कल्पना के उत्थान के विषय में कोई आशंका ही की जा सकती है, वहाँ कुन्तक के अनुसार पहली प्रकरणवक्रता होती है। जैसे 'रघुवंश' में कालिदास द्वारा उपनिबद्ध किया गया रघु और कौत्स का प्रकरण।

२. दूसरे प्रकार की प्रकरणवक्रता वह होती है जहाँ पर कवि इतिवृत्त में प्रयुक्त कथा में भी अपनी प्रतिभा के बल पर किसी नवीन प्रकरण को उद्भावित कर उसे काव्य का जीवितभूत बना देता है। यह कवि की नवीन उद्भावना दो प्रकार की होती है। एक तो वह जहाँ कवि इतिवृत में अविद्यमान की ही उद्भावना करता है—जैसे अभिज्ञान-शाकुन्तल में दुर्वाशा के शाप की उद्भावना। और कहीं पर इतिवृत्त में विद्यमान भी प्रकरण को अनौचित्ययुक्त होने के कारण नये ढंग से प्रस्तुत करता है। जैसे 'उदात्तराघव' में मारीचवध का प्रकरण जहाँ मृग को मारने के लिए गए हुए लक्ष्मण की रक्षा हेतु राम का गमन दिखाया गया है।

३. तीसरी प्रकरणवक्रता वहाँ होती है जहाँ कवि काव्य के मुख्य फल की सिद्धि कराने में समर्थ प्रकरणों के उपकार्योपकारक भाव को अपनी अलौकिक प्रतिभा से प्रस्तुत करता है। जैसे उत्तररामचरित के प्रथम अङ्क के चित्रदर्शन प्रकरण में जो सीता की भावी सन्तानों के लिए राम द्वारा जम्भकास्त्रसिद्धि प्रदान की गई, प्रधान कथा की पञ्चम अङ्क में जृम्भकास्त्रव्यापार द्वारा उपकारक सिद्ध होती है।

४. जहाँ कवि एक ही पदार्थस्वरूप को प्रत्येक प्रकरण में अपूर्व रसों एवं अलङ्कारों की योजना से रमणीय बना कर बार-बार प्रस्तुत करता है जो सहृदय-ह्लादकारिता में किसी प्रकार बाधक नहीं हो तो वहाँ चौथी प्रकरणवक्रता होती

है। जैसे 'तापसवत्सराज' में द्वितीय, चतुर्थ, पञ्चम और षष्ठ अङ्कों में नये-नये ढङ्ग से कवि ने करुणरस को समुद्दीप्त कराया है।

५. जहाँ कवि किसी काव्य के सौन्दर्य को प्रस्तुत करने के लिए उसके कथावैचित्र्य की सृष्टि करने वाले जलक्रीडा आदि प्रकरणों को प्रस्तुत करता है वहाँ पांचवीं प्रकरणवक्रता होती है। जैसे रघुवंश २१ वें सर्ग में कुश की जलक्रीडा।

६. छठी प्रकरणवक्रता वहाँ होती हैं जहाँ कवि किसी प्रकरणविशेष के काव्य के द्वारा अङ्गी रस की निष्पत्ति इस ढङ्ग से कराता है कि वैसी निष्पत्ति कराने में उसके पहले के और वाद के प्रकरण असमर्थ सिद्ध होते हैं। जैसे कि 'विक्रमोर्वशीय' का 'उन्मत्ताङ्क' जहाँ अङ्गी रस विप्रलम्भश्रृङ्गार है।

७. जहाँ कवि प्रधान वस्तु की सिद्धि करने के लिए उसी प्रकार की एक नये प्रकरण के वैचित्र्य को प्रस्तुत करता है वहाँ सातवीं प्रकरणवक्रता होती है। जैसे 'मुद्राराक्षस' के छठे अङ्क में राक्षस और पुरुष की वार्ता का प्रकरण।

८. जहाँ कविजन किसी नाटक के मध्य में एक दूसरे नाटक को सामाजिकों को आह्लादित करने के लिए प्रस्तुत करते हैं, वहाँ आठवीं प्रकरणवक्रता होती है। जैसे बालरामायण का चतुर्थ अङ्क या उत्तरचरित का सातवां अङ्क।

९. नवे प्रकार की प्रकरणवक्रता कुन्तक ने उन सभी प्रबन्धों में स्वीकार किया है जिनके प्रत्येक प्रकरण संधि-संविधान आदि की दृष्टि से एक सुसूत्र में बँधे रहते हैं और उनके पौर्वापर्य में किसी प्रकार की असंगति नहीं होती। उदाहरणार्थ उन्होंने पुष्पदूषितकप्रकरण' को उद्धृत किया है।

प्रबन्धवक्रता

कुन्तक ने प्रबन्धवक्रता के भी अनेक भेद प्रतिपादित किए हैं। प्रबन्ध से तात्पर्य सम्पूर्ण नाटक, महाकाव्यादिकों से है।

१. जिस इतिहास के आधार पर कवि अपने प्रबन्ध की कथावस्तु को प्रस्तुत करता है, उसी इतिहास में जिस रस सम्पत्ति का निर्वास किया गया है उसकी उपेक्षा करके जहाँ कवि सहृदयाह्लाद की सृष्टि करने के लिए नवीन रस को प्रस्तुत करता है, वह प्रबन्ध की पहली वक्रता होती है। जैसे महाभारत पर आधारित वेणीसंहार और रामायण पर आधारित उत्तरामचरित तो कुन्तक के अनुसार रामायण और महाभारत दोनों का अङ्गी रस शान्त हैं—"रामायण-महाभारतयोश्च शान्ताङ्गित्वं पूर्वसूरिभिरेव निरूपितम्"। जब कि वेणीसंहार का अङ्गीरस वीर, और उत्तरचरित का करुणविप्रलम्भ है।

२. दूसरी प्रबन्धवक्रता वहाँ होती है जहां कि कवि इतिवृत्त की सम्पूर्ण कथा को प्रारम्भ तो करता है किन्तु उसकी समाप्ति उसके एक भाग से ही कर देता है क्योंकि वह आगे की कथा को प्रस्तुत कर नीरसता नहीं लाना चाहता। जैसे किरातार्जुनीय की कथा। पहले कवि ने धर्मराज के अभ्युदय तक की कथा को प्रारम्भ कर उसकी समाप्ति अर्जुन के किरातराज के साथ युद्ध के बाद ही कर दिया।

३. तीसरे प्रकार की प्रबन्धवक्रता वहाँ होती है जहाँ कि कवि प्रधान कथावस्तु के आधिकारिक फल की सिद्धि के उपाय को तिरोहित कर देने वाले किसी कार्यान्तर को प्रस्तुत कर कथा को विच्छिन्न कर देता है किन्तु उसी कार्यान्तर द्वारा ही प्रधान कार्य की सिद्धि करा देता है। जैसे शिशुपालवध महाकाव्य में।

४. चौथी प्रबन्धवक्रता कुन्तक के अनुसार वहाँ होती है जहाँ कि कवि एक फलप्राप्ति की सिद्धि में लगे हुए नायक को उसी के समान अन्य फलों की भी प्राप्ति करा देता है। जैसे नागानन्द नाटक के नायक जीमूतवाहन को अनेकों फलों की प्राप्ति होती है।

५. पांचवें प्रकार की प्रबन्धवक्रता कवि कथावस्तु में वैदग्ध्य दिखाकर नहीं, बल्कि केवल प्रबन्ध के उस नामकरण से ही प्रस्तुत कर देता है जो नामकरण प्रबन्ध की प्रधान कथायोजना का चिह्नभूत होता है। जैसे अभिज्ञान-शाकुन्तल, मुद्राराक्षस आदि।

६. कुन्तक के अनुसार, जहां अनेक कविजन एक ही कथा का निर्वाह करते हुए अनेक प्रबन्धों की रचना तो करते हैं किन्तु उन प्रबन्धों में कहीं विस्तृत वस्तु को संक्षिप्त करते हुए और संक्षिप्त वस्तु को विस्तृत करते हुये नये-नये शब्दों, अर्थों एवं अलंकारों से उन्हें एक दूसरे से सर्वथा भिन्न बना देते हैं, यह उन कवियों के सभी प्रबन्धों की वक्रता ही होती है। जैसे एक ही रामायण की कथा पर आधारित रामाभ्युदय, उदात्तराघव, वीरचरित, बालरामायण, कृत्यारावण आदि अनेक प्रबन्धों की परस्पर विभिन्नता का वैचित्र्य उन-उन प्रबन्धों को वक्रता को प्रस्तुत करता है।

७. इसके अनन्तर कुन्तक महाकवियों के उन सभी प्रबन्धों में वक्रता स्वीकार करते हैं जो कि नये-नये उपायों से सिद्ध होने वाले नीतिमार्ग का उपदेश करते हैं। जैसे—मुद्राराक्षस और तापसवत्सराज चरित आदि में नीति का उपदेश किया गया है।

इस प्रकार कुन्तक प्रथम उन्मेष में परिगणित छहों कविव्यापार की वक्रताओं का विवेचन चतुर्थ उन्मेष की समाप्ति तक समाप्त करते हैं,

बन्ध

इस प्रकार काव्यलक्षण 'शब्दार्थौ सहितौ—' आदि में आये हुए, शब्द, अर्थ, साहित्य और कविव्यापार का विवेचन अब तक हमने संक्षिप्त रूप से प्रस्तुत किया। अब बचते हैं दो पद और वे हैं बन्ध और तद्विदाह्लादकारित्व।

कुन्तक के अनुसार शब्द और अर्थ के लावण्य और सौभाग्य गुण को परिपुष्ट करनेवाला, एवं वक्रकविव्यापार से सुशोभित होने वाला वाक्य का विशिष्ट सन्निवेश बन्ध कहलाता है। लावण्य से अभिप्राय सन्निवेश की चारुता से है और सौभाग्य से आशय सहृदयाह्लादकारिता है।

तद्विदाह्लादकारित्व

कुन्तक के अनुसार तद्विदाह्लादकारित्व सहृदयहृदयसंवेद्य होता है। उसे वाणी द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। उसके विषय में कुन्तक यही कहते हैं कि वह शब्द, अर्थ, और वक्रोक्ति इन तीनों के उत्कर्ष से भिन्न उत्कर्ष वाला होता है, साथ ही इन तीनों से भिन्न स्वरूपवाला होता है। तथा सहृदयहृदय-संवेद्य किसी अनिर्वचनीय सौकुमार्य से रमणीय होता है।

कुन्तक का मार्ग-गुणविवेक

कुन्तक का मार्गगुणविवेचन पूर्णतः मौलिक है। उन्होंने मार्गों को काव्य-रचना का कारणभूत स्वीकार किया है। वे मार्ग तीन हैं—(१) सुकुमार (२) विचित्र और (३) मध्यम या उभयात्मक।

देशविभाग के आधार पर रीतियों का खण्डन

मार्गों का विवेचन करते हुऐ कुन्तक ने कई विप्रतिपत्तियाँ प्रस्तुत की हैं। उन्होंने सबसे पहले गौड, वैदर्भ, आदि देशों पर रखे गये गौडी, वैदर्भी आदि रीतियों तथा गौड या वैदर्भ मार्गों का खण्डन किया है। उसका कहना है कि—

(१) यदि हम भेद के आधार पर बिभिन्न रीतियों का नामकरण करेंगे तब तो जितने देश हैं उतनी ही रीतियाँ स्वीकार करनी पड़ेगी। अतः आनन्त्य दोष प्रस्तुत हो जायगा।

(२) दूसरी बात काव्यरचना किसी देशबिदेश का धर्म नहीं होती, जैसे कि ममेरी बहिन के साथ बिवाह देशादि का धर्म होता है। क्योंकि देश धर्म तो केवल वृद्धों की परम्परा पर आधारित होते हैं। परन्तु काव्यरचना तो शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास पर आधारित होती है। शक्ति आदि को देशविशेष का

धर्म नहीं माना जा सकता है अन्यथा एक देश के सभी कवियों की रचना एक जैसी ही होनी चाहिए। परन्तु ऐसा होता नहीं। अतः देशविशेष के आधार पर रीतियों का विभाजन समीचीन नहीं जैसा कि दण्डी आदि आचार्यों ने किया है।

रीतियों को उत्तम, मध्यम और अधम मानना उचित नहीं

कुछ आचार्यों ने वैदर्भी को उत्तम, पाञ्चाली को मध्यम और गौडीया को अधम रीति के रूप में स्वीकार किया था। उसका भी खण्डन कुन्तक ने किया है। उनका कहना है कि इस प्रकार का त्रैविध्य स्थापित करना ठीक नहीं। अन्यथा वैदर्भी के अलावा अन्य रीतियों का जो उपदेश किया गया है वह व्यर्थ सिद्ध होगा। भला कौन ऐसा मनुष्य होगा जो कि उत्तम चीज को छोड़कर मध्यम और अधम का ग्रहण करेगा। यदि कोई सही रूप में रचना काव्य है तो वह उत्तम ही होगी। क्योंकि काव्य कोई दरिद्र का दान तो है नहीं कि यथा-शक्ति उसको प्रस्तुत किया जाय। काव्य तो वही होगा जो कि सहृदयाह्लादकारी हो और ऊपर बताये गए काव्यलक्षण से समन्वित हो।

कवि स्वभाव के आधार पर मार्ग-विभाजन

अतः कुन्तक ने मार्गविभाजन का आधार कविस्वभाव को स्वीकार किया। जिस कवि का जैसा स्वभाव होता है वैसी ही उसकी शक्ति होती है और उसी शक्ति के अनुरूप उसकी व्युत्पत्ति और अभ्यास भी होते हैं। इस प्रकार सुकुमार स्वभाव की सुकुमार शक्ति होती है, क्योंकि शक्ति और शक्तिमान् में अभेद होता है। उस सुकुमार शक्ति के द्वारा वह कवि सौकुमार्य से रमणीय व्युत्पत्ति अर्जित करता है और उसी सुकुमार शक्ति और व्युत्पत्ति के आधार पर वह सुकुमार मार्ग के अभ्यास में लगता है और सुकुमार काव्य की रचना करता है। इसी प्रकार विचित्र स्वभाव वाला कवि विचित्र काव्य को प्रस्तुत करता है और मध्यम स्वभाववाला कवि मध्यम काव्य को प्रस्तुत करता है। यद्यपि कविस्वभाव के आधार पर इन मार्गों का आनन्त्य अनिवार्य है किन्तु उनकी गणना न हो सकने के कारण सामान्य ढङ्ग से उनके तीन भेद स्वीकार किये गए हैं। इन तीनों में कोई भी उत्तम, मध्यम, या अधम ढंग से विभाजित नहीं हैं। सभ रमणीय हैं। क्योंकि सहृदयों को आह्लादित करने की सामर्थ्य की किसी में जरा भी कमी नहीं होती है।

सुकुमार मार्ग

कुन्तक ने सुकुमार मार्ग की अधोलिखित विशेषतायें प्रस्तुत की हैं:—

(१) यह कवि की दोषरहित मार्ग उसकी अपूर्व शक्ति द्वारा समुल्लसित होने वाले, एवं सहृदयों को आह्लादित करने में समर्थ शब्दों एवं अर्थों के कारण रमणीय होता है।

(२) बिना किसी प्रयत्न के विरचित किए गए थोड़े से ही हृदयाह्लादक अलंकारों से समन्वित होता है।

(३) इसमें कवि-शक्ति से समुल्लसित होने वाला पदार्थों का रमणीय स्वभाव ही सौन्दर्य को प्रस्तुत करता है, उस स्वभाव-सौन्दर्य के आगे अन्य काव्यों में विद्यमान व्युत्पत्तिजन्य कौशल फीका पड़ जाता है।

(४) साथ ही शृङ्गारादि रसों के परम रहस्य को जानने वाले सहृदयों के मनःसंवाद के योग्य रमणीय वाक्यविन्यास से युक्त होता है।

(५) इसमें कविकौशल का, किसी भी इयत्ता की परिधि में वर्णन नहीं किया जा सकता। उसका सौन्दर्य विधाता के कौशल से निर्मित सृष्टि के उत्कर्ष के तुल्य होता है।

(६) साथ ही इसमें जितना कुछ भी अलंकार वैचित्र्य होता है वह सब कवि की प्रतिभा से निर्मित होता है। उसके आहार्य कौशल का उसमें सर्वथा अभाव होता है और वह सौकुमार्य की रमणीयता को प्रस्तुत करने वाला होता है।

इस मार्ग में निपुण कवियों के रूप में कुन्तक ने कालिदास व सर्वसेन आदि का नाम ग्रहण किया है।

विचित्र मार्ग

कुन्तक के अनुसार विचित्र मार्ग की निम्नलिखित विशेषतायें हैं:—

(क) कवि की प्रतिभा के प्रथम उल्लेख के अवसर पर भी बिना उसके प्रयत्न की अपेक्षा रखने वाले शब्दों और अर्थों के अन्दर कोई वक्रताप्रकार परिस्फुरित होता रहता है।

(२) इस मार्ग में कविजन केवल एक ही अलंकार से सन्तुष्ट नहीं होते इसीलिये उस अलंकार के अलंकाररूप में वे अन्य अलंकार को उपनिबद्ध करते हैं।

(३) यहाँ अलंकार की महिमा ही इतनी प्रकृष्ट होती है कि अलंकार्य उसके स्वरूप से आच्छादित-सा होकर प्रकाशित होता है।

(४) इसमें जिस पदार्थ का यद्यपि नवीन वर्णन नहीं भी किया जाता उसको भी केवल उक्ति-वैचित्र्य से लोकोत्तर अतिशय को प्राप्त करा दिया जाता है।

(५) साथ ही कवि अपनी प्रतिभा के बल पर अपनी रुचि के अनुसार पदार्थों के स्वरूप को उस ढङ्ग से प्रस्तुत कर देता है जिस रूप में उनकी व्यवस्था ही नहीं होती।

(६) उसमें शब्द और अर्थ की शक्ति से भिन्न वृत्ति वाले काव्यार्थ की अभिव्यक्ति कराई जाती है।

(७) उसमें सरस अभिप्राय से युक्त पदार्थों का स्वरूप किसी लोकोत्तर वैचित्र्य मे उत्तेजित करके प्रस्तुत किया जाता है।

(८) वक्रोक्ति का वह वैचित्र्य जिसके अन्दर कोई अतिशयोक्ति परिस्फुरित होती रहती है, इस मार्ग का प्राण होता है।

इस मार्ग में निपुण कवियों के रूप में कुन्तक ने बाणभट्ट, भवभूति व राजशेखर को स्मरण किया है।

मध्यम मार्ग

मध्यम मार्ग में सुकुमार और विचित्र दोनों मार्गों में उल्लिखित विशेषतायें संयुक्त रूप में विद्यमान रहती हैं। उनमें कवि की शक्ति एवं व्युत्पत्ति से सम्भव होने वाला सौन्दर्य पराकाष्ठा को पहुँचा हुआ होता है। और सुकुमार तथा विचित्र मार्ग के माधुर्यादि गुण इस मार्ग में मध्यमवृत्ति का आश्रयण करके किसी अपूर्व सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं। इस मार्ग में निपुण कवियों के रूप में कुन्तक ने मातृगुप्त, मायुराज व मञ्जीर आदि का नाम ग्रहण किया है।

मार्गों के गुण

कुन्तक ने इन प्रत्येक मार्गों के चार-चार नियत गुण बताये जाते हैं—वे हैं—१. प्रसाद २. माधुर्य ३. लावण्य और ४. अभिजात्य। इनका स्वरूप इस प्रकार हैः—

१. प्रसाद गुण—(१) सुकुमार मार्ग का प्रसाद गुण सरलता से अभिप्राय को व्यक्त कर देने वाला, सबसे पहले विवक्षित अर्थ का प्रतिपादन करने वाला होता है। सभी शृङ्गारादि रस तथा सभी अलंकार उसके विषय होते हैं। उसमें असमस्त पदों का प्रयोग किया जाता है अथवा समास के रहने पर गमक समास का प्रयोग होता है। प्रसिद्ध शब्दों का प्रयोग होता है और उनका परस्पर सम्बन्ध बिना किसी व्यवधान के हो जाता है।

(२) विचित्र मार्ग में यही प्रसाद गुण कुछ अतिशय को प्राप्त कर लेता है। इसमें सर्वथा असमस्त पदों का न्यास नहीं होता, वह कुछ-कुछ ओजस् का स्पर्श करता रहता है। शेष सुकुमार मार्ग के प्रसाद के लक्षण इसमें विद्यमान रहते हैं। तथा इस मार्ग में प्रसाद गुण वहाँ भी माना जाता है जहाँ एक ही वाक्य में उस वाक्यार्थ को प्रस्तुत करने के लिए अनेक दूसरे वाक्य पदों की तरह उपनिबद्ध होते हैं।

२. माधुर्यगुण—(१) सुकुमार मार्ग में माधुर्यगुण का प्राण असमस्त एवं श्रुतिरमणीयता तथा अर्थरमणीयता के कारण हृदय को आनन्दित करने वाला पदों का विशेष सन्निवेष होता है।

(२) विचित्र मार्ग में माधुर्य पदों के वैचित्र्य का समर्पक होता है। उसमें शिथिलता का अभाव सन्निवेश-सौन्दर्य का कारण बनता है।

३. लावण्यगुण—(१) सुकुमार मार्ग का लावण्य गुण वर्णों के उस वैचित्र्यपूर्ण न्यास से आता है जो विना किसी व्यवसन के निर्मित की गई पदों की योजना-रूप सम्पत्ति को प्रस्तुत करता है।

(२) विचित्रमार्ग में यही लावण्य कुछ अतिरेक को प्राप्त कर लेता है। इसमें पदों के अन्त में आने वाले विसर्गों की भरमार होती है। संयुक्तवर्णों का अधिक प्रयोग रहता है। पद परस्पर एक दूसरे से संश्लिष्ट होते हैं।

४. आभिजात्यगुण—(१) सुकुमार मार्ग में आभिजात्य गुण उसे कहते हैं, जो श्रुतिरमणीयता से सुशोभित होता है, हृदय का मानों स्पर्श-सा करता रहता है और सहज रमणीय कान्ति से सम्पन्न होता है।

(२) विचित्र मार्ग में न तो यह बहुत कोमल ही कान्ति से युक्त होता है और न बहुत कठिन को ही धारण करता है। साथ ही कविकौशल से ही निर्मित होने के कारण रमणीय होता है।

इस प्रकार सुकुमार मार्ग के माधुर्य आदि गुण विचित्र मार्ग में कुछ आहार्य सम्पत्ति को प्रस्तुत करने के कारण अतिशय को प्राप्त कर लेते हैं—

आभिजात्य प्रभृतयः पूर्वमार्गोदिता गुणाः।
अत्रातिशयमायान्ति जनिताहार्यसम्पदः ॥ १।११०

मध्यम मार्ग में ये सारे के सारे गुण एक मध्यमवृत्ति का आश्रयण ग्रहण कर सौन्दर्य को प्रस्तुत करते हैं।

इस प्रकार कुन्तक चार-चार नियत गुणों से रमणीय मार्गत्रितय की व्याख्या करके दो साधारण गुणों को प्रस्तुत करते हैं। वे हैं—(१) सौभाग्य और (२) औचित्य। ये दोनों गुण प्रत्येक मार्ग में पदों से लेकर प्रबन्ध तक व्यापक रूप में विद्यमान रहते हैं।

१. सौभाग्य गुण

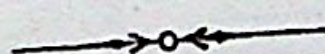
काव्य के उपादेय तत्त्वों अर्थात् शब्द आदि के समूह में जिस तत्त्व को प्राप्त करने के लिए कवि की शक्ति बड़ी हो सावधानी के साथ व्यापार करती है, उसे सौभाग्यगुण कहते हैं। यह केवल कविप्रतिभा के व्यापार द्वारा ही साध्य नहीं होता। बल्कि काव्य की समस्त उपादेय सामग्री द्वारा सम्पादनीय होता है। साथ ही सहृदयों के अन्दर अलौकिक चमत्कार की सृष्टि करने वाला होता है और काव्य का एकमात्र प्राण होता है।

२. औचित्य गुण

जिसके कारण पदार्थों का उत्कर्ष स्पष्ट ढङ्ग से परिपुष्ट होता है वही उचित कथन के प्राणवाला उक्तिप्रकार औचित्य गुण कहलाता है। इसी औचित्य के अनुरूप होने पर ही अलंकार-विन्यास सौन्दर्य लाने में समर्थ होता है।

अथवा जहाँ पर वर्ण्य पदार्थ वक्ता अथवा श्रोता के सौन्दर्यातिशायी स्वभाव के द्वारा आच्छादित कर दिया जाता है वहाँ भी औचित्य गुण होता है।

यदि इस औचित्य का पद, वाक्य या प्रबन्ध में कहीं भी अभाव होता है तो उससे सहृदयों को आनन्द-प्रतीति में बाधा पड़ जाती है।



कुन्तक और कश्मीर-शैवाद्वैत

प्रत्यभिज्ञादर्शन के अनुसार एकमात्र परम तत्त्व 'परम शिव' है जो अद्वैत, निर्विकार एवं सच्चिदानन्दस्वरूप है। शिव का स्वरूप शिवदृष्टि में इस प्रकार व्यक्त कियाग या है:—

"आत्मैस सर्वभावेषु स्फुरन्निर्वृतचिद्विभुः।
अनिरुद्धेच्छाप्रसरः प्रसरद्दक्क्रियः शिवः।"

उन शिव की शक्तियाँ अनन्त हैं—"शक्तयश्चासङ्ख्येयाः"—शिवदृष्टि। किन्तु मुख्यरूप से उन्हें पाँच शक्तियों पर निर्भर कहा गया है—"पञ्चशक्तिषु निर्भरः"—शि० दृ०। परमार्थतः ये शक्तियाँ शिव से भिन्न नहीं, क्योंकि 'शक्ति-शक्तिमतोरभेदः' न्याय से शक्ति और शक्तिमान् में अभेद होता है, जैसे अग्नि-और उसका दाहकत्व एक दूसरे से अभिन्न हैं, अग्नि शक्तिमान है और दाहकत्व उसकी शक्ति। यही बात 'शिवदृष्टि' में इस प्रकार कही गई है:—

"न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी।
शिवः शक्तस्तथा भावानिच्छया कर्तुमीहते॥
शक्तिशक्तिमतोर्भेदः शैवे जातु न वर्ण्यते॥"

उन शिव की पाँच शक्तियाँ है—चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया, जिनका स्वरूप निम्न प्रकार हैः—

(१) चित् शक्ति—प्रकाशरूपता ही चित् शक्ति है, क्योंकि परमशिव प्रकाशरूप है, अतः प्रकाशरूपता उसकी शक्ति हुई, जैसा 'तन्त्रसार' में कहा गया है—'प्रकाशरूपता चिच्छक्तिरिति।'

(२) आनन्दशक्ति—स्वातन्त्र्य ही आनन्द शक्ति है क्योंकि आनन्द की उपलब्धि स्वतन्त्रता में ही सम्भव है, परतन्त्रता में नहीं। 'तन्त्रसार' में कहा गया है—'स्वातंत्र्यमानन्दशक्तिरिति।'

(३) इच्छाशक्ति—'इस प्रकार से मैं इस प्रकार का हो जाऊं' ऐसा शिव का चमत्कार ही इच्छाशक्ति है—'तच्चमत्कार इच्छाशक्तिः। चमत्कारस्तु इत्थम्बुभूषालक्षण इति'।—तन्त्रसार।

(४) ज्ञानशक्ति—थोड़ा सा वेद्य (ज्ञान) की ओर उन्मुख होना अर्थात् आमर्शरूपता ही ज्ञान शक्ति है। वस्तुतः तो परम शिव ज्ञानस्वरूप ही है। 'आमर्शात्मकता ज्ञानशक्तिः। ईषत्तया वेद्योन्मुखता आमर्श इति'—तन्त्रसार।

(५) क्रियाशक्ति—एक का अनेक में समस्त आकारों में योग हो जाना

अर्थात् विश्वरूप में आ जाना ही क्रियाशक्ति है—'सर्वाकारयोगित्वं क्रियाशक्ति-रिति'—तन्त्रसार।

इन्हीं उपर्युक्त पाँच शक्तियोंके द्वारा परमशिव इस जगत्प्रपञ्च को परिस्फुरित करता है। अर्थात् जब उसे यह इच्छा होती है कि 'मैं एक से अनेक हो जाऊँ' तो उसकी शक्ति में स्पन्दन क्रिया होती है। 'स्पन्द' शब्द 'स्पदि किञ्चिच्चलने' धातु से निष्पन्न होता है जिसका अर्थ हिलना, फड़कना अर्थात् स्फुरण होता है। इस प्रकार शक्ति में कुछ परिस्फुरण होता है जो कि कुछ-कुछ चलने के कारण स्पन्द कहा जाता है। यही शक्ति का स्पन्द ही वस्तुतः जगत् है। जगत् की सत्ता स्पन्दरूप ही है और यह स्पन्द शक्ति का स्वरूप ही है। शक्ति का परमशिव से अभेद सिद्ध कर ही चुके हैं। अतः यह सिद्ध हुआ कि यह जगत् परमशिव से पृथक् नहीं। अतः वह अद्वैत है—जैसा 'प्रत्यभिज्ञाहृदय' में कहा गया है:—

"पराशक्तिरूपा चितिरेव भगवती शक्तिः शिवभट्टारकाभिन्ना तत्तदनन्त-जगदात्मना स्फुरति।"

अब प्रश्न यह उठता है कि परमशिव तो एक पर इस जगत्वैचित्र्य में अनेकता है तो एक ही अनेक हो, यह कैसे सम्भव है? इस प्रश्न का उत्तर प्रत्यभिज्ञादर्शन के अनुसार यह है कि 'वस्तुतः यह सब एक ही है किन्तु उसमें अनेकता का आभास होता है ठीक उसी प्रकार जैसे कि बढ़े हुए मयूर के पंखों का रंगवैचित्र्य जो अनेक प्रतीत होता है, वस्तुतः वह उसके अण्डे के भीतर के एकरूप ही तरलपदार्थ में निहित रहता है। उसमें मयूर के बड़े होने पर हमें अनेकता का आभास होने लगता है। इसी को 'मयूराण्डरसन्याय' कहते हैं।

इसी 'स्पन्द' की व्याख्या करते हुए 'स्पन्दप्रदीपिका' में उत्पलाचार्य कहते हैं—"स्पदि किञ्चिच्चलने इति स्पन्दनात् स्पन्दः। स्पन्दनञ्च निस्तरङ्गस्यास्य तावत् परमात्मनः युगपन्निर्विकल्पा या सर्वत्रौन्मुख्यवृत्तिता।" अर्थात् स्पन्दन क्या है? निस्तरङ्ग अर्थात् शान्त, अचञ्चल, निर्विकार परमात्मा परमशिव की एक साथ जो सर्वत्र अर्थात् विश्वरूप समस्त आकारों में औन्मुख्यवृत्तिता अर्थात् उसकी ओर उन्मुख हो जाना—वही स्पन्द है। आशय यह कि अद्वैत शिव का अनेकता में आभास ही स्पन्द है।

इस स्पन्द के उपचार से 'सामान्य' और 'विशेष' दो रूप माने जाते हैं। 'सामान्यस्पन्द' का रूप है—

"परमकारणभूतस्य सत्यस्य आत्मस्वरूपस्य 'अयमहमस्मि' अतः सर्वं प्रभवति, अत्रैव च प्रलीयते इति प्रत्यवमर्शात्मको निजो धर्मः सामान्यस्पन्दः।" (२।५ स्पन्दकारिका विवृति) अर्थात् इस जगत् के परमकारणभूत सत्य अपने स्वरूप का—यह मैं हूँ इसी से सब प्रभूत होता है, इसी में सब प्रलीन हो जाता है—

इस प्रकार का जो परामर्श रूप आन्तरिक ज्ञान है—एकता का ज्ञान है—वह 'सामान्यस्पन्द' है यह उपादेय है। इससे हमें परमशिव की सत्ता का ज्ञान होता है। यह सद्रूप है। यही परमेश्वर की मुख्य शक्ति है।

'विशेषस्पन्द' का स्वरूप है—'विशेषस्पन्दाः अनात्मभूतेषु, देहादिषु, आत्माभिमानसुद्भावयन्तः परस्परभिन्नमायीयप्रमातृविषयाः सुखितोऽहं दुःखितोऽहमित्यादयो गुणमयाः प्रत्ययप्रवाहाः संसारहेतवः''—वही। अर्थात् 'विशेषस्पन्द' अनात्मभूत देहादि में अपने अभिमान की उद्भावना करते हुए एक दूसरे से भिन्न मायाजन्य प्रमाताओं के विषयभूत, मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, इत्यादि सत्त्व, रजस् एवं तमोरूप गुणों से युक्त ज्ञान के प्रवाह रूप संसार के कारण हैं। परिणामतः ये हेय हैं।

अतः यह स्पष्ट हुआ कि यह मायिक जगत् 'स्पन्द' के विशेषरूप में उपचरित है। यद्यपि परमार्थतः 'स्पन्द' का कोई सामान्य या विशेष रूप नहीं है। इस प्रकार संक्षेप में स्पन्द की निम्न विशेषतायें सिद्ध हुईः—

(१) 'स्पन्द' शक्ति का स्वभाव-आत्मीय भाव है।
(२) 'स्पन्द' शक्ति का धर्म है।
(३) 'स्पन्द' शक्ति का व्यापार है।
(४) 'स्पन्द' शक्ति का विलसित है।
(५) 'स्पन्द' शक्ति का स्वरूप अपना ही रूप है।
(६) 'स्पन्द' शक्ति से अभिन्न है।
(७) यह दृश्यमान (अनुभूयमान) जगत् रूप वैचित्र्य शक्ति का स्पन्द ही है।
(८) 'स्पन्द' शक्ति का स्फुरितत्व है।

हमारे 'साहित्यदर्शन' में 'अर्थ' परमशिवरूप में तथा 'वाणी' शिवारूप में अर्थात् शक्तिरूप में प्रतिष्ठित है—'अर्थः शम्भुः शिवा वाणी'। वस्तुतः वाणी अर्थ से अभिन्न है क्योंकि वाणी तो अर्थरूप ही है। वाणी की प्रतिष्ठा 'परावाक्' के रूप में की गई है। उसका स्वरूप तन्त्रालोक में इस प्रकार कहा गया हैः—

'चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परा वाक् स्वरसोदिता' अर्थात् परावाक् (उत्कृष्टा वाणी) चित् शक्ति है। कैसी चित्? प्रत्यवमर्शात्मा अर्थात् चैतन्यस्वरूप ही है क्योंकि प्रत्यवमर्श चैतन्य का ही होता है। और कैसी चित्? स्वरसोदिता अर्थात् स्वारस्य, अपनी ही इच्छा (स्वातन्त्र्य) से स्फुरित। आशय यह है कि उसमें स्पन्दन स्फुरण अपने आप ही होता है। उसका कोई कारण नहीं। यह वाक् उत्कृष्ट अर्थ के ही परामर्शरूप होने के कारण उससे अभिन्न है। इसी की व्याख्या तन्त्रालोक में श्री अभिनवगुप्तपादाचार्य ने इस प्रकार किया हैः—

"इह खलु परपरामर्शसारबोधात्मिकायां परस्यां वाचि सर्वभारनिर्भरत्वात् सर्व शास्त्रं परबोधात्मकतयैवोज्जृम्भणं सत्-इति।"

इस परावाक् के तीन अन्य रूप भी हैं जो वस्तुतः इसके स्पन्द रूप ही हैं। वे हैं—

१. पश्यन्ती, २. मध्यमा, और ३. वैखरी।

१. पश्यन्ती—दशा से भी वाच्य और वाचक का विभाग नहीं हुआ होता। अतः वाच्य से अभिन्न होने के कारण उसमें अर्थ रूप आन्तरिक ज्ञान का परामर्श होता रहता है किन्तु वह परामर्श अहन्ता से आच्छादित ही स्फुरित होता है। इसे 'तन्त्रालोक' में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

"पश्यन्तीदशायां वाच्यवाचकविभागस्वभावत्वेनासाधारणतयाऽहं प्रत्यवमर्शात्मकमन्तरुदेति। अतएव हि तत्र प्रत्यवमर्शकेन प्रमात्रा परामृश्यमानो वाच्योऽर्थोऽहन्ताच्छादित एव स्फुरति।"

२.—मध्यमा—दशा में यह वाक् भिन्न-भिन्न वाच्य और वाचक के रूप में उल्लसित होती है। लेकिन भीतर ही, बाहर नहीं। इसमें यह भिन्नरूपता इसलिए आ जाती है क्योंकि इसमें वेद्य और वेदक अर्थात् प्रमेय और प्रमाता के प्रपञ्च का उदय हो जाता है। इसे अभिनवगुप्त ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

"तदनु तदेव मध्यमाभूमिकायामन्तरेव वेद्यवेदकप्रपञ्चोदयात् वाच्यवाचकस्वभावतयोल्लसति।"—तन्त्रालोक।

३. वैखरी—दशा में यह वाच्य और वाचक का भेद अत्यधिक स्पष्ट होकर बाह्य रूप में हमारे सामने उपस्थित होता है। जैसा तन्त्रालोक में कहा गया है—

'यद् बहिर्वैखरीदशायां स्फुटतामियादिति।' वस्तुतः हमारे नित्य प्रयोग में आनेवाली भाषा वाक् का वैखरी रूप ही है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हुआ कि जिस प्रकार जगद्वैचित्र्य केवल चित् शक्ति का परिस्पन्दमात्र है उसी प्रकार यह वाच्यवाचकवैचित्र्य भी चिद्रूपा परावाक् का परिस्पन्द ही है।

स्पन्द और विवर्तवाद

जिस प्रकार प्रत्यभिज्ञादर्शन में परमशिव की अद्वैतता सिद्ध करने के लिए जगत् को स्पन्द रूप माना गया है, उसी प्रकार वेदान्तदर्शन में ब्रह्म की अद्वैतता को सिद्ध करने के लिए जगत् को विवर्तरूप में स्वीकार किया गया है।

पारमार्थिक दृष्टि में जगत् को ब्रह्म से पृथक् सत्ता न वेदान्त ही स्वीकार करता है और न परमशिव से पृथक् जगत् की सत्ता प्रत्यभिज्ञादर्शन ही।

लेकिन प्रत्यभिज्ञादर्शन के अनुसार स्पन्द सत् है जब कि वेदान्त का विवर्त असत्। वेदान्त के अनुसार ब्रह्म सत् है और उसका विवर्तरूप जगत् मिथ्या—'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या।' पर प्रत्यभिज्ञादर्शन के अनुसार परमशिव भी सत्, शक्ति भी सत् और उसका स्पन्दरूप जगत् भी सत् है। जैसा कि 'प्रत्यभिज्ञाहृदय' में कहा गया है—"पराशक्तिरूपा चितिरेव भगवती शक्तिः शिवभट्टारकाभिन्ना तत्तदनन्तजगदात्मना स्फुरति"। यही दोनों का भेद है।

स्पन्द और परिणामवाद

जिस प्रकार प्रत्यभिज्ञादर्शन में जगत् शक्ति का स्पन्द है उसी प्रकार साङ्ख्य के अनुसार जगत् प्रकृति का परिणाम है। प्रकृति ही इस जगत् का कारण है। वह त्रिगुणात्मक है क्योंकि साङ्ख्य सत्कार्यवाद को स्वीकार करता है। अतः क्योंकि जगत् त्रिगुणात्मक प्रतीत होता है अतः इसकी कारणभूत प्रकृति भी त्रिगुणात्मक है।

जिस प्रकार शक्ति का स्पन्दरूप जगत् शक्ति से पृथक् नहीं उसी प्रकार प्रकृति का परिणाम रूप जगत् प्रकृति से पृथक् नहीं; क्योंकि कारण ही तो परिणामरूप में परिवर्तित हो जाता है।

शक्ति भी सत् है, इसका स्पन्द भी सत् है, उसी प्रकार प्रकृति भी सत् है उसका परिणाम भी सत् है।

परन्तु सांख्य की प्रकृति जड़ है। वह परिवर्तनशील है. और उसमें यह परिवर्तन उससे भिन्न निरपेक्ष, चेतन एवं नित्य पुरुष के दर्शन से प्रारम्भ होता है। परिणामतः इसमें द्वैत की सत्ता स्वीकृत है, जब कि प्रत्यभिज्ञादर्शन में शक्ति जड नहीं। उसमें परिवर्तन भी नहीं होता। परिवर्तन का हमें केवल आभास होता है। तथा शक्ति परमशिव से भिन्न नहीं। अतः इसमें अद्वैत की सत्ता स्वीकृत है।

इसके अतिरिक्त सांख्य पुरुष की अनेकता स्वीकार करता है जब कि प्रत्यभिज्ञादर्शन परमशिव की एकता।

स्पन्द और नैयायिक उत्पत्ति सिद्धान्त

जिस प्रकार वेदान्त जगत् को ब्रह्म का विवर्तरूप, सांख्य प्रकृति का परिणामरूप एवं प्रत्यभिज्ञादर्शन शक्ति का स्पन्दरूप स्वीकार करता है उसी

प्रकार नैयायिक जगत् को परमाणुओं से उत्पन्न मानता है क्योंकि परमाणुओं के परस्पर मिलने से द्व्यणुक उत्पन्न होता है और द्व्यणुक से सृष्टि की उत्पत्ति होती है।

पर साङ्ख्य और प्रत्यभिज्ञादर्शन दोनों में कारण में कार्य सत् रूप में विद्यमान रहता है क्योंकि सांख्य तो सत्कार्यवाद ही स्वीकार करता है और प्रत्यभिज्ञादर्शन में तो स्पन्द शक्ति का स्वरूप ही हैं, परन्तु न्याय असत् से सत् की उत्पत्ति मानता है जब कि प्रत्यभिज्ञादर्शन में स्पन्द भी सत्, शक्ति भी सत् और परमशिव भी सत् है।

स्पन्द और बौद्ध-असत्कार्यवाद

बौद्ध-दर्शन भी ठीक उसी प्रकार शून्य की सत्ता स्वीकार करता है जैसे प्रत्यभिज्ञादर्शन 'शून्यप्रमाता' की। शून्यप्रमाता का लक्षण 'ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-कारिका' में इस प्रकार दिया गया है:—

"शून्ये बुद्धयाद्यभावात्मन्यहन्ताकर्तृतापदे।
अस्फुटा रूपसंस्कारमात्रिणि ज्ञेयशून्यता॥"

जगत् रूप कार्य का कारण प्रत्यभिज्ञादर्शन भी स्वीकार करता है, स्पन्द का कारण परमशिव है। बौद्ध भी सभी कार्यों का कारण शून्य को स्वीकार करता है।

बौद्ध भी शून्य को अभावरूप मानता है, प्रत्यभिज्ञादर्शन भी शून्य को अभावरूप मानता है, पर इनका अभाव बौद्धों के अभाव से सर्वथा भिन्न है। ये अभाव को समस्त भावों के लयस्थान के रूप में स्वीकार करते हैं, जैसा स्पन्द-कारिका में कहा गया है।

"अशून्यः शून्य इत्युक्तः शून्यश्चाभाव उच्यते।
अभावः स तु विज्ञेयो यत्र भावाः क्षयं गताः॥"

साथ ही बौद्धदर्शन सभी को 'सर्वं क्षणिकं क्षणिकम्' कह कर क्षणिक मानता है जब कि प्रत्यभिज्ञादर्शन परमशिव की सत्ता क्षणिक न स्वीकार कर नित्य मानता है।

साथ ही बौद्धदर्शन 'सर्वमनात्ममनात्मम्' कह कर आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकार करता है जब कि प्रत्यभिज्ञादर्शन परमशिव को आत्मरूप ही मानता है—जैसा शिवदृष्टि में कहा गया है—

"आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन्निर्वृतचिद्विभुः।
अनिरुद्धेच्छाप्रसरः प्रसरद्दृक्क्रियः शिवः॥"

आचार्य कुन्तक द्वारा दी हुई 'वक्रोक्तिजीवित' की कारिकाओं की वृत्ति में स्पन्द के विभिन्न पर्याय

आचार्य कुन्तक काश्मीरी थे। काश्मीर के शैव दर्शन का उन पर प्रभूत प्रभाव है। 'स्पन्द' शब्द जैसा कि विवेचन कर चुके हैं 'शैवदर्शन' का ही है। इस शब्द का प्रयोग आचार्य कुन्तक ने अपने ग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवित' में अनेक स्थलों पर किया है। उनके वृत्तिभाग के प्रथम 'मंगलश्लोक' के विषय में निर्देश करते हुए हमने कुन्तक की शैवाद्वैत की सत्ता-स्वीकृति का संकेत किया था। हमारे इस अभिमत की पुष्टि स्वयं कुन्तक द्वारा दिये गये स्पन्द के विभिन्न पर्यायों की दार्शनिक अर्थ के साथ सङ्गति दिखाने पर हो जायगी।

(क) स्पन्द का स्वभाव के पर्याय-रूप में प्रयोग

(१) काव्यमार्ग में अर्थ किस रूप का होना चाहिए यह बताते हुए (का० १।९)—'अर्थः सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दरः' की व्याख्या करते हैं—'अर्थश्च वाच्यलक्षणः कीदृशः? काव्ये यः सहृदयाः काव्यार्थविदस्तेषामाह्लाद-मानन्दं करोति यस्तेन स्वस्पन्देन आत्मीयेन स्वभावेन सुन्दरः सुकुमारः इति।'

(२) स्वभावोक्ति अलङ्कार के खण्डन के प्रसङ्ग में (१।१२) 'स्वभाव-व्यतिरेकेण वक्तुमेव न युज्यते' में आये 'स्वभावव्यतिरेकेण' का पर्याय देते हैं—स्वपरिस्पन्दं विना निःस्वभावं वक्तुमभिधातुमेव न युज्यते न शक्यते इति।

(३) आगे इसी प्रसङ्ग में आयी हुई (१।१४) 'भूषणत्वे स्वभावस्य विहिते भूषणान्तरे' में आये हुए 'स्वभावस्य की व्याख्या करते हैं—भूषणत्वे स्वभावस्य अलङ्कारत्वे स्वपरिस्पन्दस्य इति।

(४) इसके अनन्तर विचित्रमार्ग का लक्षण करते हुए (१।४१) 'स्वभावः सरसाकूतो भावाना यत्र बध्यते' में आये स्वभाव का पर्याय देते हैं-"यत्र यस्मिन् भावानां स्वभावः स्वपरिस्पन्दः सरसाकूतो रसनिर्भराभिप्रायः इत्यादि।"

(५) तदनंतर औचित्य गुण का स्वरूप बताते हुए (१।५४) 'आच्छाद्यते स्वभावेन तदप्यौचित्यमुच्यते।' में आये हुए स्वभाव की व्याख्या करते हैं—'यत्र यस्मिन् वक्तुरभिधातुः प्रमातुर्वा श्रोतुर्वा स्वभावेन स्वपरिस्पन्देन वाच्य-मभिधेयमित्यादि।

(६) आगे चल कर उत्प्रेक्षा अलङ्कार के एक भेद का निरूपण करते हुए (पृ...), 'प्रतिभासात्तथा बोद्धुः स्वस्पन्दमहिमोचितम्' में आये स्वस्पन्दमहिमो-

चितम' का व्याख्यान करते हैं—"तस्य पदार्थस्य या स्वस्पन्दमहिमा स्वभावोत्कर्षस्तस्योचितमनुरूपम् ।" इत्यादि ।

इस प्रकार इतने निदर्शनों से यह बात स्पष्ट है कि इन स्थलों पर कुन्तक ने स्वभाव के पर्यायरूप में स्पन्द का और स्वभाव का स्पन्द के पर्यायरूप में प्रयोग किया है ।

(ख) स्पन्द का धर्म के पर्याय-रूप में प्रयोग

(१) रूढिवैचित्र्यवक्रता के लक्षण प्रसङ्ग में (२।८-९)।

यत्र रूढेरसम्भाव्यधर्माध्यारोपगर्भता ।
सद्धर्मातिशयारोपगर्भत्वं वा प्रतीयते ॥'

में प्रयुक्त 'धर्म' शब्दों का पर्याय देते हैं—(१) यत्र यस्मिन् विषये रूढिशब्दस्य असम्भाव्यः सम्भावयितुमशक्यो यो धमः कश्चित् परिस्पन्दः तस्याध्यारोप—इत्यादि । तथा (२) 'संश्चासौ धर्मश्च सद्धर्मः विद्यमानः पदार्थस्य परिस्पन्दः ।

(२) आगे 'अतिशयोक्ति' अलङ्कार का लक्षण देते हुए (३।२९ ।)

यस्यामतिशयः कोऽपि विच्छित्या प्रतिपाद्यते ।
वर्णनीयस्य धर्माणां तद्विदाह्लाददायिनाम् ॥

में आये 'वर्णनीयस्य धर्माणाम्' का पर्याय देते हैं—'प्रस्तावाधिकृतस्य वस्तुनः स्वभावानुसम्बन्धिनाम् परिस्पन्दानाम् ।"

(३) तथा उपमालङ्कार का निरूपण करते हुए (३।२८) 'विवक्षितपरिस्पन्दमनोहारित्वसिद्धये' में आये परिस्पन्द की व्याख्या करते हैं–'विवक्षितो वक्तुमभिप्रेतो योऽसौ परिस्पन्दः कश्चिदेव धर्मविशेषः ।'

(४) तथा जैसा हम पहले दिखा आये हैं कि स्पन्द के पर्यायरूप में उन्होंने स्वभाव का अनेकशः प्रयोग किया है । एकत्र वर्णनीय वस्तु का विषयविभाग करते हुए (३।५)

'भावानामपरिम्लानस्वभावौचित्यसुन्दरम् ।' में आये का स्वभाव का अर्थ करते हैं—'अपरिम्लानः प्रत्यग्रमरिपोषपेशलो यः स्वभावः पारमार्थिको धर्मस्तस्येत्यादि ।'

इन निदर्शनों से स्पष्ट है कि इन विभिन्न स्थलों पर कुन्तक ने धर्म के पर्याय रूप में स्पन्द तथा स्पन्द के पर्याय रूप में धर्म का प्रयोग किया है ।

(ग) परिस्पन्द का व्यापार के पर्याय-रूप में प्रयोग

(१) काव्य का प्रयोजन बताते हुए (१।४)।

व्यवहारपरिस्पन्दसौन्दर्यव्यवहारिभिः ।

सत्काव्याधिगमादेव नूतनौचित्यमाप्यते ॥

में प्रयुक्त परिस्पन्द की व्याख्या करते हैं—'व्यवहारो लोकवृत्तम्, तस्य परिस्पन्दो व्यापारः क्रियाक्रमलक्षणस्तस्य सौन्दर्यमित्यादि ।

(२) तथा शाब्द और प्रतीयमान दो प्रकार के व्यतिरेकालङ्कार के निरूपण के अनन्तर तीसरे प्रकार के व्यतिरेक का निरूपण करते हुए (३।३६)।

'लोकप्रसिद्धसामान्यपरिस्पन्दाद् विशेषतः ।'

व्यतिरेको यदेकस्य स परस्तद्विवक्षया ॥

में आये परिस्पन्द का व्याख्यान करते हैं—'लोकप्रसिद्धो जगत्प्रतीतः सामान्यभूतः सर्वसाधारणो यः परिस्पन्दः व्यापारः तस्मादिति ।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि यहाँ पर उन्होंने परिस्पन्द का व्यापार के पर्याय रूप में प्रयोग किया है ।

(घ) स्पन्द का विलसित के पर्याय-रूप में प्रयोग

(१) ग्रन्थ के आरम्भ में ही अभिमत देवता के प्रति नमस्कारात्मक (१।१)

'वन्दे कवीन्द्रवक्त्रेन्दुलास्यमन्दिरनर्तकीम् ।

देवीं सूक्तिपरिस्पन्दसुन्दराभिनयोज्ज्वलाम् ॥

में आये सूक्तिपरिस्पन्द की व्याख्या करते हैं—'सूक्तिपरिस्पन्दाः सुभाषितविलसितानि' ।

(२) तदनन्तर प्रत्ययवक्रता के दूसरे भेद का निरूपण करते हुए (२।१८)

'आगमादि परिस्पन्दसुन्दरः शब्दवक्रताम्' ।

परः कामपि पुष्णाति बन्धच्छायाविधायिनीम् ॥'

में आये परिस्पन्द का व्याख्यान करते हैं—'आगामी मुमादिरादिर्यस्य स तथोक्तस्तस्यागमः परिस्पन्दः स्वविलसितं, तेन सुन्दरः सुकुमारः ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन स्थलों पर कुन्तक ने परिस्पन्द का प्रयोग विलसित के पर्याय रूप में किया है ।

(ङ) परिस्पन्द के पर्याय रूप में स्वरूप शब्द का प्रयोग

वर्णनीयवस्तु का विषयविभाग करते हुए (३।५)—' 'चेतनानां जडानाञ्च स्वरूपं द्विविधं स्मृतम्' में आये 'स्वरूपम्' का पर्याय देते हैं--"भावानां वर्ण्यमानवृत्तीनां स्वरूपं परिस्पन्दः ।" यहाँ निश्चय ही स्वरूप स्पन्द के पर्याय रूप में प्रयुक्त हुआ है ।

(च) परिस्पन्द का स्फुरितत्व अर्थ में प्रयोग

सौभाग्य गुण का विवेचन करते हुए कि वह गुण किस प्रकार का सम्पादित करना चाहिए कुन्तक (१।५६)

"सर्वसम्पत्परिस्पन्दसम्पाद्यं सरसात्मनाम्।
अलौकिकचमत्कारकारि काव्यैकजीवितम्॥"

में आये परिस्पन्द का व्याख्यान करते हैं--सर्वस्योपादेयराशेर्या सम्पत्तिरनवद्यताकाष्ठा तस्याः परिस्पन्दः स्फुरितत्वं तेन सम्पाद्यं निष्पादनीयम्।'

यहाँ स्पष्ट ही परिस्पन्द का प्रयोग स्फुरितत्व के पर्याय रूप में हुआ है।

स्पन्द के दार्शनिक अर्थ के साथ कुन्तक द्वारा दिए हुए अर्थों की सङ्गति

'स्पन्द' के कुन्तक द्वारा किए गए विभिन्न शब्दों के पर्याय रूप में प्रयोगों का विचार करते हुए हमने देखा कि उन्होंने 'स्पन्द' या 'परिस्पन्द' का प्रयोग मुख्यतः (१) स्वभाव, (२) धर्म, (३) व्यापार, (४) विलसित, (५) स्वरूप तथा (६) स्फुरितत्व के पर्याय रूप में किया है। उनके ये सभी प्रयोग 'स्पन्द' के दार्शनिक अर्थों से पूर्णतः सङ्गत हैं। क्योंकि--

(१) स्पन्द वस्तुतः शक्ति का स्वभाव ही है। जैसे हृदय का स्पन्द हृदय का स्वभाव ही होना है, अन्यथा स्पन्द की समाप्ति पर भी हृदय की जीवित सत्ता होनी चाहिए, पर ऐसा होता नहीं। अतः सिद्ध हुआ कि हृदय का स्पन्द उसका स्वभाव ही है। इसी प्रकार शक्ति का स्पन्द भी उसका स्वभाव ही है। अतः कुन्तक का स्पन्द का स्वभाव के पर्याय रूप में प्रयोग असङ्गत नहीं।

(२) इसी प्रकार स्पन्द का धर्म के पर्याय रूप में भी प्रयोग असङ्गत नहीं क्योंकि स्पन्द धर्मरूप ही है। जैसा कि हमने पहले सिद्ध किया है और जैसा कि 'स्पन्दकारिका' की प्रथम निकाय की प्रथम कारिका की व्याख्या में श्रीरामकण्ठाचार्य लिखते हैं--"स्पन्दशब्दश्चायं स्वस्वभावपरामर्शमात्रस्य नित्यस्य शून्यताव्यतिरेचनकारणभूतस्य तावन्मात्रसंरम्भात्मनः शक्त्यपराभिधानस्य पारमेश्वरस्य धर्मस्य किञ्चिच्चलनात् स्पन्द इति"। इससे स्पष्ट है कि स्पन्द संज्ञा किञ्चिच्चलन रूप धर्म के कारण ही दी गई है। अतः कुन्तक का यह भी प्रयोग दार्शनिक अर्थ से सर्वथा सङ्गत है।

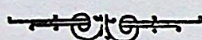
(३) स्पन्द का व्यापार के पर्याय रूप में भी प्रयोग असंगत नहीं, क्योंकि स्पन्द व्यापार ही है। जब स्पन्दन होता है तो वह स्पन्दन रूप क्रिया व्यापार ही तो होती है क्योंकि व्यापार क्रियाक्रमलक्षण ही तो होता है, और जैसा अभी हमने ऊपर दिखाया है कि--"पारमेश्वरस्य धर्मस्य किञ्चिच्चलनात् स्पन्दः।" स्पष्ट है कि किञ्चिच्चलन व्यापार से भिन्न नहीं।

(४) जैसा हमने पहले सिद्ध किया था कि यह जगत् वस्तुतः शक्ति का ही विलसित है, साथ ही जगत् स्पन्दरूप ही है। अतः विलसित और स्पन्द पर्याय हुए। इस लिए स्पन्द का कुन्तक द्वारा विलसित के पर्याय रूप में प्रयोग भी सङ्गत ही है।

(५) स्पन्द का स्वरूप अर्थ में भी प्रयोग असङ्गत नहीं क्योंकि शक्ति का स्पन्द शक्ति का स्वरूप ही होता है। उससे भिन्न नहीं। जैसे चिड़िया के डैनों में स्पन्दन हुआ और चिड़िया के पंखे कुछ फूल आए तो चिड़िया अपना रूप बदल कर हाथी तो नहीं हो जाती। अतः सिद्ध हुआ कि स्पन्द स्वरूप ही होता है।

(६) स्पन्द स्फुरित्व रूप तो होता ही है क्योंकि स्फुरितत्व के कारण हो तो यह स्पन्द कहा जाता है। जैसा व्युत्पत्ति से हो ज्ञात है क्योंकि स्पन्द की निष्पत्ति 'स्पदि किञ्चिच्चलने' धातु से होती है--'स्पन्दनात् स्पन्दः।'

अतः यह सिद्ध हुआ कि कुन्तक द्वारा प्रयुक्त स्पन्द के सभी पर्याय स्पन्द के दार्शनिक अर्थ से सर्वथा सङ्गत हैं। उनका 'वक्रोक्तिजीवित' जैसे साहित्यग्रंथ की व्याख्या में इस प्रकार प्रयोग उनकी शैवाद्वैत की बहुत बड़ी पहुँच का परिचायक है, इसमें कोई संशय नहीं रह जाता।



प्रस्तुत संस्करण का महत्त्व

प्रस्तुत ग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवित' को सर्वप्रथम डा० सुशीलकुमार डे ने सन् १९२३ में सम्पादित किया जिसमें उन्होंने केवल दो उन्मेषों को सम्पादित किया था। तदनन्तर इसका द्वितीय संस्करण उन्होंने १९२८ में प्रकाशित किया। उसमें उन्होंने पहले के प्रकाशित ग्रन्थ से आगे तृतीय उन्मेष के कुछ अंश को सम्पादित किया। साथ ही इसके आगे के शेष भाग का, जिसे कि वे पाण्डुलिपि के अत्यन्त भ्रष्ट होने के कारण पूर्णतः सम्पादित करने में असमर्थ थे, केवल संक्षिप्त विवेचन ही प्रस्तुत किया। इसका तृतीय संस्करण पुनः सन् १९६१ में प्रकाशित हुआ। इसमें द्वितीय संस्करण की अपेक्षा कोई परिवर्धन नहीं हो सका। दो उन्मेष और तृतीय का कुछ अंश सम्पादित था, उसके आगे के शेष भाग का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

डा० डे द्वारा सम्पादित 'वक्रोक्ति-जीवित' के इन तीन संस्करणों के अतिरिक्त डा० नगेन्द्र ने आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि की हिन्दी व्याख्या एवं अपनी भूमिका से संवलित 'हिन्दी वक्रोक्तिजीवित' नामक ग्रन्थ 'हिन्दी अनुसन्धान परिषद् ग्रन्थमाला' की ओर से सन् १९५५ में सम्पादित किया।

क्योंकि हमने 'संस्कृत काव्य शास्त्र में वक्रोक्ति-सम्प्रदाय का उद्भव और विकास' नामक विषय पर शोधकार्य करना प्रारम्भ किया, फलतः हमें साहित्य शास्त्र के अन्य ग्रन्थों के साथ ही साथ 'वक्रोक्तिजीवित' के विशेष अध्ययन करने का अवसर प्राप्त हुआ। इस ग्रन्थ का अध्ययन करते समय हमने डा० डे० के तृतीय संस्करण एवं डा० नगेन्द्र के प्रथम संस्करण दोनों का सहारा लिया। जहाँ तक डा० डे० के संस्करण की बात रही उससे तो हमें पर्याप्त सहायता प्राप्त हुई। क्योंकि जितना अंश सम्पादित था उससे अतिरिक्त भाग का कम से कम संक्षिप्त विवेचन उपलब्ध था। जहाँ उन्होंने मूल पाण्डुलिपि के स्थान पर अपनी ओर से पाठ परिवर्तित किया था वहाँ पाण्डुलिपि के पाठ को पादटिप्पणी में यथातथ रूप में उद्धृत कर दिया था। इससे पाठों के विषय में अपनी उलझनें सुलझाने में बड़ी सहायता प्राप्त हुई।

परन्तु डा० नगेन्द्र एवं आचार्य विश्वेश्वर जी ने जिस वक्रोक्तिजीवित को प्रकाशित किया उसका क्या आधार था। इसका उन्होंने कोई निर्देश नहीं किया। जैसा कि महामहोपाध्याय डा० पाण्डुरङ्गवामन काणे ने उसके विषय में लिखा है :—

"An excellent edition of the four Unmeṣas of the Vakroktijivita, with a modern Hindi commentary by Acarya Visweśvara and exhaustive Introduction in Hindi has been published recently by Dr. Nagendra of the Delhi University. There are, however many misprints and it is not clear on which mss or editions the text is based." (H. S. P. fn. I. P. 215-6)

महामहोपाध्याय जी का यह कथन पूर्णतः सत्य है। हमें तो ग्रन्थ के कतिपय अंशों को देखकर यही समझ में आता है कि आचार्य जी के संस्करण का आधार डा० डे का संस्करण ही है।

अस्तु, आचार्य जी के संस्करण का सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करते समय पाठ-भेदों तथा व्याख्या में अनेक विसंगतियाँ देखकर चित्त बहुत भिन्न हो गया। अपने परमश्रद्धेय गुरुवर डा० लालरमायदुपाल सिंह जी, एम० ए०, एल० एल० बी, डी० फिल०, साहित्याचार्य, साहित्यरत्न, प्रवक्ता संस्कृतविभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय से अपने चित्त की उलझन निवेदित की तो उन्होंने आदेश दिया—"तुम स्वयं इस ग्रन्थ का रूपान्तर हिन्दी में कर डालो। इससे ग्रंथ भी तुम्हारी समझ में आ जायगा और उसे जब प्रकाशित करवा दोगे तो वह हिन्दी के सहारे संस्कृत के विषय को समझने वाले लोगों को वक्रोक्तिजीवित के सही विषय का ज्ञान प्राप्त कराने में पर्याप्त सहायक सिद्ध होगा।"

गुरु जी के आदेशानुसार हमने इसका हिन्दी रूपान्तर किया। हमारे रूपान्तर का आधार पूर्ण रूप से डा० डे का संस्करण है। हमने जहाँ कहीं भी उसमें परिवर्तन किया है वह डा० डे द्वारा उद्धृत पादटिप्पणियों के आधार पर ही। इसके लिए हम डा० साहब के हृदय से आभारी हैं। यद्यपि डा० साहब का संस्करण बहुत ही विद्वत्तापूर्ण ढंग से सम्पादित किया गया है, फिर भी यत्र तत्र कुछ पाण्डुलिपि के अंश डा० साहब के ध्यान में संगत न लगे होंगे जिनके स्थान पर उन्होंने अपनी ओर से पाठ दे दिया है। उनमें से जो अंश हमें यहाँ सङ्गत प्रतीत हुए उनका हमने पाठ मूल पाण्डुलिपि के आधार पर परिवर्तित कर दिया है।

वैसे हमारी योजना इस ग्रन्थ के पूर्णरूप में प्रकाशित करने की है। यदि भगवत्कृपा रही तो हमें आशा है कि हम इस कार्य को करने में सफल होंगे।

प्रस्तुत ग्रन्थ का रूपान्तर हमने डा० डे द्वारा दिये गये मूल एवं एवं उनके तृतीय तथा चतुर्थ उन्मेष की Resume में किए गए निर्देशों के आधार पर किया है। भूमिका में हमने आचार्य कुन्तक के काल के विषय में तथा उनके शैवाद्वैत के

सम्बन्ध के विषय में मौलिक चिन्तन प्रस्तुत किया है। हमने यह सिद्ध कर दिया है कि कुन्तक अभिनव से पूर्ववर्ती थे।

इस पुस्तक के रूपान्तर करने में हमें हमारे पूज्य गुरुवर डा० सिंह जी से बहुत सहायता मिली है। इसके लिये उनके प्रति आभार प्रकट करना शब्दों द्वारा सम्भव नहीं। यह जो कुछ हमने किया सब उन्हीं की कृपा का प्रसाद है। हमारा रूपान्तर पूर्णतः निरवद्य है, यह कहना तो बिल्कुल असत्य को सामने लाना होगा क्योंकि यह हमारा पहला प्रयास है और वह भी 'वक्रोक्ति-जीवित' जैसे शास्त्रीय ग्रंथ का रूपान्तर करने का। हमारी समझ में सभी स्थल पूर्ण रूप से सही ढंग से आ ही गए हैं यह कह सकना कठिन है। फिर भी जहाँ तक हम इसे समझ सके हैं विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं। आशा है कि विद्वज्जन अशुद्धियों के लिए क्षमा करेंगे। यदि इससे संस्कृत साहित्य का अध्ययन करने वालों को कुछ भी लाभ हो सकेगा तो हम अपना प्रयास सफल समझेंगे और यदि अवसर मिला तो दूसरे संस्करण में इसमें हम यथासम्भव संशोधन और इसकी विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत करेंगे।

स्थान ४०२ मालवीय नगर
इलाहाबाद

विनीत
राधेश्याम मिश्र

विषयानुक्रमणिका

प्रथम उन्मेष

द्वितीय उन्मेष

तृतीय उन्मेष

चतुर्थ उन्मेष

श्रीमद्राजानककुन्तकविरचितं

वक्रोक्तिजीवितम्

हिन्दीव्याख्योपेतम्

प्रथमोन्मेषः

जगत्त्रितयवैचित्र्यचित्रकर्मविधायिनम् ।
शिवं शक्तिपरिस्पन्दमात्रोपकरणं नुमः ॥ १ ॥

आचार्य कुन्तक अपने ग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवित' की कारिकाओं की वृत्ति लिखते समय, ग्रन्थकारों की परिपाटी का अनुसरण करते हुए, ग्रन्थ के आरम्भ में इस ग्रन्थ की निर्विघ्न परिसमाप्ति के लिए आदि में अपने अभिमत देव परमशिव की वन्दना करते हैं—

शक्ति के परिस्पन्दमात्र उपकरण (सामग्री) वाले, तीनों लाकों के वैचित्र्य रूप चित्रकर्म का विधान करने वाले शिव (परमशिव) को हम नमस्कार करते हैं ॥ १ ॥

टिप्पणी :—उक्त श्लोक द्वारा ग्रन्थकार ने परम शिव की वन्दना की है। आचार्य कुन्तक कश्मीरी थे। कश्मीर शैवागम (प्रत्यभिज्ञादर्शन) के अनुयायी थे। उक्त पद्य में उन्होंने शिव, शक्ति, परिस्पन्द एवं जगत् शब्द का उपादान किया है, जिनका सम्बन्ध शैवागम से है, तथा इस ग्रन्थ में 'स्पन्द' अथवा 'परिस्पन्द' का तो अनेकशः प्रयोग किया है। अतः इस पद्य का अर्थ समझने के पूर्व यह जानना अत्यावश्यक है कि शैवागम में इन शब्दों का क्या अर्थ है।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार एकमात्र परमतत्त्व 'परम शिव' (शिव) है जो अद्वैत, निर्विकार एवं सच्चिदानन्द स्वरूप है। इस अनुभूयमान जगद्वैचित्र्य को वह अपनी शक्तियों द्वारा उद्भावित करता है। उसकी शक्तियाँ यद्यपि असंख्य हैं फिर भी मुख्य रूप से वह पाँच शक्तियों (चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया) पर निर्भर रहता है। शक्ति और शक्तिमान् में अभेद होता

है, जैसे अग्नि अपनी शक्ति दाहकत्व से अभिन्न है। अतः शिव का शक्ति से अभेद सिद्ध हुआ। परम शिव इन्हीं पाँच शक्तियों के द्वारा जगत्प्रपञ्च को स्फुरित करता है। अर्थात् उसकी जब यह इच्छा होती है कि 'मैं एक से अनेक हो जाऊँ' तो उसकी शक्ति में स्पन्दन क्रिया होती है। इस प्रकार शक्ति में कुछ-कुछ परिस्फुरण होता है जो किञ्चिच्चलन के कारण 'स्पन्द' कहा जाता है। यही शक्ति का 'स्पन्द' ही वस्तुतः जगत् है। यह 'स्पन्द' शक्ति से अभिन्न होता है क्योंकि वह उसका स्वभाव, स्वरूप, एवं धर्म ही तो होता है। जैसा कि 'प्रत्यभिज्ञाहृदय' में कहा गया है—'पराशक्तिरूपा चितिरेव भगवती शक्तिः शिवभट्टारकाभिन्ना तत्तदन्तजगदात्मना स्फुरतीति।' इस प्रकार शक्ति, शिव से अभिन्न है एवं स्पन्द (जगत्) शक्ति से अभिन्न, अतः शिव से जगत् अभिन्न हुआ। अत एव शैवागम केवल परमशिव की ही (अद्वैत) सत्ता स्वीकार करता है। इस जगद्वैचित्र्य का उसमें ठीक उसी प्रकार आभास होता है जैसे कि मयूर के अण्डे के भीतर रहनेवाले एकरूप तरल पदार्थ में मयूर के वड़े हो जाने पर उसके रंगवैचित्र्य का आभास होने लगता हैं। परमार्थतः वह रङ्गवैचित्र्य उस एकरूप तरल पदार्थ का ही स्वरूप होता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि इस जगत्त्रितयरूप चित्रकर्म के विधायक शिव ही हैं एवं इस चित्रकर्म के लिये उनकी शक्ति का परिस्पन्द मात्र ही उपकरण है। उन्हें अन्य उपकरण की आवश्यकता नहीं। इसीलिये वृत्तिकार ने उन्हें 'शक्तिपरिस्पन्दमात्रोपकरण' कहा है!

इस 'स्पन्द' को हम निम्नप्रकार से भी प्रकट कर सकते हैं:—

(क) 'स्पन्द' शक्ति का स्वभाव (आत्मीय भाव) ही है।
(ख) 'स्पन्द' शक्ति का धर्म है।
(ग) 'स्पन्द' शक्ति का व्यापार हैं।
(घ) 'स्पन्द' शक्ति का विलसित है।
(ङ) 'स्पन्द' शक्ति का स्वरूप (अपना ही रूप) है।
(च) 'स्पन्द' शक्ति से अभिन्न है।
(छ) 'स्पन्द' शक्ति का स्फुरितत्व है।
(ज) यह दृश्यमान (अनुभूयमान) जगद्रूप वैचित्र्य शक्ति का 'स्पन्द' ही है।

हमारे साहित्य दर्शन में अर्थ को शिवरूप में एवं वाणी को उनकी शक्तिरूप में स्वीकार किया गया है—'अर्थः शम्भुः शिवा वाणी'–इति।

इस वाक् के ४ रूप (या स्पन्द) हैं—परा, पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी। उनमें 'परा वाक्' को शिव की चित् शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है—'चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परा वाक् स्वरसोदिता'—तन्त्रालोक। यह परा वाक् स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी इच्छा से स्फुरित होती है। अन्य तीन पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी इसके स्पन्दरूप में ही हैं। वस्तुतः हमारे प्रयोग में वाक् का वैखरी रूप ही आता है। जैसा कि हमने बताया है परा वाग्रूपा शक्ति का स्पन्द होने के कारण यह वैखरी रूप उससे अभिन्न हुआ। कविकर्म रूप काव्य हमारे सामने अपने वैखरीरूप में ही आता है। अतः कवि उसमें जितना भी वैचित्र्य सम्पादन करता है वह 'परावाक्' के स्पन्द रूप में ही होता है। इसीलिये आचार्य कुन्तक ने काव्यलक्षणग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवित' में काव्य-विषयक विचार करते समय 'स्पन्द' या परिस्पन्द शब्द का अनेकशः प्रयोग किया है और जैसा कि हम ऊपर सिद्ध कर चुके हैं स्पन्द का प्रयोग प्रायः उपर्युक्त स्वभाव, धर्म व्यापार, विलसित स्वरूप एवं स्फुरितत्व आदि के पर्याय रूप में ही हुआ है।

यथातत्त्वं विवेच्यन्ते भावास्त्रैलोक्यवर्तिनः।
यदि तन्नाद्भुतं नाम दैवरक्ता हि किंशुकाः ॥ २ ॥

इसके अनन्तर कुन्तक अपने प्रयत्न की उपादेयता को प्रतिपादित करते हुए कहते हैं कि—

त्रिलोकी में स्थित पदार्थों का यदि यथातथ्य रूप में विवेचन किया जाता है तो उसमें अद्भुतता नहीं होगी क्योंकि किंशुक तो स्वभावतः लाल हुआ ही करता है (अतः यदि कवि यह वर्णन करे कि किंशुक लाल होता है तो उसे हम अद्भुत न होने के कारण साहित्य या काव्य नहीं कहेंगे) ॥ २ ॥

स्वमनीषिकयैवाथ तत्त्वं तेषां यथारुचि।
स्थाप्यते प्रौढिमात्रं तत्परमार्थो न तादृशः ॥ ३ ॥

साथ ही यदि (कवि जन) स्वतन्त्र रूप से (यथारुचि) उन पदार्थों के तत्त्व का निरूपण केवल अपनी बुद्धि से ही करते हैं (वास्तविकता का पूर्ण परित्याग कर देते हैं) तो वह केवल प्रौढ़ि ही होगी क्योंकि (उन पदार्थों का) तत्त्व उस प्रकार का नही होता है। (भाव यह कि यदि कोई कवि अश्व का वर्णन करते हुए कहे कि उसके चार सींगे, आठ पैर होते हैं तो वह भी साहित्य या काव्य नहीं होगा क्योंकि वह वास्तविकता से सर्वथा परे है) ॥ ३ ॥

इत्यसत्तर्कसन्दर्भे स्वतन्त्रेऽप्यकृतादरः ।
साहित्यार्थसुधासिन्धोः सारमुन्मीलयाम्यहम् ॥ ४ ॥
येन द्वितयमप्येतत्तत्त्वनिर्मितिलक्षणम् ।
तद्विदामद्भुतामोदचमत्कारं विधास्यति ॥ ५ ॥

अतः इस प्रकार के असत् तर्क के सन्दर्भ वाले स्वतन्त्र में श्रद्धा न रखते हुए मैं साहित्य के अर्थ रूप अमृत के सागर के सार (या परमार्थ) का उन्मीलन करने जा रहा हूँ, जिससे कि तत्त्व और निर्मित रूप यह द्वितीय साहित्य मर्मज्ञों के अद्भुत आनन्द व चमत्कार को उत्पन्न करेगा ॥ ४-५ ॥

टिप्पणी :—कुन्तक ने यहाँ पर काव्यविषयक दो मतों का प्रतिपादन किया है। प्रथम मत के अनुसार काव्य में भी (शास्त्रादि की भाँति) केवल वस्तु के यथातथ्य स्वरूप का वर्णन करना चाहिए। तथा दूसरा मत इस बात को प्रतिपादित करता है कि—

अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः ।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥

अर्थात् कवि पूर्ण स्वतन्त्र है वह जैसा ही चाहे वैसा वर्णन काव्य में करे। परन्तु आचार्य कुन्तक इन दोनों मतों से ही पूर्णतया सन्तुष्ट नहीं हैं। क्योंकि वे न तो कवि को इतनी स्वतन्त्रता ही देना चाहते हैं कि वह बिल्कुल वास्तविकता से कोसों दूर पदार्थ का मनमाना वर्णन करे और न वे पदार्थों के यथातथ्य रूप में सीधे सादे भोंडे वर्णन को ही काव्य या साहित्य मानने को तैयार हैं। अतः वे दोनों ही मतों का समन्वय चाहते हैं। तभी समाहित्य का वास्तविक अर्थ समझा जा सकेगा। इसीलिए काव्य की परिभाषा भी उन्होंने—

'शब्दार्थौ सहितौ' इत्यादि दी है। ये दोनों ही मत उन्हें अमान्य हैं।

इस स्थल की व्याख्या करते हुए आचार्य विश्वेश्वर जी ने स्वभावोक्ति-वादी के पूर्व पक्ष को प्रस्तुत कराकर उसका खण्डन करवाते हुए वक्रोक्ति पक्ष की स्थापना करने का प्रयास करते हुए जो श्लोकों का कुछ ऊटपटांग अर्थ प्रस्तुत करने का प्रयास किया है, इसे वे ही समझ सकते हैं। क्योंकि कुन्तक की वक्रोक्ति तो इनमें प्रस्तुत दोनों मतों से भिन्न है। अन्यथा उन्हें साहित्यार्थसुधा सागर के सारोन्मीलन की क्या आवश्यकता। साथ ही 'इत्यसत्तर्कसन्दर्भे स्वतन्त्रेऽप्यकृतादरः' कहने की क्या आवश्यकता थी, यदि वक्रोक्तिवादी कवि को पूर्ण स्वच्छन्द ही बना देता है। वक्रोक्ति का यह मतलब कदापि नहीं है कि कवि जो कुछ भी मनमाना तत्त्वहीन वर्णन करे

वह वक्रोक्ति होगी। अतः उसे काव्य कहेंगे। इसी लिए आचार्य कुन्तक ने स्वभावोक्ति की अलङ्कारता का खण्डन करते हुए उसकी अलङ्कार्यता प्रस्तुत की है।

ग्रन्थारम्भेऽभिमतदेवतानमस्कारकरणं समाचारः, तस्मात्तदेव तावदुपक्रमते—

वन्दे कवीन्द्रवक्त्रेन्दुलास्यमन्दिरनर्तकीम्।
देवीं सूक्तिपरिस्पन्दसुन्दराभिनयोज्ज्वलाम्॥ १॥

ग्रन्थ के प्रारम्भ में इष्टदेव के प्रति नमस्कार करना (ग्रन्थकारों का समाचार) है इसी लिए तो उसी (अभिमत देवता-नमस्कार) को प्रारम्भ करते हैं—

(मैं) कविप्रवरों के मुखचन्द्ररूपी नृत्यभवन में नृत्य करने वाली, सुभाषित के विलासरूपी सुन्दर अभिनयों के कारण उज्ज्वल सुशोभित देवी (वाग्देवता) की स्तुति करता हूँ॥ १॥

टिप्पणी :—जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि कुन्तक शैव थे इसीलिए उनके ग्रन्थ में यत्रतत्र सर्वत्र शैवदर्शन की छाप झलकती है, इस कारिका में भी आचार्य ने ऐसी शब्दावली का प्रयोग किया है जिससे कि दूसरा शिव-शक्तिपरक अर्थ भी सूचित होता है। (वक्त्रे इन्दुर्यस्य सः शिवः इत्यर्थः) अर्थात् वक्त्रेन्दु भगवान् शिव के लास्यमन्दिर (अर्थात् जगत्) की नर्तकी, एवं अपने परिस्पन्दों के सुन्दर अभिनय से उज्ज्वल (शृङ्गारिणी— 'उज्ज्वलस्तुविकासिनि शृङ्गारे विशदे' इति 'हेमः) देवी शक्ति की वन्दना करता हूँ। जैसा कि पहले बताया गया है कि यह जगत् शक्ति का स्पन्द या परिस्पन्द है। अतः यह परिस्पन्द शक्तिरूपा नर्तकी का अभिनय हुआ। जगत् की सृष्टि तो शक्ति करती है अतः उसे नर्तकी कहा गया है क्योंकि शिव तो निर्विकार है।

देवीं वन्दे, देवतां स्तौमि। कामित्याह—कवीन्द्रवक्त्रेन्दुलास्यमन्दिरनर्तकीम्। कवीन्द्राः कविप्रवरास्तेषां वक्त्रेन्दुर्मुखचन्द्रः स एव लास्यमन्दिरं नाट्यवेश्म, तत्र नर्तकीं लासिकाम्। किंविशिष्टाम्; सूक्तिपरिस्पन्दसुन्दराभिनयोज्ज्वलाम्। सूक्तिपरिस्पन्दाः सुभाषितविलसितानि तान्येव सुन्दरा अभिनयाः सुकुमाराः सात्त्विकादयस्तैरुज्ज्वलां भ्राजमानाम्। या किल सत्कविवक्त्रे लास्यवेश्मनीव नर्तकी सविला-

साभिनयविशिष्टा नृत्यन्ती विराजते तां वन्दे नौमीति वाक्यार्थः। तदिदमत्र तात्पर्यम्—यत्किल प्रस्तुतं वस्तु किमपि काव्यालंकारकरणं तदधिदैवतभूतामेवंविधरामणीयकहृदयहारिणीं वाग्रूपां सरस्वतीं स्तौमीति।

देवी की वन्दना अर्थात् देवी की स्तुति करता हूँ। किन (देवता) की महाकवियों के मुखशशिरूपी नृत्यशाला में नर्तन करनेवाली (देवता) की। कवीन्द्र अर्थात् श्रेष्ठ कविगण उनके वक्त्रेन्दु अर्थात् मुखचन्द्र वे ही हैं लास्यमन्दिर अर्थात् नृत्यशाला उसमें नर्तकी अर्थात् नाचनेवाली। उस नर्तकी की क्या विशेषतायें हैं—

सूक्ति के संस्फुरणों के सुन्दर अभिनय के कारण जगमगाती हुई सुक्तिपरिस्पन्द अर्थात् सुभाषितों के विलसित, वे ही हैं सुन्दर अभिनय अर्थात् सुकुमार सात्त्विकादिभाव, उनसे उज्ज्वल अर्थात् सुशोभित। देवी जो कि नृत्यशाला में हाव-भाव के साथ अभिनय पूर्ण अर्थात् नृत्य करती हुई नर्तकी के सदृश महाकवियों के मुख में विशेष प्रकार से शोभित होती हैं (विराजते) उन देवी को नमस्कार करता हूँ। यह इसका वाक्यार्थ हुआ तो यहाँ पर तात्पर्य यह निकला कि जो भी कुछ (यहाँ पर) प्रस्तुत विषय (किमपि) है। (वह) काव्यालङ्कार की रचना है उसकी अधिष्ठात्री देवता एवं इस प्रकार की (अपूर्व) रमणीयता के कारण मनोहर भगवती भारती की स्तुति करता हूँ।

एवं नमस्कृत्येदानीं वक्तव्यवस्तुविषयभूतान्यभिधानाभिधेय-प्रयोजनान्यासूत्रयति—

इस प्रकार वन्दना करके अब आगे विवेचित की जाने वाली वस्तु से सम्बन्धित संज्ञा, विषय और प्रयोजन को उपन्यस्त करने का उपक्रम करते हैं—(क्योंकि—

टिप्पणी :—जिस प्रकार किसी कूप, तडाग तथा भवन आदि के निर्माण के पूर्व उसके सीमा-विस्तार निर्धारित करने के लिए कि—यह इस रूप में निर्मित होगा—सर्वप्रथम मानसूत्र (फीते) के द्वारा उसकी लम्बाई-चौड़ाई आदि निश्चित कर दी जाती है उसी प्रकार अपने प्रतिपाद्य विषय को सूचित करने के लिए ग्रन्थकार प्रारम्भ में ही उसके अनुबन्ध-चतुष्टय प्रस्तुत कर देते हैं। यह ग्रन्थकार का अभिप्राय है।

वाचो विषयनैयत्यमुत्पादयितुमुच्यते ।
आदिवाक्येऽभिधानादि निर्मितेर्मानसूत्रवत् ॥ ६ ॥

इत्यन्तरश्लोकः

यह अन्तर श्लोक है ।

वाणी को विषय की सीमा में नियन्त्रित करने के लिए भवन-निर्माण में सूत्रमान (फीते की पैमाइश) की तरह आरम्भिक वाक्य में ही अभिधान आदि (अनुबन्धचतुष्टय) कह दिये जाते हैं ॥ ६ ॥

टिप्पणी :—इससे ग्रन्थकार यह भी सूचित करना चाहता है कि उसकी सरस्वती का वैभव बहुत ही विशाल है । केवल प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से उसको वह सीमित करके पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर रहा है ।

लोकोत्तरचमत्कारकारिवैचित्र्यसिद्धये ।
काव्यस्यायमलङ्कारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते ॥ २ ॥

अलौकिक चमत्कार को उत्पन्न करनेवाले वैचित्र्य को सम्पन्न करने के लिए किसी अपूर्व, काव्यविषयक अलङ्कार ग्रन्थ का निर्माण किया जा रहा है ॥२॥

अलंकारो विधीयते अलंकरणं क्रियते । कस्य—काव्यस्य । कवेः कर्म काव्यं तस्य । ननु च सन्ति चिरन्तनास्तदलंकारास्तत्किमर्थमित्याह—अपूर्वः, तद्व्यतिरिक्तार्थाभिधायी । तदपूर्वत्वं तदुत्कृष्टस्य तन्निकृष्टस्य च द्वयोरपि संभवतीत्याह—कोऽपि, अलौकिकः सातिशयः । सोऽपि किमर्थमित्याह—लोकोत्तरचमत्कारकारिवैचित्र्यसिद्धये असामान्याह्लादविधायिविचित्रभावसम्पत्तये । यद्यपि सन्ति शतशः काव्यालंकारास्तथापि न कुतश्चिदप्येवंविधवैचित्र्यसिद्धिः ।

अलङ्कार का निर्माण किया जा रहा है अर्थात् शोभाधान किया जा रहा है । किसका ? काव्य का । काव्य कवि का व्यापार है उस कविव्यापार का (अलङ्करण किया जा रहा है) । यदि ऐसी शङ्का की जाय कि, काव्य के बहुत से प्राचीन अलङ्कार ग्रन्थ हैं अतः (इस नये ग्रन्थ का निर्माण) किसलिए है । अतः ग्रन्थकार कहता है अपूर्व (ग्रन्थ) अर्थात् उन (प्राचीन ग्रन्थों) से भिन्न अर्थात् मौलिक वस्तु को प्रस्तुत करनेवाले ग्रन्थ का निर्माण कर रहे हैं । यह भी कहा जा सकता है—अलङ्कार ग्रन्थ की नवीनता तो उन (प्राचीन ग्रन्थों) में अच्छे बुरे दोनों प्रकार के ग्रन्थों में आ सकती है । इस विषय में कहते हैं—किसी और ही लोकोत्तर वैशिष्ट्य से युक्त-अतिशय से युक्त (ग्रन्थ) । (प्रश्न—ठीक है कि आप अपूर्व अलङ्कार ग्रन्थ का

निर्माण कर रहे हैं) पर वह भी किस लिये ? इसलिये बताते हैं कि— लोकोत्तर (अर्थात्–असामान्य युक्त) चमत्कार को उत्पन्न करने वाले वैचित्र्य की सिद्धि करने के लिए अर्थात् असामान्य आह्लाद को उत्पन्न करने वाली विचित्रता की सिद्धि के लिए (अपूर्व अलङ्कार ग्रन्थ की रचना कर रहे हैं) । यद्यपि अनेकों काव्य के अलङ्कार ग्रन्थ (चिरन्तन आलङ्कारिकों द्वारा निर्मित) विद्यमान हैं फिर भी किसी भी ग्रन्थ में इस प्रकार की विचित्रता नहीं आ पाई है ।

टिप्पणी :—महामहोपाध्याय डॉ० पाण्डुरङ्ग वामन का कथन है—

"It appears that Kuntaka meant the karikas alone to be called काव्यालङ्कार as the karika of the first unmesa states लोकोत्तर–इत्यादि । The vritti on this says ननु च सन्ति चिरन्तनास्तदलङ्कारास्तत् किमर्थमित्याह—अपूर्वः तद्व्यतिरिक्तार्थाभिधायी ।...कोऽपि अलौकिकः सातिशयः । लोको...सिद्धये । असामान्याह्लादविधायिविचित्रभावसम्पत्तये । यद्यपि सन्ति शतशः काव्यालङ्कारास्तथापि न कुतश्चिदप्येवंविधवैचित्र्यसिद्धिः It may be noticed that the works of भामह, उद्भट and रुद्रट were called काव्यालङ्कार s. Though the karikas thus appear to have been meant to be called काव्यालङ्कार the whole work has been refered to by later writers as वक्रोक्तिजीवितं । The vritti is quite clear on this point—

तदयमर्थः—ग्रन्थस्यास्यालङ्कार इत्यभिधानम् । उपमादिप्रमेयजातमभिधेयम् । उक्तरूपवैचित्र्यसिद्धिः प्रयोजनमिति ।

History of Sanskrit Poetics (P. 225-26)

अलङ्कारशब्दः शरीरस्य शोभातिशयकारित्वान्मुख्यतया कटकादिषु वर्तते, तत्कारित्वसामान्यादुपचारादुपमादिषु, तद्वदेव च तत्सदृशेषु गुणादिषु, तथैव च तदभिधायिनि ग्रन्थे शब्दार्थयोरेकयोगक्षेमत्वादैक्येन व्यवहारः, यथा गौरिति शब्दः गौरित्यर्थ इति । तदयमर्थः—ग्रन्थस्यास्यालङ्कार इत्यभिधानम् , उपमादिप्रमेयजातमभिधेयम् , उक्तरूपवैचित्र्यसिद्धिः प्रयोजनमिति ॥ २ ॥

शरीर की शोभा में उत्कृष्टता ले आने के कारण प्रधानतः 'अलङ्कार शब्द का प्रयोग कड़े आदि (गहनों) के लिए किया जाता है । शोभातिशय

की उत्पादकता के साधर्म्य के कारण लक्षण से उपमारूपक आदि (काव्य के अलङ्कारों के अर्थ) में, भी अकङ्कारशब्द का प्रयोग होता है। और उसी प्रकार उसके सदृश होने के नाते गुण (मार्ग) आदि के अर्थ में भी (अलङ्कार शब्द का प्रयोग होता है) और उसी प्रकार उनका प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ के विषय में इस शब्द का प्रयोग किया जाता है। शब्द और अर्थ दोनों का समान रूप से योग-क्षेम करने के कारण दोनों के स्थान पर एक व्यवहार होता है। जैसें गाय यह शब्द है और गाय यह अर्थ है। तो आशय यह है कि यह ग्रन्थ (**अर्थात् इस प्रकार अलङ्कारों के प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थों का** (जातावेकवचनम्) अलङ्कार कहा जायगा। उपमा-रूपक आदि प्रमेय समुदाय (इस प्रकार के अलङ्कार ग्रन्थों का) अभिधेय अर्थात् प्रतिपाद्य विषय है। तथा ऊपर कही गई (अलौकिक विचित्रता) की सिद्धि इसका प्रयोजन है।

टिप्पणी :—उपर्युक्त पंक्तियों मैं कुन्तक द्वारा प्रयुक्त 'ग्रन्थस्यास्य अलङ्कार इत्यभिधानम्' शव्दावली विद्वानों के भ्रम का मूल है। इसी आधार पर इस ग्रन्थ का नाम 'काव्यालङ्कार' सिद्ध करने का प्रयास किया है जो समीचीन नहीं प्रतीत होता। क्योंकि यहाँ पर कुन्तक सभी अलङ्कार ग्रन्थों का प्रयोजनादि बता रहे हैं अतः वे कहते हैं कि काव्य के अलङ्कारों (उपमादि) के प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थों का अलङ्कार (ग्रन्थ) नाम होता है। इस बात को उन्होंने इसके पहले अलङ्कार शब्द का अर्थ बताते हुए 'तथैव च तदभिधायिनि ग्रन्थे' कह कर अत्यधिक स्पष्ट कर दिया है। साथ ही जैसा आचार्यों के बीच में प्रसिद्धि है कि 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' इति कुन्तकः। इस कथन की पुष्टि इस ग्रन्थ का नाम 'काव्यालङ्कार' मान लेने से नहीं होती है। जब कि 'वक्रोक्तिजीवितम्' इस सञ्ज्ञा से 'तदधिकृत्य कृते ग्रन्थे' से (वक्रोक्तिरेव जीवितम् यस्य तत्) यह अर्थ स्पष्ट प्रतीत होता है। साथ ही जैसा कि प्रथम उन्मेष की समाप्ति पर प्रयुक्त 'इति श्रीराजानककुन्तकविरचिते **वक्रोक्तिजीविते काव्यालङ्कारे** प्रथम उन्मेषः' का 'वक्रोक्तिजीवित' नामक काव्य के अलङ्कार ग्रन्थ में ऐसा ही अर्थ सङ्गत प्रतीत होता है। यदि यह कहा जाय कि 'वक्रोक्ति है जीवित जिसका ऐसे 'काव्यालङ्कार' नामक ग्रन्थ में' यह अर्थ उपयुक्त होगा तो ठीक नहीं, क्योंकि अन्यत्र उन्मेषों की समाप्ति पर केवल 'इति श्रीराजानककुन्तकविरचिते वक्रोक्तिजीविते द्वितीय-तृतीय—उन्मेषः' प्राप्त होता है। वहाँ 'काव्यालङ्कारे' का प्रयोग नहीं मिलता है। अतः यहाँ पर 'ग्रन्थस्यास्य अलङ्कार इत्यभिधानम्' में 'जातावेकचनम्' ही मानना अधिक सङ्गत प्रतीत होता है।

एवमलंकारस्यास्य प्रयोजनमस्तीति स्थापितेऽपि तदलंकार्यस्य काव्यस्य प्रयोजनं विना यदपि सदपार्थकमित्याह—

धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः ।
काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारक. ॥ ३ ॥

इस तरह अलङ्कारग्रन्थ का प्रयोजन (लोकोत्तरचमत्कारकारिवैचित्र्य की सिद्धि) है ऐसा सिद्ध हो जाने पर भी अलङ्कार के द्वारा सुशोभित किए जाने वाले काव्य के प्रयोलन के बिना वह प्रयोजनमूल का भी बेकार ही है । इस आशय से ग्रन्थकार कहते हैं कि—

सुकुमार क्रम (अर्थात् सहृदयहृदयहारी परिपाटी) से कहा गया काव्य बन्ध (अर्थात् महाकाव्यादि) धर्मादि (अर्थात् धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष रूप चतुर्वर्ग) के सम्पादन का उपाय (तथा) अभिजातों (कुलीन-सुकुमार-मति राजपुत्रादिकों) के हृदय में आह्लाद (आनन्द) को उत्पन्न करने वाला होता है ॥ ३ ॥

हृदयाह्लादकारकश्चित्तानन्दजनकः काव्यबन्धः सर्गबन्धादिर्भवतीति सम्बन्धः । कस्येत्याकाङ्क्षायामाह—अभिजातानाम् । अभिजाताः खलु राजपुत्रादयो धर्माद्युपेयार्थिनो विजिगीषवः क्लेशभीरवश्च, सुकुमाराशयत्वात्तेषाम् तथा सत्यपि तदाह्लादकत्वे काव्यबन्धस्य क्रीडनकादिप्रख्यता प्राप्नोतीत्याह—धर्मादिसाधनोपायः । धर्मादेरुपेयभूतस्य चतुर्वर्गस्य साधने संपादने तदुपदेशरूपत्वादुपायस्तत्प्राप्तिनिमित्तम् ।

हृदयाह्लादकारक अर्थ चित्त में आनन्द को उत्पन्न करने वाला काव्यबन्ध अर्थात् सर्गबन्धादि (महाकाव्यादि) होता है यह (अर्थात् 'काव्यबन्धः' का 'भवति' इस क्रिया से) सम्बन्ध है । किसका (चित्तानन्दजनक होता है) इस आकांक्षा में कहा, अभिजातों का । (हृदयाह्लादकारक होता है) । अभिजात राजपुत्रादि उपायों द्वारा प्राप्य धर्मादि (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप पुरुषार्थ-चतुष्टय) के प्रार्थी विजय की इच्छावाले एव क्लेश से डरने वाले होते हैं (क्योंकि उनका स्वभाव सुकुमार होता है ।) काव्यबन्ध के उस प्रकार उन (राजतुत्रादिकों) का आह्लादक होने पर भी (उसे) खिलौना आदि का सादृश्य प्राप्त होता है (अर्थात् यदि काव्यबन्ध केवल राजपुत्रादिकों का आह्लादक ही होता है, उसका और कोई प्रयोजन नहीं, तो वह तो खिलौने के ही सदृश हुआ क्योंकि आह्लादकत्व तो उसमें भी होता है)

अतः (खिलौने के साथ काव्यादि की समानता को दूर करने के लिये) कहा धर्मादि के सम्पादन का उपाय (काव्यबन्ध होता है)। (अर्थात् काव्यबन्ध) धर्मादि अर्थात् उपायों के द्वारा प्राप्त होने वाले (धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष रूप) चतुर्वर्ग के साधन अर्थात् सम्पादन में उस (धर्मादि) की प्राप्ति का निमित्त होता है।

तथापि तथाविधपुरुषार्थोपदेशपरैरपरैरपि शास्त्रैः किमपराद्धमित्यभिधीयते—सुकुमारक्रमोदितः। सुकुमारः सुन्दरः सहृदयहृदयहारी क्रमः परिपाटीविन्यासस्तेनोदितः कथितः सन्। अभिजातानामाह्लादकत्वे सति प्रवर्तकत्वात्काव्यबन्धो धर्मादिप्राप्त्युपायतां प्रतिपद्यते। शास्त्रेषु पुनः कठोरक्रमाभिहितत्वाद् धर्माद्युपदेशो दुरवगाहः। तथाविधे विषये विद्यमानोऽप्यकिञ्चित्कर एव।

फिर भी उस प्रकार (उपायों द्वारा प्राप्तव्य) पुरुषार्थ का उपदेश करने वाले दूसरे भी शास्त्रों द्वारा क्या अपराध किया गया है (जो आप काव्यबन्ध को ही धर्मादिसाधनोपाय बताते हैं दूसरों को नहीं) अतः कहते हैं, सुकुमार क्रम से कहा गया (काव्यबन्ध धर्मादि के सम्पादन का उपाय होता है। सुकुमार अर्थात् सुन्दर सहृदयों के हृदयों का हरण करने वाला क्रम अर्थात् परिपाटी विन्यास (विशेष प्रकार की रचनाशैली) उसके द्वारा उदित अर्थात् कहा गया (काव्यबन्ध धर्मादि का साधन है)। अभिजात राजपुत्रादिकों का आह्लादकत्व होने से काव्यबन्ध धर्मादि (पुरुषार्थ—चतुष्टय) की प्राप्ति की उपायता को प्राप्त होता है (अर्थात् धर्मादि की प्राप्ति का उपाय बन जाता हैं।) फिर शास्त्रों में (उनके) कठोर क्रम से कहे जाने के कारण (सुकुमार मति एवं क्लेशभीरु राजपुत्रादिकों के लिए) धर्मादि का उपदेश बड़ी ही कठिनता से प्राप्त होने वाला होता है। अतः (शास्त्रादिक) उस प्रकार (धर्मादि की सिद्धि के विषय में विद्यमान होने पर भी बेकार ही है :

राजपुत्राः खलु समासादितविभवाः समस्तजगतीव्यवस्थाकारितां प्रतिपद्यमानाः श्लाघ्योपायोपदेशशून्यतया स्वतन्त्राः सन्तः समुचितसकलव्यवहारोच्छेदं प्रवर्तयितुं प्रभवन्तीत्येतदर्थमेतद्व्युत्पत्तये व्यतीतसच्चरितराजचरितं तन्निदर्शनाय निबध्नन्ति कवयः। तदेवं शास्त्रातिरिक्तं प्रगुणमस्त्येव प्रयोजनं काव्यबन्धस्य ॥ ३ ॥

राजपुत्र लोग ऐश्वर्य को प्राप्त कर समस्त पृथ्वी की व्यवस्था करते हुए श्रेष्ठ (राजविषयक एवं लोक-व्यवहारसम्बन्धी) उपायों के उपदेश

से हीन होने के कारण (शास्त्र-ज्ञान के अभाव के कारण) स्वच्छन्द होकर समुचित समस्त व्यवहारों का विनाश करने के लिए समर्थ होते हैं, अतः (समस्त उचित व्यवहारों के विनाश को रोकने के लिए एवं इस प्रकार राजपुत्रों की कार्यों में औचित्ययुक्त प्रवृत्ति एवं निवृत्ति कराने के लिए) उनकी (शास्त्रविषयक) व्युत्पत्ति के लिए कवि लोग अतीत के श्रेष्ठ-चरित्र वाले राजाओं के चरित्र का उनके निदर्शन के लिए (काव्यरूप में) वर्णन करते हैं। अतः इस प्रकार से काव्यबन्ध का शास्त्र से अतिरिक्त प्रकृष्ट गुण-वाला प्रयोजन तो निश्चित ही है ॥ ३ ॥

मुख्यं पुरुषार्थसिद्धिलक्षणं प्रयोजनमास्तां तावत्, अन्यदपि लोकयात्राप्रवर्तननिमित्तं भृत्यसुहृत्स्वाम्यादिसमावर्जनमनेन विना सम्यङ् न सम्भवतीत्याह—

व्यवहारपरिस्पन्दसौन्दर्यं व्यवहारिभिः ।
सत्काव्याधिगमादेव नूतनौचित्यमाप्यते ॥ ४ ॥

(उपर्युक्त कारिका में ग्रन्थकार ने काव्यबन्ध का प्रयोजन चतुर्वर्ग की प्राप्ति को ही बताया है लेकिन उसके अन्य भी लोक-व्यवहारविषयक प्रयोजनों को बताने के लिए कहते हैं—)

पहले पुरुषार्थ की सिद्धि (अर्थात् धर्म आदि की प्राप्ति) रूप मुख्य प्रयोजन को रहने दें, अन्य भी लोकयात्रा की प्रवृत्ति के कारणभूत सेवक, मित्र एवं स्वामी आदि का भलीभाँति आकर्षण इसके (काव्यज्ञान के) विना नहीं सम्भव है, अतः कहा है—

लोक व्यवहार में (नित्य) प्रवृत्त होने वाले लोग नवीन औचित्य से युक्त लोकाचार के व्यापार के सौन्दर्य को श्रेष्ठ काव्यों के परिज्ञान से ही प्राप्त करते हैं ॥ ४ ॥

व्यवहारो लोकवृत्तं तस्य परिस्पन्दो व्यापारः क्रियाक्रमलक्षण-स्तस्य सौन्दर्यं रमणीयकं तद्व्यवहारिभिर्व्यवहर्तृभिः सत्काव्याधि-गमादेव कमनीयकाव्यपरिज्ञानादेव नान्यस्माद् आप्यते लभ्यत इत्यर्थः। कीदृशं तत्सौन्दर्यम्—नूतनौचित्यम् नूतनमभिनवमलौकिकमौचित्य-मुचितभावो यस्य। तदिदमुक्तं भवति—महतां हि राजादीनां व्यवहारे वर्ण्यमाने तदङ्गभूता सर्वे मुख्यामात्यप्रभृतयः समुचितप्रातिस्विक-कर्तव्यव्यवहारनिपुणतया निबध्यमानाः सकलव्यवहारिवृत्तोपदेशतामा-

पद्यन्ते। ततः सर्वः कश्चित्कमनीयकाव्ये कृतश्रमः समासादित-व्यवहारपरिस्पन्दसौन्दर्यातिशयः श्लाघनीयफलभाग् भवतीति।

व्यवहार अर्थात् लोकाचार उसका परिस्पन्द अर्थात् कार्य-परम्परा रूप व्यापार, उसका सौन्दर्य अर्थात् रमणीयता वह (लोकाचार के व्यापार का सौन्दर्य) व्यवहारी अर्थात् (नित्यप्रति) लोकव्यवहार में प्रवृत्त होने वाले (पुरुषों के) द्वारा, सत्काव्य के अधिगम से अर्थात् कमनीय काव्य के परिज्ञान से ही, अन्य किसी (साधन) से नहीं आप्त अर्थात् प्राप्त होता है, ऐसा अर्थ हुआ। वह सौन्दर्य किस प्रकार का है नूतन औचित्ययुक्त। नूतन अर्थात् अभिनव लौकिक औचित्य अर्थात् उचितभाव है जिसका (ऐसा सौन्दर्य। इस प्रकार यह बताया गया कि, बड़े-बड़े राजाओं के व्यवहार के (काव्य में) वर्णन किए जाने पर उन (राजादिकों) के अङ्गभूत सभी प्रधान अमात्य (मंत्री) आदि सम्यक् औचित्यपूर्ण अपने-अपने कर्त्तव्यों एवं व्यवहारों में निपुणता के साथ (काव्य में) वर्णित होकर समस्त व्यवहार में प्रवृत्त होने वाले पुरुषों के आचार के उपदेश करने वाले हो जाते हैं। अर्थात् लौकिक पुरुषों को किस ढंग से व्यवहार करना चाहिए यह शिक्षा उन्हें काव्य के वर्णित राजा एवम् उनके अमात्य आदि के व्यवहारों से मिलती है। तदनन्तर सभी कोई कमनीय काव्य में परिश्रम करके लोकव्यवहार की कार्यपरम्परा रूप व्यापार के सौन्दर्यातिशय को प्राप्त कर श्रेष्ठ फल का भागी होता है।

योऽसौ चतुर्वर्गलक्षणः पुरुषार्थस्तदुपार्जनविषयव्युत्पत्तिकारणतया काव्यस्य पारंपर्येण प्रयोजनमित्याम्नातः, सोऽपि समयान्तरभावितया तदुपभोगस्य तत्फलभूताह्लादकारित्वेन तत्कालमेव पर्यवस्यति। अतस्तदतिरिक्तं किमपि सहृदयहृदयसंवादसुभगं तदात्वरमणीयं प्रयोजनान्तरमभिधातुमाह—

काव्य के उस (चतुर्वर्ग) की प्राप्ति के विषय में व्युत्पत्ति का साधन होने के कारण जो यह (तृतीय कारिका में धर्म, अर्थ काम एवं मोक्ष) चतुर्वर्ग रूप पुरुषार्थ-परम्परा से (काव्य का) प्रयोजन स्वीकार किया गया है वह भी उसके उपभोग के समयान्तर (अर्थात् काव्य के अध्ययन काल में तुरन्त ही नहीं अपितु कुछ समय बाद) में होने वाला होने के कारण उस (उपभोग) के फलस्वरूप आह्लाद का उत्पादक होने से उस (समयान्तर रूप) काल में ही पर्यवसित होता है, (अर्थात् काव्य के अध्ययन के फलभूत चतुर्वर्ग का उपभोग अध्ययन काल में न होकर कालान्तर में होता है अतः

उसका फलभूत आह्लाद भी कालान्तर में ही होता है इसलिए उस आह्लाद का जनक होने का अध्ययनकालिक कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। इसलिए केवल भविष्य की कल्पना पर काव्य का अध्ययन किया जाय वह उचित नहीं क्योंकि भविष्य तो अन्धकारमय होता है अतः उससे भिन्न सहृदयों के हृदय की अनुरूपता से रमणीय तत्काल (अध्ययन काल) में ही मनोहर किसी अन्य प्रयोजन को बताने के लिए कहा है—

चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते ॥ ५ ॥

(प्रसिद्ध धर्म, अर्थ काम एवं मोक्ष रूप) चतुर्वर्ग के फल के आस्वाद (अनुभव) का भी अतिक्रमण करके, काव्यरूपी अमृत का रस, उस (काव्यामृतरसास्वाद) को जानने वालों के हृदय में चमत्कार का विस्तार करता है। (अर्थात् काव्य के अध्ययन से उत्पन्न रसास्वाद से प्रसिद्ध धर्मादि चतुर्वर्ग के फल का आनन्द भी निम्नकोटि का होता है) ॥ ५ ॥

चमत्कारो वितन्यते चमत्कृतिर्विस्तार्यते, ह्लादः पुनः पुनः क्रियत इत्यर्थः। केन—काव्यामृतरसेन। काव्यमेवामृतं तस्य रसस्तदास्वादस्तदनुभवस्तेन। क्वेत्यभिदधाति—अन्तश्चेतसि। कस्य—तद्विदाम्। तं विदन्ति जानन्तीति तद्विदस्तज्ज्ञास्तेषाम्। कथम्—चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य। चतुर्वर्गस्य धर्मादेः फलं तदुपभोगस्तस्यास्वादस्तदनुभवस्तमपि प्रसिद्धातिशयमतिक्रम्य विजित्य पस्पशप्रायं संपाद्य।

'चमत्कारो वितन्यते' अर्थात् चमत्कृति (रसास्वाद रूप अलौकिक आनन्द) विस्तार किया जाता है, बार-बार, आनन्दानुभूति कराई जाती है, यह अर्थ हुआ। किसके द्वारा, काव्यामृतरस के द्वारा। काव्य ही है अमृत (जो), उसका रस उसका आस्वाद अर्थात् उसका अनुभव उसके द्वारा। कहाँ (चमत्कार का विस्तार होता है) यह कह सकते हैं, अन्तः अर्थात् हृदय में, किसके (हृदय में), तद्विदों के। उस (काव्यरस) को जानते हैं जो वे हुए तद्विद्, उसको जानने वाले, उनके (हृदय में चमत्कार का विस्तार करता है) कैसे (चमत्कार को पैदा करता है) चतुर्वर्ग के फलास्वाद का भी अतिक्रमण करके। चतुर्वर्ग अर्थात् धर्मादि (धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष रूप पुरुषार्थ) का फल अर्थात् उसका उपभोग, उसका आस्वाद अर्थात्

उसका अनुभव, प्रसिद्ध उत्कर्ष वाले उस (चतुर्वर्ग का फलास्वाद) अतिक्रमण करके उसको भी जीतकर अतः उसे निःसार सा बना करके (चमत्कार को उत्पन्न करता है)।

तदयमभिप्रायः—योऽसौ चतुर्वर्गफलास्वादः प्रकृष्टपुरुषार्थतया सर्वशास्त्रप्रयोजनत्वेन प्रसिद्धः सोऽप्यस्य काव्यामृतचर्वणचमत्कार-कलामात्रस्य न कामपि साम्यकलनां कर्तुमर्हतीति। दुःश्रव-दुर्भण-दुरधिगमत्वादिदोषदुष्टोऽध्ययनावसर एव दुःसहदुःखदायी शास्त्र-सन्दर्भस्तत्कालकल्पितकमनीयचमत्कृतेः काव्यस्य न कथंचिदपि स्पर्धामधिरोहतीत्येतदप्यर्थतोऽभिहितं भवति।

तो इसका मतलब यह हुआ कि जो यह धर्मादि-चतुर्वर्ग के उपभोग का अनुभव प्रकृष्ट पुरुषार्थ के रूप में समस्त शास्त्रों के प्रयोजन रूप से प्रसिद्ध है, वह भी इस काव्यरूप अमृत के आस्वाद के आनन्द की कलामात्र की किसी भी प्रकार की समता करने के योग्य नहीं है। दुःश्रवत्व (कर्णकटु), दुर्भणत्व (उच्चारण में कठिनाई पैदा करने वाले), दुरधिगमत्व (बड़ी मुश्किल से समझ में आने वाले) आदि दोषों से दूषित होने के कारण अध्ययन काल में अत्यन्त ही असह्य दुःख को देने वाला शास्त्र-सन्दर्भ (शास्त्रों के वर्णन) तत्काल (अध्ययन करते समय) ही कमनीय (रसास्वादजन्य अलौकिक आनन्दरूप) चमत्कृति की सृष्टि करने वाले काव्य की किसी भी प्रकार स्पर्धा (समता) करने में समर्थ नहीं यह बात भी अर्थतः (स्पष्ट कर दी जाती है) अभिहित होती है। (जैसा कि कहा भी गया है कि)—

कटुकौषधवच्छास्त्रमविद्याव्याधिनाशनम्।
आह्लाद्यमृतवत्काव्यमविवेकगदापहम्॥ ७॥

शास्त्र कड़वी दवा की तरह अज्ञान रूप मानसिक रोग (व्याधि) का विनाश करने वाला होता है, (जब कि) काव्य (चित्त को) आनन्द देने वाले अमृत के सदृश अज्ञान (अविवेक) रूप रोग का विनाश करने वाला होता है॥ ७॥

आयात्यां च तदात्वे च रसनिस्यन्दसुन्दरम्।
येन संपद्यते काव्यं तदिदानीं विचार्यते॥ ८॥

इत्यन्तरश्लोकौ॥ ५॥

(ऐसा उपर्युक्त गुणविशिष्ट) काव्य जिसके द्वारा उस (अध्ययन) काल में एवं बाद में रस के प्रवाह से सुन्दर सम्पन्न होता है वह (तत्त्व) अत्र (इस ग्रन्थ में) बताया जाता है ॥ ८ ॥

ये दो अन्तर श्लोक हैं ॥ ५ ॥

अलंकृतिरलंकार्यमपोद्धृत्य विवेच्यते ।
तदुपायतया तत्त्वं सालंकारस्य काव्यता ॥ ६ ॥

उस (काव्य) का उपाय होने के कारण अलंकार्य (वाच्य और वाचक) का अलग अलग करके विवेचन किया जाता है। वस्तुतः अलंकार से युक्त (अलंकार्य शब्द एवं अर्थ) की ही काव्यता होती है ॥ (अर्थात् यदि अलंकार और अलंकार्य को अलग कर दिया जाय तो काव्य की सत्ता ही समाप्त हो जायगी क्योंकि अलंकार शब्द एवं अर्थ ही काव्य होते हैं पर उनका जो अलग-अलग विवेचन किया जाता है वह उनके स्पष्ट ज्ञान के लिए है एवं वैसी परम्परा भी प्रचलित होने के कारण है ॥ ६ ॥

अलंकृतिरलंकरणम् अलंक्रियते ययेति विगृह्य । सा विवेच्यते विचार्यते । यच्चालंकार्यमकलंकरणीयं वाचकरूपं वाच्यरूपं च तदपि विवेच्यते । तयोः सामान्यविशेषलक्षणद्वारेण स्वरूपनिरूपणं क्रियते । कथम्—अपोद्धृत्य । निष्कृष्य पृथक् पृथगवस्थाप्य, यत्र समुदायरूपे तयोरन्तर्भावस्तस्माद्विभज्य । केन हेतुना—तदुपायतया । तदिति काव्यं परामृश्यते । तस्योपायस्तदुपायस्तस्य भावस्तदुपायता तया हेतुभूतया । तस्मादेवंविधो विवेकः काव्यव्युत्पत्त्युपायतां प्रतिपद्यते । दृश्यते च समुदायान्तःपातिनामसत्यभूतानामपि व्युत्पत्तिनिमित्तमपोद्धृत्य विवेचनम् । यथा—पदान्तर्भूतयोः प्रकृतिप्रत्यययोर्वाक्यान्तर्भूतानां पदानां चेति । यद्येवमसत्यभूतोऽप्यपोद्धारस्तदुपायतया क्रियते तत् किं पुनः सत्यमित्याह—तत्त्वं सालंकारस्य काव्यता । अयमत्र परमार्थः—सालंकारस्यालंकरणसहितस्य सकलस्य निरस्तावयवस्य सतः समुदायस्य काव्यता कविकर्मत्वम् । तेनालंकृतस्य काव्यत्वमिति स्थितिः, न पुनः काव्यस्यालंकारयोग इति ॥ ६ ॥

अलंकृति अर्थात् अलङ्कार । अलंकृत किया जाता है जिसके द्वारा (वह अलंकृति होती है ऐसा विग्रह करके अलंकृति शब्द का अर्थ अलङ्कार होता है) । उसका विवेचन अर्थात् विचार किया जाता है और जो अलङ्कार्य अर्थात् (अलङ्कारों द्वारा) अलङ्करणीय अर्थात् वाचक रूप एवं

वाच्य-रूप (अर्थात् शब्द एवं अर्थ रूप) होता है उसका भी विचार किया जाता है। उन (अलङ्कार एवं अलङ्कार्य) का सामान्य एवं विशेष लक्षणों के द्वारा स्वरूप-विवेचन किया जाता है कैसे—अधोद्धृत्य अर्थात् निकालकर, अलग-अलग स्थापित कर अर्थात् जहाँ (काव्य में) समुदाव रूप में उन दोनों का अन्तर्भाव होता है उससे अलग करके (उनका विवेचन किया जाता है)। किस लिए उसका उपाय होसे से। उससे काव्य का परामर्श होता है (अर्थात् काव्य की व्युत्पत्ति का कारण होने से), उसका उपाय हुआ तदुपाय, उसका भाव हुआ तदुपायता, उसके द्वारा कारण रूप होने से (विवेचन किया जाता है) इसलिए इस प्रकार का विवेचन काव्य की व्युत्पत्ति का उपाय बन जाता है और देखा भी जाता है कि समुदाय के अन्तर्गत स्थित असत्यभूत (पदार्थों) का भी व्युत्पत्ति के लिए अलग-अलग विवेचन (शास्त्रों में किया जाता है)। जैसे पद के अन्तर्गत स्थित प्रकृति और प्रत्यय का विवेचन (व्याकरणशास्त्र में) तथा वाक्य के अन्तर्गत स्थित पदों का विवेचन (मीमांसा शास्त्र में) पाया जाता है।

(प्रश्न) यदि इस प्रकार से असत्यभूत भी अपोद्धार (अर्थात् अलङ्कार एवम् अलङ्कार्य का अलग-अलग विवेचन) उस (काव्य की व्युत्पत्ति) का उपाय होने से किया जाता है तो फिर सत्य क्या है ? उसे कहते हैं—'वस्तुतः अलङ्कार युक्त की ही काव्यता होती है'।

इसका निष्कृष्ट अर्थ यह हुआ कि सालङ्कार अर्थात् अलङ्करण से युक्त समस्त (समुदाय की) अवयवहीन होने पर ही काव्यता अर्थात् कवि का कर्मत्व होता है। अतः अलंकृत (शब्द और अर्थ) ही काव्य होता है यह सिद्ध हुआ न कि काव्य का अलङ्कार से योग होता है (अर्थात् अलङ्कार से हीन होने पर काव्य की सत्ता ही असम्भव है क्योंकि अलङ्कार को काव्य से अलग किया ही नहीं जा सकता, अतः यह कथन कि काव्य का अलंकार के साथ योग होता है नितान्त अनुचित होगा, क्योंकि यह कथन काव्य और अलंकार को भिन्न-भिन्न सिद्ध करता है।) ॥ ६ ॥

सालंकारस्य काव्यतेति संमुग्धतया किंचित् काव्यस्वरूपमासूत्रितम्, निपुणं पुनर्न निश्चितम्। किंलक्षणम् वस्तु काव्यव्यपदेशभाग् भवतीत्याह—

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि ॥ ७ ॥

अलंकार से युक्त की काव्यता होती है ऐसा साम्मुच्चय रूप से कुछ काव्य का स्वरूप बताया तो गया है किन्तु अच्छी तरह से उसका स्वरूप नहीं निश्चित किया। अतः किस प्रकार की वस्तु काव्य संज्ञा के योग्य होती है इसका निरूपण करते हैं—

वक्र (अर्थात् शास्त्रादि में प्रसिद्ध शब्द और अर्थ के उपनिबन्धन से भिन्न) कविव्यापार से शोभित होने वाले एवम् उस (काव्यतत्त्व) को समझने वालों के आनन्ददायक बन्ध अर्थात् वाक्यविन्यास में विशेषरूप से अवस्थित तथा सहित भाव से युक्त शब्द और अर्थ (दोनों मिलकर ही) काव्य होते हैं ॥ ७ ॥

शब्दार्थौ काव्यं वाचको वाच्यश्चेति द्वौ संमिलितौ काव्यम्। द्वावेकमिति विचित्रैवोक्तिः। तेन यत्केषांचिन्मतं कविकौशलकल्पित-कमनीयतातिशयः शब्द एव केवलं काव्यमिति केषांचिद् वाच्यमेव रचनावैचित्र्यचमत्कारकारि काव्यमिति, पक्षद्वयमपि निरस्तं भवति। तस्माद् द्वयोरपि प्रतितिलमिव तैलं तद्विदाह्लादकारित्वं वर्तते, न पुनरेकस्मिन्। यथा—

शब्द और अर्थ काव्य होते हैं अर्थात् वाचक और वाच्य दोनों भली-भाँति मिलकर काव्य होते हैं। दो (मिलकर) एक होते हैं यह तो बड़ा विचित्र कथन है। इसलिए जो किसी का मत है कि कवि की चातुरी से निर्मित कमनीयातिशय से युक्त शब्द ही केवल काव्य होता है यह (मत), तथा किसी का यह मत कि रचना की विचित्रता से आनन्द को उत्पन्न करने वाला अर्थ ही काव्य होता है ये दोनों पक्ष खण्डित हो जाते हैं। (क्योंकि दोनों अलग-अलग नहीं अपितु एकसाथ मिलकर ही काव्य होते हैं।) अतः (शब्द और अर्थ) दोनों में ही प्रत्येक तिल में स्थित तैल की भाँति उस (काव्यतत्त्व) को जानने वालों को आह्लादित करने की क्षमता रहती है न कि एक में। जैसे—

भण तरुणि रमणमन्दिरमानन्दस्यन्दिसुन्दरेन्दुमुखि।
यदि सल्लीलोल्लापिनि गच्छसि तत् किं त्वदीयं मे ॥ ९ ॥
अनणुरणन्मणिमेखलमविरतशिञ्जानमञ्जुमञ्जीरम्।
परिसरणमरुणचरणे रणरणकमकारणं कुरुते ॥ १० ॥

(किसी पर-स्त्री को अपने प्रेमी के घर जाती हुई देखकर कोई पुरुष कहता है कि) हे आनन्दजनक सुन्दर चन्द्रमा के सदृश मुखवाली! सुन्दर

विलासों के साथ बोलने वाली। लोहित चरणों वाली तरुणी ! तुम्हीं बताओ कि अपने प्रेमी के घर तुम जब जाती हो तो तुम्हारा उच्च स्वर से शब्द करती हुई मणिमेखला वाला एवं निरन्तर बजते हुए मधुर नूपुरों वाला गमन निष्प्रयोजन ही मेरे हृदय को क्यों व्याकुल कर देता है ? ॥ ९-१० ॥

प्रतिभादारिद्र्यदैन्यादतिस्वल्पसुभाषितेन कविना वर्णसावर्ण्यरम्यतामात्रमत्रोदितम्, न पुनर्वाच्यवैचित्र्यकणिका काचिदस्तीति ।

इन श्लोकों में प्रतिभादारिद्र्य की दीनता से अत्यल्प सुन्दर भाषण करने वाले कवि ने केवल वर्णों के सावर्ण्य की सुन्दरता को दिखाया है, न कि उसमें किसी भी प्रकार के अर्थ के वैचित्र्य का लेश भी है ।

यत्किल नूतनतारुण्यरङ्गितलावण्यपटहकान्तेः कान्तायाः कामयमानेनं केनचिदेतदुच्यते—यदि त्वं तरुणि रमणमन्दिरं व्रजसि तत्कि त्वदीयं परिसरणं रणरणकमकारणं मम करोतीत्यतिग्राम्येयमुक्तिः । किंच न अकारणम्, यतस्तस्यास्तदनादरेण गमनेन तदनुरक्तान्तःकरणस्य विरहविधुरताशङ्काकातरता कारणं रणरणकस्य । यदि वा परिसरणस्य मया किमपराद्धमित्यकारणतासमर्पकम्, एतदप्यतिग्राम्यतरम् । संबोधनानि च बहूनि मुनिप्रणीतस्तोत्रामन्त्रणकल्पानि न कांचिदपि तद्विदामाह्लादकारितां पुष्णन्तीति यत्किंचिदेतत् ।

जो कि नयी तारुण्यावस्था से तरङ्गित लावण्य के कारण सुन्दर कांतिवाली कान्ता की कामना करने वाला कोई (उस कान्ता से) कहता है, हे तरुणि ! यदि तुम अपने पति-गृह जाती हो, तो तुम्हारा गमन मेरे हृदय को अकारण ही व्याकुल कर देता, यह कथन अत्यधिक ग्राम्य है। और भी केवल अकारण ही नहीं। क्योंकि उस कान्ता के उस (कामुक) के प्रति अनादरपूर्ण गमन से उस (कान्ता) में अनुरक्त अन्तःकरण वाले (उस-कामुक) की (उस कान्ता के) विरह की विधुरता की शङ्का से जन्य कातरता हृदन की व्याकुलता का कारण है। अथवा (तुम्हारे) गमन का मैंने क्या अपराध किया है (जो मुझे कष्ट दे रहा है) यदि यह अकारणता को सिद्ध करने वाला हो तो यह और भी अधिक ग्राम्य है। तथा बहुत से सम्बोधन मुनियों द्वारा विरचित स्तोत्रों के सम्बोधनों के सदृश किसी भी प्रकार की उस (काव्यतत्त्व) को जानने वालों की आह्लादकारिता का पोषण नहीं करते, इसलिए यह व्यर्थ है।

वस्तुमात्रं च शोभातिशयशून्यं न काव्यव्यपदेशमर्हति। यथा—

प्रकाशस्वाभाव्यं विदधति न भावास्तमसि यत्
तथा नैते ते स्युर्यदि किल तथा तत्र न कथम्।
गुणाध्यासाभ्यासव्यसनदृढदीक्षागुरुगुणो
रविव्यापारोऽयं किमथ सदृशं तस्य महसः॥ ११॥

शोभातिशय से हीन वस्तुमात्र भी काव्यसंज्ञा के योग्य नहीं होती। जैसे—

अन्धकार में वस्तुयें जिस प्रकाशप्रकृतिकता को नहीं प्रस्तुत कर पातीं ये उस तरह की वे हो ही न पायें यदि वहाँ पर वैसी चीज किसी तरह न हो। (तम के) गुणों के निवेश के अभ्यास के नष्ट कर देने की कठोर दीक्षा देने में समर्थ आचार्य रूप गुणवाला यह सूर्य का व्यापार है तो भला इस ज्योति के तुल्य और क्या हो सकता है॥ ११॥

अत्र हि शुष्कतर्कवाक्यवासनाधिवासितचेतसा प्रतिभाप्रतिभातमात्रमेव वस्तु व्यसनितया कविना केवलमुपनिबद्धम्। न पुनर्वाचकवक्रताविच्छित्तिलवोऽपि लक्ष्यते। यस्मात्तर्कवाक्यशय्यैव शरीरमस्य श्लोकस्य। तथा च—तमोव्यतिरिक्ताः पदार्था धर्मिणः, प्रकाशस्वभावा न भवन्तीति साध्यम् तमस्यतथाभूतत्वादिति हेतुः। दृष्टान्तस्तर्हि कथं न दर्शितः, तर्कन्यायस्यैव चेतसि प्रतिभासमानत्वात्। तथोच्यते—

इस पद्य में सूखे तर्क वाक्य की (अनुमान वाक्य) वासना से अधिवासित चित्त वाले कवि ने व्यसन के कारण प्रतिभा से प्रतीतमात्र ही वस्तु को पद्यबद्ध कर दिया है। न कि इसमें शब्दवक्रता की शोभा का लेश भी लक्षित होता है, जिससे केवल तर्कवाक्य (अनुमानवाक्य) की शय्या ही इस श्लोक का शरीर है। क्योंकि अन्धकार से अतिरिक्त पदार्थरूप धर्मी स्वयं प्रकाश नहीं होते हैं, यह साध्य (प्रतिज्ञावाक्य) है। अन्धकार में उस प्रकार (प्रकाशस्वभाव) न होने से यह हेतु (वाक्य) है। (अतः यह काव्य न होकर केवल अनुमानवाक्य ही है) इस पर पूर्वपक्षी प्रश्न करता है कि यह वाक्य आपके अनुसार काव्य न होकर यदि अनुमानवाक्य ही है तब दृष्टान्त क्यों नहीं दिखाया गया? (क्योंकि अनुमानवाक्य में दृष्टान्त दिखाना चाहिए था तो इसका उत्तर कुन्तक यह देते हैं कि दृष्टान्त यहाँ इसीलिए नहीं दिखाया गया क्योंकि उस तार्किक कवि के) हृदय में (काव्य रचना करते समय) तर्कन्याय ही प्रतिभासित हुआ था। वैसा कहा भी गया है—

तद्भावहेतुभावौ हि दृष्टान्ते तदवेदिनः।
स्थाप्येते विदुषां वाच्यो हेतुरेव हि केवलः॥ १२॥

दृष्टान्त में उस (अनुमेय वस्तु) की सत्ता तथा उसके हेतु की स्थापना केवल उस (हेतु-हेतुमद्भाव) से अपरिचित (जन) के लिए की जाती है। किन्तु विद्वानों के लिए तो केवल हेतु ही कहा जाता है। (उसी से वे सत्ता का अनुमान कर लेते हैं) ॥ १२॥

विदधतीति विपूर्वो दधातिः करोत्यर्थे वर्तते। स च करोत्यर्थोऽत्र न सुस्पष्टसमन्वयः, प्रकाशस्वाभाव्यं न कुर्वन्तीति। प्रकाशस्वाभाव्य-शब्दोऽपि चिन्त्य एव। प्रकाशः स्वभावो यस्यासौ प्रकाशस्वभावः, तस्य भाव इति भावप्रत्यये विहिते पूर्वपदस्य वृद्धिः प्राप्नोति। अथ स्वभावस्य भावः स्वभाव्यमित्यत्रापि भावप्रत्ययान्ताद्भावप्रत्ययो न प्रचुरप्रयोगार्हः। तथा च प्रकाशश्चासौ स्वाभाव्यं चेति विशेषण-समासोऽपि न समीचीनः।

'विदधति' यहाँ पर वि (उपसर्ग) पूर्वक दधाति (धा धातु) करोति (डुकृञ् करणे) के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'प्रकाशस्वाभाव्य (स्वयंप्रकाशता) नहीं करते हैं' इस प्रकार यहाँ वह करोति (कृ धातु) का अर्थ भी सुस्पष्ट ढंग से अन्वित नहीं होता है। स्वयं प्रकाशता नहीं करते हैं, इसमें 'प्रकाश-स्वाभाव्य' शब्द भी चिन्त्य ही है। प्रकाश है स्वभाव जिसका ऐसा हुआ प्रकाश-स्वभाव। उसका भाव इस अर्थ में भाव प्रत्यय किये जाने पर पूर्वपद की वृद्धि प्राप्त होती है (जिससे प्राकाशस्वाभाव्य यह रूप शुद्ध होगा प्रकाशस्वाभाव्य नहीं। और यदि स्वभाव का भाव स्वाभाव्य हुआ तो भी यहाँ भाव प्रत्य-यान्त (स्वभाव शब्द) से (पुनः) भाव प्रत्यय अत्यधिक प्रयोग के योग्य नहीं है। और फिर 'प्रकाशश्चासौ स्वाभाव्यञ्च' यह विशेषण समास भी ठीक नहीं।

तृतीये च पादेऽत्यन्तासमर्पकसमासभूयस्त्ववैशसं न तद्विदा-ह्लादकारितामावहति। रविव्यापार इति रवि-शब्दस्य प्राधान्येना-भिमतस्य समासे गुणीभावो न विकल्पितः, पाठान्तरस्य 'रवेः' इति संभवात्।

तथा (उक्त श्लोक के) तृतीय चरण (गुणाढ्यासाभ्यासव्यसनकृत-दीक्षागुरुगुणः) में अत्यन्त ही असमर्पक (अर्थ की सरलता से प्रतीति कराने में बाधक) समासबहुलरूप कष्ट काव्यतत्त्वमर्मज्ञों की आनन्दकारिता को

नहीं धारण करता है। एवं (चतुर्थ चरण में प्रयुक्त) 'रविव्यापार' इस शब्द में रवि शब्द के प्रधानरूप से अभिमत होने पर भी समास में उसका गौण-भाव नहीं बचाया गया है। जब कि पाठान्तर 'रवेः' भी सम्भव हो सकता था। (अर्थात् उस स्थान पर रवि का व्यापार शब्द के साथ समास कर देने पर रवेः व्यापारः इति 'रविव्यापारः' यहाँ व्यापार शब्द प्रधान हो जाता है और रवि शब्द गौण, जब कि प्राधान्य रवि का ही अभिप्रेत है। अतः कुन्तक आलोचना करते हैं कि यहाँ समास करने के लिये कवि बाध्य नहीं है कि क्यों 'रवेः व्यापारोऽयम्' ऐसा पाठ कर देने से भी किसी प्रकार छन्दो-भङ्ग आदि की बाधा नहीं होती और रवि शब्द प्रधानरूप से उपस्थित हो जाता है। अतः उक्त दोषों के कारण शोभातिशय से शून्य यह श्लोक काव्य नहीं है। यह कुन्तक का मत है।)

ननु वस्तुमात्रस्याप्यलंकारशून्यतया कथं तद्विदाह्लादकारित्वमिति चेत्तन्न; यस्मादलंकारेणाप्रस्तुतप्रशंसालक्षणेनान्यापदेशतया स्फुरितमेव कविचेतसि। प्रथमं च प्रतिभाप्रतिभासमानमघटितपाषाणशकलकल्प-मणिप्रख्यमेव वस्तु विदग्धकवि-विरचितवक्रवाक्योपारूढं शाणोल्लीढ-मणिमनोहरतया तद्विदाह्लादकारिकाव्यत्वमधिरोहति। तथा चैकस्मिन्नेव वस्तुन्यवहितानवहितकविद्वितयविरचितं वाक्यद्वयमिदं महदन्तरमावेदयति—

प्रश्न—यदि आप शोभातिशय से शून्य वस्तुमात्र को काव्य सञ्ज्ञा देने के लिए तैयार नहीं है तो (अप्रस्तुतप्रशंसा आदि के स्थलों पर) अलङ्कार से शून्य होने पर भी वस्तुमात्र में काव्यमर्मज्ञों का आह्लादकारित्व क्यों होता है?—

उत्तर—ऐसा कहना ठीक नहीं। क्योंकि (वाक्यरचना के) अन्य लक्ष्य से युक्त होने के कारण कवि के हृदय में अप्रस्तुतप्रशंसारूप अलङ्कार स्फुरित ही होता (अर्थात् अप्रस्तुतप्रशंसा आदि अलङ्कारों के स्थलों में कवि जिस वस्तु का वर्णन वाक्य में प्रस्तुत करता है, उस वस्तु का वर्णन करना ही उसका अभीष्ट या लक्ष्य नहीं होता, बल्कि कवि उस वर्णन के माध्यम से प्रतीयमान रूप किसी अन्य के चरित्र का वर्णन प्रस्तुत करता है, और इसी प्रतीयमान ढङ्ग से ही अभिमत वस्तु को प्रस्तुत करने में कवि का चातुर्य होता है जिससे सहृदयों को आनन्द प्राप्त होता है। यदि कवि उस प्रतीयमान वस्तु को ही वाच्यरूप से प्रस्तुत करे तो वह चमत्कार-हीन हो जायगी। अतः सिद्ध हुआ कि ऐसे स्थलों पर कवि का लक्ष्य प्रतीय-

मान वस्तु का वर्णन होता है। अतः वहाँ अप्रस्तुतप्रशंसारूप अलङ्कार कवि के हृदय में पहले से ही स्फुरित होने लगता है) । तथा सर्वप्रथम बिना तरासे हुए पाषाणखण्ड के समान प्रतीत होने वाली मणि के समान ही (कवि) प्रतिभा में प्रतीत होने वाली वस्तु चतुर कवि द्वारा विरचित चमत्कारपूर्ण (वक्र) वाक्य (श्लोक) में निबद्ध होकर निकष (कसौटी) पर चढ़े हुए मणि के सदृश मनोहर ढङ्ग से काव्यमर्मज्ञों को आनन्द प्रदान करने वाली काव्यरूपता को प्राप्त करती है। और यही कारण है एक ही वस्तु को लेकर रचे गये सावधान एवं असावधान दो प्रकार के कवियों के दो (भिन्न) वाक्य (श्लोक) इस प्रकार के महान् अन्तर को सिद्ध करता है—

यहाँ पर मानिनियों के मानभङ्ग कर देने के कारण उनके क्रोध से डरे हुए चन्द्रमा के उदयरूप वस्तु का वर्णन ही दो कवियों ने दो ढङ्ग से प्रस्तुत किया है। पहला श्लोक महाकवि भारवि के किरातार्जुनीय से उद्धृत किया गया है कि—

मानिनीजनविलोचनपातानुष्णबाष्पकलुषानभिगृह्णन् ।
मन्दमन्दमुदितः प्रययौ खं भीतभीत इव शीतमयूखः ॥ १३ ॥

(पूर्व दिशा में) उदित हुआ चन्द्रमा गरम-गरम आँसुओं से कलुषित हुए कामिनियों के कटाक्षपातों को सहन करता हुआ, मानों अत्यधिक भयभीत सा होकर धीरे-धीरे आकाश में पहुँच गया ॥ १३ ॥

क्रमादेकद्वित्रि-प्रगतिपरिपाटीः प्रकटयन्
कलाः स्वैरं स्वैरं नवकमलकन्दाङ्कुररुचः ।
पुरन्ध्रीणां प्रेयोविरहदहनोद्दीपितदृशां
कटाक्षेभ्यो बिभ्यन्निभृत इव चन्द्रोऽभ्युदयते ॥ १४ ॥

(तथा इसी चन्द्रोदय का वर्णन किसी कवि ने इस प्रकार से किया है)—(पूर्व दिशा में) कमल की जड़ों के नये अङ्कुरों की कान्ति वाली (अपनी) कलाओं कों धीरे-धीरे क्रमशः एक, दो, तीन आदि की आनुपूर्वी को साथ प्रकट करता हुआ, प्रियतम के विरहानल से उद्दीप्त नेत्रोंवाली कुटुम्बिनियों के कटाक्षों से डरता हुआ, (अतएव) मानो अत्यन्त विनीत हुआ सा चन्द्रमा उदित हो रहा है ॥ १४ ॥

एतयोरन्तरं सहृदयसंवेद्यमिति तैरेव विचारणीयम् । तस्मात् स्थितमेतत्—न शब्दस्यैव रमणीयताविशिष्टस्य केवलस्य काव्यत्वम्, नाप्यर्थस्येति । तदिदमुक्तम्—

(यहाँ यद्यपि दोनों कवियों ने कटाक्षों से भयभीत हुए-से चन्द्रमा का वर्णन प्रस्तुत किया है लेकिन पहले पद्य में मान करनेवाली मानिनियों के मानभङ्ग से उत्पन्न क्रोध से युक्त कटाक्षों का वर्णन अपूर्व ही चमत्कारकारी है। जब कि दूसरे में कुटिम्बिनी के प्रियविरहजन्य क्रोध से युक्त कटाक्षों के वर्णन में उतना चमत्कार नहीं है। इस प्रकार) इन दोनों (पद्यों) का अन्तर सहृदयहृदयसंवेद्य होने के कारण उन्हीं (सहृदयों) द्वारा ही विचार करने योग्य है। (हमें कुछ नहीं कहना है।) इस प्रकार यह निश्चित हुआ कि न तो रमणीयता विशिष्ट केवल शब्द का ही काव्यत्व होता और न केवल अर्थ का ही (अपितु शब्द और अर्थ दोनों मिलकर ही काव्य होते हैं)। इसीलिए (आचार्य भामह ने अपने ग्रन्थ काव्यालङ्कार में काव्य के अलङ्कारों का विवेचन करते हुए (१, १३–१५) में) यह कहा है—

रूपकादिरलंकारस्तथान्यैर्बहुधोदितः।
न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम् ॥ १५ ॥

अन्य अनेक (भामह के पूर्ववर्ती आलङ्कारिकों) ने (काव्य के) रूपक आदि अलङ्कार (अर्थालङ्कार) बताए हैं (क्योंकि बिना अलङ्कारों के काव्य उसी प्रकार अशोभन होता है जैसे) रमणीय होते हुए भी रमणी का मुख बिना अलङ्कारों के शोभित नहीं होता है ॥ १५ ॥

रूपकादिमलंकारं बाह्यमाचक्षते परे।
सुपां तिङां च व्युत्पत्तिं वाचां वाञ्छन्त्यलंकृतिम् ॥ १६ ॥

(इसके विपरीत दूसरे (आलङ्कारिक) रूपकादि (अर्थालंकारों) को बाह्य अलङ्कार बताते हैं और वाणी का अलङ्कार सुबन्त (सञ्ज्ञा पदों) तथा तिङन्त (क्रियापदों) की व्युत्पत्ति को स्वीकार करते हैं ॥ १६ ॥

तदेतदाहु सौशब्द्यं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी।
शब्दाभिधेयालंकारभेदादिष्टं द्वयं तु नः ॥ १७ ॥

तो इस प्रकार उन्होंने सौशब्द्य को बताया। अर्थ की व्युत्पत्ति इस प्रकार की नही होती। शब्द और अर्थ के अलङ्कारभेद से हमें तो दोनों इष्ट हैं ॥१७॥

तेन शब्दार्थौ द्वौ संमिलितौ काव्यमिति स्थितम् एवमवस्थापिते द्वयोः काव्यत्वे कस्यचिदेकस्य मनाङ्मात्रन्यूनतायां सत्यां काव्यव्यवहारः प्रवर्तेत्याह—सहिताविति। सहितौ सहितभावेन साहित्येनावस्थितौ।

अतः शब्द और अर्थ दोनों अच्छी तरह से मिलकर (ही) काव्य होते हैं, यह निश्चित हुआ। इस प्रकार (शब्द और अर्थ) दोनों में काव्यत्व होता है ऐसा निश्चित हो जाने पर कहीं (उन दोनों में से) एक की थोड़ी सी न्यूनता होने पर काव्य-व्यवहार प्रवर्तित होने लगे (जो कि अनुचित एवं अनभिप्रेत है) इसलिए (कारिका में) कहा—'सहिताविति'। सहितौ अर्थात् सहित के भाव साहित्य से अवस्थित (शब्द और अर्थ काव्य होते हैं)।

ननु च वाच्यवाचकसंबन्धस्य विद्यमानत्वादेतयोर्न कथंचिदपि साहित्यविरहः, सत्यमेतत्। किन्तु विशिष्टमेवेह साहित्यमभिप्रेतम्। कीदृशम् ?—वक्रताविचित्रगुणालंकारसंपदां परस्परस्पर्धाधिरोहः। तेन—

(इस पर यदि कोई प्रश्न करे कि) वाच्यवाचक सम्बन्ध के विद्यमान होने से इन दोनों (शब्द और अर्थ) में साहित्य की अविद्यमानता किसी प्रकार सम्भव ही नहीं है (अर्थात् इन दोनों में सदैव सहभाव तो विद्यमान ही रहता है अतः 'सहितौ' इस विशेषण के प्रयोग की कोई आवश्यकता नहीं। तो इसका उत्तर देते हैं कि) ठीक है (शब्द और अर्थ में सहभाव (साहित्य) सदैव विद्यमान रहता है) किन्तु यहाँ पर (वह प्रसिद्ध साहित्य नहीं) अपितु (उससे) विशिष्ट ही साहित्य वाञ्छनीय है। (वह विशिष्ट साहित्य) किस प्रकार का है ? (जहाँ आगे कही जाने वाली छः प्रकार की) वक्रताओं से विचित्र गुणों एवं अलङ्कारों की सम्पत्ति की परस्पर स्पर्धा की पराकाष्ठा होती है (वैसा साहित्य अभिप्रेत है।) अतः—

समसर्वगुणौ सन्तौ सुहृदाविव सङ्गतौ।
परस्परस्य शोभायै शब्दार्थौ भवतो यथा॥ १८॥

(मुझे वह साहित्य अभिप्रेत है जहाँ) समान समस्त गुणों से सम्पन्न दो मित्रों की भाँति (माधुर्यादि) समस्त गुणों से समानरूप से युक्त शब्द और अर्थ एक दूसरे की शोभा के लिये संगत हो (आपस में अच्छी तरह से मिल) जाते हैं। (जैसे) ॥ १८॥

ततोऽरुणपरिस्पन्दमन्दीकृतवपुः शशी।
दध्रे कामपरिक्षामकामिनीगण्डपाण्डुताम्॥ १९॥

तदनन्तर (सबेरे सूर्य के सारथि) अरुण के सञ्चरण (अर्थात् सूर्योदय) के कारण मन्दप्रभा वाले चन्द्रमा ने काम से परिक्षीण हुई कामिनी के गण्डस्थलों की जैसी पाण्डुता (पीलेपन) को धारण किया॥ १९॥

अत्रारुणपरिस्पन्दनमन्दीकृतवपुषः शशिनः कामपरिक्षामवृत्तेः कामिनीकपोलफलकस्य च पाण्डुत्वसाम्यसमर्थनादर्थालंकारपरिपोषः शोभातिशयमावहति । वक्ष्यमाणवर्णविन्यासवक्रतालक्षणः शब्दालंकारोऽप्यतितरां रमणीयः। वर्णविन्यासविच्छित्तिविहिता लावण्यगुणसंपदस्त्येव।

यहाँ पर अरुण के सञ्चरण से मन्द कर दी गई प्रभा वाले चन्द्रमा की और काम के कारण परिक्षीण हो गये व्यापार वाले कामिनी के गण्डस्थल की पाण्डुता की समानता का समर्थन करने से (उपमा रूप) अर्थालङ्कार का परिपोषण अत्यधिक शोभा को धारण करता है। (साथ ही) आगे कही जाने वाली वर्णविन्यासवक्रतारूप (जिसे अन्य आलङ्कारिकों के आधार पर अनुप्रास अलङ्कार कहा जा सकता है) शब्दालङ्कार भी अत्यन्त ही रमणीय बन पड़ा है। और वर्णविन्यास की शोभा से उत्पन्न लावण्य गुण की सम्पत्ति तो है ही। (अतः यहाँ पर गुण शब्दालङ्कार एवं अर्थालङ्कार सभी का परस्पर स्पर्धा से प्रयोग शब्दार्थ-साहित्य का सूचक है जिससे यह पद्य एक सुन्दर काव्य का उदाहरण बन गया है।)

यथा च—

लीलाइ कुवलअं कुवलअं व सीसे समुव्वहंतेण ।
सेसेण सेसपुरिसाणं पुरिसआरो समुप्पसिओ ॥ २० ॥

[लीलया कुवलयं कुवलयमिव शीर्षे समुद्वहता ।
शेषेण शेषपुरुषाणां पुरुषकारः समुपहसितः ॥]

और जैसे (दूसरा साहित्य (काव्य) का उदाहरण)—

कुवलय (नील कमल) के सदृश कुवलय (पृथ्वी-मण्डल) को शिर पर विना किसी श्रम के ही धारण करने वाले शेषनाग ने शेष पुरुषों के पौरुष की अच्छी हँसी उड़ाई है ॥ २० ॥

अत्राप्रस्तुत प्रशंसोपमालक्षणवाच्यालंकारवैचित्र्यविहिता हेलामात्र विरचितयमकानुप्रासहारिणी समर्पकत्वसुभगा कापि काव्यच्छाया सहृदयहृदयमाह्लादयति ।

यहाँ पर अप्रस्तुतप्रशंसा एवं उपमारूप अर्थालङ्कारों के वैचित्र्य से उत्पन्न, एवं विना परिश्रम के ही विरचित यमक एवं अनुप्रास (रूप शब्दालङ्कारों) से चित्ताकर्षक तथा शीघ्र ही अर्थ स्पष्ट हो जाने (समर्पकत्व) के कारण सुन्दर कोई (अनिर्वचनीय) काव्य की शोभा सहृदयों के हृदयों को

आनन्दित करती है (इस प्रकार इस पद्य में भी परस्पर शब्द और अर्थ के साहित्य का स्वरूप स्पष्ट किया गया है ।)

द्विवचनेनात्र वाच्यवाचकजातिद्वित्वमभिधीयते । व्यक्तिद्वित्वाभिधाने पुनरेकपदव्यवस्थितयोरपि काव्यत्वं स्यादित्याह—बन्धे व्यवस्थितौ । बन्धो वाक्यविन्यासः तत्र व्यवस्थितो विशेषेण लावण्यादिगुणालंकारशोभिना संनिवेशेस कृतावस्थानौ । सहितावित्यत्रापि यथायुक्ति स्वजातीयापेक्षया शब्दस्य शब्दान्तरेण वाच्यस्य वाच्यान्तरेण च साहित्यं परस्परस्पर्धित्वलक्षणमेव विवक्षितम् । अन्यथा तद्विदाह्लादकारित्वहानिः प्रसज्येत ।

यहाँ (शब्दार्थौ सहितौ'''।। कारिका में 'शब्दार्थौ' आदि पदों में) द्विवचन के प्रयोग से अर्थ और शब्द के जातिगत द्वित्व का अभिधान किया गया है (व्यक्तिगत द्वित्व का नहीं अर्थात् एक ही शब्द और अर्थ का ही नहीं अपितु वाक्य में प्रयुक्त अनेक शब्दों और अर्थों का सहभाव होना चाहिए क्योंकि) व्यक्ति के द्वित्व का अभिधान करने पर एक पद में भी व्यवस्थित शब्द और अर्थ का काव्यत्व होने लगेगा । इसीलिए कहा है—'बन्ध में व्यवस्थित (शब्द और अर्थ । बन्ध अर्थात् वाक्य की विशेष प्रकार की रचना, उसमें व्यवस्थित । विशेष अर्थात् लावण्यादि गुणों एवं अलङ्कारों से शोभित होनेवाली रचना के द्वारा स्थित । 'सहितौ इस पद में भी उक्त युक्ति के अनुसार स्वजातीय (शब्द) की अपेक्षा अर्थ शब्द का दूसरे शब्द से तथा (स्वजातीय अर्थ की अपेक्षा) अर्थ के साथ परस्पर स्पर्धा से युक्त स्वरूप वाला ही साहित्य (सहभाव) बताना अभीष्ट है । नहीं तो (उक्त प्रकार के शब्द के शब्दान्तर एवं अर्थ के अर्थान्तर के साथ परस्पर स्पर्धा से युक्त साहित्य के अभाव में उस काव्य द्वारा) काव्यमर्मज्ञों की आह्लादकारिता की हानि होने लगेगी ।

यथा—

असारं संसारं परिमुषितरत्नं त्रिभुवनं
निरालोकं लोकं मरणशरणं बान्धवजनम् ।
अदर्पं कन्दर्पं जननयननिर्माणमफलं
जगज्जीर्णारण्यं कथमसि विधातुं व्यवसितः ।। २१ ।।

जैसे—(महाकवि भवभूति विरचित 'मालतीमाधव' नामक प्रकरण में कापालिक को मालती का वध करने के लिए उद्यत देख माधव उस कापालिक से कहता है कि इस मालती के वध से तुम इस) संसार को सारहीन, तीनों

लोकों को अपहृत रत्नोंवाला, लोक को प्रकाशहीन, बान्धवजनों को मरण की शरणवाला, कामदेव को (तीनों लोकों के जीतने के) दर्प से हीन, लोगों के नेत्रों के निर्माण को निष्फल तथा इस जगत् को जीर्ण अरण्य बना देने के लिए क्यों उद्यत हो गये हो ॥ २१ ॥

अत्र किल कुत्रचित्प्रबन्धे कश्चित्कापालिकः कामपि कान्तां व्यापादयितुमध्यवसितो भवन्नेवमभिधीयते—यदपगतसारः संसारः, हृतरत्नसर्वस्वं त्रैलोक्यम्, आलोककमनीयवस्तुवर्जितो जीवलोकः, सकललोकलोचननिर्माणं निष्फलप्रायम्, त्रिभुवनविजयित्वदर्पहीनः कन्दर्पः, जगज्जीर्णारण्यकल्पमनयाविना भवतीति किं त्वमेवंविधमकरणीयं कर्तुं व्यवसित इति।

इस पद्य में किसी प्रबन्ध (भवभूति-विरचित 'मालतीमाधव' नामक प्रकरण) में किसी रमणी को हत्या करने के लिए उद्यत किसी कापालिक से ऐसा कहा जा रहा है—कि इस (मालती) के बिना (उसकी हत्या कर देने पर) संसार सार से हीन, त्रैलोक्य समस्त रत्नराशि से रहित, जीवलोक देखने में कमनीय वस्तुओं से हीन, समस्त लोगों के नेत्रों का निर्माण व्यर्थ सा, कामदेव तीनों लोकों को जीतने वाले घमण्ड से हीन, और जगत् जीर्ण जंगल की भाँति हो जायगा। अतः तुम क्यों इस प्रकार के (अनर्थकारी) न करने योग्य कार्य को) करने के लिए उद्यत हो गये हो। इति।

एतस्मिन् श्लोके महावाक्यकल्पे वाक्यान्तराण्यवान्तरवाक्यसदृशानि तस्याः सकललोकलोभनीयलावण्यसंपत्प्रतिपादनपराणि परस्परस्पर्धीन्यतिरमणीयान्युपनिबद्धानि कमपि काव्यच्छायातिशयं पुष्णन्ति। मरणशरणं बान्धवजनमिति पुनरेतेषां न कलामात्रमपि स्पर्धितुमर्हतीति न तद्विदाह्लादकारि। बहुषु च रमणीयेष्वेक वाक्योपयोगिषु युगपत् प्रतिभासपदवीमवतरत्सु वाक्यार्थपरिपूरणार्थं तत्प्रतिमं प्राप्तुमपरं प्रयत्नेन प्रतिभा प्रसाद्यते। तथा चास्मिन्नेव प्रस्तुतवस्तुसब्रह्मचारिवस्त्वन्तरमपि सुप्रापमेव—

"विधिमपि विपन्नाद्भुत विधिम्" इति।

महावाक्यतुल्य इस श्लोक के एक दूसरे (सभी) वाक्य अन्य वाक्यों के समान उस (मालती) की समस्त लोकों द्वारा लोभनीय सौन्दर्य की सम्पत्ति के प्रतिपादन में तत्पर होकर, परस्पर स्पर्धा करने वाले, अत्यन्त ही रमणीय ढंग से (कवि द्वारा) उपनिबद्ध होकर काव्य के किसी

(अनिर्वचनीय) शोभातिशय का पोषण करते हैं। किन्तु 'मरणशरणं वान्धवजनम्' (बन्धुजन मर जायँगे यह वाक्य उन (अन्य) वाक्यों की कलामात्र से भी (किसी भी प्रकार) स्पर्धा करने में समर्थ नहीं है, अतः काव्यतत्त्वविदों के किये आह्लादजनक नहीं है। एक वाक्य के लिये उपयोगी बहुत से सुन्दर वाक्यों के एक साथ (कवि के) मस्तिष्क में अवतरित होने पर (उस) वाक्यार्थ को सुचारुरूप से पूर्ण करने के लिए उन (अवान्तर वाक्यों) के सदृश दूसरा (वाक्य) प्राप्त करने के प्रयत्न से (कवि की) प्रतिभा प्रसन्न हो जाती है। और जैसे कि इसी (असारं संसारं...श्लोक) में (अवान्तर वाक्यों द्वारा) प्रस्तुत की गई वस्तु के सदृश दूसरी वस्तु भी बड़ी सरलता से ही प्राप्त हो सकती है (अर्थात् 'मरणशरणं बान्धवजनम्' के स्थान पर) 'विधिमपि विपन्नाद्भुतविधिं' (ब्रह्मा को भी विनष्ट हो गए अद्भुत विधान वाला) का प्रयोग कर देने से (अवान्तर वाक्यों के सदृश यह वाक्य भी चमत्कारकारी हो जायगा। इससे स्पष्ट है कि कवि ने इस वाक्य के प्रयोग में अनवधानता दिखाई है।)

प्रथमप्रतिभातपदार्थप्रतिनिधिपदार्थान्तरासंभवे सुकुमारतरापूर्वसमर्पणेन कामपि काव्यच्छायामुन्मीलयन्ति कवयः। यथा—

(प्रतिभासम्पन्न) कविजन (कोई भी रचना करते समय) सर्वप्रथम मस्तिष्क में आए हुए पदार्थ के प्रनिनिधिरूप अन्य पदार्थ (जो कि प्रथम प्रतिभात पदार्थ के साथ स्पर्धा कर सके और उसी की भाँति चमत्कारजनक हो, उस) के असम्भव होने पर अत्यन्त ही सुकुमार (पदार्थ) के अपूर्व (नये ढंग से) समर्पण के द्वारा किसी (अनिर्वचनीय) काव्य की शोभा का उन्मीलन करते हैं। जैसे—

रुद्राद्रेस्तुलनं स्वकण्ठविपिनोच्छेदो हरेर्वासनं
कारावेश्मनि पुष्पकापहरणम् ॥ २२ ॥

(बाल रामायण १. ५१ में कवि राजशेखर रावण के पराक्रम का वर्णन करते हुए कि) कैलाश पर्वत को उठा लेना, अपने कण्ठरूपी अरण्य का कर्तन करना (अर्थात् भगवान शंकर की सेवा में अपने शिरों का काट-काट कर चढ़ाना), इन्द्र का कारागार में निवास कराना, पुष्पक (विमान) का अपहरण कर लेना—॥ २२ ॥

इत्युपनिबद्धय पूर्वोपनिबद्धपदार्थानुरूपवस्त्वन्तरासंभवादपूर्वमेव "यस्येदृशाः केलयः" इति न्यस्तम्, येनान्येऽपि कामपि कमनीयतामनीयन्त। यथा च—

इस प्रकार (रावण के पराक्रम का सुन्दर-सुन्दर वाक्यों द्वारा) उपनिबद्ध करके, पहले उपनिबद्ध किए गये पदार्थों के अनुरूप दूसरी वस्तु के असम्भव होने से) अपूर्व (ढंग से ही) 'यस्येदृशाः केलयः' (इस प्रकार की जिसकी क्रीड़ायें हुआ करती थीं—अर्थात् इतने पराक्रम का कार्य जिसके लिये केवल खेल या जिसे वह अनायास ही कर डाले था तो उसके पराक्रमपूर्ण कैसे होंगे) इस प्रकार (अन्तिम वाक्य) उपनिद्ध किया है जिस (के प्रयोग) से अन्य (पूर्वोपनिबद्ध वाक्य) भी किसी (अपूर्व, अनिर्वचनीव) रमणीयता को प्राप्त हो गए हैं। और जैसे—

तद्वक्त्रेन्दुविलोकनेन दिवसो नीतः प्रदोषस्तथा
तद्गोष्ठ्यैव निशापि मन्मन्थकृतोत्साहैस्तदङ्गार्पणैः।
तां संप्रत्यपि मार्गदत्तनयनां द्रष्टुं प्रवृत्तस्य मे
बद्धोत्कण्ठमिदं मनः किम् ॥ २३ ॥

(तापसवत्सराजचरितम् में) उस के मुखचन्द्र को देखने में दिन (व्यतीत हो गया) तथा उसके साथ गोष्ठी करने में ही सन्ध्या (बीत गई) एवं कामदेव द्वारा उत्पन्न उत्साह से युक्त उसके अंगों के अर्पण से रात भी बीत गई। फिर भी (मेरी प्रतीक्षा में) रास्ते में आखें लगाये हुए उसे देखने के लिए मेरा मन (न जाने) क्यों उत्कण्ठायुक्त हो रहा है— ॥ २३ ॥

इति संप्रत्यपि तामेवंविधां वीक्षितुं प्रवृत्तस्य मम मनः किमिति बद्धोत्कण्ठमिति परिसमाप्तेऽपि तथाविधवस्तुविन्यासो विहितः—"अथवा प्रेमासमाप्तोत्सवम्" इति, येन पूर्वेषां जीवितमिवार्पितम्।

'इस प्रकार अब भी इस प्रकार की (रास्ते में मेरी प्रतीक्षा में आँख लगाए हुए) उसको देखने के लिए प्रवृत्त मेरा मन (न जाने) क्यों उत्कण्ठित है, इस प्रकार (वाक्य) के समाप्त हो जाने पर भी (कवि ने) —'अथवा प्रेमासमाप्तोत्सवम्' (अर्थात् प्रेम का उत्सव कभी भी समाप्त नहीं होता, उसमें सदैव उत्कण्ठा बनी ही रहती है) इस प्रकार ऐसा (अपूर्व) वस्तु (वाक्य) विन्यास कर दिया है जिससे पूर्वनिबद्ध वाक्यों में जान-सी डाल दी गई है।

यद्यपि द्वयोरप्येतयोस्तत्प्राधान्येनैव वाक्योपनिबन्धः, तथापि कविप्रतिभाप्रौढिरेव प्राधान्येनावतिष्ठते। शब्दस्यापि शब्दान्तरेण साहित्यविरहोदाहरणं यथा—

यद्यपि इन दोनों (श्लोकों) में भी वाक्यविन्यास उस (परस्परस्पर्धित्व-रूप साहित्य के ही प्राधान्य से किया गया है फिर भी प्रधानरूप से कवि की प्रतिभा की प्रौढ़ता ही विद्यमान होती है।

टिप्पणी :—आचार्य कुन्तक ने अपने उक्त कथन द्वारा काव्य-रचना में कविप्रतिभा को प्रधान बताया है। अर्थात् यदि कवि प्रतिभासम्पन्न है तो उसकी रचना में किसी भी प्रकार शब्दार्थ-साहित्य की परस्पर-स्पर्धित्वरूपता में कोई बाधा नहीं उपस्थित हो सकती जैसा कि 'रुद्राद्रेस्तुलनम्—' ॥२२॥ एवं 'तद्वक्त्रेन्दुविलोकनेन—॥२३॥ उदाहरणों से स्पष्ट है। और यदि कवि प्रतिभासम्पन्न नहीं (अथवा प्रतिभासम्पन्न होते हुए भी अनवधान-वान है) तो, रचना में 'असारं संसारं—॥ २१ ॥ की भाँति दोष आ जाना स्वाभाविक ही है।

(अभी तक पूर्व उदाहृत—'असारं संसारम्—'पद्य में अर्थ. साहित्य विरह का उदाहरण देकर) अब शब्द के भी अन्य शब्द के साथ साहित्य (परस्परस्पर्धित्वरूप) के विरह (अभाव) का उदाहरण (प्रस्तुत करते हैं).

जैसे—(शिशुपालवध १०।३३ में)—

चारुता वपुरभूषयदासां तामनूननवयौवनयोगः।
तं पुनर्मकरकेतनलक्ष्मीस्तां मदो दयितसङ्गमभूषः॥ २४॥

इन (रमणियों) के शरीर को सुन्दरता ने, उस (सुन्दरता) को पूर्ण (रूप से विकसित) नवयौवन के संयोग ने, तथा उस (नवयौवन) को मदनश्री ने, तथा उस (मदनश्री) को प्रियतम के सम्मिलनरूप भूषण से युक्त मद ने भूषित किया॥ २४॥

दयितसङ्गमस्तामभूषयदिति वक्तव्ये कीदृशो मदः, दयितसङ्गमो भूषा यस्येति। दयितसङ्गमशब्दस्य प्राधान्येनाभिमतस्य समासवृत्ता-वन्तर्भूतत्वाद् गुणीभावो न तद्विदाह्लादकारी। दीपकालंकारस्य च काव्यशोभाकारित्वेनोपनिबद्धस्य निर्वहणावसरे त्रुटितप्रायत्वात् प्रक्रमभङ्गविहितं सरसहृदयवैरस्यमनिवार्यम्। 'दयितसङ्गतिरेनम्' इति पाठान्तरं सुलभमेव।

प्रिय के सङ्गम से उस (मदनश्री) को भूषित किया ऐसा कहने के स्थान पर (कवि ने कहा कि मद ने उसे भूषित किया तो) कैसे मद ने ? प्रिय का सङ्गम ही है भूषण जिसका ऐसे (मद ने भूषित किया)। (यहाँ) प्रधानरूप से अभीष्ट 'दयितसङ्गम' शब्द के समासवृत्ति में

अन्तर्भूत हो जाने के कारण (उसका) गुणीभाव काव्यतत्त्वमर्मज्ञों के लिये आनन्ददायक नहीं है। साथ ही काव्य के शोभाजनक के रूप में उपनिबद्ध दीपक अलङ्कार के निर्वहणकाल में भङ्ग-सा हो जाने से प्रक्रमभङ्ग (दोष) जन्य सहृदयों के हृदय का वैरस्य आवश्यक हो गया है। (जब कि 'दयित-सङ्गमभूषः' के स्थान पर उक्त दोष को दूर करने के लिए) 'दयितसङ्गति रेनम्' (अर्थात् मदनश्री को मद ने और उस मद को प्रिय के सङ्गम ने भूषित किया) यह पाठ सरलता से ही प्राप्य है। जिससे प्रक्रमभङ्ग दोष भी समाप्त हो जायगा, साथ ही 'दयितसङ्गम' का गुणीभाव भी दूर हो जायगा।)

द्वयोरप्येतयोरुदाहरणयोः प्राधान्येन प्रत्येकमेकतरस्य साहित्य-विरहो व्याख्यातः। परमार्थतः पुनरुभयोरप्येकतरस्य साहित्य-विरहोऽन्यतरस्यापि पर्यवस्यति। तथा चार्थः समर्थवाचकासद्भावे स्वात्मना स्फुरन्नपि मृतकल्प एवावतिष्ठते। शब्दोऽपि वाक्योपयोगि-वाच्यासंभवे वाच्यान्तरवाचकः सन् वाक्यस्य व्याधिभूतः प्रति-भातीत्यलमतिप्रसङ्गेन।

इन दोनों (श्लोकसंख्या २१ एवं २४) उदाहरणों में प्रत्येक में एक प्राधान्य द्वारा (अर्थात् 'असारं संसारं'—में अर्थ के प्राधान्य के कारण अर्थ के तथा 'चारुता वपुरभूषयत्'—में शब्द के प्राधान्य के कारण शब्द के) साहित्य के अभाव की व्याख्या की गई है। वास्तविकता तो यह है कि उन दोनों में एक के भी साहित्य का विरह होने पर दूसरे का भी (साहित्य-विरह अपने आप) हो जाता है। और इसी लिए अर्थ (वाक्य के उपयोगी अर्थ के दे सकने में) समर्थ शब्द के अभाव में स्वभावतः स्फुरित होता हुआ भी मृतप्राय-सा ही रहता है। और शब्द भी वाक्य के लिए उपयोगी अर्थ के अभाव में अन्य (चमत्कारहीन) अर्थ का वाचक होकर वाक्य के लिए व्याधिस्वरूप प्रतीत होता है (अतः यह सिद्ध हुआ कि शब्द और अर्थ में किसी एक का भी साहित्य विरह दूसरे के साहित्य-विरह में पर्यवसित हो जाता है) इस प्रकार अब अतिप्रसङ्ग की आवश्यकता नहीं।

प्रकृतं तु। कीदृशे बन्धे—वक्रकविव्यापारशालिनि। वक्रो योऽसौ शास्त्रादिप्रसिद्धशब्दार्थोपनिबन्धव्यतिरेकी षट्प्रकारवक्रता-विशिष्टः कविव्यापारस्तत्क्रियाक्रमस्तेन शालते श्लाघते यस्तस्मिन् एवमपि कष्टकल्पनोपहतेऽपि प्रसिद्धव्यतिरेकित्वमस्तीत्याह—तद्विदा-

ह्लादकारिणि । तदिति काव्यपरामर्शः तद्विदन्तीति तद्विदस्तज्ज्ञास्तेषामाह्लादमानन्दं करोति यस्तस्मिन् तद्विदाह्लादकारिणि बन्धे व्यवस्थितौ । वक्रतां वक्रताप्रकारांस्तद्विदाह्लादकारित्वं च प्रत्येकं यथावसरमेवोदाहरिष्यन्ते ।

अवसरप्राप्त (बात) तो (यह है कि) किस प्रकार के बन्ध में (व्यवस्थित, सहभाव से युक्त शब्द और अर्थ काव्य होते हैं ?) वक्रकविव्यापार से शोभित होने वाले । वक्र अर्थात् जो यह शस्त्रादि में प्रसिद्ध शब्द और अर्थ के उपनिबन्धन से व्यतिरिक्त, (वक्ष्यमाण) छः प्रकार की वक्रताओं से विशिष्ट, कवि का व्यापार अर्थात् उसकी क्रियाओं का (काव्य-रचना का) क्रम है, उससे जो शोभित अर्थात् प्रशंसित होता है, उस (बन्ध) में (व्यवस्थित शब्द और अर्थ काव्य होते हैं ।) तो इस प्रकार (लक्षण करने पर) भी कठिन कल्पना से उपहत (बन्ध) में भी (शास्त्रादि में) प्रसिद्ध (शब्दार्थोपनिबन्ध) से व्यतिरिक्तता आ जायगी (अर्थात् कठिन कल्पना से युक्त भी बन्ध में व्यवस्थित शब्द और अर्थ काव्य होने लगेंगे) अतः (ऐसे बन्धकाव्य न हो इसके निवारणार्थ) कहा है कि तद्विदों के लिए आह्लादजनक (बन्ध में व्यवस्थित । तत् शब्द से काव्य का परामर्श होता है । अर्थात् उस (काव्य) को जानते हैं जो वे हुए तद्विद् (अर्थात् (काव्यज्ञ) उनका जो आह्लाद अर्थात् आनन्द करता है वह हुआ तद्विदाह्लादकारी (अर्थात् काव्यज्ञों के आह्लाद का जनक) उस बन्ध में व्यवस्थित (शब्द और अर्थ काव्य होते है) । वक्रता, वक्रता के प्रकारों तथा काव्यज्ञों की आह्लादकारिता, प्रत्येक को यथावसर ही उदाहृत किया जायगा ।

एवं काव्यस्य सामान्यलक्षणे विहिते विशेषलक्षणमुपक्रमते । तत्र शब्दार्थयोस्तावत्स्वरूपं निरूपयति—

वाच्योऽर्थो वाचकः शब्दः प्रसिद्धमिति यद्यपि ।
तथापि काव्यमार्गेऽस्मिन् परमार्थोऽयमेतयोः ॥ ८ ॥

इस प्रकार काव्य का सामान्य लक्षण कर देने के अनन्तर विशेष लक्षण प्रारम्भ करते हैं । उसमें तब तक शब्द और अर्थ के स्वरूप का निरूपण करते हैं—

यद्यपि वाच्य अर्थ (होता है तथा) वाचक शब्द (होता है) वह

प्रसिद्ध है, फिर भी इस काव्य मार्ग में इन दोनों का परमार्थ (काव्य मार्ग में प्रयुक्त होने वाला वास्तविक एवं अपूर्व अर्थ) यह (आगे ९ वीं कारिका में कहा जाने वाला) है ॥ ८ ॥

इति एवंविधं वस्तु प्रसिद्धं प्रतीतम्—यो वाचकः स शब्दः, यो वाच्यश्चाभिधेयः सोऽर्थ इति । ननु च द्योतकव्यञ्जकावपि शब्दौ सम्भवतः, तदसंग्रहान्नाव्याप्तिः, यस्मादर्थप्रतीतिकारित्वसामान्यादुपचारात्तावपि वाचकावेव । एवं द्योत्यव्यङ्ग्ययोरर्थयोः प्रत्येयत्वसामान्यादुपचाराद्वाच्यत्वमेव । तस्माद् वाचकत्वं वाच्यत्वं च शब्दार्थयोर्लोके सुप्रसिद्धं यद्यपि लक्षणम्, तथाप्यस्मिन् अलौकिके काव्यमार्गे कविकर्मवर्त्मनि अयमेतयोर्वक्ष्यमाणलक्षणः परमार्थः किमप्यपूर्वं तत्त्वमित्यर्थः । कीदृशमित्याह—

इति अर्थात् इस प्रकार की वस्तु प्रसिद्ध अर्थात् (लोक में) प्रसिद्ध है कि—जो वाचक (है) वह शब्द (होता है) और जो वाच्य अर्थात् अभिधेय (है) वह अर्थ (होता है) । (यदि कोई शंका करे कि) द्योतक और व्यञ्जक भी तो शब्द सम्भव है (जब कि आपने केवल वाचक शब्द ही ग्रहण किया है अतः लक्षण में अव्याप्ति दोष होगा तो उस शङ्का का समाधान करते हैं कि) उस (द्योतक और व्यञ्जक) के ग्रहण न करने से अव्याप्ति (दोष) नहीं है, क्योंकि अर्थ की प्रतीतिकारिता रूप सामान्य के कारण उपचार (लक्षणा अथवा गौणीवृत्ति) से वे दोनों (द्योतक और व्यंजक शब्द) भी वाचक ही हुए । इस प्रकार द्योत्य और व्यंग्य अर्थों में भी ज्ञेयत्व (प्रत्येयत्व) सामान्य के कारण उपचार से वाच्यत्व ही (हो जायगा) इसलिए यद्यपि लोक में शब्द और अर्थ का वाचक रूप एवं वाच्य रूप लक्षण अच्छी तरह प्रसिद्ध है, फिर भी इस अलौकिक काव्यमार्ग अर्थात् कविकर्म के पथ में यह इन दोनों का (९वीं कारिका में) कहा जाने वाला, परमार्थ कोई (अनिर्वचनीय) अपूर्व तत्त्व है । यह अभिप्राय हुआ । तो वह (अपूर्व तत्त्व) किस प्रकार का है यह बताते है—

शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि ।
अर्थः सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दरः ॥ ९ ॥

(काव्यमार्ग में विवक्षित अर्थ के वाचक) अन्य (बहुत से पर्यायवाची शब्दों) के रहने पर भी, कहने के लिए अभिप्रेत अर्थ का (केवल) एक ही

वाचक (शब्द) शब्द होता है। (तथा) सहृदयों को आह्लादित करने वाला अपने स्वभाव से सुन्दर (अर्थ ही) अर्थ होता है ॥ ९ ॥

स शब्दः काव्ये यस्तत्समुचितसमस्तसामग्रीकः। कीदृक्—विवक्षितार्थैकवाचकः। विवक्षितो योऽसौ वक्तुमिष्टोऽर्थस्तदेकवाचकस्तस्यैकः केवल एव वाचकः। कथम्—अन्येषु सत्स्वपि। अपरेषु तद्वाचकेषु बहुष्वपि विद्यमानेषु। तथा च—

काव्य में शब्द वही (होता है) जो उस (काव्य) के लिए समुचित समस्त सामग्रियों से युक्त होता है। कैसा (शब्द) ? विवक्षित अर्थ का एक ही वाचक। विवक्षित अर्थात् जो यह कहने के लिए अभिप्रेत अर्थ है उसका एक वाचक अर्थात् केवल वह ही वाचक (उस अर्थ को प्रकाशित करने में समर्थ होता है) कैसे ? अन्यों के रहने पर भी। अर्थात् उस अर्थ के वाचक दूसरे बहुत से (शब्दों) के रहने पर भी. (जो विवक्षित अर्थ का केवल एकमात्र प्रकाशक होता है वह शब्द ही काव्य में शब्द कहलाने का अधिकारी होता है।) इसी प्रकार—

सामान्यात्मना वक्तुमभिप्रेतो योऽर्थस्तस्य विशेषाभिधायी शब्दः सम्यग् वाचकतां न प्रतिपद्यते। यथा—

जो अर्थ सामान्यरूप से कहने के लिए अभिप्रेत है, उसकी सम्यक् वाचकता को विशेषरूप से अभिधान करने वाला शब्द नहीं प्राप्त होता है—(अर्थात् जहाँ हमें सामान्यरूप का अर्थ विवक्षित है वहाँ हम ऐसे ही शब्द का प्रयोग करें जो सामान्यरूप का अर्थ दे सके। अन्यथा उसके स्थान पर यदि हम विशेषरूप का अर्थ देने वाले शब्द का प्रयोग करेंगे तो वह शब्द उस अभिप्रेत अर्थ का वाचक न होगा) जैसे—

कल्लोलवेल्लितदृषत्पुरुषप्रहारै-
रत्नान्यमूनि मकराकर माऽवमंस्थाः।
किं कौस्तुभेन भवतो विहितो न नाम
याच्ञाप्रसारितकरः पुरुषोत्तमोऽपि ॥ २५ ॥

हे सागर (मकरालय) ! (अपनी) उत्ताल तरङ्गों द्वारा चंचल किए गए पाषाणों के कठोर आघातों से इन रत्नों को अपमानित मत करो। क्या (इन्हीं रत्नों में से एक रत्न) कौस्तुभ ने पुरुषश्रेष्ठ (भगवान् विष्णु) को

भी याचना के लिए (तुम्हारे सामने) हाथ फैलाने के लिए प्रेरित नहीं किया ॥ २५ ॥

अत्र रत्नसामान्योत्कर्षाभिधानमुपक्रान्तम्। कौस्तुभेनेति रत्नविशेषाभिधायी शब्दस्तद्विशेषोत्कर्षाभिधानमुपसंहरतीति प्रक्रमोपसंहारवैषम्यं न शोभातिशयमावहति। न चैतद्वक्तुं शक्यते—यः कश्चिद्विशेषे गुणग्रामगरिमा विद्यते स सर्वसामान्येऽपि सम्भवत्येवेति। यस्मात्—

यहाँ (कवि ने) रत्न सामान्य के उत्कर्ष का कथन प्रारम्भ किया था (किन्तु) 'कौस्तुभेन' यह रत्नविशेष का कथन करने वाला शब्द उस (रत्न) विशेष के उत्सर्ग के कथन में उपसंहार करता है। इस प्रकार प्रारम्भ और उपसंहार का वैषम्य शोभाधिक्य को नहीं धारण करता है। (अर्थात् कवि ने पहले रत्नसामान्य के उत्सर्ग का कथन तो प्रारम्भ किया किन्तु 'कौस्तुभेन' कहकर उपसंहार एक रत्नविशेष 'कौस्तुभ' के उत्कर्ष में कर दिया। जिससे यहाँ 'प्रक्रमभङ्ग' दोष आ गया जो कि शोभातिशय का पोषक नहीं है। (और यह भी नहीं कहा जा सकता कि—जो कोई गुण) समूह की गरिमा विशेष में रहती है वह सर्वसामान्य में भी सम्भव होती ही है। क्योंकि तन्त्राख्यायिका १।४० में कहा गया है कि—

वाजिवारणलोहानां काष्ठपाषाणवाससाम्।
नारीपुरुषतोयानामन्तरं महदन्तरम् ॥ २६ ॥

अश्व, गज, लोहा (रत्नादि), लकड़ी, पत्थर, वस्त्र, स्त्री, पुरुष और जल का (अपने सजातियों से ही) अन्तर, बहुत बड़ा अन्तर होता है ॥ २६ ॥

तस्मादेवंविधे विषये सामान्याभिधाय्येव शब्दः सहृदयहृदयहारितां प्रतिपद्यते। तथा चास्मिन् प्रकृते पाठान्तरं सुलभमेव—"एकेन किं न विहिता भवतः स नाम" इति।

इसलिए इस प्रकार (जहाँ सामान्यरूप का कथन अभिप्रेत है, उस) के विषय में सामान्य का अभिधान करनेवाला शब्द ही सहृदयों की हृदयहारिता को प्राप्त होता है। (विशेषरूप का कथन करनेवाला शब्द नहीं।) और फिर इस प्रकृत ('कल्लोलवेल्लित' इत्यादि पद्य) में 'एकेन किं न विहितो भवतः स नाम' (अर्थात् क्या एक (कौस्तुभ) मणि ने आपको वह यश

नहीं प्रदान किया) यह पाठान्तर सरलता से ही प्राप्त हो सकता है। जो कि वाक्य का उपसंहार भी सामान्य ही अर्थ में करता हुआ सहृदयहृदयहारिता को प्राप्त करेगा।)

यत्र विशेषात्मना वस्तु प्रतिपादयितुमभिमतं तत्र विशेषाभिधायकमेवाभिधानं निबध्नन्ति कवयः। यथा—

जहाँ वस्तु का विशेषरूप से ही प्रतिपादन करना (कवियों को) अभिप्रेत होता है वहाँ कविजन विशेष का अभिधान करनेवाले ही शब्द का प्रयोग करते हैं। जैसे—महाकवि कालिदास ने कुमारसम्भव (५।७१) में पार्वती से भिक्षुरूपधारी शङ्कर द्वारा कहलवाया है कि—

द्वयं गतं संप्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः।
कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ॥२७॥

(एक तो) वह कलावान् (चन्द्रमा) की कान्तिमती कला और (दूसरी) इस लोक के नेत्रों की कौमुदी तुम, दोनों इस समय (उस) कपाली (शङ्कर) के समागम की प्रार्थना से शोचनीयता को प्राप्त हो गई हो ॥ २७ ॥

अत्र परमेश्वरवाचकशब्दसहस्रसंभवेऽपि कपालिन इति बीभत्सरसालम्बनविभाववाचकः शब्दो जुगुप्सास्पदत्वेन प्रयुज्यमानः कामपि वाचकवक्रतां विदधाति। 'संप्रति' 'द्वयं' चेत्यतीव रमणीयम्—यत् किल पूर्वमेका सैव दुर्व्यसनदूषितत्वेन शोचनीया संजाता, संप्रति पुनस्त्वया तस्यास्तथाविधदुर्व्यवसायसाहायकमिवारब्धमित्युपहस्यते। 'प्रार्थना' शब्दोऽप्यतितरां रमणीयः, यस्मात् काकतालीययोगेन तत्समागमः कदाचिन्न वाच्यतावहः। प्रार्थना पुनरत्रात्यन्तं कौलीनकलङ्ककारिणी।

इस पद्य में शङ्कर के वाचक (पिनाकी आदि) सहस्रों शब्दों के सम्भव होने पर भी 'कपालिनः' (कपाली की) यह बीभत्सरस के आलम्बन विभाव का वाचक शब्द घृणा के पात्र के रूप में प्रयुक्त होकर किसी (अनिर्वचनीय) शब्द की वक्रता को धारण करता है। (भाव यह है कि यहाँ भिक्षुवेषधारी शङ्कर पार्वती के मन में शिव के प्रति घृणा पैदा कराना चाहते हैं अतः यदि यहाँ 'कपाली' के स्थान पर वे 'पिनाकी' आदि कहते तो यह घृणाभाव आना ही कठिन था। अतः कपाली कहकर शिव के बीभत्सरूप का चित्रण किया है। जो उन्हें घृणास्पद सिद्ध करता है। यहीं कपाली पद

की वक्रता है।) 'सम्प्रति' (इस समय) और 'द्वयं' (दोनों) ये पद भी अत्यन्त रमणीय हैं—क्योंकि पहले तो एक वही (चन्द्रकला ही कपाली के समागमरूप) दुर्व्यसन से दूषित होने के कारण शोचनीय हो गई थी और फिर अब तुमने भी उस (चन्द्रकला) के उस प्रकार के दुरव्यवसाय (दुःखदायी उत्साह) में सहायता सा करना प्रारम्भ कर दिया है इस प्रकार (भिक्षुवेषधारी शिव द्वारा पार्वती का) उपहास किया जा रहा है। 'प्रार्थना' शब्द भी अत्यधिक रमणीय है, क्योंकि अकस्मात् (काकतालीय योग से) हो गया उस कपाली का समागम शायद वाच्यता (निन्दा) का वहन न करता किन्तु यहाँ (उस कपाली के समागम की) प्रार्थना अत्यन्त ही कुलीन (कुल) में उत्पन्न होनेवाली (तुम्हारे लिए) कलङ्ककारिणी है।

'सा च' 'त्वं च' इति द्वयोरप्यनुभूयमानपरस्परस्पर्धिलावण्यातिशयप्रतिपादनपरत्वेनोपात्तम्। 'कलावतः' 'कान्तिमती' इति च मत्वर्थीयप्रत्ययेन द्वयोरपि प्रशंसा प्रतीयत इत्येतेषां प्रत्येकं कश्चिदप्यर्थः शब्दान्तराभिधेयतां नोत्सहते। कविविवक्षितविशेषाभिधानक्षमत्वमेव वाचकत्वलक्षणम्। यस्मात्प्रतिभायां तत्कालोल्लिखितेन केनचित्परिस्पन्देन परिस्फुरन्तः पदार्थाः प्रकृतप्रस्तावसमुचितेन केनचिदुत्कषण वा समाच्छादितस्वभावाः सन्तो विवक्षाविधेयत्वेनाभिधेयतापदवीमवतरन्तस्तथाविधविशेष-प्रतिपादन-समर्थेनाभिधानेनाभिधीयमानाश्चेतनचमत्कारितामापद्यन्ते। यथा—

'सा च' (वह) और 'त्वञ्च' (तुम) ये दोनों पद (चन्द्रकला और पार्वती) दोनों के अनुभूयमान परस्पर स्पर्धा करनेवाले लावण्य के अतिशय का प्रतिपादन करने के लिए ग्रहण किए गए हैं। 'कलावतः' और 'कान्तिमती' इन पदों में मत्वर्थीय प्रत्यय के द्वारा दोनों (चन्द्रमा एवं उसकी कला) की प्रशंसा प्रतीत होती है। इस प्रकार (इस श्लोक में प्रयुक्त) इन सभी पदों का प्रत्येक कोई भी अर्थ दूसरे शब्द द्वारा अभिधेयता को वहन नहीं कर सकता (अर्थात् यदि कवि द्वारा प्रयुक्त इस श्लोक के प्रत्येक पदों के स्थान पर उसका पर्यायवाची दूसरा शब्द रखा जाय तो वह विवक्षित अर्थ को देने में असमर्थ अतः चमत्कारहीन हो जायगा।) (अतः) कवि के द्वारा कहने के लिए अभिप्रेत विशेष (अर्थ) का अभिधान करने की क्षमता का होना ही वाचकत्व का लक्षण है। जिससे (कवि की) प्रतिभा में उस (काव्यरचना के) समय उन्मिषित हुए किसी स्वभावविशेष के

द्वारा पुरिस्फुरित होते हुए पदार्थ, अथवा अवसर प्राप्त प्रकरण के योग्य किसी उत्कर्षविशेष से समाच्छन्न स्वभाव वाले होकर (पदार्थ कवि के), कथन के लिए अभिप्रेत (वस्तु) की विधेयता के कारण अभिधेयता को प्राप्त कर, उस प्रकार के विशेष (अर्थ) के प्रतिपादन में समर्थ शब्द द्वारा अभिधीयमान होकर (सहृदयों के) हृदयों को चमत्कृत करने लगते हैं। जैसे—

संरम्भः करिकीटमेघशकलोद्देशेन सिंहस्य यः
सर्वस्यैव स जातिमात्रविहितो हेवाकलेशः किल।
इत्याशाद्विरदक्षयाम्बुदघटाबन्धेऽप्यसंरब्धवान्
योऽसौ कुत्र चमत्कृतेरतिशयं यात्वम्बिकाकेसरी ॥ २८ ॥

करिकीटरूपी मेघखण्ड को लक्ष्य करके जो सिंह का अभिनिवेश है यह तो सभी (सिंहों) का केवल जातिजन्य साधारण स्वभाव है अतः जो यह भगवती दुर्गा का (वाहनभूत) सिंह साधारण दिग्गजरूपी प्रलयमेघों की घटारचना के प्रति भी अभिनिवेशहीन है (तो फिर भला) और वह कहाँ चमत्कार के उत्कर्ष को प्राप्त कर सकेगा ॥ २८ ॥

अत्र करिणां 'कीट'-व्यपदेशेन तिरस्कारः, तोयदानां च 'शकल'-शब्दाभिधानेनानादरः, 'सर्वस्य' इति यस्य कस्यचित्तुच्छतरप्रायस्येत्यवहेला, जातेश्च 'मात्र'-शब्दविशिष्टत्वेनावलेपः, हेवाकस्य 'लेश'-शब्दाभिधानेनाल्पताप्रतिपत्तिरित्येते विवक्षितार्थैकवाचकत्वं द्योतयन्ति। 'घटाबन्ध'-शब्दस्य प्रस्तुतमहत्त्वप्रतिपादनपरत्वेनोपात्तस्तन्निबन्धनतां प्रतिपद्यते। विशेषाभिधानाकाङ्क्षिणः पुनः पदार्थस्वरूपस्य तत्प्रतिपादनपरविशेषणशून्यतया शोभाहानिरुत्पद्यते। यथा—

यहाँ (उक्त पद्य में) हाथियों का 'कीट' संज्ञा के द्वारा तिरस्कार (किया गया है), और बादलों का 'शकल' शब्द के द्वारा अभिधान कर अनादर (किया गया है)। 'सर्वस्य' इस (पद के प्रयोग द्वारा) जिस किसी अत्यधिक तुच्छ) हाथी का भी ऐसा स्वभाव होता है।) इस प्रकार कहकर अवहेलना (की गई है), और जाति का 'मात्र' शब्द को विशेषण बनाकर (अम्बिकाकेसरी के) घमण्ड (अवलेप) की (सूचना दी गई है) तथा हेवाक का लेश शब्द के द्वारा अभिधान कर अल्पता की प्रतीति (कराई गई है) इस प्रकार ये (सभी शब्द) विवक्षित अर्थ की केवल

एक ही वाचकता को द्योतित करते हैं। तथा 'घटाबन्ध' शब्द प्रस्तुत (अम्बिकाकेसरी) के महत्त्व का प्रतिपादन करने के लिए गृहीत होकर उस (महत्त्वप्रतीति) की कारणता को प्राप्त करता है। फिर विशेष अभिधान के इच्छुक पदार्थों के स्वरूप की, उस (विशेष अभिधान) का प्रतिपादन करने वाले विशेषण के अभाव में, शोभा की हानि होती है। जैसे—

तत्रानुल्लिखिताख्यमेव निखिलं निर्माणमेतद्विधे-
रुत्कर्षप्रतियोगिकल्पनमपि न्यक्कारकोटिः परा।
याताः प्राणभृता मनोरथगतीरुल्लङ्घ्य यत्संपद-
स्तस्याभासमणीकृताश्मसु मणेरश्मत्वमेवोचितम् ॥ २६ ॥

जिस (चिन्तामणि) के होने पर ब्रह्मा की सारी सृष्टि नामोल्लेख करने योग्य नहीं रह जाती, (एवं जिसके) उत्कर्ष के (सदृश उत्कर्षवाले किसी अन्य पदार्थरूप) प्रतियोगी की कल्पना करना भी (उसके) अपमान की पराकाष्ठा है, तथा जिसकी सम्पत्ति प्राणधारियों के मनोरथों की गति को भी पार कर गई है (अर्थात् जिसकी सम्पत्ति मनोरथ के लिए भी अगोचर है) उस (चिन्तामणि) के आभास से (मणि न होते हुए भी) मणिरूप हो जाने वाले पत्थर के टुकड़ों के बीच पत्थर का टुकड़ा ही बना रहना उचित है। अर्थात् यदि अन्य साधारण मणियों में ही चिन्तामणि की भी गणना की जाती है तो अच्छा होगा कि उसे पत्थर ही कहा जाय, मणि नहीं, क्योंकि उससे उसका अपमान होता है ॥ २६ ॥

अत्र 'आभास'-शब्दः स्वयमेव मात्रादिविशिष्टत्वमभिलषँल्लक्ष्यते। पाठान्तरम्—'छायामात्रमणीकृताश्मसु मणेस्तस्याश्मतैवोचिता' इति। एतच्च वाचकवक्रताप्रकारस्वरूपनिरूपणावसरे प्रतिपदं प्रकटीभविष्यतीत्यलमतिप्रसङ्गेन।

यहाँ आभास शब्द स्वयं ही मात्र आदि विशेषणों के द्वारा (आभास-मात्र) इस प्रकार की विशिष्टता की इच्छा करता हुआ दिखाई पड़ता है। अतः इसके स्थान पर दूसरा पाठ—छायामात्र मणीकृताश्मसु मणेस्तस्याश्मतैवोचिता—अर्थात् छायामात्र से पत्थर को मणि बना देनेवाले उस चिन्तामणि का पत्थर होना ही उचित है। (अत्यधिक चमत्कारपूर्ण होगा)। यह सब शब्दवक्रता के प्रकारों के स्वरूप का निरूपण करते समय पद-पद पर

(स्वयं) प्रकट हो जायगा । अतः अब अतिप्रसंग (उसके यहाँ विवेचन) की आवश्यकता नहीं (यथावसर उसका विवेचन किया जायगा ।)

अर्थश्च वाच्यलक्षणः कीदृशः—काव्ये यः सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दरः । सहृदयाः काव्यार्थविदस्तेषामाह्लादमानन्दं करोति यस्तेन स्वस्पन्देनात्मीयेन स्वभावेन सुन्दरः सुकुमारः । तदेतदुक्तं भवति—यद्यपि पदार्थस्य नानाविधधर्मखचितत्वं संभवति तथापि तथाविधेन धर्मेण संबन्धः समाख्यायते यः सहृदयहृदयाह्लादमाधातुं क्षमते । तस्य च तदाह्लादसामर्थ्यं संभाव्यते येन काचिदेव स्वभावमहत्ता रसपरिपोषाङ्गत्वं वा व्यक्तिमासादयति । यथा—

(अभी तक काव्य में शब्द किस स्वरूप का होना चाहिए, उसका निरूपण कर अब अर्थ के स्वरूप का विवेचन प्रस्तुत करते हैं) और वाच्यरूप अर्थ किस प्रकार का (काव्यमार्ग में इष्ट है)—काव्य में जो सहृदयों के आह्लादजनक अपने स्वभाव से सुन्दर (होता है) । सहृदय अर्थात् काव्य के अर्थ को जाननेवाले उनके आह्लाद अर्थात् आनन्द को (उत्पन्न) करता है जो उस अपने स्पन्द अर्थात् आत्मीय स्वभाव से सुन्दर अर्थात् सुकुमार (अर्थ काव्य में अभिप्रेत हैं) इस प्रकार यह कहा गया है कि—यद्यपि पदार्थ का नाना प्रकार के धर्मों से युक्त होना सम्भव है फिर भी (काव्य में पदार्थ के) उस प्रकार के (विशेष) धर्म के साथ सम्बन्ध का भली प्रकार वर्णन किया जाता है जो सहृदयों के हृदयों में आनन्द उत्पन्न करने में समर्थ होता है । और इस प्रकार के वर्णन द्वारा उस (पदार्थ) का वह (सहृदयों के) आह्लाद का सामर्थ्य सम्भव हो जाता है जिससे कोई (अपूर्व, अनिर्वचनीय) ही (पदार्थ के) स्वभाव की महत्ता अथवा (उसकी) रस के परिपोष में अङ्गता व्यक्त हो जाती है । जैसे—

दंष्ट्रापिष्टेषु सद्यः शिखरिषु न कृतः स्कन्धकण्डूविनोदः
सिन्धुष्वङ्गावगाहः खुरकुहरगलत्तुच्छतोयेषु नाप्तः ।
लब्धाः पातालपङ्के न लुठनरतयः पोत्रमात्रोपभुक्ते
येनोद्धारे धरिञ्याः स जयति विभुताविघ्नितेच्छो वराहः ॥ ३० ॥

(विष्णु भगवान् के वाराहावतार काल का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि) जिस (वराहरूपधारी विष्णु) ने पृथ्वी का (जिसे हिरण्याक्ष पाताल में उठा ले गया था) उद्धार करते समय (अपने) दाढ़ (की चोटों) से

पिस गए पर्वतों पर (अपने) कन्धों को खुजलाने का आनन्द नहीं (प्राप्त) किया, (तथा अपने) खुरों के कुहरों से विगलित होते हुए तुच्छ जल वाले समुद्रों में (जिसने) स्नान नहीं किया, (एवं) पोतने मात्र के लिए उपयुक्त पाताल के कीचड़ में (जिसने) लोटने का आनन्द नहीं प्राप्त किया, (ऐसे) वह (अपनी) विभुता के कारण बाधित इच्छा वाले वराह (रूपधारी विष्णु) सर्वोत्कृष्ट हैं ॥ ३० ॥

अत्र च तथाविधः पदार्थपरिस्पन्दमहिमा निबद्धोदयः स्वभाव-संभविनस्तत्परिस्पन्दान्तरस्य संरोधसंपादनेन स्वभावमहत्तां समुल्लास-यन् सहृदयाह्लादकारितां प्रपन्नः। यथा च—

इस श्लोक में (कवि ने) उस प्रकार की पदार्थ (वराहरूपधारी विष्णु) के व्यापार की महिमा का वर्णन प्रस्तुत किया है जो स्वभाव से ही उत्पन्न होने वाले उस (पदार्थ) के अन्य व्यापारों के निरोध के सम्पादन के द्वारा (उस पदार्थ के) स्वभाव की महत्ता को स्फुरित करता हुआ सहृदयों को आनन्दित करता है। और जैसे (महाकवि कालिदास ने रघुवंश १४।७० में राम के द्वारा निर्वासित गर्भवती सीता के रुदन का अनुसरण करते हुए वाल्मीकि मुनि के उसके पास जाने का वर्णन करते हुए कहते हैं कि—)

तामभ्यागच्छद्रुदितानुसारी मुनिः कुशेध्माहरणाय यातः।
निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः॥ ३१ ॥

कुश और समिधा लाने के लिए गए हुए (वे) मुनि (सीता के) रुदन का अनुसरण करते हुए उसके पास पहुँचे जिनका निषाद के द्वारा विद्ध किए पक्षी (क्रौंच) के दर्शन से उद्भूत शोक (मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः। यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥ वा० रा० बालकाण्ड २।१५ इस प्रकार के आदि) श्लोक के रूप में परिणत हो गया था॥ ३१॥

अत्र कोऽसौ मुनिर्वाल्मीकिरिति पर्यायपदमात्रे वक्तव्ये परमकारुणि-कस्य निषादनिर्भिन्नशकुनिसंदर्शनमात्रसमुत्थितः शोकः श्लोकत्वमभजत यस्येति तस्य तदवस्थजनकराजपुत्रीदर्शनविवशवृत्तेरन्तःकरणपरिस्पन्दः करुणरसपरिपोषाङ्गतया सहृदयहृदयाह्लादकारी कवेरभिप्रेतः। यथा च—

इस श्लोक में यह कौन मुनि (थे केवल यह बताने के लिए) वाल्मीकि इसी पर्यायवाची पदमात्र के कहने के स्थान पर (कवि ने जो दूसरे ढंग से

उसे प्रस्तुत किया है उसका कारण है कि) परम कारुणिक जिन (मुनि वाल्मीकि) का निषाद के द्वारा मारे गये पक्षी (क्रौञ्च) के देखने मात्र से उत्पन्न हुआ शोक (मा निषाद—इत्यादि) श्लोक के रूप में परिणित हो गया था, उन्हीं (परम कारुणिक मुनि) के उस (गर्भवती पति द्वारा निर्वासित एवं वन में परित्यक्त) अवस्था वाली विदेहराज की पुत्री (सीता) के दर्शन से विवश वृत्तिवाले अन्तःकरण का व्यापार करुण रस के परिपोषण में अङ्गरूप से (उपस्थित होकर) सहृदयों के हृदयों को आह्लादित करेगा (यह) कवि (कालिदास) को अभीष्ट था (इसीलिए महाकवि ने केवल 'वाल्मीकि' न कहकर उक्त विशेषणों द्वारा उनका परिचय कराया था जिससे करुण रस भलीभाँति पुष्ट हो सके)। और (तीसरा उदाहरण) जैसे—

भर्तुर्मित्रं प्रियमविधवे विद्धि मामम्बुवाहं
तत्संदेशाद्धृदयनिहितादागतं त्वत्समीपम् ।
यो वृन्दानि त्वरयति पथि श्राम्यतां प्रोषितानां
मन्द्रस्निग्धैर्ध्वनिभिरबलावेणिमोक्षोत्सुकानि ॥ ३२ ॥

(महाकवि कालिदास मेघदूत (पू० मे०।५६) में उस समय का वर्णन प्रस्तुत करते हैं जब शापग्रस्त अपनी प्रियतमा से बहुत दूर रहने वाले यक्ष का उसकी प्राणप्रिया यक्षिणी के पास सन्देश लेकर मेघ पहुँचता है तो मेघ ही कहता है कि—)

अविधवे (हे सुहागिन) ! मुझ जल को वहन करने वाले (मेघ) को अपने पति का मित्र समझो (जो) हृदय में निहित उसके सन्देश (को तुमसे कहने के निमित्त) से तुम्हारे पास आया है। (और) जो मार्ग में (चलते-चलते थक जाने के कारण) विश्राम करते हुए परदेशियों के (अपनी प्रियतमा) अबलाओं की चोटियों को खोलने के लिए उत्सुक समूहों को (अपनी) गम्भीर एवं स्निग्ध ध्वनियों के द्वारा त्वरायुक्त (जल्दी जाने के लिए बाध्य) कर देता है ॥ ३२ ॥

अत्र प्रथममामन्त्रणपदार्थस्तदाश्वासकारिपरिस्पन्दनिबन्धनः। भर्तुर्मित्रं मां विद्धीत्युपादेयत्वमात्मनः प्रथयति। तच्च न सामान्यम्, प्रियमिति विश्रम्भकथापात्रताम् । इति तामाश्वास्योन्मुखीकृत्य च तत्संदेशात्त्वत्समीपमागमनमिति प्रकृतं प्रस्तौति । हृदयनिहितादिति स्वहृदयानिहितं सावधानत्वं द्योत्यते । ननु चान्यः कश्चिदेवंविध-

व्यवहारविदग्धबुद्धिः कथं न नियुक्त इत्याह—ममैवात्र किमपि कौशलं विजृम्भते। अम्बुवाहमित्या मनस्तत्कारिताभिधानं द्योतयति। यः प्रोषितानां वृन्दानि त्वरयति, संजातत्वराणि करोति। कीदृशानाम्—श्राम्यतां त्वरायामसमर्थानामपि। वृन्दानीति बाहुल्यात्तत्कारिताभ्यासं कथयति। केन—मन्द्रस्निग्धैर्ध्वनिभिः, मधुर्यरमणीयैः शब्दैर्विदग्धदूतप्ररोचनावचनप्रायैरित्यर्थः। क्व—पथि मार्गे। यदृच्छया यथाकथंचिदहमेतदाचरामीति किं पुनः प्रयत्नेन सुहृत्प्रेमनिमित्तं संरब्धबुद्धि न करोमीति।

इस श्लोक में पहले सम्बोधन पद (अविधवे) का अर्थ ही उस (यक्षिणी) को आश्वासन देने वाले धर्म का कारण है। (अर्थात् तुम्हारा पति जीवित है, तुम सुहागिन हो, इस प्रकार यक्षिणी को अपने सुहागिन होने से आश्वासन मिलता है)। (मेघ) मुझे (अपने) पति का मित्र समझो इस (कथन) से अपनी उपादेयता को पुष्ट करता है। और वह (मित्र भी) साधारण (मित्र) नहीं, (अपितु) प्रिय (मित्र हैं) इस (कथन) से अपनी (विश्रम्भ कथा) विश्वासपूर्ण वार्ता की पात्रता को (स्पष्ट करता है)। इस प्रकार (अविधवे पद के द्वारा) उसे आश्वासन देकर तथा (पति का प्रिय मित्र मुझे जानो इस कथन द्वारा अपनी ओर उसे) उन्मुख करके (तब) 'उसके सन्देश से तुम्हारे पास मेरा आगमन हुआ है' इस प्रकरणप्राप्त (प्रकृत) बात को प्रस्तुत करता है। 'हृदय में निहित (संदेश) से' इस पद के द्वारा अपने हृदय में स्थित सावधानता को द्योतित करता है (अर्थात् तुम्हारे सन्देश को मैंने बड़ी सावधानी से अपने हृदय में रखा है उसे किसी से बताया नहीं) (यदि यक्षपत्नी यह शंका करे कि) यक्ष ने इस प्रकार (दूत) के व्यवहार में चतुर किसी अन्य व्यक्ति को क्यों नहीं नियुक्त किया (तुझ मेघ को ही क्यों भेजा तो इस शङ्का का समाधान करने के लिए) अतः कहा कि मेरा ही इस विषय में कोई (अपूर्व) कौशल दिखाई पड़ता है और (अम्बुवाहम्) 'जल को वहन करने वाले' (मुझको) इस कथन के द्वारा अपने उस (सन्देशाहरणरूप) कार्य को करने की संज्ञा का द्योतन करता है अर्थात् मेरी संज्ञा ही 'अम्बुवाह' (जल को वहन करने वाला) है तो भला मुझसे अच्छा वहन कार्य (चाहे सन्देशवहन ही क्यों न हों) और कौन कर सकता है। जो परदेशियों के समूहों को त्वरायुक्त कर देता है अर्थात् जल्दी जाने के लिए (विवश) कर देता है। किस प्रकार के (परदेशियों के समूहों को संजातत्वरा कर

देता है ? विश्राम करते हुए अर्थात् शीघ्रता करने में असमर्थ भी (प्रोषित समूह को त्वरायुक्त कर देता है ।) 'वृन्दानि' इस पद से बाहुल्य सूचना द्वारा उस कार्य को करने के आम्यास को द्योतित करता है । किस प्रकार से—मन्द्र एवं स्निग्ध ध्वनियों के द्वारा अर्थात् चतुर दूत के प्ररोचना वचनों के सदृश माधुर्ययुक्त रमणीय शब्दों के द्वारा (पथिकों को त्वरायुक्त कर देता है) यह अभिप्राय हुआ । कहाँ (ऐसा करता है) पथि अर्थात् मार्ग में । (अर्थात् जब मैं) अपनी इच्छा से ही जैसे-तैसे इस प्रकार का आचरण करता हूँ तो फिर (भला अपने) मित्र के प्रेम के लिए प्रयत्नपूर्वक समाहितचित्त क्यों न बनूं यह (अर्थ द्योतित होता है) ।

कीदृशानि वृन्दानि—अबलावेणिमोक्षोत्सुकानि । अबला-शब्देनात्र तत्प्रेयसीविरहवैधुर्यासहत्वं भण्यते, तद्वेणिमोक्षोत्सुकानीति तेषां तदनुरक्तचित्तवृत्तित्वम् । तदयमत्र वाक्यार्थः—विधिविहितविरहवैधुर्यस्य परस्परानुरक्तचित्तवृत्तेर्यस्य कस्यचित्कामिजनस्य समागमसौख्यसंपादनसौहार्दे सदैव गृहीतव्रतोऽस्मीति । अत्र यः पदार्थपरिस्पन्दः कविनोपनिबद्धः प्रबन्धस्य मेघदूतत्वे परमार्थतः स एव जीवितमिति सुतरां सहृदयहृदयाह्लादकारी । न पुनरेवंविधो यथा—

किस प्रकार के समूहों को (संजात त्वरा कर देता हूँ, जो) अवलाओं की वेणियों को खोलने के लिए उत्सुक (रहते हैं) (अर्थात् विरहिणियों के पति जब परदेश में रहते हैं तो वे श्रृङ्गार नहीं करती हैं अतः उनकी चोटियाँ बँधी रहती हैं, किन्तु जब पति परदेश से वापस आते हैं तो वे पुनः श्रृङ्गार करने के लिए अपनी चोटियों को खोलती हैं इसलिए परदेशियों के समूहों के उनकी चोटी खोलने के लिए उत्सुक बताया गया है) । 'अबला' शब्द के द्वारा यहाँ उन (परदेशियों) की प्रियतमाओं की (प्रियतम के) विरह की विधुरता को सह सकने में असमर्थता बताते हैं ! 'उनकी चोटियों को खोलने के लिए उत्सुक' इस पद के द्वारा उन (परदेशियों) की उन (अपनी प्रियतमाओं) में अनुरक्त चित्तवृत्तिता को (द्योतित करते हैं) । तो इसका वाक्यार्थ यह है कि—दैवजनित विरह की विधुरता से युक्त, परस्पर अनुरक्त चितवृत्ति वाले जिस किसी कामी जन के समागम से उत्पन्न सुख के सम्पादनरूप सौहार्द (मैं) सदैव गृहीतव्रत हूँ । (अर्थात् विरहीजनों का समागम कराने का मैंने व्रत ही ले लिया है । (इस प्रकार) यहाँ (इस श्लोक में) कवि ने जिस पदार्थ (मेघ) के स्वभाव का वर्णन प्रस्तुत

किया है वही (मेघदूत नामक) प्रबन्ध के मेघदूतत्व में वस्तुतः प्राणभूत हो गया है अतः अत्यधिक सहृदयों के हृदयों को आनन्दित करने वाला है (अतः अर्थ उसी प्रकार का होना चाहिए जो सहृदयों को आह्लादित करने वाले अपने स्वभाव से ही सुन्दर हो) न कि फिर इस प्रकार का— जैसे (राजशेखर विरचित बालरामायण के इस ६।३४ पद्य में हैं)—

सद्यः पुरीपरिसरेऽपि शिरीषमृद्वी
सीता जवात्त्रिचतुराणि पदानि गत्वा ।
गन्तव्यमद्य कियदित्यसकृद् ब्रुवाणा
रामाश्रुणः कृतवती प्रथमावतारम् ॥ ६३ ॥

जहाँ कवि सीता के राम के साथ वन के लिए प्रस्थान करने पर उनकी सुकुमारता वर्णन करते हुए कहता है कि–) शिरीष (पुष्प) के सदृश कोमल सीता ने (अयोध्या) नगरी के समीप में ही तत्काल वेग से तीन-चार पग चलकर (श्रान्त हो गई) 'आज (अभी) कितनी दूर जाना है' ऐसा बार-बार कहती हुई रामचन्द्र के आँसुओं को पहली बार अवतरित किया (अर्थात् उनके बार-बार पूछने पर कि अब कितना दूर जाना है, रामचन्द्र जी की आँखों में आँसू आ गए) ॥ ३३ ॥

अत्रासत्प्रतिक्षणं कियदद्य गन्तव्यमित्यभिधानलक्षणः परिस्पन्दो न स्वभावमहत्तामुन्मीलयति, न च रसपरिपोषाङ्गतां प्रतिपद्यते। यस्मात्सीतायाः सहजेन केनाप्यौचित्येन गन्तुमध्यवसितायाः सौकुमार्यादेवंविधं वस्तु हृदये परिस्फुरदपि वचनमारोहतीति सहृदयैः संभावयितुं न पार्यते । न च प्रतिक्षणमभिधीयमानमपि राघवाश्रु-प्रथमावतारस्य सम्यक् सङ्गतिं भजते, सकृदाकर्णनादेव तस्यापपत्तेः। एतच्चात्यन्तरमणीयमपि मनाङ्मात्रचलितावधानत्वेन कवेः कदर्थि-तम्। तस्माद् 'अवशम्' इत्यत्र पाठः कर्त्तव्यः। तदेवंविधं विशिष्टमेव शब्दार्थयोर्लक्षणमुपादेयम् । तेन नेयार्थापार्थादयो दूरोत्सारितत्वा-त्पृथङ् न वक्तव्याः ।

यहाँ (इस श्लोक में) असकृत् अर्थात् क्षण-क्षण पर, आज कितनी दूर जाना है इस प्रकार का कथनरूप व्यापार न तो (सीता के) स्वभाव की महत्ता को ऊन्मीलित करता है और न (प्रकृत करुण) रस के परिपोषण का ही अङ्ग बनता है। क्योंकि किसी सहज औचित्य के कारण (अपने पति रामचन्द्र के साथ) जाने के लिए उद्यत हुई सीता के हृदय में सौकुमार्य के

कारण इस प्रकार की बात (कि तीन-चार पग चलकर ही श्रान्ति का अनुभव) स्फुरित होते हुए भी (उनके द्वारा) कही जा सकती है ऐसा सहृदय अनुमान भी नहीं कर सकते। (अर्थात् सीता जैसी एक दृढ़ विचार वाली नारी जिसे कि वन की अनेकों कठिनाइयों की बात-बताकर पति ने वन जाने से रोकने का प्रयास किया फिर भी वह पति से यह कह कर कि ''मैं सभी कठिनाइयों को सह लूंगी पर आप अपने साथ अवश्य लेते चलिए'' वन जाने के लिए तैयार हुई और वही दो-चार कदम चल कर ही ऐसा कहने लगें, यह बात सम्भव नहीं।) और न तो 'क्षण-क्षण कहे जाने पर भी रामचन्द्र के पहले आँसुओं का ही प्रवाहित होना' यही बात भली प्रकार सङ्गति रखती है क्योंकि (सीता के उस कथन के) एकबार ही सुन लेने से उस (अश्रुधारा) की उपपत्ति हो जाने से। अतः अत्यन्त रमणीय होते हुए भी यह (श्लोक) कवि की थोड़ी-सी ही असावधानी से निन्द्य (कदर्थित) हो गया है। अतः इस श्लोक में 'असकृत्' के स्थान पर 'अवशम्' यह पाठ कर देना चाहिए। (अर्थात् 'गन्तव्यमद्य कियदित्यवशं ब्रुवाणा' अर्थात् 'विवश होकर आज अभी कितनी दूर जाना है' ऐसा कहती हुई राम के अश्रुओं को प्रवाहित किया। ऐसा पाठ कर देने से इसमें सहृदयहृदयहारिता आ जायगी।

अतः (काव्य में) शब्द और अर्थ का इस (उक्त) प्रकार का विशिष्ट ही लक्षण उपादेय हैं। इसलिए 'नेयार्थक' 'अपार्थक इत्यादि (काव्यदोष) दूर से उत्सारित हो जाने के कारण (हटा दिये जाने के कारण) अलग न कहे जाने चाहिए। (अर्थात् जैसे शब्द और अर्थ हमने काव्य में स्वीकार किए हैं उनमें ये दोष ही हो नहीं सकते क्योंकि इन दोषों के रहने पर वे काव्यगत शब्द और अर्थ कहलाने के अधिकारी ही नही होंगे।

एवं शब्दार्थयोः प्रसिद्धस्वरूपातिरिक्तमन्यदेव रूपान्तरमभिधाय न तावन्मात्रमेव काव्योपयोगि, किन्तु वैचित्र्यान्तरविशिष्टमित्याह—

उभावेतावलंकार्यौ तयोः पुनरलंकृतिः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते ॥ १० ॥

इस प्रकार शब्द और अर्थ के (लोक) प्रसिद्ध स्वरूप से भिन्न ही दूसरे रूप को बताकर, केवल उतना ही काव्य के लिए उपयोगी नहीं है, अपितु अन्य वैचित्र्य से विशिष्ट (शब्द और अर्थ का स्वरूप काव्य के लिए उपयोगी है) यह बताने के लिए कहते हैं—

ये दोनों (शब्द और अर्थ) अलङ्कार्य हैं, और चातुर्यपूर्ण भङ्गिमा से किया गया कथनस्वरूप वक्रोक्ति ही दोनों का (एकमात्र) अलङ्कार कहा जाता है ॥ १० ॥

उभौ द्वावप्येतौ शब्दार्थावलंकार्यावलंकरणीयौ केनापि शोभातिशयकारिणालंकरणेन योजनीयौ। किं तत्तयोरलङ्करणमित्यभिधीयते—तयोः पुनरलंकृतिः। तयोर्द्वित्वसंख्याविशिष्टयोरप्यलंकृतिः पुनरेकैव, यया द्वावप्यलंक्रियेते। कासौ—वक्रोक्तिरेव। वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा। कीदृशी—वैदग्ध्यभङ्गीभणितिः। वैदग्ध्यं विदग्धभावः कविकर्मकौशलं तस्य भङ्गी विच्छित्तिः, तया भणितिः विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते। तदिदमत्र तात्पर्यम्—यत् शब्दार्थौ पृथगवस्थितौ केनापि व्यतिरिक्तेनालंकरणेन योज्येते, किन्तु वक्रतावैचित्र्ययोगितयाभिधानमेवानयोरलंकारः, तस्यैव शोभातिशयकारित्वात्। एतच्च वक्रताव्याख्यानावसर एवोदाहरिष्यते।

उभौ अर्थात् ये दोनों ही शब्द और अर्थ अलङ्कार्य अर्थात् अलङ्करणीय होते हैं, किसी शोभातिशय को उत्पन्न करने वाले अलङ्कार के द्वारा युक्त करने योग्य होते हैं। (फिर) उन दोनों का अलङ्कार क्या है यह कहते हैं—और उन दोनों का (एक) अलङ्कार होता है। तयोः अर्थात् द्वित्व संख्या से विशिष्ट (शब्द और अर्थ दो) होने पर भी अलङ्कार केवल एक ही होता है, जिसके द्वारा दोनों ही अलंकृत किए जाते हैं। वह कौन-सा (अलंकार) है? वक्रोक्ति ही (वह अलंकार है)। वक्रोक्ति अर्थात् प्रसिद्ध कथन से भिन्न (व्यतिरिक्त) विचित्र प्रकार का कथन ही (वक्रोक्ति है)। कैसी वक्रोक्ति (शब्द और अर्थ दोनों का अलङ्कार है) वैदग्धपूर्ण भङ्गिमा द्वारा कथन (ही वक्रोक्ति है) वैदग्ध्य अर्थात् विदग्ध (चतुर) का भाव (चातुर्य अर्थात्) कवि के कर्म (काव्य) की कुशलता, उसकी भङ्गी अर्थात् शोभा (विच्छित्ति) उसके द्वारा कथन अर्थात् विचित्र प्रकार की उक्ति ही 'वक्रोक्ति' कही जाती है। तो इसका तात्पर्य यह है—कि शब्द और अर्थ अलग स्थित होकर किसी (अपने से) भिन्न अलङ्कार से युक्त किए जाते हैं, परन्तु वक्रता के वैचित्र्य से युक्तरूप से कथन ही इन दोनों (शब्द और अर्थ) का अलङ्कार होता है, उसी के शोभाधिक्य के जनक होने के कारण (अर्थात् वक्रतापूर्ण कथन ही इन शब्द और अर्थ दोनों में शोभाधिक्य को उत्पन्न करता है, अतः वही इनका एकमात्र अलङ्कार हुआ) इस बात का उदाहरण वक्रता की व्याख्या करते समय ही दिया जायगा।

ननु च किमिदं प्रसिद्धार्थविरुद्धं प्रतिज्ञायते यद्वक्रोक्तिरेवालंकारो नान्यः कश्चिदिति, यतश्चिरन्तनैरपरं स्वभावोक्तिलक्षणमलंकरणमाम्नातं तच्चातीव रमणीयमित्यसहमानस्तदेव निराकर्तुमाह—

(प्रश्न) आप प्रसिद्ध अर्थ के विरुद्ध इस प्रकार की प्रतिज्ञा क्यों कर रहे हैं कि केवल वक्रोक्ति ही (एकमात्र) अलंकार होता है, दूसरा कोई नहीं, क्योंकि प्राचीन (आलंकारिकों) ने दूसरा स्वभावोक्तिरूप अलंकार स्वीकार किया है और वह (स्वभावोक्ति अलङ्कार) होती भी अत्यन्त ही रमणीय है ? (अतः आप व्यर्थ प्रतिज्ञा न करें) इस कथन को न सहन करते हुए उसी (स्वभावोक्ति के अलङ्कारत्व-कथन) का निराकरण करते हुए कहते हैं—

अलंकारकृतां येषां स्वभावोक्तिरलंकृतिः ।
अलंकार्यतया तेषां किमन्यदवतिष्ठते ॥ ११ ॥

जिन (दण्डी आदि) अलङ्कार (ग्रन्थ) की रचना करने वालों के लिए स्वभावोक्ति (स्वभाव का कथन भी) अलंकार है उनके लिए (फिर) अलंकार्यरूप से कौन सी दूसरी वस्तु शेष रह जाती है। क्योंकि स्वभाव का कथन ही तो अलंकार्य होता है) ॥ ११ ॥

येषामलंकारकृतामलंकारकाराणां स्वभावोक्तिरलंकृतिः, या स्वभावस्य पदार्थधर्मलक्षणस्य परिस्पन्दस्य उक्तिरभिधा सैवालंकृतिरलंकरणमिति प्रतिभाति, ते सुकुमारमानसत्वाद् विवेकक्लेशद्वेषिणः। यस्मात् स्वभावोक्तिरिति कोऽर्थः ? स्वभाव एवोच्यमानः स इव यद्यलंकारस्तत्किमन्यत्तद्-व्यतिरिक्तं काव्यशरीरकल्पं वस्तु विद्यते यत्तेषामलंकार्यतया विभूष्यत्वेनावतिष्ठते पृथगवस्थितिमासादयति, न किंचिदित्यर्थः।

जिन अलंकारकृतों अर्थात् अलंकार (ग्रन्थ) की रचना करने वालों के लिए स्वभावोक्ति अलंकार है; अर्थात् जो स्वभाव की अर्थात् पदार्थ के धर्मरूप स्वभाव की उक्ति अर्थात् कथन है वही (जिनको) अलंकृति अर्थात् अलंकार प्रतीत होता है वे सुकुमार बुद्धि होने के कारण विवेक के कष्ट से द्वेष करने वाले हैं (तात्पर्य यह कि वे निर्बुद्धि हैं उनमें विवेक करने की शक्ति का अभाव है)। क्योंकि स्वभावोक्ति का क्या अर्थ होता है ? कहा जाने वाला स्वभाव ही तो (स्वभावोक्ति होती है) और यदि वही अलंकार

है तो उससे भिन्न काव्यशरीर के तुल्य और कौन सी वस्तु विद्यमान है जो उन (सुकुमारबुद्धि, स्वभावोक्ति को अलङ्कार मानने वाले आलंकारिकों) के लिए अलंकार रूप से अर्थात् भूषित किये जाने योग्य विद्यमान अर्थात् (स्वभावोक्ति से) भिन्न स्थिति को प्राप्त करती है, अर्थात् कोई भी ऐसी (वस्तु) नहीं (बचती जो अलंकार्य बन सके)।

ननु च पूर्वमवस्थापितम्—यद्वाक्यस्यैवाविभागस्य सालङ्कारस्य काव्यत्वमिति (१।६) तत्किमर्थमेतदभिधीयते ? सत्यम्, किन्तु तत्रासत्यभूतोऽप्यपोद्धारबुद्धिविहितो विभागः कर्तुं शक्यते वर्णपदन्यायेन वाक्यपदन्यायेन चेत्युक्तमेव। एतदेव प्रकारान्तरेण विकल्पयितुमाह—

(इस पर स्वाभावोक्ति अलंकारवादी प्रश्न करता है कि) पहले आपने ही (१।६ कारिका में यह सिद्धान्त) स्थापित किया है कि (अलंकार और अलंकार्य के) विभाग से हीन अलंकारयुक्त वाक्य ही काव्य होता है, तो अब आप ऐसा क्यों नहीं कह रहे हैं कि (जब स्वभावोक्ति अलंकार है तो अलंकार्य क्या होगा ? क्योंकि अलंकार और अलंकार्य में तो कोई भेद ही नहीं होता। इस बात का उत्तर देते हैं कि) ठीक है (कि अलंकार और अलंकार्य का विभाग नहीं होता) किन्तु वहाँ असत्यभूत भी अलंकार्य और अलंकार का विभाग वर्णपदन्याय अथवा वाक्यपदन्याय से अपोद्धार बुद्धि द्वारा किया जा सकता है जैसा कि (मैंने १।६ कारिका की वृत्ति में) कहा ही है। इसी बात को दूसरे ढंग से स्थापित करने के लिए कहते हैं—

स्वभावव्यतिरेकेण वक्तुमेव न युज्यते।
वस्तु तद्रहितं यस्मान्निरुपाख्यं प्रसज्यते ॥ १२ ॥

स्वभाव के बिना कोई वस्तु कही ही नहीं जा सकती, क्योंकि उस (स्वभाव) से रहित वस्तु अभिधान के योग्य ही नहीं होती (निरुपाख्य हो जाती है) ॥ १२ ॥

स्वभावव्यतिरेकेण स्वपरिस्पन्दं विना निःस्वभावं वक्तुमभिधातुमेव न युज्यते न शक्यते। वस्तु वाच्यलक्षणम्। कुतः—तद्रहितं तेन स्वभावेन रहितं वर्जितं यस्मान्निरुपाख्यं प्रसज्यते। उपाख्याया निष्क्रान्तं निरुपाख्यम्। उपाख्या शब्दः, तस्यागोचरभूतमभिधाना-

योग्यमेव सम्पद्यते। यस्मात् स्वभावशब्दस्येदृशी व्युत्पत्तिः—भवतोऽस्मादभिधानप्रत्ययाविति भावः, स्वस्यात्मनो भावः स्वभावः। तेन वर्जितमसत्कल्पं वस्तु शशविषाणप्रायं शब्दज्ञानागोचरतां प्रतिपद्यते। स्वभावयुक्तमेव सर्वथाभिधेयपदवीमवतरतीति शाकटिवाक्यानामपि सालङ्कारता प्राप्नोति, स्वभावोक्तियुक्तत्वेन। एतदेव युक्त्यन्तरेण विकल्पयति—

स्वभाव के बिना अर्थात् अपने अपने धर्म (परिस्पन्द) के बिना निःस्वभाव (वस्तु) कहने अर्थात् अभिधान करने के योग्य नहीं होती अर्थात् (कही ही) नहीं जा सकती। वस्तु (जो) वाच्य (कही जाने वाली) रूप है। क्यों नहीं (कही जा सकती) ? क्योंकि उससे रहित अर्थात् उस स्वभाव से रहित अर्थात् वर्जित (वस्तु) निरुपाख्य हो जाती है। उपाख्या से (जो) निष्क्रान्त (है वह हुआ) निरुपाख्य। (अर्थात्) उपाख्या (का अर्थ है) शब्द, उसके द्वारा अगोचर हो जाती है अर्थात् अभिधान करने योग्य ही नहीं रह जाती। क्योंकि स्वभाव शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है— इससे अभिधान (कथन) और प्रत्यय (ज्ञान) होते हैं अतः यह भाव हुआ, और स्व का अर्थात् अपना भाव स्वभाव हुआ। तात्पर्य यह कि जिसके द्वारा अपने (स्वरूप) का कथन और ज्ञान होता है वह स्वभाव होता है।) अतः वह (स्वभाव) ही जिस किसी पदार्थ की प्रख्या अर्थात् ज्ञान और उपाख्या अर्थात् कथनरूपता में लाने का कारण होता है, उस (स्वभाव) से रहित वस्तु खरगोश की सींगों के सदृश (जिनकी सत्ता ही) नहीं होती) असत्कल्प होकर शब्द और ज्ञान से अगोचर हो जाती है। (अर्थात् स्वभावहीन वस्तु का न तो ज्ञान ही हो सकता है और न उसे शब्दों द्वारा ही कहा जा सकता है। और) क्योंकि स्वभाव से युक्त ही (वस्तु) सब प्रकार से कथन के योग्य होती है। (या कही जाती है) अतः (आप स्वभावोक्ति अलंकारवादी के मतानुसार) गाड़ी हाँकने वाले (शाकटिक) के वाक्य भी अलंकारयुक्त होने लगेंगे (क्योंकि वे भी) स्वभाव के कथन (स्वभावोक्ति अलंकार) से युक्त होते ही हैं और इस प्रकार वे भी काव्य कहलाने के अधिकारी हो जायेंगे क्योंकि सालंकार वाक्य ही काव्य होता है, और किसी भी वस्तु का कथन विना स्वभावकथन के किया ही नहीं जा सकता, अतः शाकटिक के वाक्य भी स्वभावोक्ति (जिसे आप अलंकार मानते हैं उस) से युक्त होकर सालंकार वाक्य हो जायंगे (और

काव्य कहलाने लगेंगे जो कि आपको भी इष्ट नहीं है) इसी बात को दूसरे ढंग से स्थापित करते हैं—

शरीरं चेदलङ्कारः किमलङ्कुरुतेऽपरम् ।
आत्मैव नात्मनः स्कन्धं क्वचिदप्यधिरोहति ॥ १३ ॥

(किसी वस्तु का वर्ण्यमान स्वभावरूप) शरीर ही यदि अलंकार है (तो वह अपने से भिन्न) किस दूसरे (अलंकार्य को अलंकृत करता है। (अर्थात् स्वभाव का कथन ही तो शरीर होता है और यदि वही अलंकार हो गया तो दूसरे किसे वह अलंकृत करेगा क्योंकि) कहीं भी शरीर ही शरीर के कन्धों पर नहीं चढ़ता है (अर्थात् शरीर का स्वयं अपने कन्धे पर चढ़ सकना सर्वथा दुर्लभ है) ॥ १३ ॥

यस्य कस्यचिद्वर्ण्यमानस्य वस्तुनो वर्णनीयत्वेन स्वभाव एव वर्ण्यशरीरम्। स एव चेदलङ्कारो यदि विभूषणं तत्किमपरं तद्व्यतिरिक्तं विद्यते यदलङ्कुरुते विभूषयति। स्वात्मानमेवालङ्करोतीति चेत्तदयुक्तम् अनुपपत्तेः। यस्मादात्मैव नात्मनः स्कन्धं क्वचिदप्यधिरोहति, शरीरमेव शरीरस्य न कुत्रचिदप्यंसमधिरोहतीत्यर्थः, स्वात्मनि क्रियाविरोधात्। अन्यच्चाभ्युपगम्यापि ब्रूमः—

जिस किसी भी वर्ण्यमान वस्तु का स्वभाव ही वर्णन के योग्य होने के कारण वर्ण्य शरीर होता है। और यदि वह (स्वभाव) ही अलंकार अर्थात् विभूषण है तो उससे भिन्न दूसरा क्या (शेष) रहता है जिसे (वह) अलंकृत अर्थात् विभूषित करता है। (और यदि यह कहो कि स्वभावोक्ति) अपने आप को ही अलंकृत करता है—तो यह ठीक नहीं—(इस बात के) युक्तिसङ्गत नहीं होने से। क्योंकि अपने आप ही अपने कंधे पर नहीं चढ़ा जाता अर्थात् शरीर ही शरीर के कंधे पर कभी नहीं चढ़ता अपने आप में क्रियाविरोध होने के कारण। और फिर 'तुष्यतु दुर्जन' न्याय से आपकी बात को कि 'स्वभावोक्ति अलङ्कार होता है') स्वीकार कर (हम आपसे) पुछते हैं कि—

भूषणत्वे स्वभावस्य विहिते भूषणान्तरे ।
भेदावबोधः प्रकटस्तयोरप्रकटोऽथवा ॥ १४ ॥

स्वभाव (स्वभावोक्ति) को अलंकार मान लेने पर (काव्य में) दूसरे

(उपमा-रूपकादि) अलङ्कारों की रचना करने पर उन स्वभावोक्ति तथा अन्य अलङ्कार) दोनों का भेद-ज्ञान स्पष्ट रहेगा अथवा अस्पष्ट रहेगा ॥१४॥

स्पष्टे सर्वत्र संसृष्टिरस्पष्टे सङ्करस्ततः ।
अलङ्कारान्तराणां च विषयो नावशिष्यते ॥ १५ ॥

(यदि दोनों का भेद) स्पष्ट रहेगा तो सर्वत्र (दोनों के तिलतण्डुलवत् स्थित रहने से) संसृष्टि (अलङ्कार होगा) और (यदि दोनों का भेद) अस्पष्ट रहेगा तो (नीरक्षीरवत् स्थित रहने से सर्वत्र सन्देह, एकाश्रयानुप्रवेश अथवा अङ्गाङ्गिभाव रूप तीन प्रकार का) सङ्कर (अलंकार रहेगा । इस प्रकार सर्वत्र बस केवल इन्हीं संसृष्टि और संकर दो अलंकारों की ही स्थिति रहेगी, अतः) अन्य (शुद्ध) अलंकारों का विषय ही नहीं अवशिष्ट रहेगा । (क्योंकि उनकी स्वभावोक्ति अलंकार के साथ संकर अथवा संसृष्टि अवश्य हो जायगी ॥ १५ ॥

भूषणत्वे स्वभावस्यालंकारत्वे स्वपरिस्पन्दस्य यदा भूषणान्तरमलंकारान्तरं विधीयते तदा विहिते कृते, तस्मिन् सति, द्वयी गतिः संभवति । कासौ—तयोः स्वभावोक्त्यलंकारान्तरयोः भेदावबोधो भिन्नत्वप्रतिभासः प्रकटः सुस्पष्टः कदाचिदप्रकटश्चापरिस्फुटो वेति । तदा स्पष्टे प्रकटे तस्मिन् सर्वत्र सर्वस्मिन् कविवाक्ये संसृष्टिरेवैकालंकृतिः प्राप्नोति । अस्पष्टे तस्मिन्नप्रकटे सर्वत्रैवैकः संकरोऽलंकारः प्राप्नोति । ततः को दोषः स्यादित्याह—अलंकारान्तराणां च विषयो नावशिष्यते । अन्येषामलंकाराणामुपमादीनां विषयो गोचरो न कश्चिदप्यवशिष्यते, निर्विषयत्वमेवायातीत्यर्थः । ततस्तेषां लक्षणकरणवैयर्थ्यप्रसङ्गः । यदि वा तावेव संसृष्टिसंकरौ तेषां विषयत्वेन कल्प्येते तदपि न किंचित्, तैरेवालंकारकारैस्तस्यार्थस्यानङ्गीकृतत्वात् । इत्यनेनाकाशचर्वणप्रतिमेनालमलीकनिबन्धनेन । प्रकृतमनुसरामः । सर्वथा यस्य कस्यचित् पदार्थजातस्य कविव्यापारविषयत्वेन वर्णनापदवीमवतरतः स्वभाव एव सहृदयाह्लादकारी काव्यशरीरत्वेन वर्णनीयतां प्रतिपद्यते । स एव च यथायोगं शोभातिशयकारिणा येन केनचिदलंकारेण योजयितव्यः । तदिदमुक्तम्—'अर्थः सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दरः' (१।६) इति । 'उभावेतालंकार्यौ' (१।१०) इतिं च ।

स्वभाव के भूषण होने पर अर्थात् अपने ही स्वरूप के (अथवा धर्म के) अलंकार हो जाने पर जब भूषणान्तर अर्थात् दूसरे अलंकार का विधान किया जायगा तब (वैसा) विहित अर्थात् किए जाने पर, उस (दूसरे अलंकार) के होने पर दो ही प्रकार की स्थिति सम्भव है। कौन सी वह (दो प्रकार की स्थिति है) ? उन दोनों अर्थात् स्वभावोक्ति और दूसरे अलंकार का भेदावबोध अर्थात् भिन्नता की प्रतीति कभी प्रकट अर्थात् सुस्पष्ट और कभी अप्रकट अर्थात् अस्पष्ट होगी। तब स्पष्ट अर्थात् उस (स्वभावोक्ति एवं दूसरे अलंकार के भेद) के (अलग २) प्रकट होने पर सर्वत्र सभी कवियों (द्वारा विरचित) वाक्यों में (अर्थात् काव्य में) संसृष्टि (रूप) एक ही अलंकार प्राप्त होगा। (और) उस (भेद) के अस्पष्ट अर्थात् साफ-साफ जाहिर न होने पर सर्वत्र (काव्य में) संकर (सन्देह, अङ्गाङ्गिभाव अथवा एकाश्रयानुप्रवेश रूप) एक ही अलंकार प्राप्त होने लगेगा। (यदि स्वभावोक्तिवादी कहे कि ठीक है ये ही दो अलंकार हो) तो क्या दोष होगा ? अतः बताते हैं (कि दोष यह होगा) कि अन्य अलंकारों का विषय ही समाप्त हो जायेगा। अन्य अलंकार अर्थात् उपमा आदि का विषय अर्थात् प्राप्ति का स्थल ही कहीं भी नहीं बचेगा अर्थात् (उपमादि) निर्विषयता को प्राप्त हो जायेंगे। और इस प्रकार फिर उनका लक्षण करना ही निष्प्रयोजन (व्यर्थ) होने लगेगा। अथवा यदि वे दोनों संसृष्टि और संकर (अलंकार) ही उन (उपमादि) के विषय रूप से कल्पित कर लिए जांय, तो भी कोई प्रयोजन सिद्ध न होगा, क्योंकि उन्हीं (स्वभावोक्ति अलङ्कारवादी) आलङ्कारिकों द्वारा वह अर्थ अस्वीकार किया गया है। अतः इस आकाशचर्वण के सदृश व्यर्थ चर्चा को हम समाप्त करते हैं। अवसरप्राप्त (प्रकृत) बात का अनुसरण करें। (इस प्रकार निश्चित हुआ कि) कवि के व्यापार का विषय बनकर वर्णित होते हुए जिस किसी भी पदार्थ का सहृदयों के हृदयों को आनन्दित करनेवाला स्वभाव ही सब प्रकार से काव्य के शरीर रूप से वर्णन का विषय बनता है। (और) वही (काव्य शरीर रूप स्वभाव ही) यथोचित ढंग से जिस किसी भी शोभाधिक्य को उत्पन्न करनेवाले अलङ्कार से युक्त किया जाना चाहिए। इसी बात को हमने 'अर्थः सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दरः' (१।९ तथा 'उभावेतावलङ्कार्यौ' (१।१०) इन दो पिछली कारिकाओं में प्रतिपादित किया है।

एवं शब्दार्थयोः परमार्थमभिधाय 'शब्दार्थौ' इति (१।७) काव्य-

लक्षणवाक्ये पदमेकं व्याख्यातम् । इदानीं 'सहितौ' इति (१।७) व्याख्यातुं साहित्यमेतयोः पर्यालोच्यते—

इस प्रकार शब्द और अर्थ के (काव्य में अभिप्रेत) परमार्थ को बताकर (शब्दार्थौ सहितौ'''इत्यादि (१।७) काव्य का लक्षण करनेवाले वाक्य में (प्रयुक्त) 'शब्दार्थौ' इस एक पद का व्याख्यान किया गया। अब (उसी काव्यलक्षण वाक्य में प्रयुक्त) 'सहितौ' (१।७) इस पद की व्याख्या करने के लिए इन दोनों (शब्द और अर्थ) के साहित्य का परामर्श किया जाता है—

शब्दर्थौ सहितावेव प्रतीतौ स्फुरतः सदा ।
सहिताविति तावेव किमपूर्वं विधीयते ॥ १६ ॥

(अब साहित्य की व्याख्या करते समय पूर्वपक्षी प्रश्न करता है कि) शब्द और अर्थ (तो) सर्वदा अवियुक्त होकर ही (सहितौ) ज्ञान के विषय बनते हैं (अतः आप अपने काव्यलक्षण में) वे दोनों (शब्द और अर्थ) ही अवियुक्त (होकर काव्य) होते हैं, इस प्रकार किस अपूर्व बात का विधान कर रहे हैं। (अतः आपका प्रयास निरर्थक है) ॥ १६ ॥

शब्दार्थावभिधानाभिधेयौ सहिताववियुक्तावेव सदा सर्वकालं प्रतीतौ स्फुरतः ज्ञाने प्रतिभासेते। ततस्तावेव सहिताववियुक्ताविति किमपूर्वं विधीयते न किञ्चिदपूर्वं निष्पाद्यते, सिद्धं साध्यत इत्यर्थः। तदेवं शब्दार्थयोर्निसर्गसिद्धं साहित्यम्। कः सचेताः पुनस्तदभिधानेन निष्प्रयोजनमात्मानमायासयति ? सत्यमेतत्, किन्तु न वाच्यवाचकलक्षणशाश्वतसंबन्धनिबन्धनं वस्तुतः साहित्यमित्युच्यते । यस्मादेतस्मिन् साहित्यशब्देनाभिधीयमाने कष्टकल्पनोपरचितानि गाड्कुटादिवाक्यान्यसंबद्धानि शाकटिकादिवाक्यानि च सर्वाणि साहित्यशब्देनाभिधीयेरन् । तेन पदवाक्यप्रमाणव्यतिरिक्तं किमपि तत्त्वान्तरं साहित्यमिति विभागोऽपि न स्यात्।

शब्द और अर्थ अर्थात् अभिधान (वाचक) और अभिधेय (वाच्य) सदा अर्थात् सभी समय सहित अर्थात् अवियुक्त होकर ही (साथ-साथ) प्रतीति में स्फुरित होते हैं अर्थात् बुद्धि में प्रतिभासित होते हैं। तो फिर उन्हीं दोनों (शब्द और अर्थ) को (अपने काव्य-लक्षण में) सहित अर्थात्

अवियुक्त (प्रतिपादित कर) इस प्रकार किस अपूर्व (बात) का विधान कर रहे हैं अर्थात् किसी नई बात का प्रतिपादन नहीं कर रहे हैं, (अपितु) सिद्ध की ही साधना (पिष्टपेषण) कर रहे हैं। तो इस प्रकार शब्द और अर्थ का साहित्य (अवियुक्तता तो) स्वभावतः ही सिद्ध है। अतः कौन सहृदय पुनः (पूर्वप्रतिपादित) उस (साहित्य) का कथनकर अपने को निरर्थक ही कष्ट देना चाहेगा। (अतः आपका प्रयास व्यर्थ है) इसी बात का उत्तर देते हैं—यह बात सत्य है (कि शब्द और अर्थ अवियुक्त होते हैं) किन्तु (शब्द और अर्थ के) वाच्य-वाचक रूप नित्य सम्बन्ध का कारण (ही) वस्तुतः 'साहित्य' नहीं कहा जाता। क्योंकि इस (वाच्य वाचक के नित्य सम्बन्ध के कारण) के ही 'साहित्य' शब्द द्वारा कथन किये जाने पर कठिन कल्पना द्वारा विरचित गाङ्कुटादि वाक्य तथा (एक दूसरे से) असम्बद्ध गाड़ी आदि हाँकने वाले (मूर्खों) के वाक्य सभी साहित्य शब्द द्वारा कहे जाने लगेंगे। और इस प्रकार पद (शास्त्र व्याकरण) वाक्य (शास्त्र मीमांसा) एवं प्रमाण (शास्त्र न्याय) से भिन्न कोई दूसरा तत्त्व साहित्य (शास्त्र) होता है इस प्रकार का विभाजन भी सम्भव नहीं होगा। (क्योंकि तब तो सभी साहित्य ही हो जायेंगे)।

ननु च पदादिव्यतिरिक्तं यत्किमपि साहित्यं नाम तदपि सुप्रसिद्धमेव, पुनस्तदभिधानेऽपि कथं न पौनरुक्त्यप्रसङ्गः ? अतएवं तदुच्यते—यदिदं साहित्यं नाम तदेतावति निःसीमनि समयाध्वनि साहित्यशब्दमात्रेणैव प्रसिद्धम्। न पुनरेतस्य कविकर्मकौशलकाष्ठाधिरूढिरमणीयस्याद्यापि' कश्चिदपि विपश्चिदयमस्य परमार्थ इति मनाङ्मात्रमपि विचारपदवीमवतीर्णः। तदद्य सरस्वतीहृदयारविन्दमकरन्दबिन्दुसन्दोहसुन्दराणां सत्कविवचसामन्तरामोदमनोहरत्वेन परिस्फुरदेतत् सहृदयषट्चरणगोचरतां नीयते।

(इस पर पूर्वपक्षी फिर प्रश्न करता है कि) पदादि (अर्थात् व्याकरणादि शास्त्रों) से भिन्न जो कुछ भी साहित्य (कहा जाता) है वह भी भलीभाँति प्रसिद्ध है। अतः फिर से उसीका कथन करने पर भी पुनरुक्ति क्यों नहीं होगी (अर्थात् उसका कथन पिष्टपेषण ही होगा ?) इसीलिए (इस बात का उत्तर) यह आगे कहते हैं जो यह साहित्य है (जिसका हम विवेचन करने जा रहे हैं), अभी तक (हमारे विवेचन से पूर्व) अनन्त काल से चली आती हुई पद्धति में केवल 'साहित्य' शब्द (नाम) से ही प्रसिद्ध था (अर्थात् हमसे पूर्व के सभी आचार्य इसे केवल 'साहित्य' 'साहित्य'

कहा ही करते थे लेकिन काव्य की कुशलता की पराकाष्ठा को पहुँचने से मनोहर इस (साहित्य) का यह वास्तविक स्वरूप हैं इस प्रकार जरा सा भी विवेचन किसी भी विद्वान् ने आज भी (अभी तक) नहीं किया है। इसलिए अब (मैं आचार्य कुन्तक) सरस्वती (देवी) के हृदयरूपी कमल के पुष्परस (मकरन्द) के कणों के समूह के समान सुन्दर श्रेष्ठ कवियों की वाणी का यह आन्तरिक रञ्जकता से मनोहर रूप में परिस्फुरित होता हुआ (साहित्य तत्त्व) सहृदयरूपी भ्रमरों के दृष्टिपथ में लाया जा रहा है। (अर्थात् उस साहित्य का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है)

साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः ॥ १७ ॥

सौन्दर्य द्वारा प्रशंसा को प्राप्त करने के लिए, इन दोनों (शब्द और अर्थ) की अपकर्ष और उत्कर्ष से रहित (समान रूप से विद्यमान, परस्पर स्पर्धा के कारण) रमणीय यह कोई (अलौकिक ही) अवस्थिति 'साहित्य' (कही जाती) है ॥ १७ ॥

सहितयोर्भावः साहित्यम्। अनयो शब्दार्थयोर्या काप्यलौकिकी चेतनचमत्कारकारितायाः कारणम् अवस्थितिर्विचित्रैव विन्यास-भङ्गी। कीदृशी—अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिणी, परस्परस्पर्धित्व-रमणीया। यस्यां द्वयोरेकतरस्यापि न्यूनत्वं निकर्षो न विद्यते नाप्य-तिरिक्तत्वमुत्कर्षो वास्तीत्यर्थः।

सहित (शब्द और अर्थ) का भाव साहित्य होता है। इन दोनों शब्द और अर्थ की सहृदयों को आनन्दित करने की कारणस्वरूपा जो कोई अलौकिक अवस्थिति अर्थात् विचित्र प्रकार की ही विन्यास-भङ्गिमा है। कैसी (विन्यासभङ्गिमा) ? (जो) न्यूनता और आधिक्य के अभाव के कारण चित्ताकर्षक अर्थात् परस्पर (आपस में) विद्यमान प्रतिस्पर्धा के कारण सुन्दर है। जिसमें (शब्द और अर्थ) दो में से एक की भी न्यूनता अर्थात् हीनता नहीं है और न अतिरिक्तता अर्थात् आधिक्य (उत्कर्ष ही है (इस प्रकार की स्थिति ही 'साहित्य' होती है)।

ननु च तथाविधं साम्यं द्वयोरुपहतयोरपि सम्भवतीत्याह—शोभाशालितां प्रति। शोभा सौन्दर्यमुच्यते। तया शालते श्लाघते यः स शोभाशाली, तस्य भावः शोभाशालिता, तां प्रति सौन्दर्यश्लाघितां

प्रतीत्यर्थः। सैव च सहृदयाह्लादकारिता। तस्यां स्पर्धित्वेन यासावव-स्थितिः परस्परसाम्यसुभगमवस्थानं सा साहित्यमुच्यते। तत्र वाच-कस्य वाचकान्तरेण वाच्यस्य वाच्यान्तरेण साहित्यमभिप्रेतम्, वाक्ये काव्यलक्षणस्य परिसमाप्तत्वादिति प्रतिपादितमेव (१।७)।

(इस पर पूर्वपक्षी प्रश्न करता है कि श्रीमान् जी) उस प्रकार का (न्यूनता और आधिक्य से रहित) साम्य तो दोनों निकृष्ट (शब्द और अर्थ) में भी तो सम्भव हो सकता हैं (अतः क्या आप उसे भी साहित्य स्वीकार करने को तैयार हैं तो इस बात का उत्तर देने के लिए) इस प्रकार कहते हैं कि (नहीं श्रीमान् जी मुझे ऐसा साहित्य नहीं अभिप्रेत है अपितु जो) शोभाशालिता के लिए हो। शोभा सौन्दर्य को कहा जाता है। उस (सुन्दरता) से जो शोभित अर्थात् प्रशंसनीय होता है वह शोभाशाली (कहा जाता) है, उसका भाव शोभाशालिता हुआ उसके प्रति अर्थात् सौन्दर्य द्वारा प्रशंसा-प्राप्ति के लिए यह अर्थ हुआ। और इसी को सहृदयों के हृदयों को आनन्दित करने की योग्यता कहा जाता है। उस (शोभाशालिता) के प्रति (परस्पर) स्पर्धायुक्त जो यह अवस्थिति अर्थात् परस्पर (न्यूनाधिक्य से रहित साम्य के कारण रमणीय (शब्द तथा अर्थ दोनों की (स्थिति है वह 'साहित्य' कही जाती है। उसमें शब्द का अन्य शब्दों के साथ, अर्थ का अन्य अर्थों के साथ (परस्पर स्थायित्वरूप) साहित्य अभीष्ट है, काव्यलक्षण के वाक्य में परिसमाप्त होने से, ऐसा पहले ही १।७ में प्रतिपादित किया जा चुका है। (अर्थात् अनेक शब्दों एवं अनेक अर्थों का समुदायरूप वाक्य ही काव्य होता है अतः वाक्य में स्थित सभी शब्दों एवं सभी अर्थों का परस्पर एक दूसरे शब्द एवं अर्थ से स्पर्धा रूप साहित्य ही अभीष्ट है एक ही शब्द अथवा एक ही अर्थ का नहीं)

ननु च वाचकस्य वाच्यान्तरेण वाच्यस्य वाचकान्तरेण कथं न साहित्यमिति चेत्तन्न, क्रमव्युत्क्रमे प्रयोजनाभावादसमन्वयाच्च। तस्मादेतयोः शब्दार्थयोर्यथास्वं यस्यां स्वसम्पत्सामग्रीसमुदायः स-हृदयाह्लादकारी परस्परस्पर्धया परिस्फुरति, सा काचिदेव विन्यास-सम्पत् साहित्यव्यपदेशभाग् भवति।

(इस पर पूर्वपक्षी प्रश्न करता है कि महोदय आप शब्द का ही शब्द के ही साथ तथा अर्थ का अर्थ के ही साथ साहित्य क्यों स्वीकार करते हैं) शब्द का

दूसरे अर्थ के साथ तथा अर्थ का दूसरे शब्द के साथ साहित्य क्यों नहीं स्वीकार करते ? तो इसका उत्तर देते हैं कि—यह बात ठीक नहीं (क्योंकि जैसा हमने शब्द का शब्द के साथ तथा अर्थ का अर्थ के साथ साहित्य का) क्रम (बताया है उस) के (इस प्रकार के शब्द का अर्थ के साथ और अर्थ का शब्द के साथ साहित्य हो ऐसे) परिवर्तन में किसी भी प्रयोजन का अभाव होने से तथा (इस विपरीत क्रम के कथन की) सम्यक् सङ्गति न होने से (ऐसा क्रम-परिवर्तन ठीक नहीं)। अतः इन शब्द और अर्थ दोनों का यथानुरूप सहृदयों के हृदयों को आह्लादित करने वाला अपनी शोभा की सामग्री-समूह जिसमें परस्पर (न्यूनाधिक्य से रहित) स्पर्धा द्वारा परिस्फुरित होता है वह कोई अलौकिक ही वाक्य-विन्यास की सम्पत्ति साहित्य कहलाने की भागी होती है।

मार्गानुगुण्यसुभगो माधुर्यादिगुणोदयः।
अलङ्करणविन्यासो वक्रतातिशयान्वितः॥ ३४ ॥

(जहाँ सुकुमारादि काव्य के) मार्गों के अनुरूप होने के कारण रमणीय, माधुर्य (प्रसाद) आदि (काव्य मार्ग) के गुणों से अन्वित, (वर्ण्यमान ६ प्रकार की) वक्रताओं के अतिशय से संयुक्त, अलङ्कारों का विशेष ढंग से (चमत्कारपूर्ण) रचना (की जाती है) ॥ ३४ ॥

वृत्त्यौचित्यमनोहारि रसानां परिपोषणम्।
स्पर्धया विद्यते यत्र यथास्वमुभयोरपि॥ ३५ ॥

(और) जहाँ (शब्द और अर्थ) दोनों की यथोचित (न्यूनाधिक्य से रहित) स्पर्धा के कारण (कैशिकी, भारती आदि) वृत्तियों के औचित्य से रमणीय (चित्ताकर्षक, शृङ्गारादि) रसों का सम्यक् पोषण, विद्यमान रहता है ॥ ३५ ॥

सा काप्यवस्थितिस्तद्विदानन्दस्पन्दसुन्दरा।
पदादिवाक्परिस्पन्दसारः साहित्यमुच्यते॥ ३६ ॥

(ऐसी,) काव्यतत्त्वज्ञ (सहृदयों) को आनन्दित करनेवाले (अपने) स्वभाव से रमणीय वह कोई (अलौकिक शब्द और अर्थ की परस्पर साम्य से सुन्दर) स्थिति, पद (वाक्य, प्रमाण) आदि वाणी के विलासों का सारभूत (तत्त्व) 'साहित्य' कहलाता है ॥ ३६ ॥

एतेषां च पदवाक्यप्रमाणसाहित्यानां चतुर्णामपि प्रतिवाक्यमुपयोगः। तथा चैतत्पदमेवंस्वरूपं गकारौकारविसर्जनीयात्मकमेतस्य चार्थस्य प्रातिपदिकार्थपञ्चकलक्षणस्याख्यातपदार्थषट्कलक्षणस्य वाचकमिति पदसंस्कारलक्षणस्य व्यापारः। पदानां च परस्परान्वयलक्षणसंबन्धनिबन्धनमेतद्वाक्यार्थतात्पर्यमिति वाक्यविचारलक्षणस्योपयोगः। प्रमाणेन प्रत्यक्षादिनैतदुपपन्नमिति युक्तियुक्तत्वं नाम प्रमाणलक्षणस्य प्रयोजनम्। इदमेव परिस्पन्दमाहात्म्यात्सहृदयहृदयहारितां प्रतिपन्नमिति साहित्यस्योपयुज्यमानता। एतेषां यद्यपि प्रत्येकं स्वविषये प्राधान्यमन्येषां गुणीभावस्तथापि सकलवाक्परिस्पन्दजीवितायमानस्यास्य साहित्यलक्षणस्यैव कविव्यापारस्य वस्तुतः सर्वत्रातिशयित्वम्। यस्मादेतदमुख्यतयापि यत्र वाक्यसन्दर्भान्तरे स्वपरिमलमात्रेणैव संस्कारमारभते तस्यैतदधिवासशून्यतामात्रेणैव रामणीयकविरहः पर्यवस्यति। तस्मादुपादेयतायाः परिहाणिरुत्पद्यते। तथा च स्वप्रवृत्तिवैयर्थ्यप्रसङ्गः। शास्त्रातिरिक्तप्रयोजनत्वं शास्त्राभिधेयचतुर्वर्गाधिकफलत्वं चास्य पूर्वमेव प्रतिपादितम् (१।३,५)।

और इन पद (शास्त्र व्याकरण), वाक्य (शास्त्र मीमांसा), प्रमाण (शास्त्र न्याय) एवं साहित्य (शास्त्र) चारों का प्रत्येक वाक्य में उपयोग होता है। उदाहरणार्थ गकार औकार और विसर्ग से युक्त (गौः) इस स्वरूप का यह पद प्रातिपदिकार्थपञ्चक (१. प्रातिपदिकार्थ २. लिंग ३. परिमाण ४. वचन और ५. कारक) रूप (अथवा) आख्यातपदार्थषट्क (१. कर्त्ता २. कर्म ३. काल ४. पुरुष ५. वचन और ६. भाव) रूप इस अर्थ का वाचक है यह पदसंस्कार का लक्षण करनेवाले (व्याकरण शास्त्र) का व्यापार है। और 'पदों के परस्पर अन्वय रूप सम्बन्ध का कारणभूत वाक्यार्थ का यह तात्पर्य है' यह वाक्य-विचार का निरूपण करनेवाले (मीमांसा शास्त्र) का उपयोग होता है। तथा प्रत्यक्ष (अनुमान) आदि प्रमाणों के द्वारा (इस पद अथवा वाक्य का) या (अर्थ) समीचीन है इस प्रकार युक्तियुक्तता (सङ्गति का प्रतिपादन करना) प्रमाणों का विवेचन करनेवाले (न्याय शास्त्र) का प्रयोजन है। और यही (वाक्य कवि के) व्यापार (परिस्पन्द) के माहात्म्य से सहृदयों के हृदयों को मनोहर प्रतीत होता है यही साहित्य (शास्त्र) का उपयोग है। यद्यपि इन (व्याकरण, मीमांसा, न्याय एवं साहित्य) सभी (शास्त्रों) में प्रत्येक (शास्त्र) की अपने-अपने विषय में प्रधानता तथा (उस विषय में) अन्य

(शास्त्रों) की गौणता है फिर भी समस्त वाग्विलास का प्राणभूत यह साहित्य स्वरूप कवि का व्यापार ही वस्तुतः सर्वत्र सर्वातिशायी (सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। क्योंकि यह जहाँ अन्य (व्याकरणादि के) वाक्य-सन्दर्भों में गौण रूप से स्थित रहकर भी अपनी गन्धमात्र (परिमल मात्र) से ही संस्कार प्रारम्भ कर देता है उस (वाक्य-सन्दर्भ) में इसकी केवल थोड़ी सी संस्कार में कमी आने से ही सुन्दरता का अभाव हो जाता है जिससे उस वाक्य-सन्दर्भ की उपादेयता की बहुत हानि होती है और इस प्रकार उस वाक्य की प्रवृत्ति के व्यर्थ हो जाने का प्रसङ्ग आ जाता है (अर्थात् वह वाक्य-रचना शोभाहीन होकर वेकार हो जाती है। इससे सिद्ध हुआ कि व्याकरण-मीमांसा आदि अन्य शास्त्रों की अपेक्षा साहित्य शास्त्र सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।) तथा इस (साहित्य शास्त्र) का (अन्य) शास्त्रों से भिन्न प्रयोजनों से मुक्त होना, एवं (धर्मादि का प्रतिपादन करनेवाले) शास्त्रों के द्वारा सम्पादित होने वाले (धर्मादि) चतुर्वर्ग से अधिक फलों से युक्त होना, पहले ही (१।३,५) प्रतिपादित किया जा चुका है।

अपर्यालोचितेऽप्यर्थे बन्धसौन्दर्यसम्पदा।
गीतवद्धृदयाह्लादं तद्विदां विदधाति यत् ॥ ३७ ॥

अर्थ का पर्यालोचन किये बिना भी (अर्थात् बिना अर्थ को समझे हुए ही) वाक्य का विन्यास की सौन्दर्य रूप सम्पत्ति के द्वारा जो गीत के सदृश (तद्विद्) सहृदयों के हृदयों को आह्लादित कर देता है ॥ ३७ ॥

वाच्यावबोधनिष्पत्तौ पदवाक्यार्थवर्जितम्।
यत्किमप्यर्पयत्यन्तः पानकास्वादवत्सताम् ॥ ३८ ॥

(तथा) अर्थ ज्ञान के सम्पन्न हो जाने पर पद (के अर्थ अर्थात् संकेतित अर्थ) तथा वाक्यार्थ (तात्पर्यार्थ) से अतिरिक्त (व्यंग्यरूप रसादि के द्वारा गुड-मरिचादि से निष्पन्न) पानक (रस) के आस्वाद की तरह जो सहृदयों के हृदयों को किसी (अनिर्वचनीय रसास्वाद के आनन्द) को प्रदान करता है ॥ ३८ ॥

शरीरं जीवितेनेव स्फुरितेनेव जीवितम्।
विना निर्जीवतां येन वाक्यं याति विपश्चिताम् ॥ ३९ ॥

(तथा) जैसे प्राण के बिना शरीर तथा स्पन्द के बिना प्राण (निष्प्राण हो जाते हैं उसी प्रकार) जिस (तत्त्व) के बिना विद्वानों के वाक्क निष्प्राण (सहृदयाह्लादकारिता से हीन) हो जाते हैं ॥ ३९ ॥

यस्मात्किमपि सौभाग्यं तद्विदामेव गोचरम् ।
सरस्वती समभ्येति तदिदानीं विचार्यते ॥ ४० ॥

इत्यन्तरश्लोकाः ।

(एवं) जिस (तत्त्व) से केवल काव्यतत्त्व को जानने वाले (सहृदयों) द्वारा ज्ञातव्य किसी (अपूर्व अलौकिक) रमणीयता को सरस्वती (कविवाणी) प्राप्त हो जाती है, उस (कवि-व्यापार की वक्रता) का विवेचन अब हम प्रस्तुत करते हैं ।। ४० ।।

ये अन्तर श्लोक हैं ।

एवं सहिताविति व्याख्याय कविव्यापारवक्रत्वं व्याचष्टे—

कविव्यापारवक्रत्वप्रकाराः सम्भवन्ति षट् ।
प्रत्येकं बहवो भेदास्तेषां विच्छित्तिशोभिनः ॥ १८ ॥

इस प्रकार (काव्य-लक्षण वाक्य 'शब्दार्थौ सहितौ—' (१।७) में आये हुये 'सहितौ' इस पद की व्याख्या करके ग्रन्थकार कुन्तक अब) कवियों के व्यापार की वक्रता का व्याख्यान करने जा रहे हैं—

(काव्य-रचना रूप) कवियों के व्यापार के (मुख्य रूप से छः भेद सम्भव होते हैं । उन (छः प्रकारों) में से प्रत्येक (प्रकार) के (रचना के) वैचित्र्य की भङ्गिमा से सुशोभित होने वाले बहुत से भेद (हो सकते) हैं ।। १८ ।।

कवीनां व्यापारः कविव्यापारः काव्यक्रियालक्षणस्तस्य वक्रत्वं वक्रभावः प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकि वैचित्र्यं तस्य प्रकाराः प्रभेदाः षट् सम्भवन्ति । मुख्यतया तावन्त एवं सम्भवन्तीत्यर्थः । तेषां प्रत्येकं प्रकाराः बहवो भेदविशेषाः । कीदृशाः—विच्छित्तिशोभिनः वैचित्र्य-भङ्गीभ्राजिष्णवः । सम्भवन्तीति सम्बन्धः । तदेव दर्शयति—

कवियों का (काव्यकरणस्वरूप) व्यापार कविव्यापार (कहलाता) है । उसकी वक्रता अर्थात् (लोक अथवा शास्त्रादि में) प्रसिद्ध स्थान से भिन्न वैचित्र्य से युक्त वक्रभाव उसके छः प्रकार अर्थात् प्रभेद सम्भव होते हैं अर्थात् रूप से उतने (छः भेद) ही सम्भव होते हैं । उनमें से हर एक (भेद) के बहुत प्रकार अर्थात् भेद विशेष (सम्भव होते हैं) कैसे (भेद विशेष सम्भव) होते हैं विच्छित्ति से शोभित होने वाले अर्थात् विचित्रता से

युक्त (चमत्कार पूर्ण) भङ्गिमा से कान्तिमान (भेद विशेष) सम्भव होते हैं (इस क्रिया का वाक्य के साथ सम्बन्ध है)। उसी (कवि-व्यापार की वक्रता के प्रकारों) को दिखाते हैं—

वर्णविन्यासवक्रत्वं पदपूर्वार्धवक्रता ।
वक्रतायाः परोऽप्यस्ति प्रकारः प्रत्ययाश्रयः ॥ १९ ॥

(कविव्यापार वक्रता के) (१) वर्णविन्यास वक्रता (२) पदपूर्वार्द्ध वक्रता तथा वक्रता का अन्य भी प्रकार (३) प्रत्ययाश्रित वक्रता है ॥१९॥

वर्णानां विन्यासो वर्णविन्यासः अक्षराणां विशिष्टन्यसनं तस्य वक्रत्वं वक्रभावः प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकिणा वैचित्र्येणोपनिबद्धः संनिवेशविशेषविहितस्तद्विदाह्लादकारी शब्दशोभातिशयः। यथा—

वर्णों का विन्यास वर्णविन्यास होता है (अर्थात्) अक्षरों की विशेष ढंग से रचना (अक्षरों का विशेष क्रम से रखना ही वर्ण-विन्यास है। उसकी वक्रता अर्थात् (लोक एवं शास्त्रादि के प्रसिद्ध) प्रस्थान से भिन्न वैचित्र्य के द्वारा उपनिवद्ध वक्रभाव अर्थात् (वर्णों की) रचना विशेष के द्वारा उत्पन्न काव्यतत्त्वज्ञों का आनन्ददायक शब्द की शोभा का अतिशय (ही वर्ण-विन्यास वक्रता) होती है। जैसे निम्न श्लोक—

प्रथममरुणच्छायस्तावत्ततः कनकप्रभ-
स्तदनु विरहोत्ताम्यत्तन्वीकपोलतलद्युतिः।
प्रसरति ततो ध्वान्तक्षोदक्षमः क्षणदामुखे
सरसबिसिनीकन्दच्छेदच्छविर्मृगलाञ्छनः ॥ ४१ ॥

रात्रि के प्रारम्भ में पहले तो अरुण कान्ति वाला, फिर स्वर्ण (की आभा) के सदृश आभावाला, उसके बाद (प्रियतम के) वियोग से व्याकुल कृशाङ्गी के गण्डस्थल (की कांति) के सदृश कान्ति वाला फिर तदनन्तर सरस कमलिनी के अङ्कुरों के खण्ड (की कान्ति के सदृश कान्तिवाला (अत्यन्त धवल होकर) अन्धकार का विनाश करने में समर्थ चन्द्रमा उदित हो रहा है ॥ ४१ ॥

अत्र वर्णविन्यासवक्रतामात्रविहितः शब्दशोभातिशयः सुतरां समुन्मीलितः। एतदेव वर्णविन्यासवक्रत्वं चिरन्तनेष्वनुप्रास इति प्रसिद्धम्। अत्र च प्रभेदस्वरूपनिरूपणं लक्षणावसरे करिष्यते (२।१)।

यहाँ इस पद्य में केवल वर्णों के विशेष ढंग की रचना से उत्पन्न शब्द का शोभातिशय बड़े ही सुन्दर ढंग से (कवि ने) उन्मीलित किया है। यही वर्णविन्यास वक्रता प्राचीन आलङ्कारिकों (के ग्रन्थों) में 'अनुप्रास' नाम से प्रसिद्ध रही है। इसके भेद विशेषों के स्वरूप का निरूपण लक्षण करते समय (२।१ में) किया जायगा।

पदपूर्वार्धवक्रता—पदस्य सुबन्तस्य तिङन्तस्य वा यत्पूर्वार्धं प्रातिपदिकलक्षणं धातुलक्षणं वा तस्य वक्रता वक्रभावो विन्यास-वैचित्र्यम्। तत्र च बहवः प्रकाराः संभवन्ति।

(अब कविव्यापार वक्रता के दूसरे भेद का वर्णन करते हैं)—पदपूर्वार्द्ध वक्रता—सुबन्त अथवा तिङन्त पद का जो प्रातिपदिक रूप अथवा धातु रूप है उसकी वक्रता, वक्रभाव अर्थात् विशेष ढंग की रचना का वैचित्र्य (पदपूर्वार्द्ध वक्रता होती है)। उसके बहुत से भेद सम्भव होते हैं।

यत्र रूढिशब्दस्यैव प्रस्तावसमुचितत्वेन वाच्यप्रसिद्धधर्मान्तराध्यारोपगर्भत्वेन निबन्धः स पदपूर्वार्धवक्रतायाः प्रथमः प्रकारः। यथा—

रामोऽस्मि सर्वं सहे ॥ ४२ ॥

द्वितीयः—यत्र संज्ञाशब्दस्य वाच्यप्रसिद्धधर्मस्य लोकोत्तरातिशयाध्यारोपं गर्भीकृत्योपनिबन्धः। यथा—

जहाँ पर रूढि शब्द का ही, प्रकरण के अनुकूल वाच्य रूप से प्रसिद्ध (धर्म) से अतिरिक्त धर्म के अध्यारोप के आधार पर निबन्धन किया जाय वह पदपूर्वार्द्ध वक्रता का पहला भेद होता हैं जैसे (महानाटक के निम्न पद्य

स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाका घना
वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः।
कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे
वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि धीरा भव ॥

में प्रयुक्त) 'रामोऽस्मि सर्वं सहे' अर्थात् 'मैं राम हूँ सब कुछ सहन कर लूंगा' (इस वाक्य में प्रयुक्त राम शब्द में पदपूर्वार्द्ध वक्रता है। क्योंकि यहाँ पर प्रयुक्त राम शब्द अपने वाच्य रूप से प्रसिद्ध धर्म अर्थात् दशरथपुत्रत्व रूप से भिन्न अत्यधिक दुःखसहनशीलता रूप धर्म को आधार लेकर कवि द्वारा प्रयुक्त किया गया है। अतः यहाँ जो कवि-विरचित वाक्य में एक अपूर्व

चमत्कार आ गया है, वह इसी रूढिशब्द राम के प्रयोग से ही, जो कि सुबन्त पद का पूर्वार्द्ध है। अतः यह पदपूर्वार्द्धवक्रता का पहला भेद हुआ।)

(अब पदपूर्वार्द्धवक्रता का) दूसरा (भेद बताते हैं) जहाँ पर संज्ञा शब्द का (उसके) वाच्य रूप से प्रसिद्ध धर्म के अलौकिक अतिशय का आधार ग्रहण कर कवि द्वारा प्रयोग किया जाता है (वहाँ पदपूर्वार्द्ध-वक्रता का दूसरा भेद होता है), जैसे—

रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धिं परा-
मस्मद्भाग्यविपर्ययाद्यदि परं देवो न जानाति तम्।
वन्दीवैष यशांसि गायति मरुद्यस्यैकबाणाहति-
श्रेणीभूतविशालतालविवरोद्गीर्णैः स्वरैः सप्तभिः ॥ ४३ ॥

(यह पद्य काव्यप्रकाश आदि में उद्धृत हुआ है। उसके टीकाकार माणिक्यचन्द्र 'राघवानन्द' नामक अप्राप्य नाटक का पद्य बताकर इसे कुम्भकर्ण की उक्ति बताते हैं, जब कि 'चन्द्रिकाकार' इसे रावण के प्रति कही गई विभीषण की उक्ति बताते हैं। वस्तुतः यह उक्ति विभीषण की सी लगती है। नाटक के अप्राप्य होने से निश्चित कुछ नहीं कहा जा सकता। अतः इसे हम विभीषण की ही उक्ति के रूप में स्वीकार करेंगे। तो विभीषण रावण से कहता है कि) यह (खरदूषण एवं बालि आदि का वध करनेवाला तथा मारीच एवं सुबाहु को परास्त करनेवाला) राम (अपने) शूरता के गुणों द्वारा सभी लोकों में अत्यधिक प्रसिद्ध हो गया है। लेकिन यदि हम सभी के दुर्भाग्य से उस (प्रसिद्ध राम) को स्वामी नहीं जानते (तो क्या कहा जाय), जिसके कि यश का गान, यह वायु (भी) बन्दी के समान, एक (ही) बाण के प्रहार से (एक) पंक्ति में स्थित बड़े-बड़े (सात) ताड़ (के वृक्षों) के विवरों से निकले हुए सातों स्वरों द्वारा, कर रहा है॥ ४३ ॥

अत्र रामशब्दो लोकोत्तरशौर्यादिधर्मातिशयाध्यारोपपरत्वेनोपात्तो वक्रतां प्रथयति।

यहाँ (इस श्लोक में प्रयुक्त) 'राम' शब्द (जो कि एक संज्ञा शब्द है, वह राम के वाच्य रूप में प्रसिद्ध शौर्यादि धर्म की ही अलौकिकता का प्रतिपादन करनेवाले) अलौकिक शौर्यादि धर्म के अतिशय के अध्यारोप को आधार लेकर गृहीत हुआ वक्रता (अपूर्व चमत्कार) की सिद्धि करता है।

टिप्पणी—पदपूर्वार्द्धवक्रता के इन दोनों ही भदों के उदाहरणों में आचार्य कुन्तक ने 'राम' शब्द में ही वक्रता दिखाई है, पर उन दोनों में मौलिक भेद यही है कि पहले भेद में रूढिशब्द के वाच्य रूप से प्रसिद्ध धर्म से भिन्न धर्म के अतिशय के अध्यारोप को आधार मानकर रूढि शब्द का प्रयोग किया जाता हैं जब कि दूसरे भेद में संज्ञा शब्द के वाच्य रूप से प्रसिद्ध धर्म के ही अलौकिक अतिशय के अध्यारोप को आधार मान कर संज्ञा शब्द का प्रयोग किया जाता है।

पर्यायवक्रत्वं प्रकारान्तरं पदपूर्वार्धवक्रतायाः—यत्रानेकशब्दाभिधेयत्वे वस्तुनः किमपि पर्यायपदं प्रस्तुतानुगुणत्वेन प्रयुज्यते। यथा—

(आचार्य कुन्तक पदपूर्वार्द्धवक्रता के पूर्वोक्त दो भेदों की व्याख्या कर तीसरे भेद 'पर्यायवक्रता' को प्रस्तुत करते हैं कि) पदपूर्वार्द्धवक्रता का अन्य (तृतीय) भेद 'पर्यायवक्रता' है। जहाँ पर (किसी) वस्तु की (अन्य बहुत से शब्दों द्वारा अभिधेयता (सम्भव) होने पर (भी) किसी (अपूर्व रमणीयता युक्त दूसरे ही) पर्यायवाची शब्द का प्रकरण के अनुकूल प्रयोग किया जाता है (वहाँ पर्याय-वक्रता होती है) जैसे :—

वामं कज्जलवद्विलोचनमुरो रोहद्विसारिस्तनं
मध्यं क्षाममकाण्ड एव विपुलाभोगा नितम्बस्थली।
सद्यःप्रोद्गतविस्मयैरिति गणैरालोक्यमानं मुहुः
पायाद्वः प्रथमं वपुः स्मररिपोर्मिश्रीभवत्कान्तया॥ ४४॥

(इस पद्य में पार्वती तथा शंकर के प्रथम संयोग का वर्णन प्रस्तुत किया गया है कि पार्वती के साथ शङ्कर का शरीर जिस समय एक-दूसरे से संयुक्त हुआ) काजल से युक्त वामनेत्रवाला, एवं विकसित होते हुए विशाल स्तन से युक्त वक्षःस्थल वाला, और अनायास ही क्षीण हो गये मध्यभाग से युक्त, तथा बड़े विस्तारवाली नितम्बस्थली से युक्त, तत्काल उत्पन्न विस्मय वाले शङ्कर के गणों के द्वारा पहले-पहल बार-बार देखा जाता हुआ, कान्ता (पार्वती) के (शरीर के) साथ मिश्रित होता हुआ, कामदेव के शत्रु (भगवान् शङ्कर) का शरीर आप लोगों की रक्षा करे॥ ४४॥

अत्र 'स्मररिपोः' इति पर्यायः कामपि वक्रतामुन्मीलयति। यस्मात्कामशत्रोः कान्तया मिश्रीभावः शरीरस्य न कथंचिदपि संभाव्यत इति गणानां सद्यःप्रोद्गतविस्मयत्वमुपपन्नम्। सोऽपि पुनः पुनः परिशीलनेनाश्चर्यकारीति 'प्रथम'-पदस्य जीवितम्।

यहाँ (भगवान् शङ्कर के शिव, महेश्वर, महादेव इत्यादि अनेक पर्यायवाची शब्दों के द्वारा शङ्कर रूप अर्थ का कथन सम्भव होने पर भी चतुर कवि द्वारा प्रयुक्त) 'स्मररिपोः' अर्थात् 'कामदेव के शत्रु का' यह (शङ्कर का वाचक) पर्यायशब्द किसी (अनिर्वचनीय) वक्रता को उन्मीलित करता है क्योंकि कामदेव के शत्रु के शरीर का रमणी के (शरीर) के साथ संयुक्त होना कदापि सम्भव नही है, इसीलिए (शिव के) गणों का तुरन्त ही (ऐसे असम्भव संयोग को देखकर) उत्पन्न विस्मय से युक्त होना उपयुक्त है और वह (शिव-पार्वती का असम्भव संयोग) भी बार-बार परिशीलन करने पर आश्चर्यजनक न होता अतः (सद्यः विस्मय युक्त हो जाना श्लोक में उपात्त) 'प्रथम' इस पद का जीवितभूत हो गया है।

एतच्च पर्यायवक्रत्वं वाच्यासंभविधर्मान्तरगर्भीकारेणापि दृश्यते। यथा—

(इस प्रकार 'पर्यायवक्रता' का एक भेद बताकर, अब उसके दूसरे अवान्तर भेद का प्रतिपादन करते हैं कि) और यह 'पर्यायवक्रता' वाच्य के द्वारा सम्भव न हो सकनेवाले दूसरे धर्म के आधार को लेकर प्रयुक्त पर्यायों में भी देखी जाती है जैसे—

अङ्गराज सेनापते राजवल्लभ रक्षैनं भीमाद् दुःशासनम् इति ॥ ४५॥

भट्टनारायण विरचित 'वेणीसंहार' नामक नाटक में भीम कर्ण का उपहास करता हुआ कहता है कि हे अङ्गदेश के नरेश! सेना के स्वामी! राजा (दुर्योधन) के प्रेमपात्र! इस दुःशासन की भीम से रक्षा करो ॥ ४५ ॥

अत्र त्रयाणामपि पर्यायाणामसंभाव्यमानतत्परित्राणपात्रत्वलक्षणमकिञ्चित्करत्वं गर्भीकृत्योपहस्यते—रक्षैनमिति।

यहाँ (भीम के इस कथन में वाच्यरूप कर्ण के द्वारा सम्बोधन न कर) जिन तीन पर्याय रूप विशेषणों का प्रयोग किया गया है उनके द्वारा

असम्भाव्यमान उस (दुःशासन) की रक्षा की पात्रता रूप अकिञ्चित्करता को गर्भित कर 'इसकी रक्षा करो' इस प्रकार उपहास किया जाता है।

पदपूर्वार्धवक्रतायां उपचारवक्रत्वं नाम प्रकारान्तरं विद्यते— यत्रामूर्तस्य वस्तुनो मूर्तद्रव्याभिधायिना शब्देनाभिधानमुपचारात्। यथा—

पदपूर्वार्द्धवक्रता का उपचारवक्रता नामक (चतुर्थ) अवान्तर भेद भी है। जहाँ पर अमूर्त वस्तु का मूर्त द्रव्य का अभिधान करने वाले शब्द के द्वारा उपचार (अर्थात् सादृश्य) के बलपर कथन किया जाता है (वहाँ उपचार-वक्रता होती है।) जैसे—

निष्कारणं निकारकणिकापि मनस्विनां मानसमायासयति। यथा—

हस्तापचेयं यशः।

'अकारण ही मानहानि की कणिका भी (अर्थात् अत्यल्प मानहानि भी) मनस्वी पुरुषों के हृदय को पीड़ित कर देती है। और जैसे—

'हाथ के द्वारा एकत्रित करने योग्य यश'

'कणिका'-शब्दो मूर्तवस्तुस्तोकार्थाभिधायी स्तोकत्वसामान्योपचारादमूर्तस्यापि निकारस्य स्तोकाभिधानपरत्वेन प्रयुक्तस्तद्विदाह्लादकारित्वाद्वक्रतां पुष्णाति। 'हस्तापचेयम्' इति मूर्तपुष्पादिवस्तुसंभविसंहतत्वसामान्योपचारादमूर्तस्यापि यशसो हस्तापचेयमित्यभिधानं वक्रत्वमावहति।

(इन दोनों उदाहरणों में पहले उदाहरण में प्रयुक्त) 'कणिका' शब्द मूर्तवस्तु की अल्पता के अर्थ का अभिधान करने वाला (होते हुए भी) स्वल्पता रूप सामान्य के कारण उपचार से (सादृश्यमूला लक्षणा द्वारा) अमूर्त भी मानहानि की अल्पता के कथन रूप से प्रयुक्त होकर काव्यतत्त्वज्ञों को आह्लादित करने के कारण वक्रता (विचित्रता) का पोषण करता है। (इस प्रकार अमूर्त वस्तु की अल्पता का अभिधान 'कणिका' शब्द के द्वारा उपचार से होता है, अतः यहाँ 'उपचारवक्रता' मानी जायगी)।

(तथा दूसरे उदाहरण में प्रयुक्त) 'हस्तापचेयम्' (अर्थात् हाथ के द्वारा एकत्रित करने योग्य) इस पद से मूर्त पुष्प आदि वस्तुओं में प्राप्त होने वाले संहतत्व अर्थात् एकत्रित करने की योग्यतारूप) सामान्य के बलपर उपचार से मूर्त भी यश का हाथ से एकत्रित करने का अभिधान, वक्रता (अर्थात् उपचारवैचित्र्य) को धारण करता है।

द्रवरूपस्य वस्तुनो वाचकशब्दस्तरङ्गितत्वादिधर्मनिबन्धनः किमपि सादृश्यमात्रमवलम्ब्य संहतस्यापि वाचकत्वेन प्रयुज्यमानः कविप्रवाहे प्रसिद्धः। यथा—

श्वासोत्कम्पतरङ्गिणि स्तनतटे इति ॥ ४६ ॥

तरङ्गित्व आदि धर्म का प्रतिपादन करने के कारण द्रव्य रूप वस्तु का वाचक शब्द किसी सादृश्यमात्र का आश्रय ग्रहण कर ठोस (मूर्त वस्तु) के भी वाचक शब्द के रूप में प्रयोग किया जाता हुआ कवि समुदाय में प्रसिद्ध है (अर्थात् कविजन प्रायः किसी सादृश्यमात्र को लेकर तरल पदार्थ के वाचक शब्द का ठोस मूर्त पदार्थ के वाचक शब्द के रूप में प्रयोग करते हैं)। जैसे—

'श्वास से उत्पन्न कम्पन के द्वारा तरङ्गित होते हुए स्तनप्रदेश पर' ॥ ४६ ॥

(यहाँ पर कवि ने स्तनप्रदेश को श्वासजन्य कम्प के द्वारा तरङ्गित बताया है। वस्तुतः तरङ्गित होना द्रव्य पदार्थ का धर्म है जबकि स्तनप्रदेश द्रव पदार्थ न होकर ठोस मूर्त पदार्थ है। अतः केवल कम्पनमात्र साम्य के आधार पर कवि ने स्तनप्रदेश को तरङ्गित बताकर एक अपूर्व चमत्कार की सृष्टि की है जिससे काव्यमर्मज्ञों को एक अलौकिक आनन्द की अनुभूति होती है। अतः यहाँ पर उपचारवक्रता मानी जायगी। यह सम्पूर्ण पद्य वक्रोक्तिजीवित के प्रथम उन्मेष के १०६ उदाहरण में उद्धृत है जिसका कि एक अंशमात्र यहाँ पर गृहीत हुआ है।)

क्वचिदमूर्तस्यापि द्रवरूपार्थाभिधायी वाचकत्वेन प्रयुज्यते।

यथा—

एकां कामपि कालविप्रुषममी शौर्योष्मकण्डूव्यय-
व्यग्राः स्युश्चिरविस्मृतामरचमूडिम्बाहवा बाहवः ॥ ४७ ॥

एतयोस्तरङ्गिणीति विप्रुषमिति च वक्रतामावहतः।

कहीं पर द्रव रूप अर्थ का कथन करनेवाले शब्द का अमूर्त (पदार्थ) के भी वाचक (शब्द) के रूप में प्रयोग किया जाता है, जैसे—

(यह पद्य अपने समग्र रूप में तृतीय उन्मेष के २२वें उदाहरण में उद्धृत हुआ है, इसका पूर्वार्द्ध इस प्रकार है—

लोको यादृशमाह साहसधनं तं क्षत्रियापुत्रकं
स्यात्सत्येन स तादृगेव न भवेद् वार्त्ता विसंवादिनी ।

अर्थात् साहस रूप धन वाले इस क्षत्रिया के बच्चे को लोक जिस प्रकार का (पराक्रमी) कहते हैं वह भले ही वैसा क्यों न हो लोगों की बातें झूठी न हों, (फिर भी) ।

चिरकाल से देवताओं की सेना के वीरों के साथ के युद्ध को भूली हुई मेरी ये भुजायें समय की किसी एक भी बूंद के लिए (अर्थात् क्षण भर के लिए ही) पराक्रम की गर्मी से उत्पन्न खुजलाहट को मिटाने के लिए व्याकुल हो जायें (तो मैं उस दुष्ट का काम तमाम कर दूं) ॥ ४७ ॥

(यहाँ पर जो द्रव पदार्थ के वाचक विप्रुष शब्द का प्रयोग कवि ने केवल अल्पता का समय लेकर अमूर्त पदार्थ काल के वाचक के रूप में किया है उससे इस वाक्य में अपूर्व चमत्कार आ गया है। अतः यह भी 'उपचारवक्रता' का उदाहरण हुआ।) (इस प्रकार उदाहरण संख्या ४६ तथा ४७) इन दोनों में (क्रम में) तरङ्गिणी तथा विप्रुष् शब्द (उपचार) वक्रता का वहन करते हैं (जैसा कि हम ऊपर व्याख्या कर चुके हैं) ।

विशेषणवक्रत्वं नाम पदपूर्वार्धवक्रतायाः प्रकारो विद्यते—यत्र विशेषणमाहात्म्यादेव तद्विदाह्लादकारित्वलक्षणं वक्रत्वमभिव्यज्यते । यथा—

'पदपूर्वार्द्धवक्रता' का (पञ्चम) भेद 'विशेषवक्रता' है जिस वाक्य में विशेषण के माहात्म्य से ही काव्यज्ञों को आह्लादित करनेवाली वक्रता (अर्थात् वैचित्र्य) अभिव्यक्त होती है। (वहाँ 'विशेषणवक्रता' होती है) जैसे—

दाहोऽम्भःप्रसृतिंपचः प्रचयवान् बाष्पः प्रणालोचितः
श्वासाः प्रेङ्खितदीप्रदीपलतिकाः पाण्डिम्नि मग्नं वपुः ।
किञ्चान्यत्कथयामि रात्रिमखिलां त्वन्मार्गवातायने
हस्तच्छत्रनिरुद्धचन्द्रमहसस्तस्याः स्थितिर्वर्तते ॥ ४८ ॥

अत्र दाहो बाष्पः श्वासा वपुरिति न किञ्चिद्वैचित्र्यमुन्मीलितम्। प्रत्येकं विशेषणमाहात्म्यात्पुनः काचिदेव वक्रताप्रतीतिः। यथा च—

ब्रीडायोगान्नतवदनया सन्निधाने गुरूणां
बद्धोत्कम्पस्तनकलशया मन्युमन्तर्नियम्य
तिष्ठेत्युक्तं किमिव न तया यत्समुत्सृज्य बाष्पं
मय्यासक्तश्चकितहरिणीहारिनेत्रत्रिभागः ॥ ४९ ॥

(विरह की) ऊष्मा जल के प्रसार को खौला देने वाली है, (जिससे कि) बाष्प अत्यधिक इकट्ठा होकर परनालों के द्वारा निकालने योग्य हो गया है, (लम्बी) साँसे जलते हुए दीये की लपटों को हिला देनेवाली हैं, सारा शरीर पीतिमा में डूब गया है, और क्या कहें, सारी की सारी रात वह तुम्हारे रास्ते के झरोखे पर हथेली की ओट से चाँदनी को रोककर काट रही है ॥ ४८ ॥

अत्र चकितहरिणीहारीति क्रियाविशेषण नेत्रत्रिभागासङ्गस्य गुरुसन्निधानविहिताप्रगल्भत्वरमणीयस्य कामपि कमनीयतामावहति चकितहरिणीहारिविलोचनसाम्येन।

इस पद्य में प्रयुक्त दाह, बाष्प, श्वास तथा वपु शब्दों के द्वारा किसी भी प्रकार की विचित्रता उन्मीलित नहीं हुई, अपितु प्रत्येक शब्द के साथ प्रयुक्त विशेषणों के माहात्म्य के द्वारा (अर्थात् 'दाह' के साथ 'प्रसृतिम्पचः' 'बाष्प' के साथ 'प्रणालोचितः', 'श्वासाः' के साथ 'प्रेङ्खितदीप्रदीपलतिकाः' तथा 'वपु' के साथ प्रयुक्त 'पाण्डिम्नि मग्नम्' विशेषणों के माहात्म्य से) किसी अनिर्वचनीय वक्रता (अर्थात् सहृदयम् हृदयाह्लादकारिता) का आभास होता है।

और जैसे (इसी का दूसरा उदाहरण कोई प्रवासी युवक अपने किसी मित्र से कह रहा हैं कि जब मैं परदेश जाने लगा तो) गुरुजनों के समीप में (स्थित होने के कारण) लज्जा से मुख को झुकाये हुए तथा कम्पित होते हुए स्तनरूप कलशों वाली; उस (मेरी प्रियतमा) ने (मेरे परदेश जाने के कारण उत्पन्न विरह के) शोक को हृदय में ही दबाकर तथा आँसू बहाते हुए चकितहरिणी के नेत्रों के सदृश मनोहर नेत्रों के कटाक्ष को मेरी ओर फेंका (उसके द्वारा) क्या (उसने मुझे) रुको (मत जाओ) ऐसा नहीं कहा, (अर्थात् अवश्य कहा है)।

(इस श्लोक में 'चकितहरिणीहारि' यह क्रियाविशेषण गुरुजनों के समीप स्थित मेरी प्रियतमा द्वारा किये गये अत्यन्त भोलेपन के कारण रमणीय कटाक्ष के प्रहार की किसी अपूर्व रमणीयता को धारण करता है, चकित हरिणी के नेत्रों के सदृश मनोहर नेत्रों के साम्य के द्वारा। इस प्रकार यह 'विशेषणवक्रता' का दूसरा उदाहरण प्रस्तुत किया गया। अब आगे 'पदपूर्वार्द्ध-वक्रता' के छठे भेद 'संवृतिवक्रता' को प्रस्तुत करते हैं)—

अयमपरः पदपूर्वार्धवक्रतायाः प्रकारो यदिदं संवृतिवक्रत्वं नाम— यत्र पदार्थस्वरूपं प्रस्तावानुगुण्येन केनापि निकर्षेणोत्कर्षेण वा युक्तं व्यक्ततया साक्षादभिधातुमशक्यं संवृतिसामर्थ्योपयोगिना शब्देना-भिधीयते। यथा—

यह पदपूर्वार्द्धवक्रता का अन्य छठा भेद है जिसे 'संवृतिवक्रता' कहते हैं। जहाँ पर प्रकरण के अनुकूल किसी न्यूनता अथवा आधिक्य से युक्त एवं व्यक्त रूप से साक्षात् कहने के लिए अनुपयुक्त पदार्थ के स्वरूप को संवरण कर लेने की सामर्थ्य के कारण उपयोगी शब्द के द्वारा कहा जाता है (वहाँ 'संवृतिवक्रता' होती है)। जैसे—

सोऽयं दम्भधृतव्रतः प्रियतमे कर्तुं किमप्युद्यतः ॥ ५० ॥

(प्रस्तुत पद्य 'तापसवत्सराजचरित' नामक नाटक से उद्धृत किया गया है। यह सम्पूर्ण श्लोक आये चतुर्थ उन्मेष के १८ वें उदाहरण में उद्धृत है। इसके प्रथम तीन चरण इस प्रकार हैं—

चतुर्थंस्य तवाननादपगतं नाभूत् क्वचिन्निर्वृतं
येनैषा सततं त्वदेकशयनं वक्षःस्थली कल्पिता।
येनोद्भासितया विना बत जगच्छून्यं क्षणाज्जायते

अर्थात् इस पद्य में राजा उदयन के पद्मावती के साथ विवाह करते समय उत्पन्न शोक का वर्णन किया गया है कि—जिसके नेत्रों को तुम्हारे मुख पर से हटने पर अन्यत्र कहीं सुख नहीं मिला, जिसने अपनी वक्षःस्थली को केवल तुम्हारे ही शयन के लिए कल्पित किया तथा जिसकी उपस्थिति के बिना तुम्हारे लिए सारा संसार जीर्ण वन के समान हो जाता था।

हे प्रियतमे! वही यह दम्भ से (एकपत्नीत्व) व्रत को धारण करने वाला (तुम्हारा प्रियतम उदयन) आज कुछ (निकृष्ट कार्य अर्थात् पद्मावती को पत्नी रूप में स्वीकार) करने के लिए उद्यत हो गया है ॥ ५० ॥

अत्र वत्सराजो वासवदत्ताविपत्तिविधुरहृदयस्तत्प्राप्तिप्रलोभनवशेन पद्मावतीं परिणेतुमीहमानस्तदेवाकरणीयमित्यवगच्छन् तस्य वस्तुनो महापातकस्येवाकीर्तनीयतां ख्यापयति किमपीत्यनेन संवरणसमर्थेन सर्वनामपदेन। यथा च—

यहाँ वासवदत्ता (के आग में जलकर भस्म हो जाने) की विपत्ति (को सुनने) से दुःखी चित्तवाले वत्सनरेश उदयन उस (वासवदत्ता) की प्राप्ति के प्रलोभन में पड़कर पद्मावती के परिणय की इच्छा रखते हुए उसी (पद्मावती-परिणय) को अकरणीय समझते हुए, उस वस्तु (पद्मावती-विवाह) की बड़े भारी पाप के समान निन्दनीयता का, संवरण कर लेने में समर्थ सर्वनाम पद 'किमपि' के द्वारा विज्ञापन करते हैं। (अर्थात् मैं पद्मावती के साथ परिणय रूप एक महापातक के सदृश निन्दनीय कर्म को करने के लिए उद्यत हो गया हूँ, इस बात को यदि इसी ढंग से कहते तो वह ग्राम्य एवं अनुचित होती अतः इस बात को छिपा सकने में समर्थ 'किमपि' पद का प्रयोग किया गया, जिसके द्वारा ये सभी बातें साफ व्यञ्जित हो जाती हैं। इस प्रकार कवि का कौशल यहाँ अकथनीय (निकृष्ट) बात को छिपाते हुए उसे सभ्य ढंग से सहृदयों के सम्मुख प्रस्तुत कर देने में निहित है। इसलिए यहाँ 'संवृतिवक्रता' है)। और जैसे (दूसरा उदाहरण)—

निद्रानिमीलितदृशो मदमन्थराया
नाप्यर्थवन्ति न च यानि निरर्थकानि।
अद्यापि मे वरतनोर्मधुराणि तस्या-
स्तान्यक्षाणि हृदये किमपि ध्वनन्ति॥ ५१॥

नींद के कारण आँखों को बन्द किए हुए एवम् मद के कारण अलसायी हुई (सुस्त पड़ी हुई) उस सुन्दर शरीर वाली (मेरी प्रियतमा) के वे मधुर अक्षर आज भी हृदय में कुछ (अनिर्वचनीय आनन्द को) ध्वनित करते हैं जो न तो अर्थ से ही युक्त थे और न निरर्थक ही थे॥ ५१॥

अत्र किमपीति तदाकर्णनविहितायाश्चित्तचमत्कृतेरनुभवैकगोचरत्व-लक्षणमव्यपदेश्यत्वं प्रतिपाद्यते। तानीति तथाविधानुभवविशिष्टतया स्मर्यमाणानि। नाप्यर्थवन्तीति स्वसंवेद्यत्वेन व्यपदेशाविषयत्वं प्रकाश्यते। तेषां च न च यानि निरर्थकानीत्यलौकिकचमत्कारकारित्वादपार्थकत्वं निवार्यते। त्रिष्वप्येतेषु विशेषणवक्रत्वं प्रतीयते।

यहाँ पर 'किमपि' इस पद के द्वारा उन (मधुर अक्षरों) के सुनने से उत्पन्न हृदय के चमत्कार की केवल अनुभव के द्वारा प्राप्त किए जानेवाली अनिर्वचनीयता को प्रतिपादित किया गया है। 'तानि' इस पद के द्वारा उस प्रकार के चमत्कार-पूर्ण अनुभव के कारण विशिष्ट रूप से स्मरण किए जाते हुए अक्षरों की अनिर्वचनीयता ज्ञात होती है। 'नाप्यर्थवन्ति' (अर्थात् जो अर्थयुक्त नहीं थे) इस पद के द्वारा अपने आप जानी जा सकने वाली शब्दों द्वारा प्रकट करने की असमर्थता का प्रकाशन किया गया है। और उन (अक्षरों) का 'न च योनि निरर्थकानि' (अर्थात् जो निरर्थक भी नहीं थे) इस (विशेषण के प्रयोग) से अलौकिक आनन्द को प्रदान करने के कारण उन अक्षरों की अर्थहीनता का निषेध किया गया है। (इस प्रकार 'अक्षराणि' के) इन तीनों ('तानि' 'नाप्यर्थवन्ति' 'न च यानि निरर्थकानि') विशेषणों में (उन्हीं के प्रयोग द्वारा वाक्य में चमत्कार आने से) 'विशेषण-वक्रता' की प्रतीति होती है।

इदमपरं पदपूर्वार्धवक्रतायाः प्रकारान्तरं सम्भवति वृत्तिवैचित्र्यवक्रत्वं नाम—यत्र समासादितवृत्तीनां कासाञ्चिद् विचित्राणामेव कविभिः परिग्रहः क्रियते। यथा—

मध्येऽङ्कुरं पल्लवाः ॥ ५२ ॥

(अब 'पदपूर्वार्द्धवक्रता' के सातवें भेद का विवेचन करते हैं) यह 'वृत्तिवैचित्र्यवक्रता' नामक अन्य (सातवाँ) भेद सम्भव होता है। जहाँ पर प्राप्त (अनेक-समास-तद्धित सुबादि) वृत्तियों के मध्य से कविजन (अपूर्व चमत्कार को उत्पन्न करने वाली) कुछ ही विचित्र वृत्तियों का प्रयोग करते हैं (वहाँ 'वृत्तिवैचित्र्यवक्रता' होती है.)। जैसे—

अंकुरों के मध्य में पल्लव हैं ॥ ५२ ॥

(यहाँ 'अंकुराणां मध्ये इति मध्येऽङ्कुरं' इस प्रकार अव्ययीभाव समास की वृत्ति के प्रयोग से कवि ने एक अपूर्व चमत्कार की सृष्टि की है जबकि यहाँ वह 'अंकुरमध्ये' इत्यादि के प्रयोग से तत्पुरुष समासवृत्ति का भी प्रयोग कर सकता था, किन्तु उसमें चमत्कार न आता। अतः यहाँ चमत्कार का कारण 'वृत्तिवैचित्र्यवक्रता' ही है।)

यथा च—

पाण्डिम्नि मग्नं वपुः ॥ ५३ ॥

और जैसे (दूसरा उदाहरण)—

पाण्डुता में शरीर डूबा हुआ है ॥ ५३ ॥

(यहाँ पर कवि यद्यपि 'पाण्डिम्नि' के स्थान पर 'पाण्डुतायाम्' इत्यादि अन्य शब्दों का प्रयोग कर सकता था किन्तु उसने 'इमनिच्' प्रत्ययान्त पाण्डु शब्द के प्रयोग से तद्धित वृत्ति का प्रयोग कर एक अलौकिक चमत्कार को उत्पन्न कर दिया है। अतः यह 'वृत्तिवैचित्र्यवक्रता' का दूसरा उदाहरण है।)

यथा वा—

सुधाविसरनिष्यन्दसमुल्लासविधायिनि।
हिमधामनि खण्डेऽपि न जनो नोन्मनायते ॥ ५४ ॥

अपनी सुधाधारा के प्रवाह से आह्लादित करने वाले खण्ड (अपूर्व) चन्द्र के भी (उदित) होने पर ऐसा कोई मनुष्य नहीं जो उत्कण्ठित न हो जाता हो ॥ ५४ ॥

अपरं लिङ्गवैचित्र्यं नाम पदपूर्वार्धवक्रतायाः प्रकारान्तरं दृश्यते—यत्र भिन्नलिङ्गानामपि शब्दानां वैचित्र्याय सामानाधिकरण्योपनिबन्धः। यथा—

(अब पदपूर्वार्द्धवक्रता के आठवें भेद का विवेचन प्रस्तुत करते हैं—)

'पदपूर्वार्द्धवक्रता' का अन्य (अष्टम) 'लिङ्गवैचित्र्य' नामक अवान्तर भेद दिखाई पड़ता है। जहाँ भिन्न-भिन्न लिङ्ग वाले शब्दों का चमत्कार की सृष्टि के लिए सामानाधिकरण्य से उपनिबन्धन किया जाता है (वहाँ 'लिङ्गवैचित्र्यवक्रता' होती है।) जैसे—

इत्थं जडे जगति को नु बृहत्प्रमाण-
कर्णः करी ननु भवेद् ध्वनितस्य पात्रम् ॥ ५५ ॥

(यह श्लोक इसी ग्रन्थ के द्वितीय उन्मेष के उदाहरण-संख्या ३५ पर सम्पूर्ण रूप में उद्धृत हुआ है। इसका पदार्द्ध निम्न प्रकार है—

इत्यागत झटिति योऽलिनमुन्ममाय
मातङ्ग एव किमतः परमुच्यतेऽसौ ॥ अर्थात्)

इस प्रकार के जड़ संसार में वृहत्प्रमाण कानों वाले एवं सूँड़वाले (अथवा हाथ वाले, हाथी से बढ़कर) दूसरा कौन (मेरी) ध्वनि को सुनने में समर्थ हो सकता है ॥ ५५ ॥

(ऐसा सोचकर पास आये हुए भौंरे को जिसने पीड़ित कर दिया वह मातङ्ग (चाण्डाल अथवा हाथी) ही है, इससे अधिक उसे और क्या कहा जा सकता है। इस प्रकार इस पद्य में यद्यपि 'बृहत्प्रमाणकर्णः करी' के साथ, (जो कि पुँल्लिङ्ग है) सामानाधिकरण्य पुँल्लिङ्ग शब्द के साथ ही होना सम्भव था, किन्तु कुशल कवि ने पुँल्लिङ्ग शब्द का प्रयोग न कर सामानाधिकरण्य से नपुंसकलिङ्ग 'ध्वनितस्य पात्रम्' शब्द का प्रयोग कर सहृदयों के लिए एक विशेष प्रकार के चमत्कार की सृष्टि की है। अतः यहाँ 'लिङ्गवैचित्र्य वक्रता' स्वीकार की जायगी।)

यथा च—

मैथिली तस्य दाराः ॥ इति ॥ ५६ ॥

और जैसे (इसी का दूसरा उदाहरण)—

मिथिलेशकुमारी जानकी उसकी भार्या है ॥ ५६ ॥

(यहाँ 'मैथिली' शब्द के साथ सामानाधिकरण्य स्त्रीलिङ्ग शब्दों का ही सम्भव था, किन्तु कवि ने अपने कौशल से पुँल्लिङ्ग दारा शब्द का सामानाधिकरण्य से प्रयोग किया है, जो किसी अलौकिक चमत्कार का विधायक है अतः यह भी 'लिङ्गवैचित्र्य वक्रता' का ही उदाहरण हुआ)।

अन्यदपि लिङ्गवैचित्र्यवक्रत्वम्—यत्रानेकलिङ्गसम्भवेऽपि सौकुमार्यात् कविभिः स्त्रीलिङ्गमेव प्रयुज्यते, 'नामैव स्त्रीति पेशलम्' (२।२२) इति कृत्वा। यथा—

'लिङ्गवैचित्र्यवक्रता' का दूसरा भेद भी सम्भव हो सकता है। जहाँ (किसी शब्द में) विभिन्न लिङ्गों की सम्भावना रहने पर भी (कुशल) कवि लोग सुकुमारता के कारण स्त्रीलिङ्ग को ही 'स्त्री इस प्रकार का कथन ही हृदयहारि होता है' (२।२२) ऐसा स्वीकार कर, प्रयुक्त करते हैं (वहाँ भी लिङ्गवैचित्र्यवक्रता होती है)। जैसे—

एतां पश्य पुरस्तटीम् इति ॥ ५७ ॥

सामने स्थित इस किनारे को देखो ॥ ५७ ॥

(यहाँ यद्यपि किनारे के वाचक तट शब्द का (तटः, तटी, तटम्) पुँल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग एवं नपुंसक लिङ्ग तीनों लिङ्गों में प्रयोग किया जा सकता था, परन्तु कवि ने केवल सुकुमारता को द्योतित करने के लिए यहाँ स्त्रीलिङ्ग

'तटी' शब्द का ही प्रयोग किया है। अतः यहाँ लिङ्गवैचित्र्यवक्रता ही सहृदयहृदयाह्लादकारिणी है।)

(इस प्रकार अभी तक 'पदपूर्वार्द्धवक्रता' के अन्तर्गत 'प्रातिपदिक' की वक्रता के मुख्य रूप से आठ अवान्तर भेदों का प्रतिपादन कर अब 'धातु' की वक्रता के अवान्तर भेदों का प्रतिपादन किया जा रहा है जैसा पहले ही बताया गया है कि सुबन्त पदों का पूर्वार्द्ध 'प्रातिपदिक' तथा तिङन्त पदों का पूर्वार्द्ध 'धातु' कहा जाता है तो)

पदपूर्वार्धस्य धातोः क्रियार्थवैचित्र्यवक्रत्वं नाम वक्रत्वप्रकारान्तरं विद्यते—यत्र क्रियावैचित्र्यप्रतिपादनपरत्वेन वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरमणीयान् प्रयोगान् निबध्नन्ति कवयः। तत्र क्रियावैचित्र्यं बहुविधं विच्छित्ति-विततव्यवहारं दृश्यते। यथा—

(तिङन्त) पदों के पूर्वार्द्ध धातु की 'क्रियावैचित्र्यवक्रता' नामक (पदपूर्वार्द्ध) वक्रता का अन्य (नवम) भेद (भी) है। जहाँ क्रिया की विचित्रता (चमत्कारजनकता) का प्रतिपादन करने के लिए (कुशल) कविगण चातुर्यपूर्ण (कविकौशल की) विच्छित्ति द्वारा कथन (अर्थात् वक्रोक्ति) से रमणीय (क्रिया पदों के) प्रयोगों की रचना करते हैं (वहाँ 'क्रियावैचित्र्यवक्रता' होती है।) जैसे—

रइकेलिहिअणिअंसणकरकिसलअरुद्धणअणजुअलस्स।
रुद्दस्स तइअणअणं पव्वइपरिचुम्बिअं जअइ ॥ ५८ ॥
[रतिकेलिहृतनिवसनकरकिसलयरुद्धनयनयुगलस्य।
रुद्रस्य तृतीयनयनं पार्वतीपरिचुम्बितं जयति ॥]

रतिक्रीडा करते समय वस्त्रहीन (नग्न) हो जाने के कारण (पार्वती के) कर-किसलयों द्वारा बन्द किए गये दोनों नेत्रों वाले भगवान् शंकर का, पार्वती के द्वारा चूमा गया तीसरा (भाल का) नेत्र (जिसे पार्वती ने अपने चुम्बन से बन्द कर दिया है वह) सर्वोत्कृष्ट रूप में विद्यमान है ॥ ५८ ॥

अत्र समानेऽपि हि स्थगनप्रयोजने साध्ये तुल्ये च लोचनत्वे, देव्याः परिचुम्बनेन यस्य निरोधः सम्पाद्यते तद्भगवतस्तृतीयं नयनं जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तत इति वाक्यार्थः। अत्र जयतीति क्रियापदस्य किमपि सहृदयहृदयसंवेद्यं वैचित्र्यं परिस्फुरदेव लक्ष्यते। यथा—

इस पद्य में साध्यभूत (नेत्रों के) स्थगन (बन्द करने के प्रयोजन के (शिव के तीनो नेत्रों में) समान होने पर, तथा (उन तीनों नेत्रों में) नेत्रत्व के समान होने पर भी जिस (तृतीय नेत्र) का निरोध देवी (पार्वती) के परिचुम्बन द्वारा सम्पन्न किया गया है (ऐसा) वह भगवान् (शङ्कर) का तृतीय नेत्र 'जयति' अर्थात् सबसे उत्कृष्ट (नेत्र के) रूप में विद्यमान है, यह इस श्लोक का तात्पर्यार्थ है। यहाँ पर 'जयति' इस क्रियापद का (केवल) सहृदयहृदयों द्वारा अनुभव किया जाने वाला कोई (अनिर्वचनीय) वैचित्र्य परिस्फुरित होता दिखाई पड़ता है। (इस प्रकार यह 'क्रियावैचित्र्यवक्रता' का प्रथम उदाहरण प्रस्तुत किया गया)।

और जैसे (दूसरा उदाहरण)—

स्वेच्छाकेसरिणः स्वच्छस्वच्छायायासितेन्दवः।
त्रायन्तां वो मधुरिपोः प्रपन्नार्तिच्छिदो नखाः ॥ ५९ ॥

अपनी ही इच्छा से सिंह बने हुए (अर्थात् हिरण्यकशिपु राक्षस का वध करने के लिए नृसिंह रूप में अवतरित हुए) मधु के शत्रु (भगवान् विष्णु के), अपनी विमल कान्ति के द्वारा चन्द्रमा को भी कष्ट देने वाले (अर्थात् चन्द्रमा जिसे कि अपनी कान्ति का गर्व है उसे उससे भी अधिक कान्तियुक्त होने के कारण कष्ट देने वाले) एवम् (अर्थात् शरण में आये हुए लोगों) की विपत्ति का विनाश करने वाले नाखून आप लोगों की रक्षा करें ॥ ५९ ॥

अत्र नखानां सकललोकप्रसिद्धच्छेदनव्यापारव्यतिरेकि किमप्यपूर्वमेव प्रपन्नार्तिच्छेदनलक्षणं क्रियावैचित्र्यमुपनिबद्धम्। यथा च—

स दहतु दुरितं शाम्भवो वः शराग्निः ॥ ६० ॥

यहाँ (इस पद्य में नृसिंह-रूपधारी भगवान् विष्णु के) नाखूनों के समस्त लोकों में प्रसिद्ध छेदन व्यापार से भिन्न किसी अपूर्व ही शरण में आए हुए लोगों की विपत्ति के छेदन रूप क्रिया-वैचित्र्य को कवि ने उपनिबद्ध किया है (अर्थात् लोक में काष्ठ आदि को छेदन रूप क्रिया ही पायी जाती है, किन्तु यहाँ पर कवि ने अपूर्व विपत्ति की छेदन रूप क्रिया का वर्णन किया है जो कि अतिशय चमत्कार-पूर्ण होने के कारण 'क्रियावैचित्र्यवक्रता' को धारण करती है)। और जैसे (इसी का तीसरा उदाहरण)—

भगवान् शङ्कर की वह (विशिष्ट) शराग्नि आपके पाप को जला दे ॥६०॥

अत्र च पूर्ववदेव क्रियावैचित्र्यप्रतीतिः। यथा च—

कण्णुप्पलदलमिलिअलोअणेहिं हेलालोलणमाणिअणअणेहिं।
लीलइ लीलावईहि णिरुद्धओ सिढिलिअचाओ जअइ मअरद्धओ ॥६१॥
[कर्णोत्पलदलमिलितलोचनैर्हेलालोलनमानितनयनाभिः।
लीलयालीलावतीभिर्निरुद्धः शिथिलीकृतचापो जयति मकरध्वजः ॥]

यहाँ पर भी पूर्व की भाँति ही क्रियावैचित्र्य की प्रतीति होती है अर्थात् लोक में केवल काष्ठ आदि मूर्त वस्तुओं का ही अग्नि के द्वारा जलाया जाना प्रसिद्ध है लेकिन इस श्लोक-खण्ड में उससे भिन्न पाप रूप अमूर्त वस्तु की दहन रूप अपूर्व क्रिया का प्रतिपादन किये जाने के कारण यहाँ 'क्रिया-वैचित्र्य-वक्रता' है। और जैसे (इसी का दूसरा उदाहरण)—

क्रीडा (करने) के कारण चञ्चलता को प्राप्त नयनोंवाली विलासिनियों के द्वारा विलास के साथ कानों में लगे हुए कमलों के पत्तों से संयुक्त होते हुए नेत्रों द्वारा रोक दिया गया (अतः) अपने धनुष को शिथिल कर देनेवाला कामदेव सर्वातिशायी है ॥ ६१ ॥

अत्र लोचनैर्लीलया लीलावतीभिर्निरुद्धः स्वव्यापारपराङ्मुखीकृतः सन् शिथिलीकृतचापः कन्दर्पो जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तत इति किमुच्यते, यतस्तास्तथाविधविजयावाप्तौ सत्यां जयन्तीति वक्तव्यम्।

यहाँ क्रीडा करती हुई कामिनियों के द्वारा विलास के साथ नेत्रों द्वारा निरुद्ध किया गया अर्थात् अपने शर-सन्धान रूप व्यापार से पराङ्मुख किया गया अपने धनुष को शिथिल कर देनेवाला कामदेव 'जयति' अर्थात् सर्वोत्कृष्ट रूप से विद्यमान है। यह क्या कहा जाता है अर्थात् यह कहना अनुचित है, क्योंकि कामदेव को अपने व्यापार से पराङ्मुख कर देने के कारण उस प्रकार कामदेव के ऊपर विजय को प्राप्त करने पर वे रमणियाँ ही सर्वोत्कृष्ट रूप से विद्यमान हैं यह कहना चाहिए न कि कामदेव।

तदयमत्राभिप्रायः—यत्तल्लोचनविलासानामेवंविधं जैत्रताप्रौढभावं पर्यालोच्य चेतनत्वेन स स्वचापारोपणायासमुपसंहृतवान्। यतस्तेनैव त्रिभुवनविजयावाप्तिः परिसमाप्यते। ममेति मन्यमानस्य तस्य सहायत्वोत्कर्षातिशयो जयतीति क्रियापदेन कर्तृतायाः कारणत्वेन कवेश्चेनसि परिस्फुरितः। तेन किमपि क्रियावैचित्र्यमत्र तद्विदाह्लाद-कारि प्रतीयते। यथा च—

तो यहाँ पर (इसका) अभिप्राय यह है कि—उन (कामिनियों के नेत्र-विलासों के इस प्रकार विजयी होने में प्रौढ-भार का विवेचन कर चेतन होने के कारण उस (कामदेव) ने अपने धनुष चढ़ाने के प्रयास को रोक दिया, क्योंकि उसी (कामिनियों के नेत्र-विलासों की विजयशीलता) से ही तीनों लोकों की विजय की प्राप्ति मुझे हो जाती है, ऐसा समझते हुए उस (कामदेव) का सहायता के उत्कर्ष का अतिशय 'जयति' इस क्रियापद के द्वारा कर्तृता के कारण रूप में कवि के हृदय में परिस्फुरित हुआ । अतः यहाँ पर सहृदयों को आनन्दित करने वाला कोई क्रियावैचित्र्य दृष्टिपथ में आता है । और जैसे (अन्य उदाहरण)—

तान्यक्षराणि हृदये किमपि ध्वनन्ति ॥ ६२ ॥

(यह पद्य अपने पूर्ण रूप में इसी उन्मेष के ५१ वें उदाहरण में उद्धृत हो चुका है । अतः उसे वहीं देखें ।—मद के कारण अलसाई हुई मेरी सुन्दरी प्रियतमा के अनुभवैकगम्य) वे अक्षर (जो कि न सार्थक ही थे और न निरर्थक ही थे) हृदय में कुछ (अनिर्वचनीय ही अस्पष्ट सी) ध्वनि उत्पन्न करते हैं ॥ ६२ ॥

अत्र जल्पन्ति वदन्तीत्यादि न प्रयुक्तम्, यस्मात्तानि कयापि विच्छित्त्या किमप्यनाख्येयं समर्पयन्तीति कवेरभिप्रेतम् ।

यहाँ पर (कवि ने) 'जल्पन्ति' (कहते हैं) तथा 'वदन्ति' (बोलते हैं) इत्यादि शब्दों का प्रयोग नहीं किया क्योंकि वे (अक्षर) किसी (अपूर्व ही) वैचित्र्य के साथ अनिर्वचनीय (अनुभवैकगम्य आनन्द) को प्रदान करते हैं । किसी (अर्थात् यदि 'जल्पन्ति' आदि के द्वारा कहा जाता है तो उसके स्पष्ट ढंग से उच्चरित होने के कारण केवल अनुभवैकगम्यता समाप्त हो जाती, और इस प्रकार उन अक्षरों के कथन को वाणी द्वारा व्यक्त किया जा सकता था । पर उससे वाक्य में ऐसा चमत्कार न आ पाता । इसीलिए कवि ने यहाँ 'ध्वनन्ति' शब्द का प्रयोग किया है अर्थात् वे कुछ स्पष्ट बोलते नहीं अपितु अस्पष्ट सी अनिर्वचनीय अनुभवैकगम्य ध्वनि करते हैं, जिसके द्वारा वाक्य में एक अपूर्व चमत्कार आ गया है, अतः यह क्रियावैचित्र्य वक्रता का उदाहरण हुआ) ।

वक्रतायाः परोऽप्यस्ति प्रकारः प्रत्ययाश्रय इति । वक्रभावस्यान्योऽपि प्रभेदो विद्यते । कीदृशः—प्रत्ययाश्रयः । प्रत्ययः सुप्तिङ्

च यस्याश्रयः स्थानं स तथोक्तः। तस्यापि बहवः प्रकाराः सम्भवन्ति—संख्यावैचित्र्यविहितः कारकवैचित्र्यविहितः, पुरुषवैचित्र्यविहितश्च। तत्र, संख्यावैचित्र्यविहितः—यस्मिन् वचनवैचित्र्यं काव्यबन्धशोभायै निबध्यते। यथा—

मैथिली तस्य दाराः॥ इति॥ ६३॥

(इस प्रकार 'पूर्वार्द्धवक्रता' एवं उसके अवान्तर भेदों का संक्षिप्त विवेचन कर अब तीसरी 'प्रत्ययाश्रितवक्रता' एवं उसके अवान्तर भेदों का प्रतिपादन कर रहे हैं—)

(कविव्यापार) वक्रता का प्रत्यय के आश्रित रहने वाला अन्य (तीसरा) भी भेद है (जिसे 'प्रत्ययाश्रितवक्रता' कहते हैं)। वक्रभाव का दूसरा भी भेद विद्यमान है। कैसा (भेद) प्रत्यय के आश्रय वाला। प्रत्यय अर्थात् सुप् और तिङ् हैं जिसका आश्रय अर्थात् स्थान वह हुआ उस प्रकार कहा गया (प्रत्ययाश्रय भेद)। उसके भी सङ्ख्या के वैचित्र्य से उत्पन्न अनेक (अवान्तर) भेद सम्भव हैं। उनमें सङ्ख्यावैचित्र्य से उत्पन्न ('प्रत्ययाश्रयवक्रता' का अवान्तर भेद वहाँ होता है)—जहाँ (कविजन) काव्यबन्ध की शोभा के लिये वचनों (एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन) की विचित्रता का प्रयोग करते हैं। जैसे—

सीता उसकी पत्नी हैं॥ ६३॥

(यहाँ 'मैथिली' शब्द एकवचन में और 'दाराः' शब्द बहुवचन में प्रयुक्त है क्योंकि दारा शब्द नित्य बहुवचनान्त है, परन्तु कवि ने 'मैथिली' की विशेषता बताने के लिए 'दाराः' शब्द का ही प्रयोग समानाधिकरण्य रूप में कर वाक्य में एक अपूर्व चमत्कार ला दिया है। अतः यहाँ एकवचन के साथ बहुवचन का प्रयोग होने से सङ्ख्यावैचित्र्यकृत वक्रता है)।

यथा च—

फुल्लेन्दीवरकाननानि नयने पाणी सरोजाकराः॥ ६४॥

और जैसे (इसी वचनवैचित्र्यविहित 'प्रत्ययवक्रता' का दूसरा उदाहरण)—(उस सुन्दरी की) दोनों आँखें विकसित कमलों के जंगल हैं तथा दोनों हाथ कमलों की खाने हैं॥ ६४॥

अत्र द्विवचनबहुवचनयोः समानाधिकरण्यमतीव चमत्कारकारि।

यहाँ (कुशल कवि द्वारा प्रयुक्त 'नयने' तथा 'पाणी' पदों के) द्विवचन तथा (उन दोनों के उपमान रूप 'फुल्लेन्दीवरकाननानि' एवं 'सरोजाकराः' पदों के) बहुवचन का समानाधिकरण्य (अर्थात् समान

विभक्ति में प्रयोग, सहृदयों के लिये) अत्यधिक आनन्ददायक है। (अतः यहाँ सङ्ख्या (वचन) की विचित्रता से उत्पन्न 'प्रत्ययाश्रितवक्रता' हुई'।)

कारकवैचित्र्यविहितः—यत्राचेतनस्यापि पदार्थस्य चेतनत्वाध्यारोपेण चेतनस्यैव क्रियासमावेशलक्षणं रसादिपरिपोषणार्थं कर्तृत्वादिकारकं निबध्यते। यथा—

(अब 'प्रत्ययाश्रयवक्रता' के दूसरे भेद का निरूपण करते हैं) कारक की विचित्रता से उत्पन्न ('प्रत्ययाश्रयवक्रता' वहाँ होती हैं)—जहाँ चेतनता का अध्यारोप करके चेतन पदार्थ के ही समान अचेतन पदार्थ की भी क्रियाओं के समावेशरूप कर्तृता आदि कारक का, रस को परिपुष्ट करने के लिये (कवि द्वारा) निबन्धन किया जाता है। अर्थात् जहाँ अचेतन पदार्थ में भी चेतन की ही भाँति विभिन्न क्रियाओं को करने की क्षमता दिखाता हुआ कवि उसे कर्ता आदि के रूप में कर्ता आदि कारकों के प्रयोग द्वारा व्यक्त करता है, वहाँ कारकवैचित्र्य-विहित 'प्रत्ययवक्रता' होती है) जैसे—

स्तनद्वन्द्वं मन्दं स्नपयति बलाद्बाष्पनिवहो
हठादन्तःकण्ठं लुठति सरसः पञ्चमरवः।
शरज्ज्योत्स्नापाण्डुः पतति च कपोलः करतले
न जानीमस्तस्याः क इव हि विकारव्यतिकरः॥ ६५॥

(विरहव्यथा से विवश उस रमणी के) स्तन-युग्म को बलपूर्वक आँसुओं का समूह धीरे-धीरे स्नान करा रहा है एवम् सरस पंचम-स्वर हठपूर्वक उसके गले के भीतर लोट रहा है तथा शरत्कालीन चन्द्रिका के सदृश पाण्डु-वर्ण कपोल उसके करतल पर गिरा जा रहा है (यह तो उसके बाह्य अवयवों की अवस्था है जिसे कि हम देख रहे हैं, किन्तु) नहीं जानते कि उसके (आन्तरिक) विकारों की अवस्था कैसी है ?॥ ६५॥

अत्र बाष्पनिवहादीनामचेतनानामपि चेतनत्वाध्यारोपेण कविना कर्तृत्वमुपनिबद्धम्—यत्तस्या विवशायाः सत्यास्तेषामेवंविधो व्यवहारः, सा पुनः स्वयं न किञ्चिदप्याचरितुं समर्थेत्यभिप्रायः[1]। अन्यच्च

१. यहाँ पर डा० डे ने 'यदि तस्या' ऐसा पाठान्तर बताया है, एवं आचार्य विश्वेश्वर ने इस वाक्य में आये, 'सा पुनः स्वयं न किञ्चिदप्या-चरितुं पाठ में से 'न' को हटा दिया है। इस प्रकार यदि 'न' से रहित, और आदि में 'यत्' के स्थान पर 'यदि' के पाठ को स्वीकार किया जाय तो

कपोलादीनां तदवयवानामेतदवस्थत्वं प्रत्यक्षतयास्मदादिगोचरतामापद्यते, तस्याः पुनर्योऽसावन्तर्विकारव्यतिकरस्तं तदनुभवैकविषयत्वाद्वयं न जानीमः । यथा च—

यहाँ पर अश्रुसमूह आदि अचेतन (पदार्थों) की भी कर्तृता को, उन पर चेतनता का आरोप करके, कवि ने उपनिबद्ध किया है (अर्थात् 'स्नान कराते हैं' क्रिया के कर्ता के रूप में 'अश्रुसमूह' का, 'लौटते हैं' क्रिया के कर्ता के रूप में 'पञ्चमरव' का, तथा 'गिरते हैं' क्रिया के कर्ता के रूप में 'कपोल' का प्रयोग किया है, जो कि अचेतन पदार्थ हैं, जिनके कारण वाक्य में एक अपूर्व चमत्कार आ गया है) कि—उसके विरह-व्यथा से विवश होने पर कपोल आदि उन अचेतन पदार्थों का इस प्रकार का व्यवहार है; वह स्वयं कुछ भी करने में समर्थ नहीं है (अर्थात् वह कुछ भी कर सकने में पूर्णतया विवश है) और दूसरी बात यह है कि उसके अङ्गभूत कपोलादि की ऐसी अवस्था तो प्रत्यक्षरूप से हमको दिखाई पड़ती है, लेकिन उसकी जो यह केवल उसी के द्वारा अनुभव की जा सकनेवाली आन्तरिक विकार की अवस्था है उसको हम नहीं जानते। और जैसे (इसी का दूसरा उदाहरण)—राजशेखरविरचित 'बालरामायणम्' नामक नाटक के द्वितीय अङ्क में परशुराम के प्रति रावण का यह कथन है कि—

चापाचार्यस्त्रिपुरविजयी कार्तिकेयो विजेयः
शस्त्रव्यस्तः सदनमुदधिर्भूरियं हन्तकारः ।
अस्त्येवैतत् किमु कृतवता रेणुकाकण्ठबाधां
बद्धस्पर्शस्तव परशुना लज्जते चन्द्रहासः ॥ ६६ ॥

(हे परशुराम जी ! यह बात सही है कि) त्रिपुर पर विजय प्राप्त करने वाले (भगवान् शङ्कर आपके) धनुष (अर्थात् धनुर्विधा) के गुरु हैं, तथा स्वामिकार्तिकेय पर आपने विजय पायी है, एवम् आपके शस्त्र (पहले) से व्यस्त किया गया समुद्र आपका निवास-स्थान है और यह पृथ्वी हन्तकार है। यह भी सही है। किन्तु फिर भी (अपनी माता) रेणुका की गर्दन को

वाक्य का अर्थ इस प्रकार होगा—"यदि (विरह-व्यथा से) विवश होने पर उस (रमणी) के उन कपोलादि अचेतन अवयवों) का इस प्रकार का व्यवहार है तो वह स्वयं कुछ भी (अमंगल व्यापार) करने में समर्थ होती है है यह अभिप्राय हुआ। (अर्थात् विरह-व्यथा से अधिक पीडित होकर वह अपनी जान भी दे सकती है)।

पीडित करनेवाले (अर्थात् उसे काट डालनेवाले) तुम्हारे फरसे के साथ स्पर्धा करनेवाला यह चन्द्रहास (मेरा खड्ग) लज्जित हो रहा है ॥ ६६ ॥

अत्र चन्द्रहासो लज्जत इति पूर्ववत् कारकवैचित्र्यप्रतीतिः। पुरुषवैचित्र्यविहितं वक्रत्वं विद्यते—यत्र प्रत्यक्तापरभावविपर्यासं प्रयुञ्जते कवयः काव्यवैचित्र्यार्थं युष्मदस्मदि वा प्रयोक्तव्ये प्रातिपदिकमात्रं निबध्नन्ति। यथा—

यहाँ पर पहले की ही भाँति 'चन्द्रहासो लज्जते' इस वाक्य-रचना द्वारा (अचेतन पदार्थ चन्द्रहास में चेतनता का आरोप कर उसे, लज्जित होता है 'लज्जते' इस क्रिया के कर्ता के रूप में प्रयोग कर कवि ने) कारक की विचित्रता को प्रतिपादित किया है।

(इस प्रकार कारक वैचित्र्यजन्य 'प्रत्ययवक्रता' की व्याख्याकर, पुरुषवैचित्र्यविहित वक्रता का प्रतिपादन करने जा रहे हैं—

पुरुषवैचित्र्यजन्य वक्रता (वहाँ) होती है—जहाँ कविजन (प्रथमादि पुरुष को) अपने भाव के विपर्यास को परित्यक्त करके प्रस्तुत करते हैं, अर्थात् काव्य में वैचित्र्य (की सृष्टि करने) के लिए (मध्यम पुरुष) युष्मद् अथवा (उत्तम पुरुष) अस्मद् (शब्द) को प्रयुक्त करने के बजाय (प्रथम पुरुष) केवल प्रतिपादिक (शब्द को) प्रयुक्त करते हैं। जैसे—

अस्मद्भाग्यविपर्ययाद्यदि परं देवो न जानाति तम् ॥ ६७ ॥

(विभीषण के कथन कि) किन्तु यदि हम सभी के दुर्भाग्य के कारण स्वामी (आप रावण) उस (समस्त लोकों में प्रसिद्ध शौर्यवाले राम) को नहीं जानते (तो क्या कहा जाय) ॥ ६७ ॥

अत्र त्वं न जानासीति वक्तव्ये वैचित्र्याय देवो न जानातीत्युक्तम्।

यहाँ पर 'तुम नहीं जानते हो' (त्वं न जानासि, इस प्रकार मध्यम पुरुष का प्रयोग न कर, उस) के स्थान पर 'स्वामी नहीं जानते' (देवो न जानाति, ऐसे प्रथम पुरुष) का प्रयोग कर (कवि ने काव्य में अपूर्व रमणीयता की सृष्टि की है इस उदाहरण में प्रातिपदिक 'देवः' का प्रयोग 'न जानाति' इस क्रियापद के साथ हुआ है, किन्तु कहीं २ विना क्रियापद के प्रयोग के केवल प्रातिपदिक का ही प्रयोग कविजन करते हैं ऐसा दिखाते हैं)।

एवं युष्मदादिविपर्यासः क्रियापदं विना प्रातिपदिकमात्रेऽपि दृश्यते। यथा—

इसी तरह युष्मदादि का विपर्यास (अर्थात् मध्यम और उत्तम पुरुष के स्थान पर प्रथम पुरुष का प्रयोग) क्रिया पद (के प्रयोग) के विना केवल प्रातिपदिक (के प्रयोग) में भी देखा जाता है। जैसे—

अयं जनः प्रष्टुमनास्तपोधने
न चेद्रहस्यं प्रतिवक्तुमर्हसि ॥ ६८ ॥

(कुमार-सम्भव के पञ्चम सर्ग में तपस्या करती हुई पार्वती से वटुवेष-धारी शंकर उनकी तपस्या का कारण पूंछते हुए कहते हैं कि—) हे तप मात्र धनवाली (पार्वती) यह (तटस्थ) जन (आपसे कुछ) पूंछने के लिये उत्सुक है यदि (कोई) रहस्य न हो तो (आप उसे निस्सङ्कोच) बता सकती हैं ॥ ६८ ॥

अत्राहं प्रष्टुकाम इति वक्तव्ये ताटस्थ्यप्रतीत्यर्थमयं जन इत्युक्तम् यथा वा—

यहाँ पर (वटुवेषधारी शंकर ने) 'मैं पूंछने के लिए उत्सुक हूँ' ('अहं प्रष्टुमनाः' ऐसे उत्तम पुरुष का प्रयोग करने) के बजाय तटस्थता को द्योतित करने के लिए 'यह जन' (पूंछने के लिए उत्सुक है इस प्रकार 'अयं जनः' इस प्रातिपदिक मात्र) का प्रयोग किया है। (इस प्रकार इस वाक्य में क्रियापद से रहित केवल प्रातिपदिक के प्रयोग द्वारा वैचित्र्य-सम्पादन हो गया है) अथवा जैसे (दूसरा उदाहरण)--

सोऽयं दम्भधृतव्रतः इति ॥ ६६ ॥

(पद्मावती के साथ विवाह करने के लिए उद्यत वत्सराज उदयन द्वारा आग में भस्म हो गई वासवदत्ता को सम्बोधित कर कहे गये कि)—वही यह दम्भ के कारण (एकपत्नीत्व) व्रत को धारण करने वाला (मैं पद्मावती परिणय करने को उद्यत हो गया हूँ) ॥ ६९ ॥

अत्र सोऽहमिति वक्तव्ये पूर्ववद् 'अयम्' इति वैचित्र्यप्रतीतिः।

इस वाक्य में 'वह मैं' ('सोऽहम्' इस प्रकार उत्तम पुरुष) को न कह कर 'वह यह' (सोऽयं, इस प्रथम पुरुष) को (अपनी कृतघ्नता आदि को द्योतित करने के लिए) प्रयुक्त कर (एक अपूर्व चमत्कार को उत्पन्न करने वाले) वैचित्र्य की प्रतीति (कराई) है।

एते च मुख्यतया वक्रताप्रकाराः कतिचिन्निदर्शनार्थं प्रदर्शिताः। शिष्टाश्च सहस्रशः सम्भवन्तीति महाकविप्रवाहे सहृदयैः स्वयमेवोत्प्रेक्ष-णीयाः।

इस प्रकार उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए ये (कविव्यापार) वक्रता के कुछ भेद प्रदर्शित किए गये। शेष तो इसके हजारों भेद सम्भव हो सकते हैं, इन्हें सहृदय लोग स्वयं महाकवियों के प्रवाह (अर्थात् काव्यों) में देखें।

एवं वाक्यावयवानां पदानां प्रत्येकं वर्णाद्यवयवद्वारेण यथासम्भवं वक्रभावं व्याख्यायेदानीं पदसमुदायभूतस्य वाक्यस्य वक्रता व्याख्यायते—

इस प्रकार वाक्य के अवयव रूप (सुबन्त तथा तिङन्त) पदों में से प्रत्येक की (उनके) वर्णादि अवयवों के माध्यम से, यथासम्भव वक्रता की व्याख्या कर अब पद के समुदाय रूप वाक्य की वक्रता की व्याख्या करते हैं :—

वाक्यस्य वक्रभावोऽन्यो भिद्यते यः सहस्रधा।
यत्रालङ्कारवर्गोऽसौ सर्वोऽप्यन्तर्भविष्यति ॥ २० ॥

(पद के समुदायभूत) वाक्य की वक्रता (पूर्वोक्त पदादि-वक्रता से भिन्न) दूसरी (ही) है, जो हजारों प्रकार के भेदों से युक्त है। तथा जिसमें (कवि प्रसिद्ध उपमा आदि) अलङ्कारों का समुदाय सब (का सब) अन्तर्भूत हो जाता है ॥ २० ॥

वाक्यस्य वक्रभावोऽन्यः। वाक्यस्य पदसमुदायभूतस्य। आख्यातं साव्ययकारकविशेषणं वाक्यमिति यस्य प्रतीतिस्तस्य श्लोकादेर्वक्रभावो भङ्गीभणितिवैचित्र्यम् अन्यः पूर्वोक्तवक्रताव्यतिरेकी समुदायवैचित्र्यनिबन्धनः कोऽपि सम्भवति। यथा—

वाक्य का वक्रभाव अन्य (ही) है। वाक्य का अर्थात् पदों के समूह रूप (वाक्य) का। 'अव्यय कारक तथा विशेषणों से युक्त आख्यात (क्रिया पद) वाक्य होता है' इस प्रकार जिसकी प्रतीति होती है, उस श्लोकादि (वाक्यों का) वक्रभाव अर्थात् भङ्गीभणितिवैचित्र्य अन्य अर्थात् (१९ वीं कारिका में प्रतिपादित वर्णविन्यास वक्रता आदि) पूर्वोक्त (पद की) वक्रताओं से अतिरिक्त समुदाय (भूत वाक्य) की विचित्रता का सम्पादन करनेवाला कोई (दूसरा भेद) सम्भव होता है। जैसे—

उपस्थितां पूर्वमपास्य लक्ष्मीं वनं मया सार्धमसि प्रपन्नः।
त्वामाश्रयं प्राप्य तया नु कोपात्सोढास्मि न त्वद्भवने वसन्ती ॥ ७० ॥

('रघुवंश' महाकाव्य में भगवान् श्री राम के द्वारा परित्यक्त सीता, उन्हें जङ्गल में छोड़ कर लौटते हुए लक्ष्मण द्वारा राम के प्रति सन्देश भेजती है कि)—

पहले (वन-गमन-काल में) आपने राज्याभिषेक के समय उपस्थित हुई (राज्य) लक्ष्मी को त्याग कर मेरे साथ वन के लिये प्रस्थान किया था। (अर्थात् उसको उस समय आपने आश्रय न देकर मुझे अपनाया था लेकिन इस समय पुनः आपके राज्य-सिंहासन ग्रहण कर लेने से) आपको आश्रय (रूप में) प्राप्त कर (पूर्वकाल में मेरे ही कारण अपना परित्याग होने से उत्पन्न) क्रोध के कारण, आपके (राज) भवन में निवास करती हुई मुझे वह सहन न कर सकी (अतः मुझे आपसे परित्यक्त करा दिया) ॥ ७० ॥

एतत्सातया तथाविधकरुणाक्रान्तान्तःकरणया वल्लभं प्रति सन्दिश्यते —यदुपस्थितां सेवासमापन्नां लक्ष्मीमपास्य श्रियं परित्यज्य पूर्वं यस्त्वं मया सार्धं वनं प्रपन्नो विपिनं प्रयातस्तस्य तव स्वप्नेऽप्येतन्न सम्भाव्यते। तया पुनस्तस्मादेव कोपात् स्त्रीस्वभावसमुचितसपत्नीविद्वेषात्त्वद्गृहे वसन्ती न सोढास्मि। तदिदमुक्तं भवति—यत्तस्मिन् विधुरदशाविसंष्ठुलेऽपि समये तथाविधप्रसादास्पदतामध्यारोप्य यदिदानीं साम्राज्ये निष्कारणपरित्यागतिरस्कारपात्रतां नीतास्मीत्येतदुचितमनुचितं वा विदितव्यवहारपरम्परेण भवता स्वयमेव विचार्यतामिति।

यह उस प्रकार (गर्भावस्था में वन में परित्यक्त होने के कारण उत्पन्न) करुणा से आक्रान्त अन्तःकरणवाली सीता अपने प्रियतम (राम) के पास सन्देश भेजती है कि—पहले (वनवास काल में) जो आपने उपस्थित अर्थात् सेवा करने के लिये समीप आई हुई (राज्य) लक्ष्मी अर्थात् (राज्य) श्री का परित्याग कर मेरे साथ वन को प्राप्त हुए अर्थात् जंगल चले गये तो ऐसे (मेरे लिथे राज्यश्री का परित्याग करने वाले) आप के लिये यह (मेरा परित्याग करना) कदापि सम्भव नहीं है। अपितु उसी (प्राचीन मेरे कारण अपने परित्याग से उत्पन्न) क्रोध के कारण, नारी स्वभाव के अनुरूप सवतिया डाह के कारण वही (लक्ष्मी) आपके घर में मेरे निवास को सहन न कर सकी। (अतः मुझे घर से निकलवा दिया)। इस कथन का अभिप्राय यह हुआ कि—जो आपने उस (वन गमन से उत्पन्न) कष्टावस्था से विषम समय में भी (मुझे) उस प्रकार (अपने साथ रखने की) कृपा का पात्र बना कर, आज साम्राज्य प्राप्त कर लेने पर (दुःखावस्था की समाप्ति हो जानें पर) बिना किसी कारण के परित्याग रूप तिरस्कार का पात्र बना दिया है, यह (आपने) उचित (किया है) अथवा अनुचित (किया) है, इसका विचार व्यवहार-प्रणाली को (भलीभाँति) जानने वाले आप स्वयं करें। (अर्थात् आपने सर्वथा अनुचित किया है। इस प्रकार इस उदाहरण में सारे वाक्य के अर्थ को समझने पर एक अपूर्व चमत्कार की उतलब्धि होती है अतः यहाँ 'वाक्यवक्रता' हुई।)

स च वक्रभावस्तथाविधो यः सहस्रधा भिद्यते बहुप्रकारं भेदमासादयति। सहस्र-शब्दोऽत्र संख्याभूयस्त्वमात्रवाची, न नियतार्थवृत्तिः, यथा—सहस्रदलमिति । यस्मात् कविप्रतिभानामानन्त्यान्नियतत्वं न सम्भवति। योऽसौ वाक्यस्य वक्रभावो बहुप्रकारः, न जानीमस्तं कीदृशमित्याह—यत्रालङ्कारवर्गोऽसौ सर्वोऽप्यन्तर्भविष्यति । यत्र यस्मिन्नसावलङ्कारवर्गः कविप्रवाहप्रसिद्धप्रतीतिरुपमादिलङ्करणकलापः सर्वः सकलोऽप्यन्तर्भविष्यति अन्तर्भावं व्रजिष्यति, पृथक्त्वेन नावस्थाप्यते। तत्प्रकारभेदत्वेनैव व्यपदेशमासादयिष्यतीत्यर्थः । स चालङ्कारवर्गः स्वलक्षणावसरे प्रतिपदमुदाहरिष्यते।

और वह वक्रता उस प्रकार की है कि जो सहस्रधा भिन्न होती है अर्थात् बहुत से भेदों से युक्त होती है। यहाँ प्रयुक्त सहस्र (हजार) शब्द केवल संख्या की अधिकतामात्र का वाचक है न कि (हजार रूप) निश्चित अर्थ का—जैसे 'सहस्रदल' यह (पद कमल अर्थ का वाचक है, जिसमें हजार ही दल होते हों ऐसी बात नहीं है अपितु सहस्र शब्द द्वारा संख्या की अधिकता का बोध कराया गया है कि कमल में बहुत से दल होते हैं।) क्योंकि कवि की प्रतिभा के अनन्त होने के कारण असकी निश्चितता (कि बस इतने ही भेद होंगे, ऐसा कहना) सम्भव नहीं है। (यदि कोई सन्देह करे कि) यह वाक्य की बहुत भेदों वाली वक्रता होती है कैसी ? यही हम नहीं जानते अतः (उसके स्वरूप बताने के लिये) कहते हैं—जहाँ यह सारा अलङ्कार-समुदाय अन्तर्भूत हो जायगा। जहाँ अर्थात् जिस (वाक्यवक्रता) में यह अलङ्कार-समुदाय अर्थात् कविप्रवाह में प्रसिद्ध अस्तित्व वाले उपमा आदि अलङ्कारों का समूह सब अर्थात् सारा का सारा अन्तर्भूत होगा अर्थात् अन्तर्भाव को प्राप्त करेगा अलग से (उसकी) स्थिति न रहेगी। उसी (वाक्य-वक्रता) के भेद-प्रभेद रूप से संज्ञा को प्राप्त करेगा यह अभिप्राय हुआ। और वह अलङ्कार-समुदाय अपने-अपने लक्षण के समय प्रतिपद उदाहृत किया जायगा।

एवं वाक्यवक्रतां व्याख्याय वाक्यसमूहरूपस्य प्रकरणस्य तत्समुदायात्मकस्य च प्रबन्धस्य वक्रता व्याख्यायते—

इस प्रकार 'वाक्यवक्रता' की व्याख्या कर वाक्य के समुदायभूत 'प्रकरण', तथा उस (प्रकरण) के समूह रूप 'प्रबन्ध की' वक्रता की व्याख्या करने जा रहे हैं—

वक्रभावः प्रकरणे प्रबन्धे वास्ति यादृशः ।
उच्यते सहजाहार्यसौकुमार्यमनोहरः ॥ २१ ॥

प्रबन्ध अथवा प्रकरण में, स्वाभाविक (सहज) तथा व्युत्पत्ति के द्वारा उत्पन्न की गयी (आहार्य) सुकुमारता से चित्ताकर्षक जिस प्रकार की वक्रता (विद्यमान रहती) है, (उसे अब) कहा जाता है ॥ २१ ॥

वक्रभावो विन्यासवैचित्र्यं प्रबन्धैकदेशभूते प्रकरण यादृशोऽस्ति यादृग् विद्यते प्रबन्धे वा नाटकादौ सोऽत्युच्यते कथ्यते । कीदृशः—सहजाहार्यसौकुमार्यमनोहरः सहजं स्वाभाविकमाहार्यं व्युत्पत्त्युपार्जितं यत्सौकुमार्यं रामणीयकं तेन मनोहरो हृदयहारी यः स तथोक्तः ।

वक्रभाव अर्थात् विन्यास की विचित्रता, प्रबन्ध के एकदेशभूत प्रकरण में जिस प्रकार की है अथवा प्रबन्ध अर्थात् नाटक आदि में जिस ढङ्ग की (विचित्रता) है उसे कहते हैं। कैसा है (वह वक्रभाव) सहज तथा आहार्य सौकुमार्य से मनोहर। सहज अर्थात् स्वाभाविक, आहार्य अर्थात् व्युत्पत्ति द्वारा उत्पन्न किया गया, जो सौकुमार्य अर्थात् रमणीयता उससे मनोहर हृदय को आकर्षित करने वाला है जो वह हुआ तथोक्त (अर्थात् सहज एवं आहार्य सौकुमार्य से मनोहर)।

तत्र प्रकरणे वक्रभावो यथा—रामायणे मारीचमायामयमाणिक्यमृगानुसारिणो रामस्य करुणाक्रन्दकर्णनकान्तरान्तःकरणया जनकराजपुत्र्या तत्प्राणपरित्राणाय स्वजीवितपरिरक्षानिरपेक्षया लक्ष्मणो निर्भर्त्स्य प्रेषितः ।

उन प्रकरण में वक्रता (का उदाहरण देते हैं) जैसे—वाल्मीकि रामायण में मारीच रूप मायानिर्मित माणिक्य (सोने) के मृग का पीछा करने वाले रामचन्द्र के करुण-आर्तनाद को सुनने से अधीर हो गये हृदय वाली जनकराज पुत्री सीता ने, उन (रामचन्द्र) के प्राण की रक्षा करने के लिए, अपने प्राणों की रक्षा की चिन्ता न कर, लक्ष्मण की भर्त्सना कर (लक्ष्मण को) भेजा था।

तदेतदत्यन्तमनौचित्ययुक्तम्, यस्मादनुचरसन्निधाने प्रधानस्य तथाविधव्यापारकरणमसम्भावनीयम्। तस्य च सर्वातिशयचरितयुक्तत्वेन वर्ण्यमानस्य तेन कनीयसा प्राणपरित्राणसम्भावनेत्येतदत्यन्तमसमीचीनमिति पर्यालोच्य उदात्तराघवे कविना वैदग्ध्यवशेन मारीचमृगमारणाय प्रयातस्य परित्राणार्थं लक्ष्मणस्य सीतया कातरत्वेन रामः प्रेरितः इत्युपनिबद्धम्। अत्र च तद्विदाह्लादकारित्वमेव वक्रत्वम्। यथा च—

यह बात अत्यन्त ही अनुचित है क्योंकि (लक्ष्मण रूप) अनुचर के समीप रहने पर प्रधान (राम) के उस प्रकार (माणिक्यमृग का पीछा करने) का व्यापार करने की सम्भावना ही नहीं की जा सकती। (अतः रामायण में किया गया यह वर्णन अनुचित प्रतीत होता है।) साथ ही (रामायण में) सर्वातिशायी चरित्र से युक्त रूप में वर्णित किए जाते हुए उन (राम) के प्राणों की रक्षा की सम्भावना उनसे छोटे (भाई लक्ष्मण) के द्वारा की जाय यह और भी अधिक अनुचित है। इस प्रकार (इस प्रकरण के अनौचित्य) का भली भाँति विचार कर 'उदात्त राघव' (नामक नाटक) में (कुशल) कवि ने बड़े ही कौशल के साथ, "मारीच (रूप मायामयमाणिक्य) मृग के मारने के किए गये हुए लक्ष्मण की प्राणरक्षा के लिये (उनके करुण-क्रन्दन को सुनकर) सीता ने अधीरता से राम को भेजा था" ऐसे (प्रकरण की) रचना किया है। और इस ढङ्ग के रामायण से परिवर्तित प्रकरण में सहृदय-हृदयाह्लादकारिता ही (प्रकरण की) वक्रता है। जैसे कि—

किरातार्जुनीये किरातपुरुषोक्तिषु वाच्यत्वेन स्वमार्गणमार्गणमात्रमेवोपक्रान्तम्। वस्तुतः पुनरर्जुनेन सह तात्पर्यार्थलोचनया विग्रहो वाक्यार्थतामुपनीतः।

(भारवि विरचित) 'किरातार्जुनीयम्' (महाकाव्य) में (भगवान शङ्कर द्वारा प्रेषित) किरात पुरुष की उक्तियों में वाच्य ढङ्ग से केवल अपने बाण के अन्वेषण को ही (कवि ने) उपनिबद्ध किया है। किन्तु (उन दोनों किरातपुरुष तथा अर्जुन की वार्ता के) तात्पर्यार्थ का सम्यक् विचार करने से वास्तव में (शङ्कर का) अर्जुन के साथ युद्ध ही वाक्यार्थ रूप में उपन्यस्त किया गया है।

टिप्पणी—किरातार्जुनीय एक प्रबन्ध काव्य है जिसके भीतर अनेक प्रकरण सम्भव है। यहाँ जिस प्रकरण को कवि ने प्रस्तुत किया है वह १३ वें तथा १४ वें सर्ग की कथा से सम्बद्ध है। जब अर्जुन की तपस्या से प्रसन्न होकर इन्द्र उसे भगवान् शङ्कर की तपस्या करने का उपदेश देते हैं तो अर्जुन बिना किसी विषाद के भगवान् शङ्कर को प्रसन्न करने के लिए कठोर तप करने लगता है। उसके घोर तप को देख कर एक दिन सभी देवगण शङ्कर के पास जाते हैं और अर्जुन की घोर तपस्या का वर्णन कर उसका प्रयोजन पूछते हैं। तभी शङ्कर देवताओं को यह बताते हुए कि वह मुझे प्रसन्न करने के लिए तपस्या कर रहा है वहाँ से देवों के साथ, अर्जुन का वध करने के लिये आते हुए मूक दानव (वराह) से उसकी रक्षा करने के लिए चल

देते हैं। तथा स्थल पर पहुँच एक साथ ही अर्जुन तथा शङ्कर दोनों के बाणों के लगने से वह शूकर मर जाता है। अर्जुन एक ओर से अपना बाण लेने पहुँचते हैं दूसरी ओर से शङ्कर का भेजा हुआ किरात सैनिक शङ्कर के बाण को खोजता हुआ वहीं पहुँचता है। पहले वह बड़ी शान्तिपूर्वक भाषण करता हुआ अर्जुन से बाण वापस देने को कहता है। फिर शङ्कर के साथ सुग्रीव एवं राम की भाँति मैत्री करने का प्रलोभन देता है। और जब इस पर भी अर्जुन बाण देने को तैयार नहीं होते तो शङ्कर के अपूर्व पराक्रम का वर्णन कर अर्जुन को भय का प्रदर्शन करता है। और इसी प्रकार बात बढ़ते २ अर्जुन की चुनौती स्वीकार कर शङ्कर सहित वे युद्ध करने के लिए उपस्थित हो जाते हैं। इस प्रकार यहाँ कवि को अभिप्रेत रहा है शङ्कर और अर्जुन का युद्ध जिससे की आगे शङ्कर भगवान् प्रसन्न हो अर्जुन को दिव्यास्त्र प्रदान करते हैं। उस युद्ध का वर्णन प्रस्तुत करने के लिए ही कवि ने इस प्रकरण का निबन्धन किया है। अतः यद्यपि इसमें वर्णन तो बाण की खोज का ही किया गया है लेकिन यदि उसके अभिप्राय (तात्पर्यार्थ) का विचार किया जाय तो साफ स्पष्ट है कि वह केवल युद्ध की ही भूमिका है। अतः यह प्रकरण की वक्रता हुई।

तथा च तत्रैवोच्यते—

प्रयुज्य सामाचरितं विलोभनं भयं विभेदाय धियः प्रदर्शितम्।
तथाभियुक्तं च शिलीमुखार्थिना यथेतरन्न्याय्यमिवावभासते॥ ७१॥

जैसा कि वही (१४ वें सर्ग के ७ वें श्लोक में अर्जुन के द्वारा) कहा गया है—

(तुमने पहले शान्तिपूर्ण बातें कर) साम का प्रयोग कर (फिर अपने सेनापति के साथ मित्रता का लोभ देकर) प्रलोभन सम्पादित किया। (तदनन्तर) बुद्धि को विचलित करने के लिए (अपने स्वामी के अतुल पराक्रम का वर्णन कर) भय का प्रदर्शन किया। एवं (केवल) बाण प्राप्त करने के इच्छुक तुमने उस प्रकार (की वाणी) का प्रयोग किया है जो अन्यायपूर्ण होते हुए भी न्याययुक्त सी प्रतीत होती है। (अथवा जो वाणी न्याय्य से इतर अन्यायपूर्ण सी प्रतीत होती है)॥ ७१॥

व्याख्या की गयी है। विस्तार के साथ उनका विवेचन अपना-अपना लक्षण करते समय किया जायगा।

प्रबन्धे वक्रभावो यथा—क्वचिन्महाकविविरचिते रामकथोपनिबन्धे नाटकादौ पञ्चविधवक्रतासामग्रीसमुदायसुन्दरं सहृदयहृदयहारि महापुरुषवर्णनमुपक्रमे प्रतिभासते परमार्थतस्तु विधिनिषेधात्मकधर्मोपदेशः पर्यवस्यति, रामवद्वर्तितव्यं न रावणवदिति।

यथा च, तापसवत्सराजे कुसुमसुकुमारचेतसः सरसविनोदैकरसिकस्य नायकस्य चरितवर्णनमुपक्रान्तम्। वस्तुतस्तु व्यसनार्णवे निमज्जन्निजो राजा तथाविधनयव्यवहारनिपुणैरमात्यैस्तैस्तैरुपायैरुत्तारणीय इत्युपदिष्टम्। एतच्च स्वलक्षणव्याख्यानावसरे व्यक्ततामायास्यति।

(इस प्रकार 'प्रकरण-वक्रता' का विवेचनकर अब 'प्रबन्धवक्रता' को विवेचित करते हैं)—प्रबन्ध में वक्रता का उदाहरण जैसे—

किसी महाकवि-विरचित रामकथा का वर्णन करनेवाले नाटक आदि में (पूर्व—विवेचित वर्ण्य-विन्यास-वक्रता, पदपूर्वार्द्ध-वक्रता, प्रत्ययाश्रय-वक्रता, वाक्य-वक्रता एवं प्रकरण-वक्रता रूप) पाँच प्रकार की वक्रताओं से युक्त सामग्री के समुदाय से सुन्दर सहृदयों के हृदयों को आकर्षित करने वाला महापुरुष के चरित्र का वर्णन आरम्भ में प्रतीत होता है। किन्तु वस्तुतः उसका पर्यवसान 'राम की तरह व्यवहार करना चाहिए' (में विधिरूप) 'रावण की तरह नहीं' (में निषेधरूप) इस प्रकार विधि तथा निषेधरूप धर्म के उपदेश में उस प्रबन्ध का पर्यवसान होता है। और जैसे (उदाहरणस्वरूप) 'तापसवत्सराज' (नामक नाटक) में रसपूर्ण विनोद के एकमात्र रसिक तथा पुष्प के सदृश सुकोमल हृदयवाले नायक (वत्सराज उदयन) के चरित्र का वर्णन प्रारम्भ किया गया है, लेकिन वास्तव में विपत्ति के सागर में डूबते हुए अपने राजा का उस प्रकार के नीति एवं व्यवहार में दक्ष मन्त्रियों द्वारा उन-उन तथा वर्णित उपायों द्वारा उद्धार करना चाहिए, यह उपदेश दिया गया है। यह बात अपने लक्षण की व्याख्या करते समय अधिक स्पष्ट हो जायगी।

टिप्पणी—(इस प्रकार अब तक राजानक कुन्तक ने कविव्यापार की वक्रता का विवेचन करते हुए ६ प्रकार की वक्रताओं (१) वर्ण्य विन्यास-वक्रता (२) 'पदपूर्वार्द्ध—वक्रता' एवं उसके अन्तर्गत 'रूढिवैचित्र्य-वक्रता आदि आठ अवान्तर भेदों का तथा (३) प्रत्ययाश्रय-वक्रता तथा उसके अन्तर्गत संख्या, कारक एवं पुरुषवैचित्र्य-कृत वक्रता रूप तीन अवान्तर भेदों का (४) वाक्यवक्रता (५) प्रकरण-वक्रता तथा (६) प्रबन्धवक्रता का संक्षिप्त विवेचन किया।)

एवं कविव्यापारवक्रत षट्कमुद्देशमात्रेण व्याख्यातम्। विस्तरेण तु स्वलक्षणावसरे व्याख्यास्यते।

इस प्रकार कवि-व्यापार की ६ वक्रताओं की नाम संकीर्तन मात्र से व्याख्या की गयी है। विस्तार के साथ उनका विवेचन अपना-अपना लक्षण करते समय किया जायगा।

क्रमप्राप्तत्वेन बन्धोऽधुना व्याख्यास्यते—

वाच्यवाचकसौभाग्यलावण्यपरिपोषकः ।
व्यापारशाली वाक्यस्य विन्यासो बन्ध उच्यते ॥ २२ ॥

(इस प्रकार 'शब्दार्थौ सहितौ……' (१।७) इत्यादि काव्य-लक्षण में प्रयुक्त 'शब्दार्थौ' 'सहितौ' एवं 'वक्रकविव्यापार' पदों की व्याख्या कर चुकने के बाद) क्रम प्राप्त होने से अब 'बन्ध' पद का व्याख्यान किया जा रहा है—

अर्थ और शब्द के (आगे कहे जाने वाले) सौभाग्य एवं लावण्य (गुणों) को परिपुष्ट करनेवाली (कवि) व्यापार से शोभित होनेवाली वाक्य (श्लोकादि) की विशिष्ट संघटना को 'बन्ध' कहते हैं ॥ २२ ,।

विन्यासो विशिष्टं न्यसनं यः सन्निवेशः स एष व्यापारशाली बन्ध उच्यते । व्यापारोऽत्र प्रस्तुतकाव्यक्रियालक्षणः । तेन शालते श्लाघते यः स तथोक्तः । कस्य—वाक्यस्य श्लोकादेः । कीदृशः—वाच्यवाचकसौभाग्यलावण्यपरिपोषकः वाच्यवाचकयोर्द्वयोरपि वाच्यस्याभिधेयस्य वाचकस्य च शब्दस्य वक्ष्यमाणं सौभाग्य-लावण्यलक्षणं यद् गुणद्वयं तस्य परिपोषकः पुष्टतातिशयकारी सौभाग्यं प्रतिभासंरम्भफलभूतं चेतनचमत्कारित्वलक्षणम् , लावण्यं सन्निवेश-सौन्दर्यम् , तयोः परिपोषकः । यथा—

विन्यास अर्थात् विशिष्ट ढंग से वर्णों एवं पदों का न्यास रूप जो संघटना है वही काव्य-कर्म रूप व्यापार से शोभित होनेवाला 'बन्ध' कहा जाता है। व्यापार का मतलब यहाँ पर काव्य-क्रिया रूप है। उसके द्वारा जो 'शालते' अर्थात् प्रशंसित होता है वह हुआ व्यापारशाली। किसका (विन्यास) वाक्य अर्थात् श्लोकादि का विन्यास । किस ढंग का (विन्यास)—वाक्य और वाचक के सौभाग्य तथा लावण्य का परिपुष्ट करने वाला । वाच्य और वाचक दोनों का भी वाच्य अर्थात् अर्थ, वाचक अर्थात् शब्द का आगे कहा जानेवाला सौभाग्य और लावण्य रूप जो गुण-द्वय उसका परिपोषक अर्थात् पोषण के अतिशय को उत्पन्न करने वाला । सौभाग्य अर्थात् (कवि) प्रतिभा के संरम्भ का परिणामस्वरूप सहृदयहृदय को आनन्दित करने की योग्यता, लावण्य अर्थात् संघटना की सुन्दरता उन दोनों को परिपुष्ट करनेवाला (वाक्य-विन्यास) 'बन्ध' कहा जाता है) । जैसे—

दत्त्वा वामकरं नितम्बफलके लीलावलन्मध्यया
प्रोत्तुङ्गस्तनमंसचुम्बिचिबुकं कृत्वा तया मां प्रति
प्रान्तप्रोतनवेन्द्रनीलमणिमन्मुक्तावलीविभ्रमाः
सासूयं प्रहिताः स्मरज्वरमुचो द्वित्राः कटाक्षच्छटाः ॥ ७२ ॥

विलास के साथ कमर को झुकाये हुए, उस (मेरी प्रेयसी) ने अपने वामहस्त को नितम्बस्थलपर रखकर स्तन को खूब उभाड़कर, और ठोडी को कन्धे का स्पर्श कराकर मेरे प्रति असूया के साथ मदनज्वर को छोड़ने वाले किनारों पर लगी हुई नयी-नयी इन्द्रनीलमणियों से युक्त, मोतियों की माला के विलास से युक्त दो-तीन कटाक्ष फेंके ॥ ७२ ॥

अत्र समग्रकविकौशलसम्पाद्यस्य ¹चेतनचमत्कारित्वलक्षणस्य सौभाग्यस्य कियन्मात्रवर्णविन्यासविच्छित्तिविहितस्व पदसन्धानसम्पदुपार्जितस्य च लावण्यस्य परः परिपोषो विद्यते ।

यहाँ पर सहृदयहृदय को आनन्द देनेवाले, समग्र कवि की कुशलता से सम्पादित किये जानेवाले सौभाग्य गुण को, और केवल कुछ ही वर्णों की विशेष रचना के वैचित्र्य से उत्पन्न, पदों के संयोग की सम्पत्ति से उपार्जित होनेवाले लावण्य (गुण) को अत्यधिक परिपुष्ट किया गया है ।

एवं च स्वरूपमभिधाय तद्विदाह्लादकारित्वमभिधत्ते—

वाच्यवाचकवक्रोक्तित्रितयातिशयोत्तरम् ।
तद्विदाह्लादकारित्वं किमप्यामोदसुन्दरम् ॥ २३ ॥

इस प्रकार (बन्ध) के स्वरूप को बताकर अब उसकी काव्य-मर्मज्ञों के लिए आनन्द प्रदान करने की योग्यता को बताते हैं—

अर्थ, शब्द एवं वक्रोक्ति इन तीनों के उत्कर्ष से भिन्न (अलौकिक उत्कर्षयुक्त) एवं, किसी (अनुभवैकगम्य) आमोद (रंजकता) से रमणीय कोई अलौकिकतत्त्व ही काव्यमर्मज्ञों को आह्लादित करने की योग्यता है ॥ २३ ॥

तद्विदाह्लादकारित्वं काव्यविदानन्दविधायित्वम् । कीदृशम्—वाच्यावाचकवक्रोक्तित्रितयातिशयोत्तरम् । वाच्यमभिधेयं वाचकं शब्दो वक्रोक्तिरलङ्करणम्, एतस्य त्रितयस्य योऽतिशयः कोऽप्युत्कर्षस्तस्मादुत्तरमतिरिक्तम् । स्वरूपेणातिशयेन च स्वरूपेणान्यत् किमपि तत्त्वान्तरमेतदतिशयेनैतस्मात्त्रितयादपि लोकत्तरमित्यर्थः । अन्यच्च कीदृशम्—किमप्यामोदसुन्दरम् । किमप्यव्यपदेश्यं सहृदयहृदय-

सन्देशम् आमोदः सुकुमारवस्तुधर्मो रञ्जकत्वं नाम, तेन सुन्दरं वञ्जकत्वरमणीयम्। यथा—

तद्विदाह्लादकारिता अर्थात् काव्य को समझने वालों को आनन्दित करने की योग्यता। कैसी है—तद्विदाह्लादकारिता—वाच्य, वाचक और वक्रोक्ति तीनों के अतिशय से भिन्न। वाच्य अर्थात् अभिधेय अर्थ, वाचक अर्थात् शब्द, वक्रोक्ति अर्थात् अलंकार—इन तीनों का जो अतिशय अर्थात् कोई (अलौकिक) उत्कर्ष उससे उत्तर अर्थात् भिन्न, स्वरूप और अतिशय (दोनों से भिन्न) स्वरूप से भिन्न अर्थात् वह कोई दूसरा तत्त्व है (ऐसी प्रतीति होती है) और अतिशय से भिन्न अर्थात् इन (वाच्य, वाचक और वक्रोक्ति) दोनों से भी लोकोत्तर है। और कैसा है वह तद्विदाह्लादकारित्व—किसी (अलौकिक या अनिर्वचनीय (आमोद से सुन्दर। कोई अनिर्वचनीय सहृदयहृदय के अनुभव द्वारा अनुभव किया जा सकनेवाला आमोद अर्थात् रंजकता नामक सुकुमार वस्तु का धर्म, उससे सुन्दर रंजकता से रमणीय। जैसे—

हंसानां निनदेषु यैः कवलितैरासज्यते कूजता-
मन्यः कोऽपि कषायकण्ठलुठनादाघर्घरो विभ्रमः।
ते सम्प्रत्यकठोरवारणवधूदन्ताङ्कुरस्पर्धिनो
निर्याताः कमलाकरेषु बिसिनीकन्दाग्रिमग्रन्थयः॥ ७३॥

(कोई कवि मृणालतन्तु की आरम्भ की ग्रन्थियों का वर्णन करता है कि—

जिनका भक्षण कर लेने से शब्द करते हुए हंसी के कूजन में मधुर कण्ठ के संयोग से घर-घर ध्वनियुक्त कोई विलक्षण ही विलास उत्पन्न हो जाता है, हथिनी के कोमल (तुरन्त निकले हुए) दन्ताङ्कुरों से होड़ लगानेवाली वे मृणालतन्तु की अग्रिम (नयी-नयी) ग्रन्थियाँ इस समय सरोवरों में आविर्भूत हो गयी हैं॥ ७३॥

अत्र त्रितयेऽपि वाच्यवाचकवक्रोक्तिलक्षणे प्राधान्येन न कश्चिदपि कवेः संरम्भो विभाव्यते। किंतु प्रतिभावैचित्र्यवशेन किमपि तद्विदाह्लादकारित्वमुन्मीलितम्।

यहाँ पर वाच्य, वाचक और वक्रोक्ति तीनों के सम्भव होने पर भी (उन्हें उपस्थित करने में) कवि का प्रधान रूप से कोई संरम्भ नहीं दिखाई देता, अपितु प्रतिभा के वैचित्र्य के वशीभूत होकर कवि ने किसी अलौकिक काव्य-मर्मज्ञों की आह्लादकारिता का उन्मीलन किया है।

यद्यपि सर्वेषामुदाहरणानामविकलकाव्यलक्षणपरिसमाप्तिः सम्भवति तथापि यत्प्राधान्येनाभिधीयते स एवांशः प्रत्येकमुद्रिक्ततया तेषां परिस्फुरतीति सहृदयैः स्वयमेवोत्प्रेक्षणीयम् ।

यद्यपि सभी उदाहरणों में (जिन्हें कि मैंने अभी तक उद्धृत किया है) काव्य के समस्त लक्षणों की प्राप्ति सम्भव हो सकती है, फिर भी जिसका प्राधान्यरूप से वर्णन किया जाता है (अर्थात् लक्षण के जिस अंश को वह उदाहरण होता है) वही अंश प्रधान रूप से उनमें परिस्फुरित होता है ऐसा सहृदयों को स्वयं समझ लेना चाहिए ।

एवं काव्यसामान्यलक्षणमभिधाय तद्विशेषलक्षणविषयप्रदर्शनार्थं मार्गभेदनिबन्धनं त्रैविध्यमभिधत्ते—

इस प्रकार काव्य के सामान्य लक्षण को बताकर उसके विशेष लक्षण का विषय बताने के लिए मार्ग-भेद के कारण होने वाले त्रैविध्य का कथन करते हैं—

सम्प्रति तत्र ये मार्गाः कविप्रस्थानहेतवः ।
सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चोभयात्मकः ॥ २४ ॥

उस (काव्य) में कवि की प्रवृत्ति के कारणभूत जो सुकुमार, विचित्र और उभयात्मक मध्यम मार्ग सम्भव हैं, उन्हें बताते हैं ॥ २४ ॥

तत्र तस्मिन् काव्ये मार्गाः पन्थानस्त्रयः सम्भवति । न द्वौ न चत्वारः, स्वरादिसंख्यावत्तावतामेव वस्तुतस्तज्ज्ञैरुपलम्भात् । ते च कीदृशाः— कविप्रस्थानहेतवः । कवीनां प्रस्थानं प्रवर्त्तनं तस्य हेतवः, काव्यकरणस्य कारणभूताः । किमभिधानाः—सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चेति । कीदृशो मध्यमः—उभयात्मकः । उभयमनन्तरोक्तं मार्गद्वयमात्मा यस्येति विग्रहः । छायाद्वयोपजीवीत्युक्तं भवति । तेषां च स्वलक्षणावसरे स्वरूपमाख्यास्यते ।

वहाँ अर्थात् उस काव्य में तीन मार्ग अर्थात् रास्ते सम्भव हैं । न दो, न चार; स्वर आदि की संख्या के समान उतने (अर्थात् तीन) के ही वास्तव में काव्यमर्मज्ञों द्वारा अनुभव किये जाने से । और वे हैं कैसे— कवि प्रस्थान के हेतु । कवियों का प्रस्थान अर्थात् (काव्य करने की) प्रवृत्ति उसके हेतु, अर्थात् काव्य करने के कारणभूत । उनके क्या नाम हैं— सुकुमार मार्ग, विचित्रमार्ग और मध्यममार्ग । मध्यममार्ग कैसा है—

उभयात्मक है। उभय अर्थात् अभी-अभी कहा गया (सुकुमार और विचित्र रूप) मार्गद्वय है आत्मा अर्थात् स्वरूप जिसका (वह उभयात्मक हुआ) इस प्रकार का विग्रह होगा। (मध्यम मार्ग) दोनों (सुकुमार और विचित्र) मार्गों की छाया पर आश्रित होता है यह तात्पर्य हुआ। उन (तीनों मार्गों) का स्वरूप अपने-अपने लक्षण के समय बताया जायगा।

अत्र च बहुविधा विप्रतिपत्तयः संभवन्ति । यस्माच्चिरन्तनै-र्विदर्भादिदेशविशेषसमाश्रयणेन वैदर्भीप्रभृतयो रीतयस्तिस्रः समाम्नाताः । तासां चोत्तमाधममध्यमत्ववैचित्र्येण त्रैविध्यम्। अन्यैश्च वैदर्भगौडीयलक्षणं मार्गद्वितयमाख्यातम् । एतच्चोभयमप्य-युक्तियुक्तम् । यस्माद्देशभेदनिबन्धनत्वे रीतिभेदानां देशानामान-न्त्यादसंख्यत्वं प्रसज्यते । न च विशिष्टरीतियुक्तत्वेन काव्यकरणं मातुलेयभगिनीविवाहवद् देशधर्मतया व्यवस्थापयितुं शक्यम्। देश-धर्मो हि वृद्धव्यवहारपरंपरामात्रशरणः शक्यानुष्ठानतां नातिवर्तते। तथाविधकाव्यकरणं पुनः शक्त्यादिकारणकलापसाकल्यमपेक्ष्यमाणं न शक्यते तथाकथंचिदनुष्ठातुम्। न च दाक्षिणात्यगीतविषयसुस्वरतादि-ध्वनिरामणीयकवत्तस्य स्वाभाविकत्वं वक्तुं पार्यते । तस्मिन् सति तथाविधकाव्यकरणं सर्वस्य स्यात् । किंच शक्तौ विद्यमानायामपि व्युत्पत्त्यादिराहार्यकारणसम्पत्प्रतिनियतदेशविषयतया न व्यवतिष्ठते, नियमनिबन्धनाभावात् तत्रादर्शनाद् अन्यत्र च दर्शनात्।

इस (मार्ग-त्रितय) के विषय में अनेक प्रकार की विप्रतिपत्तियाँ सम्भव हैं। क्योंकि प्राचीन (वामन, राजशेखर आदि) आचार्यों ने (विदर्भ आदि देशविशेषों (में प्राप्ति) के आधार पर वैदर्भी आदि (वैदर्भी, गौडीया और पाञ्चाली) तीन रीतियों को स्वीकार किया है। और उन (वैदर्भी आदि तीनों रीतियों) के उत्तम, अधम और मध्यम रूप-वैचित्र्य (का प्रतिपादन करने) के कारण (उत्तम, अधम और मध्यम) तीन प्रकार स्वीकार किये हैं। तथा दूसरे (दण्डी आदि) आचार्यों ने वैदर्भ और गौडीय रूप दो मार्गों की स्थापना किया है। ये दोनों ही (वामन, राजशेखर और दण्डी के मत) युक्तियुक्त नहीं हैं। क्योंकि रीतिभेदों का आधार (वामन, राजशेखर के अनुसार) देशभेद को स्वीकार कर लेने पर देशों के अनन्त होने से (रीतियाँ भी) असंख्य हो जायँगी। और विशिष्ट रीति से युक्त रूप में काव्य-रचना की स्थापना मामा की लड़की के साथ विवाह की भाँति (मातुलेयभगिनी-विवाहवत्) देशधर्म के आधार पर नहीं की जा सकती

है। क्योंकि देशधर्म वृद्धों की व्यवहार-परम्परा को ही आश्रयण करने के कारण अपने अनुष्ठान की सम्भावना का अतिक्रमण नहीं करता है (अर्थात् वृद्धों की परम्परा पर आधारित होने के कारण उसकी स्थिति वहाँ पर असम्भव नहीं है)। लेकिन शक्ति आदि कारण-समुदाय के साकल्य की अपेक्षा रखनेवाली उस प्रकार की काव्य-रचना तो किसी भी प्रकार देश-विदेष के आधारपर स्थापित नहीं की जा सकती। और न, दाक्षिणात्य गीत-विषयक सुस्वरता इत्यादि ध्वनि के सौन्दर्य के सदृश उसकी स्वाभाविकता ही कही जा सकती है, क्योंकि उस प्रकार की स्वाभाविकता स्वीकार कर लेने पर उसी प्रकार की काव्य-रचना सभी के लिए सम्भव हो जायगी। और फिर (यदि शक्ति को सभी के अन्दर समानरूप से मान लिया भी जाय तो फिर) शक्ति के विद्यमान रहने पर भी, व्युत्पत्ति इत्यादि आहार्य (अर्थात् प्रयत्न द्वारा सम्पन्न होने वाली कारण-सम्पत्ति हर एक देश के विषय रूप में निश्चित नहीं है (क) किसी नियम के आधार के अभाव के कारण (ख) उस (देश-विदेश) के सभी कवियों में दिखाई न पड़ने से (ग) अन्यत्र (दूसरे देश के कवियों में भी) दिखाई पड़ने से। (अर्थात् यदि देश के सभी व्यक्तियों में शक्ति को स्वीकार भी कर लिया जाय तो व्युत्पत्ति इत्यादि आहार्य कारण-सम्पत्ति भी वहाँ निश्चित रूप से पायी जाय यह सर्वथा असम्भव है अतः देशभेद के आधार पर रीतियों का भेद करना ठीक नहीं है)।

न च रीतिनामुत्तमाधममध्यमत्वभेदेन त्रैविध्यं व्यवस्थापयितुं न्याय्यम्। यस्मात् सहृदयाह्लादकारिकाव्यलक्षणप्रस्तावे वैदर्भीसदृशसौन्दर्यासंभवान्मध्यमाधमयोरुपदेशवैयर्थ्यमायाति। परिहार्यत्वेनाप्युपदेशो न युक्ततामालम्बते, तैरेवानभ्युपगतत्वात् न चागतिकगतिन्यायेन यथाशक्ति दरिद्रदानादिवत् काव्यं करणीयतामर्हति। तदेवं निर्वचनसमाख्यामात्रकरणकारणत्वे देशविशेषाश्रयणस्य वयं न विवदामहे। मार्गद्वितयवादिनामप्येतान्येव दूषणानि। तदलमनेन निःसारवस्तुपरिमलनव्यसनेन।

और न तो रीतियों का उत्तम, मध्यम और अधम रूप भेदों के द्वारा उनका त्रिविध विभाजन उचित है क्योंकि सहृदयों के हृदयों को आनन्दित करनेवाले काव्य के लक्षण के प्रसंग में वैदर्भी के सदृश सुन्दरता सम्भव न हो सकने से अन्य (दो भेद) मध्यम और अधम का उपदेश व्यर्थ हो जायगा (क्योंकि वैदर्भी के समान आह्लादजनक न होने के कारण गौडी

तथा पाञ्चाली के प्रति सहृदय आकृष्ट ही न होंगे, अतः उनका उपदेश व्यर्थ सिद्ध होगा और यदि कोई यह कहना चाहे कि वामन आदि ने इन दो रीतियों-पाञ्चाली और गौडी का) उपदेश परिहार्यरूप (अर्थात् त्याज्यरूप) में किया है (कि कवियों को इन दो रीतियों को नहीं ग्रहण करना चाहिए तो यह कथन भी) युक्तिसंगत नहीं हो सकता, उन्हीं (वामन आदि) को ऐसा स्वीकार न होने से और न तो अगतिकगतिन्याय से (अर्थात् जो चलने में सर्वथा असमर्थ है वह जो कुछ भी थोड़ा-बहुत चल ले वही पर्याप्त होता है) यथाशक्ति दरिद्र के दान की तरह (मध्यम अथवा अधम) काव्य करने के योग्य होता है। (अर्थात् काव्य-रचना उत्तम ही की जानी चाहिए अतः रीतियों का उत्तम-मध्यम और अधम रूप से किया गया विभाजन ठीक नहीं है)। इस प्रकार देश-विशेष के आश्रय का केवल रीतियों के निर्वचन अथवा संज्ञा रखने का कारण होने में ही हमारा मतभेद नहीं है, अपितु उनके स्वरूप के विषय में भी मतभेद है, जिसके कि आधार पर उन्हें उत्तम, मध्यम और अधम कोटि में विभक्त किया जाता है। दो मार्गों का भी विवेचन करने वाले (दण्डी आदि के मतों में भी) ये ही दोष होंगे। अतः इस प्रकार की सारहीन वस्तु की आलोचना करने से कोई लाभ नहीं है।

कविस्वभावभेदनिबन्धनत्वेन काव्यप्रस्थानभेदः समञ्जसतां गाहते। सुकुमारस्वभावस्य कवेस्तथाविधैव सहजा शक्तिः समुद्भवति, शक्तिशक्तिमतोरभेदात्। तया च तथाविधसौकुमार्यरमणीयां व्युत्पत्तिमाबध्नाति। ताभ्यां च सुकुमारवर्त्मनाभ्यासतत्परः क्रियते। तथैव चैतस्माद् विचित्रः स्वभावो यस्य कवेस्तद्विदाह्लादकारिकाव्यलक्षणकरणप्रस्तावात् सौकुमार्यव्यतिरेकिणा वैचित्र्येण रमणीय एव, तस्य च काचिद्विचित्रैव तदनुरूपा शक्तिः समुल्लसति। तया च तथाविधवैदग्ध्यबन्धुरां व्युत्पत्तिमाबध्नाति। ताभ्यां च वैचित्र्यवासनाधिवासितमानसो विचित्रवर्त्मनाभ्यासभाग् भवति। एवमेतदुभयकविनिबन्धनसंवलितस्वभावस्य कवेस्तदुचितैव शबलशोभातिशयशालिनी शक्तिः समुदेति। तया च तदुभयपरिस्पन्दसुन्दरव्युत्पत्त्युपार्जनमाचरति। ततस्तच्छायाद्वितयपरिपोषपेशलाभ्यासपरवशः संपद्यते।

(इस प्रकार वामन एवं दण्डी इत्यादि के द्वारा देशभेद के आधार पर रीतियों के विभाजन का खण्डन कर अब अपने मत की स्थापना करते हैं)—

कविस्वभाव के भेद को कारण स्वीकार कर किया गया काव्य-मार्ग का भेद समीचीन हो सकता है। सुकुमार स्वभाव वाले कवि की सहजशक्ति भी

इसी प्रकार (सुकुमार ही) होती है। शक्ति और शक्तिमान् में अभेद होने से। और (वह सुकुमार स्वभाव वाला कवि अपनी सहज सुकुमार) उस (शक्ति) के द्वारा उस प्रकार के सौकुमार्य से मनोहर व्युत्पत्ति को धारण करता है। और उस शक्ति तथा व्युत्पत्ति के द्वारा सुकुमार मार्ग से अभ्यास में तत्पर होकर (काव्य-रचना) करता है। उसी प्रकार इस सुकुमार स्वभाव वाले कवि से जिस कवि का, सहृदयों को आह्लादित करने वाले काव्य लक्षण करने के प्रसंग से सौकुमार्य से भिन्न वैचित्र्य के कारण रमणीय ही विचित्र स्वभाव होता है। उस कवि की उसके स्वभाव के अनुरूप कोई विचित्र ही शक्ति परिस्फुरित होती है। तथा उस विचित्र शक्ति के द्वारा कवि उस प्रकार के वैदग्ध्य से मनोहर व्युत्पत्ति को धारण करता है। एवं उस विचित्र शक्ति और विचित्र व्युपत्ति के द्वारा वैचित्र्य की वासना से अधिवासित चित्तवाला कवि विचित्र मार्ग के आश्रयण से अभ्यास करने का अधिकारी होता है। इस प्रकार इन दोनों कवियों के कारणभूत (सुकुमार और विचित्र) से युक्त स्वभाव वाले कवि की उसके अनुरूप ही विचित्र शोभा के अतिशय से सुशोभित होने वाली शक्ति उल्लसित होती है। उस शक्ति के द्वारा वह उभय-कवि दोनों सुकुमार और विचित्र के स्वभाव से सुन्दर व्युत्पत्ति का उपार्जन करता है। उसके अनन्तर उन सुकुमार और विचित्र मिश्रित शक्ति तथा व्युत्पत्ति दोनों की छाया के परिपोषण से कोमल अभ्यास में कवि तत्पर हो जाता है।

तदेवमेते कवयः सकलकाव्यकरणकलापकाष्ठाधिरूढिरमणीयं किमपि काव्यमारभन्ते, सुकुमारं विचित्रमुभयात्मकं च। त एव तत्प्रवर्तननिमित्तभूता मार्गा इत्युच्यन्ते।

तो इस प्रकार ये (सुकुमार, विचित्र एवं उभयात्मक स्वभाववाले, तीनों प्रकार के) कविजन काव्य को समस्त कारण-समुदाय की पराकाष्ठा से मनोहारी किसी सुकुमार, विचित्र या उभयात्मक काव्य की रचना करते हैं। वे ही (सुकुमार, विचित्र एवं उभयात्मक काव्य ही) उन (कवियों) की (काव्य-रचना में) प्रवृत्ति के कारण होने से 'मार्ग' कहे जाते हैं।

यद्यपि कविस्वभावभेदनिबन्धनत्वादनन्तभेदभिन्नत्वमनिवार्यं[१] तथापि परिसंख्यातुमशक्यत्वात् सामान्येन त्रैविध्यमेवोपपद्यते। तथा च रमणीयकाव्यपरिग्रहप्रस्तावे स्वभावसुकुमारस्तावदेको राशिः, तद्व्यतिरिक्तस्यारमणीयस्यानुपादेयत्वात्। तद्व्यतिरेकी रामणीयकविशिष्टो विचित्र इत्युच्यते। तदेतयोर्द्वयोरपि रमणीयत्वादेतदीयच्छायाद्वितयोपजीविनोऽस्य रमणीयत्वमेव न्यायोपपन्नं पर्यवस्यति। तस्मादेषां

प्रत्येकमस्खलितस्वपरिस्पन्दमहिम्ना तद्विदाह्लादकारित्वपरिसमाप्तेर्न कस्यचिन्न्यूनता।

यद्यपि कवि-स्वभाव के भेद के (मार्गभेद का) आधार होने के कारण (कवियों के अनन्त स्वभाव होने से मार्गों में भी) असंख्य प्रकारों से भिन्नता (आ जाना) अनिवार्य है, फिर भी उनकी संख्या निर्धारित कर सकना असम्भव होने से, सामान्य रूप से तीन भेदों से युक्त होना ही युक्तियुक्त (प्रतीत होता) है। और इस प्रकार मनोहर काव्य को स्वीकृत करने के सन्दर्भ में—(१) स्वभाव से सुकुमार (काव्य की) एक राशि है, उससे भिन्न सौन्दर्यहीन (काव्य) के उपादेय न होने से। (२) उस (सुकुमार स्वभाव काव्य) से भिन्न सौन्दर्ययुक्त (दूसरा प्रकार) विचित्र कहा जाता है। (३) इन (सुकुमार एवं विचित्र) दोनों के ही रमणीय होने से इन दोनों की छाया पर आधारित इस (उभयात्मक-मध्यम भेद) का सौन्दर्ययुक्त होना (स्वतः ही) तर्कसङ्गत हो जाता है। (इस प्रकार ये सुकुमार. विचित्र और मध्यम तीनों ही स्वभावतः रमणीय होते हैं)। अतः इन तीनों में हर एक की अपने पूर्ण परिस्पन्द की महत्ता के कारण सहृदयों को आह्लाद प्रदान करने में परिसमाप्ति होने से किसी की भी न्यूनता नहीं है। (सभी समान महत्त्व के हैं और रमणीय होते हैं)।

टिप्पणी—आचार्य कुन्तक ने अब तक देशभेद के आधार पर रीति-भेद की स्थापना का खण्डन कर कवि-स्वभाव के आधार पर मार्गभेद की स्थापना की। उन्होंने यह-बताया कि कवि-स्वभाव के अनुसार उसी ढंग की सहज शक्ति कवि में उल्लसित होती है तथा उस शक्ति के द्वारा वह कवि उसी प्रकार की व्युत्पत्ति प्राप्त करता है तथा शक्ति और व्युत्पत्ति के बल पर अभ्यास करता हुआ वह काव्य रचना करता है। इस प्रकार हम यह देखते हैं कि शक्ति तो कवि में सहज रूप से विद्यमान रहती है, किन्तु व्युत्पत्ति और अभ्यास आहार्य—रूप से प्राप्त होते हैं जब कि काव्य-रचना में केवल शक्ति ही नहीं कारण होती अपि तु व्युत्पत्ति और अभ्यास भी कारण होते हैं। अतः पूर्वपक्षी आहार्य-रूप व्युत्पत्ति और अभ्यास की स्वाभाविकता में संदेह करता हुआ प्रश्न करता है :—

ननु च शक्त्योरान्तरतम्यात् स्वाभाविकत्वं वक्तुं युज्यते, व्युत्पत्त्यभ्यासयोः पुनराहार्ययोः कथमेतद्‌ घटते ? नैव दोषः, यस्मादास्तां तावत् काव्यकरणम्, विषयान्तरेऽपि सर्वस्य कस्यचिदनादिवासनाभ्यासाधिवासितचेतसः स्वभावानुसारिणावेव व्युत्पत्त्यभ्यासौ प्रवर्त्तेते।

तौ च स्वाभावाभिव्यञ्जनेनैव साफल्यं भजतः। स्वभावस्य तयोश्च परस्परमुपकार्योपकारकभावेनावस्थानात स्वभावस्तावारभते, तौ च तत्परिपोषमातनुनः। तथा चाचेतनानामपि भावः स्वभावसंवादि-भावान्तरसन्निधानमाहात्म्यादभिव्यक्तिमासादयति, यथा चन्द्रकान्त-मणयश्चन्द्रमसः करपरामर्शवशेन स्पन्दमानसहजरसप्रसराः सम्पद्यन्ते।

(सुकुमार और विचित्र दोनों) शक्तियों की स्वाभाविकता का कथन तो (.उनके) आन्तरिक होने के कारण ठीक है, लेकिन आहार्यरूप (बाह्य प्रयत्नों से प्राप्त होने वाले) व्युत्पत्ति और अभ्यास की स्वाभाविकता कैसे सम्भव हो सकती है। (अतः स्वभाव-भेद के आधार पर मार्गभेद भी करना ठीक न होगा। इसका उत्तर देते हैं)—यह (कोई) दोष नहीं है क्योंकि काव्य-रचना की बात तब तक छोड़ दीजिए। दूसरे विषयों में भी सभी किसी के अनादि वासना के अभ्यास से अधिवासित अन्तःकरण वाले सभी किसी के व्युत्पत्ति और अभ्यास स्वभाव के अनुसार ही प्रवृत्त होते हैं, (अर्थात् जिसका जैसा स्वभाव होता है उसी प्रकार उसके व्युत्पत्ति और अभ्यास होते हैं। (व्युत्पत्ति और अभ्यास) दोनों स्वभाव की अभिव्यक्ति कराने से ही सफल होते हैं। स्वभाव तथा उन दोनों के परस्पर उपकार्य और उपकारक रूप से अवस्थित होने के कारण स्वभाव पहले प्रारम्भ करता है और व्युत्पत्ति तथा अभ्यास दोनों उसका परिपोषण करते हैं इसीलिए जड़ पदार्थों का भी स्वभाव (अपनी) सत्ता से साम्य रखनेवाली दूसरी सत्ता के सम्पर्क के माहात्म्य से अभिव्यक्त होता है। जैसे—चन्द्रकान्तमणियाँ चन्द्रमा की किरणों के साथ सम्पर्क होने के कारण प्रवाहित होने वाले स्वाभाविक जल के प्रवाह से युक्त हो जाते हैं।

तदेवं मार्गानुद्दिश्य तानेव क्रमेण लक्षयति—

तो इस प्रकार (२४ वीं कारिका से सुकुमार, विचित्र तथा मध्यम) मार्गों का केवल नाम बताकर उनका ही क्रमानुसार लक्षण करते हैं। (उनमें सबसे पहले क्रमप्राप्त सुकुमार मार्ग को प्रारम्भ में लक्षित करते हैं)—

अम्लानप्रतिभोद्भिन्ननवशब्दार्थबन्धुरः।
अयत्नविहितस्वल्पमनोहारिविभूषणः ॥ २५ ॥

(कवि की) दोषहीन प्रतिभा से (स्वतः) स्फुरित हुए नवीन (सहृदयाह्लादजनक) शब्द तथा अर्थ से रमणीय (हृदयावर्जक), एवं विना

किसी प्रयत्न के (स्वाभाविक रूप से) उत्पादित, हृदय को आनन्द देने वाले थोड़े से अलंकार से युक्त—॥ २५ ॥

भावस्वभावप्राधान्यन्यक्कृताहार्यकौशलः ।
रसादिपरमार्थज्ञमनःसंवादसुन्दरः ॥ २६ ॥

तथा पदार्थों के स्वभाव की प्रधानता से, व्युत्पत्तिजन्य निपुणता का तिरस्कार करने वाला, (श्रृंगार आदि) रसों (एवम् रति) आदि (स्थायी-भावों) के परमरहस्य को जानने वाले (सहृदयों) के हृदयों के द्वारा अनुभव आने वाले ज्ञान से सुन्दर—॥ २६ ॥

अविभावितसंस्थानरामणीयकरञ्जकः ।
विधिवैदग्ध्यनिष्पन्ननिर्माणातिशयोपमः ॥ २७ ॥

एवं अविभावित स्थितिवाले (अर्थात् जिसकी सत्ता का केवल अनुभव किया जा सकता है, शब्दों द्वारा नहीं व्यक्त किया जा सकता उस) सौन्दर्य से (सहृदयों को) आनन्दित करने वाला तथा विधाता के कौशल से निष्पन्न सृष्टि-रचना के (अर्थात् रगणी, लावण्य आदि रूप) सौन्दर्य के साथ सादृश्य रखने वाला—॥ २७ ॥

यत् किंनापि वैचित्र्यं तत्सर्वं प्रतिभोद्भवम् ।
सौकुमार्यपरिस्पन्दस्यन्दि यत्र विराजते ॥ २८ ॥

तथा जहाँ सुकुमारताजन्य (सहृदयहृदयाह्लादकारित्व रूप) रमणीयता के द्वारा (रसमय) प्रवाहित होने वाला जो कुछ भी वैचित्र्य (अर्थात् वक्रोक्ति का योग) शोभातिशय का पोषण करता है, वह सब प्रतिभा से ही उल्लसित होता है (आहार्य रूप व्युत्पत्ति आदि के द्वारा नहीं) ॥ २८ ॥

सुकुमाराभिधः सोऽयं येन सत्कवयो गताः ।
मार्गेणोत्फुल्लकुसुमकाननेनेव षट्पदाः ॥ २९ ॥

ऐसा वह सुकुमार नाम का मार्ग है, जिस मार्ग से (कालिदास आदि) सत्कवि, विकसित हुए फूलों के बन से (गुजरने वाले) भ्रमरों के समान गुजरे अर्थात् काव्य-रचना में प्रवृत्त हुए हैं ॥ २९ ॥

सुकुमाराभिधः सोऽयम् , सोऽयं पूर्वोक्तलक्षणः सुकुमारशब्दाभिधानः । येन मार्गेण सत्कवयः कालिदासप्रभृतयो गताः प्रयाताः, तदाश्रयेण काव्यानि कृतवन्तः । कथम्—उत्फुल्लकुसुमकाननेनेव

षट्पदाः। उत्फुल्लानि विकसितानि कुसुमानि पुष्पाणि यस्मिन् कानने वने तेन षट्पदा इव भ्रमरा यथा। विकसितकुसुमकाननसाम्येन तस्य कुसुमसौकुमार्यसदृशमाभिजात्यं द्योत्यते। तेषां च भ्रमरसादृश्येन कुसुममकरन्दकल्पसारसंग्रहव्यसनिता। स च कीदृशः—यत्र यस्मिन् किंचनापि कियन्मात्रमपि वैचित्र्यं विचित्रभावो वक्रोक्तियुक्तत्वम्, तत्सर्वमलंकारादिप्रतिभोद्भवं कविशक्तिसमुल्लसितमेव, न पुनराहार्यं यथाकथंचित्प्रयत्नेन निष्पाद्यम्। कीदृशम् —सौकुमार्यपरिस्पन्दस्यन्दि। सौकुमार्यमाभिजात्यं तस्य परिस्पन्दस्तद्विदाह्लादकारित्वलक्षणं रामणीयकं तेन स्यन्दते रसमयं संपद्यते यत्तथोक्तम्। यत्र विराजते शोभातिशयं पुष्णातीति सम्बन्धः। यथा—

सुकुमार नाम का वह यह अर्थात् पूर्व-कथित लक्षण वाला एवं सुकुमार शब्द के द्वारा कहा जाने वाला (यह मार्ग है) जिस मार्ग से कालिदास आदि श्रेष्ठ कवि गये हैं अर्थात् उस मार्ग का आश्रय ग्रहण कर काव्यों का निर्माण किये हैं। किस ढङ्ग से—खिले हुए फूलों से युक्त जङ्गल से भौरों की तरह। उत्फुल्ल अर्थात् खिले हुए कुसुम अर्थात् फूल हैं जिस कानन अर्थात् जङ्गल में, उस (जङ्गल) से षट्पदों के समान अर्थात् भौंरे की तरह (तात्पर्य यह है कि जैसे खिले हुए फूलों से युक्त जङ्ग से भौंरे बड़े ही आनन्द के साथ सरलता पूर्वक भ्रमण करते हैं, उसी प्रकार श्रेष्ठ कवि सुकुमार मार्ग का आश्रयण कर काव्य-रचना करते हैं विकसित फूलों से युक्त वन के साथ सादृश्य के द्वारा उस (सुकुमार मार्ग) की पुष्पों की सुकुकारता के समान रमणीयता द्योतित होती है, तथा उन (श्रेष्ठ कवियों) की भँवरों के साथ समानता के द्वारा पुष्पों के मकरन्द (पुष्प-रस) के सदृश (सरस) तत्त्व के संग्रह का व्यसन (प्रतिपादित किया गया है)। और वह (सुकुमार-मार्ग) है कैसा ? जहाँ अर्थात् जिस (मार्ग) में कुछ भी अर्थात् कितना भी वैचित्र्य विचित्रता अर्थात् वक्रोक्ति का संयोग (होता) है। वह सब अलङ्कार इत्यादि (वैचित्र्य) प्रतिभाजन्य अर्थात् केवल कवि की शक्ति से ही समुल्लसित होता है, जैसे कैसे भी प्रयत्न द्वारा सम्पादित किया गया आहार्य (अर्थात् बनावटी) नहीं होता (वह कवि की स्वाभाविक शक्ति से ही निष्पन्न होता है वह वैचित्र्य पुनः होता) कैसा है ? सौकुमार्य के परिस्पन्द से प्रवाहित होने वाला। सौकुमार्य अर्थात् आभिजात्य (रमणीयता) उसका परिस्पन्द अर्थात् सहृदयों को आह्लादित करने वाला सौन्दर्य उससे जो प्रवाहित होता है अर्थात् रसमय हो जाता है वैसा (वैचित्र्य) हुआ

तथोक्त (सुकुमारता के सौन्दर्य से रसमय सम्पन्न होने वाला वैचित्र्य), जहाँ विराजमान होता है अर्थात् सौन्दर्यातिशय का पोषण करता है (वह सुकुमार नाम का मार्ग होता है) इस प्रकार का वाक्य का सम्बन्ध है। जैसे—

प्रवृत्ततापो दिवसोऽतिमात्रमत्यर्थमेव क्षणदा च तन्वी।
उभौ विरोधक्रियया विभिन्नौ जायापती सानुशयाविवास्ताम् ॥७४॥

अत्यधिक गर्मी से युक्त दिन एवं अत्यन्त ही कृश (क्षीण) हुई रात्रि दोनों विरोध क्रिया (अर्थात् दिन तापयुक्त होने के कारण कष्ट प्रदान करता है जब कि रात्रि (क्षणदा) शीतलतायुक्त होने से आनन्द प्रदान करती है। अतः दोनों की क्रियायें विपरीत हुई) के कारण अलग हो गए पश्चात्तापयुक्त पति-पत्नी के समान स्थित हैं ॥ ७४ ॥

अत्र श्लेषच्छायाच्छुरितं कविशक्तिमात्रसमुल्लसितमलंकरणमनाहार्यं कामपि कमनीयतां पुष्णाति। तथा च 'प्रवृत्ततापः' 'तन्वी' इति वाचकौ सुन्दरस्वभावमात्रसमर्पणपरत्वेन वर्तमानावर्थान्तरप्रतीत्यनुरोधपरत्वेन प्रवृत्तिं न समन्येते, कविव्यक्तकौशलसमुल्लसितस्य पुनः प्रकारान्तरस्य प्रतीतावानुगुण्यमात्रेण तद्विदाह्लादकारितां प्रतिपद्येते। किं तत्प्रकारान्तरं नाम?—विरोधविभिन्नयोः शब्दयोरर्थान्तरप्रतीतिकारिणोरूपनिबन्धः। तथा चोपमेययोः सहानवस्थानलक्षणो विरोधः, स्वभावभेदलक्षणं च विभिन्नत्वम्। उपमानयोः पुनरीर्ष्याकलहलक्षणो विरोधः, कोपात् पृथगवस्थानलक्षणं विभिन्नत्वम्। 'अतिमात्रम्' 'अत्यर्थं' चेति विशेषणद्वितयं पक्षद्वयेऽपि सातिशयताप्रतीतिकारित्वेनातितरां रमणीयम्। श्लेषच्छायोत्क्लेशसंपाद्याप्ययत्नघटितत्वेनात्र मनोहारिणी।

यहाँ पर केवल कवि की (सहज) प्रतिभा से निष्पन्न, स्वाभाविक एवं श्लेष (अलङ्कार) की शोभा से संयुक्त (उपमा नामक) अलङ्कार किसी अपूर्व रमणीयता को पुष्ट करता है। तथा 'प्रवृत्ततापः' (संतापयुक्त) एवं 'तन्वी' (क्षीण, दुर्बल) ये दोनों शब्द केवल (दिन एवं रात के) सुन्दर स्वभाव को ही बताने के लिए स्थित होकर, (पति-पत्नी के विरहजन्य ताप एवं कृशता रूप) अन्य अर्थ की प्रतीति कराने में प्रवृत्त नहीं होते (अर्थात् प्रकरणवश इन दोनों शब्दों का ग्रीष्मकालिक दिन तथा रात की ही तापयुक्तता एवं क्षीणता अर्थों में भी अभिधा द्वारा नियन्त्रण हो जाता है, पति-पत्नी के विरहजन्य ताप और कृशता का अभिधा द्वारा प्रतिपादन नहीं किया जा सकता) फिर भी कवि द्वारा व्यक्त किए गये कौशल से निष्पन्न

दूसरे प्रकार की प्रतीति में अनुरूपता मात्र से (ये दोनों 'प्रवृत्ततापः' एवं 'तन्वी' शब्द) सहृदयहृदयाह्लादकारी हो जाते हैं। वह दूसरा प्रकार है कौन सा ? (जिसकी प्रतीति के अनुरूप होने से ये दोनों शब्द सहृदयों को आनन्द प्रदान करते हैं।)—(वह है) अन्य अर्थ की प्रतीति कराने वाले 'विरोध' एवं 'विभिन्न' शब्दों का प्रयोग।

और इस प्रकार उपमेयों (दिन तथा रात्रि) का सहानवस्थान रूप (अर्थात् साथ-साथ न रह सकने का) विरोध है, तथा स्वभाव का भेद रूप अर्थात् दोनों के स्वभाव विरुद्ध हैं) विभिन्नता है। साथ ही उपमानों (पति-पत्नी) का (भी) ईर्ष्या, कलह रूप विरोध एवं कोप के कारण अलग-अलग निवास रूप विभिन्नता है। इसी प्रकार 'अतिमात्रम्' तथा 'अत्यर्थम्' ये दोनों विशेषण दोनों ही (दिन एवं रात्रि तथा पति एवं पत्नी रूप) पक्षों में अतिशय युक्तता का बोध कराने के कारण बहुत ही मनोहर हैं। (अतः) यहाँ पर कुछ क्लेश के द्वारा सम्पादित होने पर भी श्लेष की छाया, अनायास घटित हो जाने के कारण, रमणीय हो गई है।

यश्च कीदृशः—अम्लानप्रतिभोद्भिन्नवशब्दार्थबन्धुरः। अम्लाना यासावदोषोपहता प्राक्तनाद्यतनसंस्कारपरिपाकप्रौढा प्रतिभा काचिदेव कविशक्तिः, तत उद्भिन्नो नूतनाङ्कुरन्यायेन स्वयमेव समुल्लसितो, न पुनः कदर्थनाकृष्टौ नवौ प्रत्यग्रौ तद्विदाह्लादकारित्वसामर्थ्ययुक्तौ शब्दार्थावभिधानाभिधेयौ ताभ्यां बन्धुरो हृदयहारी। अन्यच्च कीदृशः—अयत्नविहितस्वल्पमनोहारिविभूषणः। अयत्नेनाक्लेशेन विहितं कृतं यत् स्वल्पं मनाङ्मात्रं मनोहारि हृदयाह्लादकं विभूषणमलंकरणं यत्र स तथोक्तः। 'स्वल्प'-शब्दोऽत्र प्रकरणाद्यपेक्षः, न वाक्यमात्रपरः। उदाहरणं यथा—

(इस प्रकार सुकुमार मार्ग की एक विशेषता का प्रतिपादन कर दूसरी विशेषता बताते हैं—) और जो (सुकुमार मार्ग) कैसा है अम्लान प्रतिभा से निष्पन्न शब्द एवं अर्थ के कारण हृदयावर्जक। अम्लान अर्थात् दोषों से उपहत न हुई जो यह पूर्वजन्म एवं वर्तमान जन्म के संस्कारों के परिपक्व हो जाने से प्रवृद्ध हुई प्रतिभा अर्थात् कोई (अनिर्वचनीय अपूर्व ही) कवि की शक्ति, उस (शक्ति) से उद्भिन्न अर्थात् नये अँखुए के समान स्वयं ही फूट पड़े (समुल्लसित हुए), न कि (खींचातानी से) कष्टपूर्वक (कठिनता से) आकृष्ट किए गए नवीन अर्थात् (मनोहर कल्पना से उद्भावित) अपूर्व सहृदयों को आनन्दित करने में समर्थ (जो) शब्द और

अर्थ अर्थात् अभिधान एवम् अभिधेय, उन दोनों से बन्धुर अर्थात् मनोहर। और किस प्रकार का—बिना (किसी) प्रयत्न से निष्पन्न थोड़े ही मनोहर अलङ्कारों से युक्त अयत्न अर्थात् बिना किसी क्लेश के (स्वाभाविक रूप से ही) विहित अर्थात् (निष्पन्न) किया गया जो स्वल्प अर्थात् थोड़ा सा ही मनोहारि अर्थात् हृदय को आह्लादित करनेवाला विभूषण अर्थात् अलङ्कार है जहाँ वह (हुआ) तथोक्त (सुकुमार मार्ग)। यहाँ स्वल्प शब्द का प्रयोग प्रकरणादि की अपेक्षा रखने वाला है केवल वाक्यपरक ही नहीं। (अर्थात् प्रत्येक श्लोक में कुछ अलङ्कारों का प्रयोग हो ऐसी कोई अपेक्षा नहीं है अपितु सम्पूर्ण प्रकरण में अयत्न निष्पादित सहृदयहृदयहारी स्वल्प अलङ्कारों की अपेक्षा होती है।) (इसका) उदाहरण जैसे—

बालेन्दुवक्राण्यविकाशभावाद् बभुः पलाशान्यतिलोहितानि।
सद्यो वसन्तेन समागतानां नखक्षतानीव वनस्थलीनाम्॥ ७५॥

(पूर्ण) विकाश न (प्राप्त) होने के कारण बालेन्दु (द्वितीया के चन्द्रमा) के सदृश टेढ़े, अत्यधिक लोहित पलाश (ढाक के फूल), वसन्त (ऋतुरूप नायक) के साथ तत्काल समागम किए हुए वनस्थलियों (अर्थात् तद्रूप नायिकाओं) के नखक्षतों की भाँति शोभायमान हुए॥ ७५॥

अत्र 'बालेन्दुवक्राणि' 'अतिलोहितानि' 'सद्यो वसन्तेन समागतानाम्' इति पदानि सौकुमार्यात् स्वभाववर्णनामात्रपरत्वेनोपात्तान्यपि 'नखक्षतानीव' इत्यलंकरणस्य मनोहारिणः क्लेशं विना स्वभावोद्भिन्नत्वेन योजनां भजमानानि चमत्कारितामापद्यन्ते।

यहाँ पर 'बालेन्दुवक्राणि' (बाल चन्द्रमा के समान टेढ़े) 'अतिलोहितानि' (अत्यधिक रक्तवर्ण के) एवं 'सद्यः वसन्तेन समागतानाम्' (तत्काल वसन्त के साथ समागम करने वाली) ये पद सुकुमार होने के कारण केवल स्वभाव का वर्णन करने के लिये प्रयुक्त होकर भी बिना किसी प्रयत्न के स्वाभाविक रूप से 'नखक्षतानीव' अर्थात् नखक्षतों के समान इस (पद में प्रयुक्त उपमारूप) मनोहर अलङ्कार की योजना को धारण करते हुए चमत्कारपूर्ण हो गये हैं। (अर्थात् यद्यपि 'बालेन्दुवक्राणि' इत्यादि पद पलाशपुष्प की स्वाभाविकता का ही प्रतिपादन करते हैं फिर भी जो नखक्षत से उसकी उपमा दी गई है उसके साथ पूर्णरूपेण योजना रखते हुए, अर्थात् नखक्षत भी टेढ़ा एवं खून आ जाने के कारण लाल होता है, साथ ही ऐसी सम्भावना नायक-नायिका के समागम काल में ही होती

है। अतः नायक-नायिका रूप में वसन्त एवं वनस्थली के पूर्ण सामञ्जस्य को स्थापित करते हुए ये सभी पद एक अपूर्व चमत्कार की सृष्टि करते हैं।)

यश्चान्यच्च कीदृशः—भावस्वभावप्राधान्यन्यक्कृताहार्यकौशलः। भावाः पदार्थास्तेषां स्वभावस्तत्त्वं तस्य प्राधान्यं मुख्यभावस्तेन न्यक्कृतं तिरस्कृतमाहार्यं व्युत्पतिविहितं कौशलं नैपुण्यं यत्र स तथोक्तः। तदयमभिप्रायः–पदार्थपरमार्थमहिमैव कविशक्तिसमुन्मीलितः, तथाविधो यत्र विजृम्भते। येन विविधमपि व्युत्पत्तिविलसितं काव्यान्तरगतं तिरस्कारास्पदं संपद्यते। अत्रोदाहरणं रघुवंशे मृगयावर्णनपरं प्रकरणम्, यथा—

(इस प्रकार सुकुमार मार्ग की दूसरी विशेषता बता कर अब उसकी तीसरी विशेषता का प्रतिपादन करते हैं—) और जो (सुकुमार मार्ग है वह) अन्य किस प्रकार का है—पदार्थों के स्वभाव की प्रधानता से आहार्य कुशलता को तिरस्कृत करने वाला। भाव अर्थात् पदार्थ उनका स्वभाव अर्थात् स्वरूप (परमार्थ तत्त्व), उसका प्राधान्य अर्थात् मुख्यरूपता, उसके द्वारा न्यक्कृत अर्थात् तिरस्कृत किया गया है आहार्य अर्थात् व्युत्पत्तिजन्य कौशल अर्थात् निपुणता को जिसमें, वह (सुकुमार मार्ग होता है) तो इसका अभिप्राय यह है कि यहाँ कवि की (सहज) प्रतिभा से (स्वाभाविक ढङ्ग से) निबद्ध की गई पदार्थ के स्वभाव की महिमा ही उस प्रकार से प्रस्फुटित होती है जिससे अन्य काव्यगत (कवि की) व्युत्पत्ति का, अनेकों प्रकार का विलास भी उपेक्षणीय हो जाता है। यहाँ उदाहरण (रूप में) रघुवंश (महाकाव्य) में (वर्णित) मृगयावर्णन का प्रकरण (लिया जा सकता) है। जैसे—

तस्य स्तनप्रणयिभिर्मुहुरेणशावैर्व्याहन्यमानहरिणीगमनं पुरस्तात्।
आविर्बभूव कुशगर्भमुखं मृगाणां यूथं तदग्रसरगर्वितकृष्णसारम् ॥७६॥

उस (राजा) के सामने से, आगे चलनेवाले गर्वित कृष्णसार (मृगविशेष) से युक्त, एवं स्तनों के प्रणयी (अर्थात् माँ का दूध पीने वाले) मृगछौनों से बार-बार बाधित होते हुए हरिणियों के गमन से युक्त, तथा कुशों के मध्यभाग से युक्त मुख वाले मृगों का समूह, गुजरा ॥ ७६ ॥

(यहाँ पर मृगों के स्वभाव का ही इतना चमत्कारपूर्ण वर्णन कवि ने प्रस्तुत किया है जिसके आगे अन्य व्युत्पत्ति-विहित कौशलों का कोई महत्त्व नहीं। उससे कहीं अधिक परमार्थ स्वभाव का वर्णन ही सहृदयहृदयाह्लादकारी है।)

यथा च कुमारसम्भवे (३।३५)

द्वन्द्वानि भावं क्रियया विवव्रुः ॥ ७७ ॥

और जैसे (दूसरा उदाहरण) कुमारसम्भव में (३।३५) से उद्धृत किया जा सकता है जहाँ कवि वसन्तऋतु के आगमन का वर्णन करते हुए कहता है कि—वसन्त ऋतु के आगमन काल में जंगली पशुपक्षियों के—) द्वन्द्वों ने (अपने) भावों को क्रिया द्वारा व्यक्त किया ॥ ७७ ॥

इतः परं प्राणिधर्मवर्णनम्, यथा

शृङ्गेण च स्पर्शनिमीलिताक्षी
मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः ॥ ७८ ॥

इसी के अनन्तर प्राणियों के धर्म का वर्णन (स्वभाव की प्रधानता से व्युत्पत्तिजन्य कौशल का तिरस्कार कर देने वाला है) जैसे—

कृष्णसार (मृगविशेष) ने (सींगों के) स्पर्श (जन्य आनन्द) से बन्द किए हुए आँखों वाली मृगी को सींग से खुजलाया ॥ ७८ ॥

(यहाँ भी मृग एवं मृगी के स्वभाव का वर्णन ही इतना सहृदयों के लिये चमत्कारजनक है कि अन्य व्युत्पत्तिविहित कविकौशल उसके आगे हेय सिद्ध होते हैं।)

अन्यच्च कीदृशः—रसादिपरमार्थज्ञमनःसंवादसुन्दरः। रसाः शृङ्गारादयः। तदादिग्रहणेन रत्यादयोऽपि गृह्यन्ते। तेषां परमार्थः परमरहस्यं तज्जानन्तीति तज्ज्ञास्तद्विदस्तेषां मनःसंवादो हृदयसंवेदनं स्वानुभवगोचरतया प्रतिभासः, तेन सुन्दरः सुकुमारः सहृदयहृदयाह्लादकारी वाक्यस्योपनिबन्ध इत्यर्थः। अत्रोदाहरणानि रघौ रावणं निहत्य पुष्पकेणागच्छतो रामस्य सीतायास्तद्विरहविधुरहृदयेन मयास्मिन्नस्मिन् समुद्देशे किमप्येवंविधं वैशसमनुभूतमिति वर्णयतः सर्वाण्येव वाक्यानि। यथा—

और किस प्रकार का है (वह सुकुमार मार्ग)—रसादि के परमार्थ को जानने वालों के मनःसंवाद से सुन्दर। रस अर्थात् शृङ्गारादि। उस (रस) के साथ आदि के ग्रहण के द्वारा रति आदि (स्थायी भावों) का भी ग्रहण हो जाता है। उन (रसादि) का (जो) परमार्थ अर्थात् परम रहस्य (है), उसे जानते हैं जो वे हुये रसादि के परमार्थ को जानने वाले उनका मनःसंवाद अर्थात् हार्दिक ज्ञान अर्थात् स्वानुभवगम्य प्रतीति, उससे सुन्दर अर्थात् सहृदयों के हृदयों को आनन्दित करने वाले सुकुमार वाक्य का निबन्धन (जहाँ होता है वह सुकुमार मार्ग होता है) इस विषय के

उदाहरण रूप में रघुवंश (महाकाव्य) में रावण का वध कर पुष्पक विमान से आते हुए, एवं सीता से, उन (सीता) के विरह के कारण व्याकुल हृदयवाले हमने इस स्थान पर इस प्रकार किसी कष्ट का अनुभव किया था, ऐसा (अमुक अमुक स्थलों के विषय में) वर्णन करते हुए राम के सभी वाक्य (उद्धृत किये जा सकते हैं) । जैसे—

पूर्वानुभूतं स्मरता च रात्रौ कम्पोत्तरं भीरु तवोपगूढम् ।
गुहाविसारीण्यतिवाहितानि मया कथंचिद् घनगर्जितानि ॥ ७६ ॥

हे भयशीले (सीते ! इस स्थान पर) रात्रि में (पहले बादलों के गरजने से डरी हुई) कांपते हुए तुम्हारे आलिङ्गन का स्मरण करते हुए मैंने किसी प्रकार से (बड़े कष्ट के साथ), गुफाओं के भीतर फैल जाने वाली बादलों की गड़गड़ाहट को सहन किया था ॥ ७६ ॥

अत्र राशिद्वयकरणस्यायमभिप्रायो यद् विभावादिरूपेण रसाङ्गभूताः शकुनिरुततरुसलिलकुसुमसमयप्रभृतयः पदार्थाः सातिशयस्वभाववर्णनप्राधान्येनैव रसाङ्गतां प्रतिपद्यन्ते । तद्व्यतिरिक्ताः सुरगन्धर्वप्रभृतयः सोत्कर्षचेतनायोगिनः शृङ्गारादिरसनिर्भरतया वर्ण्यमानाः सरसहृदयाह्लादकारितामायातीति कविभिरभ्युपगतम् । तथाविधमेव लक्ष्ये दृश्यते ।

यहाँ पर जो (पहला पशु पक्षियों के स्वभाव के प्राधान्य का वर्णनरूप, एवं दूसरा चेतन पदार्थों का रस-परिपूर्ण ढंग से वर्णनरूप) दो विभाग किए गए हैं उसका यही अभिप्राय है कि रस के अङ्गभूत पक्षियों की ध्वनि, पेड़, जल; कुसुमों के समय आदि पदार्थ, अतिशय सम्पन्न अपने स्वभाव-वर्णन के मुख्यरूप से ही युक्त होकर विभावादि रूप से (वर्णित किए जाने पर) रसों के अङ्ग बनते हैं। (जबकि) उनसे भिन्न उत्कृष्ट चेतना से युक्त सुर, गन्धर्व आदि शृङ्गारादि रसों की परिपूर्णता के साथ ही वर्णित किए जाने पर सहृदयों के हृदयों को आनन्द प्रदान करते हैं, ऐसा (भेद) कवियों ने स्वीकार किया है और उसी प्रकार का वर्णन भी लक्ष्य ग्रन्थों के (अर्थात् काव्यादिकों) में प्राप्त भी होता है। (इसीलिये पशु-पक्षियों के वर्णन के लिए—'भावस्वभावप्राधान्यन्यक्कृताहार्यकौशलः—विशेषण का प्रयोग कर, तथा सुरगन्धर्वादिकों के वर्णन के लिये—'रसादिपरमार्थज्ञमनः—संवादसुन्दरः' विशेषण देकर दो भेद कर दिए हैं।)

अन्यच्च कीदृशः—अविभावितसंस्थानरामणीयकरञ्जकः । अविभावितमनालोचितं संस्थानं संस्थितिर्यत्र तेन रमणीयकेन रमणीयत्वेन

रञ्जकः सहृदयाह्लादकः । तेनायमर्थः—यदि तथाविधं कविकौशलमत्र संभवति तद् व्यपदेष्टुमियत्तया न कथंचिदपि पार्यते, केवलं सर्वातिशायितया चेतसि परिस्फुरति । यश्च कीदृशः—विधि-वैदग्ध्यनिष्पन्ननिर्माणातिशयोपमः विधिर्विधाता तस्य वैदग्ध्यं कौशलं तेन निष्पन्नः परिसमाप्तो योऽसौ निर्माणातिशयः सुन्दरः सर्गोल्लेखो रमणीयरमणीलावण्यादिः स उपमा निदर्शनं यस्य स तथोक्तः तेन विधातुरिव कवेः कौशलं यत्र विवेक्तुमशक्यम् । यथा—

और कैसा है (सुकुमार मार्ग)—अविभावित संस्थान की रमणीयता से आनन्ददायक । अविभावित अर्थात् अनालोचित है संस्थिति अर्थात् अवस्थान जिसमें (अर्थात् जिसकी सत्ता को शब्दों द्वारा नहीं व्यक्त किया जा सकता अपितु जो केवल अनुभवगम्य होती है) उस रामणीयक अर्थात् रमणीयता के द्वारा रञ्जक अर्थात् सहृदयों को आनन्दित करने वाला । इस प्रकार इसका अर्थ यह हुआ कि—यदि उस प्रकार का कविकौशल यहाँ (काव्य में) सम्भव होता है तो वह 'इतना ही है' इस प्रकार किसी भी तरह कहा नहीं जा सकता, वह केवल सबसे अतिशययुक्त रूप में हृदय में स्फुरित होता है (अर्थात् उसे शब्दों द्वारा कहा नहीं जा सकता, उसका केवल अनुभव किया जा सकता है ।) और जो (सुकुमार मार्ग) कैसा है कि—विधि के वैदग्ध्य से निष्पन्न निर्माण के अतिशय के समान । विधि अर्थात् ब्रह्मा (विधाता), उनका (जो) वैदग्ध्य अर्थात् कौशल (चातुर्य), उसके द्वारा निष्पन्न अर्थात् अच्छी प्रकार समाप्त हुआ जो यह निर्माण का अतिशय अर्थात् सुन्दर सृष्टि की रचना, रमणी के रमणीय लावण्यादि वह है उपमा अर्थात् निदर्शन (सदृश स्वरूप वाला) जिसका वह हुआ उस प्रकार कहा गया (अविभावित संस्थान युक्त रमणीयता से आह्लादकारी) । इस प्रकार विधाता के (कौशल) की भाँति कवि के कौशल का विवेचन जहाँ नहीं किया जा सकता । ऐसा सुकुमार मार्ग होता है । जैसे—

ज्याबन्धनिष्पन्दभुजेन यस्य विनिःश्वसद्वक्त्रपरंपरेण ।
कारागृहे निर्जितवासवेन दशाननेनोषितमा प्रसादात् ॥ ८० ॥

(यह रघुवंश महाकाव्य के छठवें सर्ग का ४० वाँ श्लोक है । इन्दुमती के स्वयंवर में प्रतीप नामक राजा का परिचय देती हुई सुनन्दा उसके पूर्वज कार्तवीर्य को वीरता का परिचय देती हुई कहती है) कि—जिस (कार्तवीर्य अर्जुन) के कारागार में उसके प्रसादपर्यन्त (अर्थात् स्वयं कृपा कर जब

तक उसने कारागार से मुक्त नहीं कर दिया तबतक) धनुष की डोरी से बँधी होने के कारण स्पन्दरहित भुजाओं वाले, (अत्यधिक कष्ट के कारण) निःश्वास लेते हुए (दसो) मुखों की परम्परा वाले एवं इन्द्र को पराजित करने वाले रावण ने निवास किया था । (ऐसे कार्तवीर्य का यह वंशज है) ॥ ८० ॥

अत्र व्यपदेशप्रकारान्तरनिरपेक्षः कविशक्तिपरिणामः परं परिपाकमधिरूढः ।

यहाँ (इस श्लोक में) दूसरे प्रकार के कथन की अपेक्षा न रखने वाला कवि की (सहज) प्रतिभा का परिणाम अत्यन्त ही परिपोष को प्राप्त हो गया है । अर्थात् कवि ने रावण के लिए जिन विशेषणों का प्रयोग किया है उन्हें अब किसी अन्य शब्द द्वारा व्यक्त किये जाने की अपेक्षा नहीं । तात्पर्य यह कि 'निर्जितवासवेन' अर्थात् जिसने इन्द्र को पराजित किया था उसी को कार्तवीर्य ने 'विनिःश्वसद्वक्त्रपरम्परेण' अर्थात् निःश्वास लेती हुई दशो मुखों की परम्परा वाला बना दिया है कहाँ देवराज इन्द्र को जीतने वाला रावण कहाँ, उसकी यह दशा कि वहाँ एक दो मुखों से नहीं बलिक सभी मुखों से हाँफे वह भी किसी भारी कष्ट द्वारा पीड़ित किये जाने पर नहीं बलिक एक मामूली धनुष की डोरी से बँधे जाने के कारण बीसों भुजाओं के स्पन्द से रहित 'ज्याबन्धनिष्पन्दभुजेन' । इस प्रकार यहाँ रावण के लिए प्रयुक्त सभी विशेषण किसी एक अपूर्व चमत्कार के जनक हैं उन्हें किसी अन्य व्यपदेश की आवश्यकता नहीं) ।

एतस्मिन् कुलके—प्रथमश्लोके प्राधान्येन शब्दालंकरणयोः सौन्दर्यं प्रतिपादितम् । द्वितीये वर्णनीयस्य वस्तुनः सौकुमार्यम् । तृतीये प्रकारान्तरनिरपेक्षस्य संनिवेशस्य सौकुमार्यम् । चतुर्थे वैचित्र्यमपि सौकुमार्याविसंवादि विधेयमित्युक्तम् । पञ्चमो विषय-विषयिसौकुमार्यप्रतिपादनपरः ।

इस (२५ से २९ कारिका वाले) कुलक में, प्रथम श्लोक (२५ वीं कारिका) में मुख्यरूप से शब्द तथा अलङ्कारों के सौन्दर्य को प्रतिपादित किया गया है । दूसरे (श्लोक २६ वीं कारिका) में वर्ण्य वस्तु की सुकुमारता (का प्रतिपादन किया गया है) । तीसरे (श्लोक २७ वीं कारिका) में प्रकारान्तर की अपेक्षा न रखने वाली संघटना की सुकुमारता (प्रतिपादित की गई है) चौथे (श्लोक २८ वीं कारिका) में सुकुमारता के अनुरूप ही वैचिभ्य की सृष्टि करना चाहिए ऐसा कहा गया है । एवं पाचवाँ (श्लोक

२९वीं कारिका सुकुमार मार्ग के) विषय और विषयी की सुकुमारता का प्रतिपादन करता है।

एवं सुकुमाराभिधानस्य मार्गस्य लक्षणं विधाय तस्यैव गुणान् लक्षयति—

असमस्तमनोहारिपदविन्यासजीवितम्।
माधुर्यं सुकुमारस्य मार्गस्य प्रथमो गुणः॥ ३० ॥

इस प्रकार 'सुकुमार' नामक मार्ग का लक्षण बता कर उसी (सुकुमार मार्ग) के गुणों को लक्षित करते हैं—

समास (की प्रचुरता से) हीन हृदयहारी पदों के विन्यासरूप प्राण वाला 'माधुर्य' (नामक गुण) सुकुमार मार्ग का पहला गुण है॥ ३० ॥

असमस्तानि समासवर्जितानि मनोहारीणि हृदयाह्लादकानि श्रुतिरम्यत्वेनार्थरमणीयत्वेन च यानि पदानि सुप्तिङन्तानि तेषां विन्यासः सन्निवेशवैचित्र्यं जीवितं सर्वस्वं यस्य तत्तथोक्तं माधुर्यं नाम सुकुमारलक्षणस्य मार्गस्य प्रथमः प्रधानभूतो गुणः। असमस्तशब्दोऽत्र प्राचुर्यार्थः, न समासाभावनियमार्थः। उदाहरणं यथा—

असमस्त अर्थात् समास से हीन मनोहारी अर्थात् सुनने में मनोहर एवं अर्थ से भी मनोहर होने के कारण (सहृदय) हृदयों को आह्लादित करने वाले, जो पद अर्थात् सुबन्त एवं तिङन्त पद, उनका (जो) विन्यास अर्थात् संघटना का वैचित्र्य (वही है) जीवित अर्थात् सर्वस्व जिसका वह हुआ तथोक्त (असमस्त एवं मनोहारि पदों के विन्यासरूप जीवित वाला) माधुर्य नामक, सुकुमार रूप मार्ग का प्रथम अर्थात् प्रधानभूत गुण। असमस्त पद यहाँ प्राचुर्य अर्थ का बोधक है (अर्थात् समास के प्रचुर प्रयोग का निषेध करने वाला है) न कि समास के (पूर्ण) अभाव का नियम करने के अर्थ में (कि समास बिल्कुल हो ही नहीं। तात्पर्य यह कि समस्त पदों का प्रयोग किया जा सकता पर प्रचुरता से नहीं क्योंकि प्रचुरता से किया गया समास सुकुमारता में बाधक होगा।) इसका उदाहरण जैसे—

क्रीडारसेन रहसि स्मितपूर्वमिन्दो-
र्लेखां विकृष्य विनिबध्य च मूर्ध्नि गौर्या।
किं शोभिताहमनयेति शशाङ्कमौलेः
पृष्टस्य पातु परिचुम्बनमुत्तरं वः॥ ८१ ॥

निर्जन स्थल में काम-केलि के आनन्द से युक्त पार्वती के द्वारा, मुस्कुराहट के साथ (शिवललाट पर स्थित) चन्द्रकला को खींच कर (अपने) सिर पर स्थापित कर 'क्या मैं इस (चन्द्रलेखा) से शोभायमान हो रही रही हूँ' ऐसा प्रश्न किये गए चन्द्रमौलि (भगवान् शङ्कर) का (पार्वती का किया गया) परिचुम्बन रूप उत्तर आप सबकी रक्षा करे ॥ ८१ ॥

अत्र पदानामसमस्तत्वं शब्दार्थरमणीयता विन्यासवैचित्र्यं च त्रितयमपि चकास्ति ।

यहाँ पर पदों का (१) (प्रचुर) समासों से वर्जित होना, (अर्थात् यहाँ जो 'शशाङ्कमौलेः' अथवा 'क्रीडारसेन' में समासों का प्रयोग हुआ है वे कोई कठिन अथवा दीर्घ समास नहीं हैं जिनसे कि अर्थ-प्रतीति में कुछ भी बाधा पड़े, अपितु वे एक अपूर्व चमत्कार की ही सृष्टि करते हैं) (२) (कर्णपटुका आदि दोषों से रहित मनोहर) शब्दों तथा (सद्यः रस को परिपुष्ट करनेवाले रमणीय) अर्थों का सौन्दर्य, एवं (३) (वाक्य) विन्यास की विचित्रता, ये तीनों ही (माधुर्य गुण के लिये अपेक्षित वस्तुवें) यहाँ विद्यमान हैं ।

तदेवं माधुर्यमभिधाय प्रसादमभिधत्ते—

अक्लेशव्यञ्जिताकूतं झगित्यर्थसमर्पणम् ।
रसवक्रोक्तिविषयं यत्प्रसादः स कथ्यते ॥ ३१ ॥

तो इस प्रकार 'माधुर्य' (नामक सुकुमार मार्ग के प्रथम एवं प्रधान गुण) का कथन कर 'प्रसाद' (नामक दूसरे गुण का) अभिधान करते हैं—

(शृङ्गारादि) रस एवं (सर्वालङ्कारसामान्य) वक्रोक्तिविषयक अभिप्राय को अनायास ही प्रकट कर देने वाला, एवं अर्थ की तुरन्त प्रतीति कराने वाला जो (गुण) है वह 'प्रसाद' (गुण होता है) ऐसा कहा जाता है ॥ ३१ ॥

झगिति प्रथमतरमेवार्थसमर्पणं वस्तुप्रतिपादनम् । कीदृशम्— अक्लेशव्यञ्जिताकूतम् अकदर्थनाप्रकटिताभिप्रायम् । किंविषयम्— रसवक्रोक्तिविषयम् । रसाः शृङ्गारादयः, वक्रोक्तिः सकलालङ्कारसामान्यं विषयो गोचरो यस्य तत्तथोक्तम् । स एव प्रसादाख्यो गुणो कथ्यते भण्यते। अत्र पदानामसमस्तत्वं प्रसिद्धाभिधानत्वम् अव्यवहितसम्बन्धत्वं समाससद्भावेऽपि गमकसमासयुक्तता च परमार्थः। 'आकूत' शब्दस्तात्पर्यविच्छित्तौ च वर्तते । उदाहरणं यथा—

झगिति अर्थात् सवप्रथम (सुनने के बाद तुरन्त) अर्थ-समर्पण अर्थात् वस्तु का प्रतिपादन (करने वाला)। किस प्रकार (के अर्थ का प्रतिपादन) विना क्लेश के अभिप्राय को व्यक्त करने वाले अर्थात् अनायास ही अभिप्राय को प्रकट कर देने वाले (अर्थ का समर्पण)। किस विषय (से सम्बन्धित) रस एवं वक्रोक्ति विषयक। रस अर्थात् शृङ्गारादि वक्रोक्ति अर्थात् समस्त अलङ्कारों में सामान्यभूत (वाग्विच्छित्ति) है विषय अर्थात् गोचर जिसका वह हुआ तथोक्त (रसवक्रोक्तिविषयक अभिप्राय) उसे ही बिना कष्ट के व्यक्त करने वाला) वह ही 'प्रसाद' नामक (सुकुमार मार्ग का दूसरा) गुण कहा जाता है। यहाँ (इस 'प्रसाद' नामक गुण का) परम रहस्य है—पदों का (१) समास से वर्जित होना, (२) प्रसिद्ध (ही अर्थ) का अभिधान करना (३) (अर्थ के साथ) साक्षात् (अव्यवहित) सम्बन्ध होना, एवं (४) समास के विद्यमान होने पर भी (सरलतापूर्वक अर्थ की) प्रतीति कराने वाले समास से युक्त होना। (इस कारिका में जो) 'आकूत' शब्द (का उपादान किया गया है वह) तात्पर्य की विच्छित्ति (रमणीयता के अर्थ) में किया गया है। (अर्थात् रमणीय तात्पर्य वाली वस्तु को अनायास व्यक्त करने वाला प्रसाद नामक गुण होता है।) उदाहरण जैसे—

हिमव्यपायाद्विशदाधराणामापाण्डुरीभूतमुखच्छवीनाम्।
स्वेदोद्गमः किंपुरुषाङ्गनानां चक्रे पदं पत्त्रविशेषकेषु॥ ८२॥

शीत के व्यतीत हो जाने से स्वच्छ अधरों वाली एवं गौर वर्ण की मुख-कान्ति से युक्त किन्नरों की सुन्दरियों के (मस्तक पर स्थित) पलाश के तिलकों (पत्त्रविशेषकों) में पसीने के आविर्भाव ने अपना स्थान बना लिया (अर्थात् गर्मी के कारण माथों पर पसीना आने लगा)॥ ८२॥

अत्रासमस्तत्वादिसामग्री विद्यते। यदपि विविधपत्त्रविशेषक-वैचित्र्यविहितं किमपि वदनसौन्दर्यं मुक्ताकणाकारस्वेदलवोपबृंहितं तदपि सुव्यक्तमेव। यथा वा—

यहाँ पर (प्रचुर) समास का अभाव आदि (प्रसाद गुण की) सम्पूर्ण सामग्री विद्यमान है। और जो भी विविध पत्र के विशेषकों के वैचित्र्य से उत्पन्न कोई (अनि नीय) मुख की सुन्दरता मुक्ताकणों के आकार वाले स्वेदकणों से परिवर्धित की गई है, (अर्थात् जिसमें तात्पर्य (अभिप्राय) की विच्छित्ति है) वह भी सुस्पष्ट ही है। (अतः यहाँ प्रसाद गुण स्वीकार किया गया है)। अथवा जैसे (दूसरा उदाहरण)—

अनेन सार्धं विहराम्बुराशेस्तीरेषु ताडीवनमर्मरेषु ।
द्वीपान्तरानीतलवङ्गपुष्पैरपाकृतस्वेदलवा मरुद्भिः ॥ ८३ ॥

(इन्दुमती स्वयंवर के प्रसंग में कलिङ्ग-नरेश हेमाङ्गद का परिचय देते हुए सुनन्दा इन्दुमती से कहती है कि आप) ताड़ी के जङ्गलों के मर्मर शब्दों से युक्त सागर के किनारों पर दूसरे द्वीपों से लवङ्ग पुष्पों की लाने वाली हवा के द्वारा पसीने की बूंदों को सुखाते हुए इस (कलिङ्ग नरेश हेमाङ्गद) के साथ विहार करें ॥ ८३ ॥

अलङ्कारव्यक्तिर्यथा—

बालेन्दुवक्राणि' इति ॥ ८४ ॥

(यहाँ पर भी प्रचुर समासों का अभाव इत्यादि प्रसाद गुण की समस्त सामग्री विद्यमान है। साथ ही 'अपाकृतस्वेदलवा' के द्वारा जो सुरतजन्य खेद के कारण उत्पन्न हुए स्वेदकणों का संकेत किया गया है वह भी सुस्पष्ट है। इस प्रकार रसविषयक अभिप्राय व्यक्त करने के दो उदाहरण देकर) अलंकार व्यक्ति (का उदाहरण देते हैं) जैसे—

बाल चन्द्रमा के समान टेढ़े········इत्यादि पूर्वोक्त उदाहरण संख्या ७५ पर उदाहृत पद्य है ॥ ८४ ॥ (इसका अर्थ वहीं देखें)। (इस पद्य में समास के अभाव के साथ-साथ अर्थ की स्पष्टता आदि प्रसाद गुण की समग्र सामग्री की विद्यमानता के साथ-साथ 'नखक्षतानीव' से प्रयुक्त उपमालंकार बड़े ही रमणीय ढंग से व्यक्त हुआ है)।

एवं प्रसादमभिधाय लावण्यं लक्षयति—

वर्णविन्यासविच्छित्तिपदसंधानसंपदा ।
स्वल्पया बन्धसौन्दर्यं लावण्यमभिधीयते ॥ ३२ ॥

इस प्रकार (सुकुमार मार्ग के द्वितीयगुण) प्रसाद का कथन कर (तृतीयगुण) लावण्य को लक्षित करते हैं—

अक्षरों की विचित्र संघटना की शोभा से (लक्षित) पदों की योजना की अत्यल्प संपत्ति से (उत्पन्न शोभा द्वारा निष्पन्न) वाक्य-रचना का सौन्दर्य 'लावण्य' नामक गुण कहा जाता है ॥ ३२ ॥

बन्धो वाक्यविन्यासस्तस्य सौन्दर्यं रामणीयकं लावण्यमभिधीयते लावण्यमित्युच्यते । कीदृशम्—वर्णानामक्षराणां विन्यासो विचित्रं न्यसनं तस्य विच्छित्तिः शोभा वैदग्ध्यभङ्गी तया लक्षितं पदानां सुप्तिङन्तानां सन्धानं संयोजनं तस्य सम्पत्, सापि शोभैव,

तथा लक्षितम्। कीदृश्या—उभयरूपयापि स्वल्पया मनाङ्मात्रया नातिनिबन्धनिर्मितया। तदयमत्रार्थः शब्दार्थसौकुमार्यसुभगः सन्निवेशमहिमा लावण्याख्यो गुणः कथ्यते। यथा—

बन्ध अर्थात् वाक्य की विशेष संघटना, उसका सौंदर्य अर्थात् रमणीयता लावण्य कही जाती है अर्थात् "लावण्य नामक गुण" के द्वारा उसका कथन किया जाता है। कैसा (बन्ध सौन्दर्य)—वर्णों अर्थात् अक्षरों का विन्यास अर्थात् विचित्र संघटना उसकी विच्छित्ति अर्थात् शोभा विदग्धतापूर्ण भङ्गिमा इसके द्वारा लक्षित—सुबन्त तथा तिङन्त पदों का सन्धान अर्थात् सम्यक् योजना उसकी सम्पत्ति अर्थात् शोभा उससे लक्षित अर्थात् संयुक्त (बन्धसौंदर्य)। कैसी (सम्पत्ति) के द्वारा—उभयरूप सम्पत्ति के द्वारा (अर्थात् (१) वर्णों के विचित्रन्यास से जन्य शोभा (२) तथा उससे युक्त पदयोजना की शोभा इन दोनों से जो) स्वल्प अर्थात् अत्यन्त थोड़ी एवं बिना अधिक प्रयास के निर्मित की हुई (अर्थात् स्वाभाविक रूप से उत्पन्न शोभा के द्वारा)। इसका यहाँ यह अर्थ हुआ कि—शब्द और अर्थ की सुकुमारता से रमणीय संघटना की शोभा लावण्य नामक गुण कही जाती है। जैसे—

स्नानार्द्रमुक्तेष्वनुधूपवासं विन्यस्तसायन्तनमल्लिकेषु।
कामो वसन्तात्ययमन्दवीर्यः केशेषु लेभे बलमङ्गनानाम्॥ ८५॥

नहाने के कारण गीले हो जाने से खुले एवं धूप से सुगन्धित किये जाने के अनन्तर सायंकाल गूँथे गये वेला के पुष्पों से युक्त सुन्दरियों के केशकलाप में, वसन्तऋतु रूप अपने सुहृद् का विनाश हो जाने से (अर्थात् वसन्त की समाप्ति पर) मन्द हो गये पराक्रम वाले कामदेव ने शक्ति प्राप्त किया॥८५॥

अत्र सन्निवेशसौन्दर्यमहिमा सहृदयसंवेद्यो न व्यपदेष्टुं पार्यते। यथा वा—

चकार बाणैरसुराङ्गनानां गण्डस्थलीः प्रोषितपत्रलेखाः॥ ८६॥

यहाँ पर संघटना के सौन्दर्य की शोभा का कथन नहीं किया जा सकता क्योंकि वह केवल सहृदय-हृदय के द्वारा अनुभवगम्य है। (अर्थात् इस श्लोक में जो वर्ण-विन्यास की विच्छित्ति है अर्थात् सुकुमार वर्णों का मनोहारी विन्यास है उसकी शोभा एवम् पदों की जो मनोहारी योजना है, उसकी शोभा दोनों का केवल अनुभव किया जा सकता है शब्दों द्वारा नहीं व्यक्त किया जा सकता। अथवा जैसे (इसी का दूसरा उदाहरण)—

(रघुवंश महाकाव्य के इन्दुमती-स्वयंवर के प्रकरण में इन्दुमती से राजा ककुत्स्थ का परिचय देती हुई कहती है कि ये वे ही राजा ककुत्स्थ हैं

जिन्होंने संग्राम में) बाणों के द्वारा (राक्षसों का वधकर) राक्षसों की पत्नियों की कपोलस्थली को (उनके विधवा हो जाने के कारण सदा के लिए) पत्र-रचना (रूप प्रसाधन) से निर्मुक्त कर दिया था ॥ ८६ ॥

अत्रापि वर्णविन्यासविच्छित्तिः पदसन्धानसम्पच्च सन्निवेशसौन्दर्य-निबन्धनस्फुटावभासैव ।

यहाँ पर वाक्य-संघटना के सौन्दर्य की कारणभूत वर्णों के विचित्र सन्निवेश से अन्य शोभा तथा पदों की सम्यक्-योजना की शोभा स्पष्ट रूप से झलकती है ।

एवं लावण्यमभिधाय आभिजात्यमभिधत्ते—

श्रुतिपेशलताशालि सुस्पर्शमिव चेतसा ।
स्वभावमसृणच्छायमाभिजात्यं प्रचक्षते ॥ ३३ ॥

इस प्रकार सुकुमार मार्ग के माधुर्य, प्रसाद तथा लावण्य तीन गुणों का प्रतिपादन कर अब चौथे गुण आभिजात्य का कथन करते हैं—

सुनने में रमणीयता से सम्पन्न एवम् हृदय के साथ सुन्दर स्पर्श के समान स्वभावतः स्निग्ध कांति से युक्त वस्तु आभिजात्य नामक गुण कही जाती है ॥ ३३ ॥

एवंविधं वस्तु आभिजात्यं प्रचक्षते आभिजात्याभिधानं गुणं वर्णयन्ति । श्रुतिः श्रवणेन्द्रियं तत्र पेशलता रामणीयकं तेन शालते श्लाघते यत्तथोक्तम् । सुस्पर्शमिव चेतसा मनसा सुस्पर्शमिव । सुखेन स्पृश्यत इवेत्यतिशयोक्तिरियम् । यस्मादुभयमपि स्पर्शयोग्यत्वे सति सौकुमार्यात् किमपि चेतसि स्पर्शसुखमर्पयतीव । यतः स्वभावमसृणच्छायम् अहार्यश्लक्ष्णकान्ति यत्तद् आभिजात्यं कथयन्तीत्यर्थः । यथा—

इस प्रकार की वस्तु आभिजात्य कही जाती है अर्थात् उसे आभिजात्य नामक गुण कहते हैं । श्रुति अर्थात् श्रवणेन्द्रिय कर्ण वहाँ जो पेशलता अर्थात् सौन्दर्य होता है उससे जो शालित सुशोभित होता है वह हुआ तथोक्त श्रुति की रमणीयता से सुशोभित होनेवाला । चित्त के साथ सुस्पर्श की भाँति अर्थात् मन के साथ सुखदायी स्पर्श की तरह । सुखपूर्वक स्पर्श किया जाता है जिसका उसके समान—यहाँ अतिशयोक्ति है । क्योंकि दोनों ही स्पर्श की योग्यता के विद्यमान रहने पर सुकुमारता के कारण किसी अपूर्व स्पर्शसुख को हृदय में उत्पन्न करते हैं । क्योंकि जो स्वभाव से मसृण छाया वाला

अर्थात् स्वाभाविक (न कि व्युत्पत्तिजन्य) स्निग्धकान्ति से युक्त होता है, उसे आभिजात्य नामक गुण कहा जाता है जैसे—

ज्योतिर्लेखावलयि गलितं यस्य बर्हं भवानी।
पुत्रप्रीत्या कुवलयदलप्रापि कर्णे करोति॥ ८७॥

(मेघदूत काव्य में देवगिरि पर स्थित स्वामिकार्त्तिकेय के वाहनभूत मयूर को नाचने के लिए प्रेरित करने के लिए कहते हुए यक्ष मेघ से उस मयूर की विशेषता बताते हुए कहता है कि)—

जिस (स्वामिकार्त्तिकेय के वाहन मयूर) के कान्तिमय रेखा के वलयवाले गिरे हुए पंख को भवानी (पार्वती स्वामिकार्त्तिकेय की माता अपने-) पुत्र के प्रेम के कारण कमलदल से युक्त कान में (धारण) करती हैं। अर्थात् कर्णाभरण के रूप में उस पंख का प्रयोग भवानी करती हैं॥ ८७॥

अत्र श्रुतिपेशलतादि स्वभावमसृणच्छायत्वं किमपि सहृदयसंवेद्यं परिस्फुरति।

यहाँ पर श्रुतिरमणीयतादि तथा स्वभावतः स्निग्ध कान्तियुक्तता कोई अपूर्व एवम् अनिर्वचनीय सहृदयों का अनुभवगम्य तत्त्व परिस्फुरित होता है।

ननु च लावण्यमाभिजात्यं च लोकोत्तरतरुणीरूपलक्षणवस्तुधर्मतया यत् प्रसिद्धं तत् कथं काव्यस्य भवितुमर्हतीति चेत्तन्न। यस्मादनेन न्यायेन पूर्वप्रसिद्धयोरपि माधुर्यप्रसादयोः काव्यधर्मत्वं विघटते। माधुर्यं हि गुडादिमधुरद्रव्यधर्मतया प्रसिद्धं तथाविधाह्लादकारित्वसामान्योपचारात् काव्ये व्यपदिश्यते। तथैव च प्रसादः स्वच्छसलिलस्फटिकादिधर्मतया प्रसिद्धः स्फुटावभासित्वसामान्योपचारात् झगितिप्रतीतिपेशलतां प्रतिपद्यते। तद्वदेव च काव्ये कविशक्तिकौशलोल्लिखितकान्तिकमनीयं बन्धसौन्दर्यं चेतनचमत्कारकारित्वसामान्योपचाराल्लावण्यशब्दव्यतिरेकेण शब्दान्तराभिधेयतां नोत्सहते। तथैव च काव्ये स्वभावमसृणच्छायत्वमाभिजात्यशब्देनाभिधीयते।

(पूर्वपक्षी प्रश्न करता है कि) लावण्य और आभिजात्य जो अलौकिक तरुणी के सौन्दर्यरूप वस्तु के धर्मरूप से प्रसिद्ध है वह काव्य का गुण रूप कैसे हो सकता है? इस बात का उत्तर देते हुए कहते हैं कि यह प्रश्न ठीक नहीं क्योंकि इस न्याय का आश्रयण करने से पूर्वप्रसिद्ध माधुर्य एवं प्रसाद गुण भी काव्य के धर्म न हो सकेंगे क्योंकि गुड़ आदि मीठे पदार्थों के

धर्म के रूप में प्रसिद्ध माधुर्य गुण भी उसी प्रकार (गुड़ इत्यादि मधुर द्रव्यों की भाँति) आह्लादजनकता रूप सादृश्य के कारण उपचार से (लक्षणया) काव्य में (माधुर्य गुण के रूप में) कहा जाता है। उसी प्रकार स्वच्छ जल अथवा स्फटिक मणि आदि (द्रव्यों के) धर्म रूप से प्रसिद्ध प्रसाद गुण भी स्पष्ट रूप से (अर्थ को) प्रकट कर देने रूप सादृश्य के आधार पर उपचार से (काव्य के प्रसाद गुण के रूप में प्रसिद्ध होकर) सद्यः अर्थ-प्रतीति की रमणीयता को प्राप्त होता है। तथा उसी प्रकार कवि की सहज प्रतिभा के कौशल से निष्पन्न की गयी कान्ति से रमणीय वाक्य-विन्यास का सौन्दर्य सहृदयों को आनन्द प्रदान करने रूप सामान्य के आधार पर उपचार से लावण्य शब्द से भिन्न किसी अन्य शब्द के द्वारा अभिधेयता को नहीं सहन कर पाता (अर्थात् उसे केवल लावण्य शब्द के द्वारा ही व्यक्त किया जा सकता है) तथा उसी प्रकार काव्य में स्वाभाविक रूप से स्निग्ध कान्तियुक्तता आभिजात्य शब्द के द्वारा कही जाती है (जैसे— रमणी आदि के अलौकिक सहज स्निग्ध कान्ति को आभिजात्य कहते हैं इन दोनों में भी उपचार का हेतु सहृदयहृदयाह्लादकारित्व रूप सामान्य ही है।)

ननु च कैश्चित्प्रतीयमानं वस्तु ललनालावण्यसाम्याल्लावण्यमित्युत्पादितप्रतीति—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तमाभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥ ८८ ॥

(पूर्वपक्षी यह प्रश्न करता है कि) कुछ (आनन्दवर्द्धन आदि आचार्यों) ने सुन्दरियों के लावण्य के साम्य के कारण प्रतीयमान (व्यंग्य) वस्तु को लावण्य ऐसा कहा है—

वाच्य को उपमा आदि प्रकारों से प्रसिद्ध बताकर प्रतीयमान रूप अर्थ के दूसरे भेद का प्रतिपादन करते हैं—

कि महाकवियों की वाणी के प्रतीयमान नामक वस्तु दूसरी ही (वाच्य से भिन्न वस्तु) है, जो अङ्गनाओं में उनके प्रसिद्ध अवयवों से भिन्न लावण्य के समान विशेषरूप से सुशोभित होती है ॥ ८८ ॥

तत्कथं बन्धसौन्दर्यमात्रं लावण्यमित्यभिधीयते ? नैष दोषः, यस्मादनेन दृष्टान्तेन वाच्यवाचकलक्षणप्रसिद्धावयवव्यतिरिक्तत्वेनास्तित्वमात्रं साध्यते प्रतीयमानस्य, न पुनः सकललोकलोचनसंवेद्यस्य ललनालावण्यस्य। सहृदयहृदयानामेव संवेद्यं सत् प्रतीयमानं समीकर्तुं पार्यते।

आपने केवल बन्ध-सौन्दर्य को ही लावण्य कैसे कहा ? (इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि) यह कोई दोष नहीं है क्योंकि इस दृष्टान्त के द्वारा (आनन्दवर्द्धन) वाच्य-वाचक रूप से प्रसिद्ध अवयवों से भिन्न प्रतीयमान (वस्तु) की सत्तामात्र का प्रतिपादन करते हैं न कि समस्त लोक के नेत्रों द्वारा जाने जा सकने योग्य ललना के लावण्य के साथ केवल सहृदयों के हृदयों द्वारा अनुभव किये जा सकने वाले प्रतीयमान अर्थ को समान किया जा सकता है। (अर्थात् ललना का लावण्य सभी लोग जान सकते हैं जब कि प्रतीयमान अर्थ का अनुभव केवल सहृदय ही कर सकते हैं तो भला वे दोनों समान कैसे हो सकते हैं ? अतः आनन्दवर्द्धन ने केवल प्रसिद्ध उपमा आदि वाच्य रूप अवयवों से भिन्न प्रतीयमान वस्तु की सत्तामात्र का निर्देश किया है)।

(लेकिन मैंने जो काव्य के लावण्य गुण की ललना के लावण्य के साथ समता स्थापित की है उसका यही कारण है कि)

तस्य बन्धसौन्दर्यमेवाव्युत्पन्नपदपदार्थानामपि श्रवणमात्रेणैव हृदयहारित्वस्पर्धया व्यपदिश्यते। प्रतीयमानं पुनः काव्यपरमार्थ-ज्ञानामेवानुभवगोचरतां प्रतिपद्यते। यथा कामिनीनां किमपि सौभाग्यं तदुपभोगोचितानां नायकानामेव संवेद्यतामर्हति, लावण्यं पुनस्तासामेव सत्कविगिरामिव सौन्दर्यं सकललोकगोचरतामायाती-त्युक्तमेवेत्यलमतिप्रसङ्गेन।

उस (काव्य) का बन्ध सौन्दर्य ही पद और पदार्थ को न जानने वाले (सहृदयभिन्न) लोगों के भी सुनने मात्र से मनोहर होने के कारण (ललना लावण्य, जो कि समस्तलोक लोचनगोचर होता है उसकी) स्पर्धा से कथन किया जा सकता है। (अर्थात् जैसे ललना का लावण्य सभी प्राणियों को आनन्द प्रदान करता है चाहे वे सहृदय हों अथवा असहृदय हों उसी प्रकार काव्य का बन्ध सौन्दर्य भी सभी के हृदयों को केवल श्रवण मात्र से आनन्दित कर देता है, चाहे वे पद एवं पदार्थ को समझने वाले सहृदय हों अथवा पद-पदार्थ ज्ञान से हीन असहृदय)। जब कि प्रतीयमान अर्थ केवल काव्य के परामर्श को जानने वाले। (सहृदयों के ही अनुभव का विषय बनता है जैसे कामिनियों का कोई अनिवर्चनीय सौभाग्य (सौन्दर्य) उनका उपभोग करने योग्य नायकों का ही अनुभवगम्य होता है जब कि उन्हीं का लावण्य श्रेष्ठ कवियों की वाणी के सौन्दर्य की भाँति समस्त लोक के ज्ञान का विषय बनता है यह कहा ही जा चुका है अतः इस अतिप्रसंग की आवश्यकता नहीं।

एवं सुकुमारस्य लक्षणमभिधाय विचित्रं लक्षयति—

प्रतिभाप्रथमोद्भेदसमये यत्र वक्रता ।
शब्दाभिधेययोरन्तः स्फुरतीव विभाव्यते ॥ ३४ ॥

इस प्रकार सुकुमार-मार्ग का लक्षण करने के उपरान्त विचित्र-मार्ग का लक्षण करते हैं—

जहाँ कवि की शक्ति की प्रथम ही उल्लेख के समय शब्द और अर्थ के अन्दर (उक्तिवैचित्र्य रूप) वक्रता स्फुरित होती हुई सी प्रकाशित होती है ॥ ३४ ॥

अलंकारस्य कवयो यत्रालंकरणान्तरम् ।
असंतुष्टा निबध्नन्ति हारादेर्मणिबन्धवत् ॥ ३५ ॥

(तथा) जहाँ कवि लोग एक ही अलंकार के प्रयोग से असन्तुष्ट होकर हार इत्यादि के मणि-विन्यास के समान एक अलंकार के लिए दूसरे अलंकार की रचना करते हैं ॥ ३५ ॥

रत्नरश्मिच्छटोत्सेकभासुरैर्भूषणैर्यथा ।
कान्ताशरीरमाच्छाद्य भूषायै परिकल्प्यते ॥ ३६ ॥
यत्र तद्वदलंकारैर्भ्राजमानैर्निजात्मना ।
स्वशोभातिशयान्तःस्थमलंकार्यं प्रकाश्यते ॥ ३७ ॥

(एवम्) जिस प्रकार से रत्नों की किरणों की शोभा के उल्लास से देदीप्यमान आभूषणों के द्वारा रमणी के शरीर को ढंककर अलंकृत करते हैं उसी प्रकार उज्ज्वल उपमा आदि अलंकार जहाँ अपने स्वरूप के द्वारा अपने शोभातिशय के अन्तर्गत विद्यमान अलंकार्य (स्वभाव) को प्रकाशित करते हैं ॥ ३६–३७ ॥

यदप्यनूतनोल्लेखं वस्तु यत्र तदप्यलम् ।
उक्तिवैचित्र्यमात्रेण काष्ठां कामपि नीयते ॥ ३८ ॥

(तथा) जहाँ जो (वाच्य रूप) वस्तु अभिनव ढंग से उल्लिखित नहीं होती (अर्थात् कवि किसी प्राचीन वस्तु का ही वर्णन करता है) वह भी उक्ति-वैचित्र्यमात्र से पर्याप्त किसी अपूर्व सौन्दर्य की कोटि पर पहुँचा दी जाती है ॥ ३८ ॥

यत्रान्यथाभवत् सर्वमन्यथैव यथारुचि।
भाव्यते प्रतिभोल्लेखमहत्त्वेन महाकवेः॥ ३९॥

(तथा) जहाँ अन्य ढंग से विद्यमान सम्पूर्ण वस्तु महाकवि की प्रतिभा के उन्मेष के अतिशय के कारण अपनी प्रतिभा के अनुरूप अन्य ढंग से ही वर्णित होकर शोभायुक्त हो जाती है॥ ३९॥

प्रतीयमानता यत्र वाक्यार्थस्य निबध्यते।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां व्यतिरिक्तस्य कस्यचित्॥ ४०॥

(एवं) जहाँ शब्द और अर्थ की शक्तियों से भिन्न (व्यङ्ग्य रूप) किसी अनिर्वचनीय वाक्यार्थ की प्रतीयमानता (अर्थात् गम्यमानता) निबद्ध की जाती है (अर्थात्—जहाँ पर वाक्यार्थ शब्द तथा अर्थ की शक्ति अभिधा के द्वारा न कहा जाकर व्यङ्ग्य रूप में (व्यंजना शक्ति के द्वारा) निबद्ध किया जाता है)॥ ४०॥

स्वभावः सरसाकूतो भावानां यत्र बध्यते।
केनापि कमनीयेन वैचित्र्येणोपबृंहितः॥ ४१॥

(तथा) जहाँ किसी (अलौकिक) हृदयहारी वैचित्र्य से वृद्धि को प्राप्त कराया गया, पदार्थों का सरस अभिप्राययुक्त स्वभाव वर्णित होता है॥४१॥

विचित्रो यत्र वक्रोक्तिवैचित्र्यं जीवितायते।
परिस्फुरति यस्यान्तः सा काप्यतिशयाभिधा॥ ४२॥
सोऽतिदुःसञ्चरो येन विदग्धकवयो गताः।
खड्गधारापथेनेव सुभटानां मनोरथाः॥ ४३॥

(तथा) जहाँ वक्रोक्ति की विचित्रता प्राण के समान आचरण करती है जिसके भीतर कोई (अलौकिक) अतिशय की उक्ति उल्लसित होती है, वह अत्यन्त कठिनता से चलने योग्य विचित्र (नामक मार्ग) है, जिससे (जिसका आश्रयण कर) चतुर कवि लोग बड़े-बड़े वीरों के तलवार की धारा के मार्ग से चलने वाले मनोरथों की भाँति गुजरे हैं (अर्थात् काव्य-रचना किए हैं)॥ ४२–४३॥

स विचित्राभिधानः पन्थाः, कीदृक्—अतिदुःसञ्चरः, यत्रातिदुःखेन सञ्चरते। किं बहुना, येन विदग्धकवयः केचिदेव व्युत्पन्नाः केवलं गताः प्रयाताः, तदाश्रयेण काव्यानि चक्रुरित्यर्थः। कथम्—खड्ग-

धारापथेनेव सुभटानां मनोरथाः। निस्त्रिंशधारामार्गेण यथा सुभटानां महावीराणां मनोरथाः सङ्कल्पविशेषाः। तदयमत्राभिप्रायः—यदसि-धारामार्गगमने मनोरथानामौचित्यानुसारेण यथारुचि प्रवर्तमानानां मनाङ्मात्रमपि म्लानता न सम्भाव्यते। साक्षात्समरसंमर्दसमाचरणे पुनः कदाचित् किमपि म्लानत्वमपि सम्भाव्येत। तदनेन मार्गस्य दुर्गमत्वं तत्प्रस्थितानां च विहरणप्रौढिः प्रतिपाद्यते।

वह विचित्र नाम का मार्ग कैसा है—अतिदुःसञ्चर अर्थात् जहाँ बड़े कष्ट के साथ गमन किया जाता है। अधिक कहने से क्या लाभ, जिस (मार्ग) से विदग्ध कविजन अर्थात् केवल कुछ ही व्युत्पन्न (कवि) लोग गये हैं इसका भाव यह है कि उस (विचित्र-मार्ग) का आश्रयण कर काव्य-रचना किए है। किस प्रकार से—खड्गधारा के मार्ग से सुभटों के मनोरथ के समान। तलवार की धारा के मार्ग से जैसे सुभटों अर्थात् बड़े-बड़े वीरों के मनोरथ अर्थात् संकल्पविशेष (प्रयाण करते हैं)। तो यहाँ इसका अभिप्राय यह है कि अपनी रुचि के अनुकूल औचित्य के अनुसार खड्ग की धारा के मार्ग से चलने में प्रवृत्त हुए मनोरथों की थोड़ी भी म्लानता सम्भव नहीं है, चाहे साक्षात् संग्राम की भीड़ में आचरण करने पर शायद कभी कुछ म्लानता भी सम्भव हो जाय (लेकिन तलवार की धारा के मार्ग पर चलने पर म्लानता कदापि सम्भव नहीं है)। तो इस प्रकार मार्ग की दुर्गमता तथा उस (मार्ग) से प्रस्थान करने वालों की विचरण की परिपक्वता का (प्रौढ़ि का) प्रतिपादन किया गया है।

कीदृक् स मार्गः—यत्र यस्मिन् शब्दाभिधेययोरभिधानाभिधीय-मानयोरन्तःस्वरूपानुप्रवेशिनी वक्रता भणितिविच्छित्तिः स्फुरतीव प्रस्पन्दमानेव विभाव्यते। लक्ष्यते। कदा—प्रतिभाप्रथमोद्भेदसमये। प्रतिभायाः कविशक्तेरचरमोल्लेखावसरे। तदयमत्र परमार्थः—यत् कविप्रयत्ननिरपेक्षयोरेव शब्दार्थयोः स्वाभाविकः कोऽपि वक्रताप्रकारः परिस्फुरन् परिदृश्यते। यथा—

वह विचित्र मार्ग है कैसा—जहाँ अर्थात् जिस मार्ग में शब्द एवम् अभिधेय अर्थात् वाचक और वाच्य (अर्थ) के भीतर अर्थात् स्वरूप में प्रवेश किये हुए वक्रता अर्थात् कथन की विच्छित्ति स्फुरित होती हुई-सी अर्थात् प्रवाहित होती हुई-सी विभावित अर्थात् लक्षित होती है। कब—प्रतिभा के प्रथम उद्भेद के समय में। प्रतिमा अर्थात् कवि की शक्ति के आदिम उल्लेख के अवसर पर। तो इसका वास्तविक अर्थ यह हुआ कि—

कवि के प्रयत्न की (अर्थात् आहार्य कौशल की अपेक्षा न रखने वाले केवल सहज प्रतिभा से निष्पन्न) शब्द और अर्थ की वक्रता का कोई स्वाभाविक भेद स्फुरित होता हुआ दिखाई देता है। जैसे—

कोऽयं भाति प्रकारस्तव पवनपदं लोकपादाहतीनां
तेजस्विव्रातसेव्ये नभसि नयसि यत्पांसुपूरं प्रतिष्ठाम्।
यस्मिन्नुत्थाप्यमाने जननयनपथोपद्रवस्तावदास्तां
केनोपायेन सह्यो वपुषि कलुषतादोष एष त्वयैव॥ ८६॥

हे पवन! यह तुम्हारा कौन-सा ढङ्ग है कि (तुम) लोक के पैरों से आहत किए जाने के पात्र धूलि समुदाय को तेजस्वियों के समूह द्वारा उपभोग किए जाने वाले आकाश में (उड़ा) ले जाते हो (अर्थात् इतने नीच को इतना ऊँचा स्थान क्यों देते हो) जिसके उठाये जाने पर लोगों के दृष्टिपथ (नेत्रों) में (होने वाले कष्ट रूप) उपद्रव की बात तो जाने दीजिए (लेकिन जो उसे आकाश में ले जाते समय तुम्हारे) शरीर में यह कालुष्य रूप दोष (आ जाता) है (उसे) तुम्हीं किस प्रकार सहन कर सकते हो। (अर्थात् वह धूलि समूह जो कि इतने ऊँचे उठाने वाले आपको भी कालुष्य दोष से युक्त कर देता है, उस नीच को इतने ऊँचे उठाने का यह आपका कौन-सा ढंग है।) ॥ ८६॥

अत्राप्रस्तुतप्रशंसालक्षणोऽलंकारः प्राधान्येन वाक्यार्थः। प्रतीयमान-पदार्थान्तरत्वेन प्रयुक्तत्वात्तत्र विचित्रकविशक्तिसमुल्लिखितवक्र-शब्दार्थोपनिबन्धमाहात्म्यात् प्रतीयमानमप्यभिधेयतामिव प्रापितम्। प्रक्रम एव प्रतिभासमानत्वान्न चार्थान्तरप्रतीतिकारित्वेऽपि पदानां श्लेषव्यपदेशः शक्यते कर्तुम्। वाच्यस्य समप्रधानभावेनानवस्थानात्। अर्थान्तरप्रतीतिकारित्वं च प्रतीयमानार्थस्फुटत्वावभासनार्थमुपनिबध्य-मानमतीवचमत्कारकारितां प्रतिपद्यते।

यहाँ 'अप्रस्तुतप्रशंसा' रूप अलंकार मुख्यतया वाक्यार्थ है। प्रतीयमान (किसी निम्न श्रेणी के लोगों का उद्धार करने वाले परोपकारी महापुरुष के वर्णन रूप) अन्य पदार्थ के रूप में (वायु के चरित्र के वर्णन के) प्रयुक्त होने से वहाँ कवि की विचित्र प्रतिभा से निष्पन्न (समुल्लसित) वक्र (वैचित्र्य-युक्त) शब्दों एवं अर्थों के प्रयोग के माहात्म्य से (महापुरुष की प्रशंसा रूप अर्थ तुरन्त प्रतीत हो जाने के कारण) प्रतीयमान होते हुए भी वाच्यार्थ सा हो गया है। तथा आरम्भ में ही (श्लोक के पढ़ते ही महापुरुषचरित-वर्णन रूप प्रतीयमान अर्थ के) प्रतिभासित हो जाने से (उस श्लोक में

प्रयुक्त) पदों के (प्रतीयमान) अन्य अर्थ की प्रतीति कराने वाला होने पर भी उन्हें श्लिष्ट संज्ञा नहीं दी जा सकती, वाच्य के साथ समप्राधान्य से (प्रतीयमान अर्थ के) स्थित न होने से (क्योंकि श्लेष में दोनों अर्थ वाच्य एवं समप्राधान्ययुक्त होते हैं)। तथा (इस श्लोक में प्रयुक्त पदों की) अन्य (प्रतीयमान रूप) अर्थ की प्रतीतिकारिता, प्रतीयमान (महापुरुष रूप) अर्थ की स्पष्ट प्रतीति कराने के लिए प्रयुक्त होकर अत्यन्त ही चमत्कारजनक हो गई है।

तमेव विचित्रं प्रकारान्तरेण लक्षयति—अलंकारस्येत्यादि। यत्र यस्मिन्मार्गे कवयो निबध्नन्ति विरचयन्ति, अलंकारस्य विभूषणस्यालंकरणान्तरं विभूषणान्तरम् असंतुष्टाः सन्तः। कथम्—हारादेर्मणिबन्धवत्। मुक्ताकलापप्रभृतेर्यथा पदकादिमणिबन्धं रत्नविशेषविन्यासं वैकटिकाः यथा—

उसी विचित्र (मार्ग) का दूसरे ढंग से लक्षण करते हैं—अलङ्कारस्येत्यादि (३५वीं कारिका के द्वारा)। जहाँ अर्थात् जिस मार्ग में कवि लोग (एक ही अलङ्कार के प्रयोग से) असन्तुष्ट होकर अलङ्कार अर्थात् (एक) विभूषण के अलङ्करणान्तर अर्थात् दूसरे विभूषण का निबन्धन अर्थात् रचना करते हैं। किस प्रकार से—हारादि के मणिबन्ध के समान। जैसे··· (वैकटिक) मुक्तावली इत्यादि (रत्नों) के पदक आदि (रूप में मणियों का बन्ध अर्थात् विशेष रत्नों का विन्यास (करते हैं)। जैसे—

हे हेलाजितबोधिसत्त्ववचसां किं विस्तरैस्तोयधे
नास्ति त्वसदृशः परः परहिताधाने गृहीतव्रतः।
तृष्यत्पान्थजनोपकारघटनावैमुख्यलब्धायशो-
भारप्रोद्वहने करोषि कृपया साहायकं यन्मरोः॥ ६०॥

लीलामात्र से भगवान् बुद्ध को जीत लेने वाले हे सागर (महाराज)! (आपकी तारीफ करने के लिए) वाणी के अधिक विस्तार से क्या (लाभ अर्थात् ज्यादा कहने की जरूरत नहीं। वास्तव में) आपके समान (संसार भर में) परोपकार करने का व्रत ग्रहण करने वाला कोई दूसरा नहीं (दिखाई पड़ता) है। जो तुम प्यासे राहियों का (पानी पिलाने रूप) उपकार करने से विमुख होने के कारण प्राप्त अपयश के भार को वहन करने में, कृपापूर्वक मरुस्थल की सहायता करते हो॥ ६०॥

अत्रात्यन्तगर्हणीयचरितं पदार्थान्तरं प्रतीयमानतया चेतसि निधाय तथाविधविलसितः सलिलनिधिर्वाच्यतयोपक्रान्तः। तदेतावदेवा-

लंकृतेरप्रस्तुतप्रशंसायाः स्वरूपम्—गर्हणीयप्रतीयमानपदार्थान्तरपर्यवसानमपि वाक्यं वस्तुन्युपक्रमरमणीयतयोपनिबध्यमानं तद्विदाह्लादकारितामायाति । तदेतद् व्याजस्तुतिप्रतिरूपकप्रायमलङ्करणान्तरमप्रस्तुतप्रशंसाया भूषणत्वेनोपात्तम् । न चात्र सङ्करालङ्कारव्यवहारो भवितुमर्हति, पृथगतिपरिस्फुटत्वेनावभासनात् । न चापि संसृष्टिसंभवः समप्रधानभावेनानवस्थितेः । न च द्वयोरपि वाच्यालङ्कारत्वम्, विभिन्नविषयत्वात् । यथा वा—

यहाँ पर (कवि ने) प्रतीयमान रूप से (किसी) अत्यन्त निन्द्य चरित्र वाले किसी (कंजूस धनवान रूप) अन्य पदार्थ को हृदय में स्थापित कर उसी प्रकार के व्यापार वाले (अर्थात् जैसे किसी धनाढ्य व्यक्ति के पास अपार धन होता है लेकिन स्वभावतः कंजूस होने के कारण वह निर्धनों को धन देकर सन्तुष्ट नहीं कर सकता, उसी प्रकार समुद्र भी अथाह जल से भरा हुआ होने पर भी जलाभिलाषी किसी भी प्यासे राही को (खारा होने के कारण अपेय) जल को पिला कर सन्तुष्ट नहीं कर सकता । अतः दोनों के समान व्यापार वाला होने के कारण समुद्र को वाच्य रूप से वर्णित किया है । (इस श्लोक में वस) इतना ही अप्रस्तुतशंसा नामक अलङ्कार का स्वरूप है । निन्द्य चरित्र वाले धनाढ्य, कृपण रूप प्रतीयमान दूसरे पदार्थ में समाप्त होने वाला भी यह श्लोक (सागर चरित्र रूप वर्ण्य) वस्तु में यत्नपूर्वक आरम्भ की रमणीयता से उपनिबद्ध होकर सहृदयों को आह्लादित करने में समर्थ होता है । तो इस प्रकार यह व्याजस्तुति रूप अन्य अलङ्कार को अप्रस्तुतप्रशंसा के अलङ्कार रूप में (कवि ने) ग्रहण किया है । (अर्थात् यहाँ पर कवि ने वाच्य रूप से व्याजस्तुति अलङ्कार को उपनिबद्ध किया है । व्याज-स्तुति का लक्षण 'अलङ्कारसर्वस्वकार राजानक रुय्यक ने इस प्रकार दिया है—"स्तुतिनिन्दाभ्यां निन्दास्तुत्योर्गम्यत्वे व्याजस्तुतिः" अर्थात् जहाँ पर वाच्य रूप से वर्ण्यमान स्तुति एवं निन्दा के द्वारा क्रम से निन्दा और स्तुति गम्य प्रतीयमान) हों, वहाँ व्याजस्तुति अलङ्कार होता है तथा उन्होंने उदाहरण के रूप में भी इस पद्य को उद्धृत किया है यहाँ पर स्तुतिमुखेन समुद्र की निन्दा की गयी है अर्थात् वाच्य रूप से तो समुद्र की प्रशंसा की गई है कि आपके ससान कोई परोपकारी है ही नहीं लेकिन उससे गम्य होती है समुद्र की निन्दा कि तुम इतने नीच हो कि अथाह जल से युक्त होते हुए भी प्यासों की प्यास नहीं बुझा सकते । साथ ही कवि ने समुद्र के चरित्र के वर्णन द्वारा किसी निन्द्य चरित वाले कंजूस धनी व्यक्ति के चरित्र को प्रस्तुत किया है जो कि सागर की भाँति अपार

धन से युक्त होते हुए भी धनाभिलाषी निर्धनों का धन देकर उपकार नहीं कर सकता। इस प्रकार अप्रस्तुतप्रशंसालङ्कार भी प्रतीयमान रूप से उपनिबद्ध किया गया है। इस प्रकार यह अप्रस्तुतप्रशंसालङ्कार व्याजस्तुति अलङ्कार से और भी अलङ्कृत हो जाता है)।

और न यहाँ पर अप्रस्तुत प्रशंसा तथा व्याजस्तुति के सङ्करालङ्कार का ही व्यवहार हो सकता है अलग-अलग दोनों के स्पष्टरूप से प्रतीत होने के कारण। (अर्थात् सन्देह-सङ्कर इसलिए नहीं स्वीकार किया जा सकता क्योंकि दोनों अलग-अलग स्पष्ट झलकते हैं संदेह की कोई गुंजाइश नहीं। अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर भी नहीं माना जा सकता क्योंकि दोनों में से कोई भी किसी के अङ्गरूप में उपात्त नहीं किया गया एवं एकाश्रयानुप्रवेश भी नहीं माना जा सकता क्योंकि दोनों के आश्रय अलग-अलग हैं अर्थात् एक का आश्रय प्रतीयमान है दूसरे का आश्रय वाच्यार्थ है)। तथा दोनों के समप्रधान भाव से स्थित न होने के कारण दोनों की संसृष्टि भी सम्भव नहीं है। (क्योंकि वाक्यरूप से दोनों अलंकार नहीं उपात्त हुए अतः दोनों का सम प्राधान्य नहीं कहा जा सकता)। तथा दोनों अलंकार वाच्य भी नहीं हैं, दोनों का विषय भिन्न होने से अर्थात् एक का विषय वाच्यार्थ है दूसरे का प्रतीयमान। अतः सिद्ध हुआ कि यहाँ व्याजस्तुति का प्रयोग अप्रस्तुतप्रशंसा के अलंकार रूप में किया गया है क्योंकि कवि केवल अप्रस्तुतप्रशंसाजन्य चमत्कार से संतुष्ट नहीं था)। अथवा जैसे इसी का दूसरा उदाहरण—

नामाप्यन्यतरोर्निमीलितमभूत्तत्तावदुन्मीलितं
प्रस्थाने स्खलतः स्ववर्त्मनि विधेरन्यद् गृहीतः करः।
लोकश्चायमदृष्टदर्शनकृताद् दृग्वैशसादुद्धृतो
युक्तं काष्ठिक लूनवान् यदसि तामाम्रालिमाकालिकीम्॥ ६१॥

हे काष्ठवाहक (महाशय) आपने बड़ा ही अच्छा किया जो उस असामयिक (बिना फसल के बारहों महीने फल देने वाली) आम (के पेड़ों) की पंक्ति को काट डाला। (क्योंकि उससे जो) अन्य वृक्षों का नाम भी समाप्त हो गया था उसे आपने प्रकट कर दिया (यह पहला लाभ हुआ) तथा अपने मार्ग में चलते समय गिरते हुए ब्रह्मा का हाथ पकड़ लिया (अर्थात् उन्हें सहारा दिया) यह दूसरा (फल प्राप्त हुआ) तथा इस लोक का अदृष्ट के दर्शन से जन्य नेत्रों के कष्ट से उद्धार किया (यह तीसरा लाभ हुआ)॥ ६१॥

टिप्पणी—कवि से इस पद्य में पूर्व उदाहृत पद्य की भाँति वाच्य रूप से

तो लकड़हारे की प्रशंसा की है लेकिन उससे गम्य हो रही है तद्विषयक निन्दा कि तुम बड़े नीच हो, क्योंकि तुम इस बात को सहन न कर सके कि लोग सभी समय अच्छे-अच्छे आम के मधुर फलों का सेवन करें। अतः ईर्ष्यावश हर समय आम्र-फल देने वाली उस आम्र वृक्षों की पंक्ति को काट डाला इस प्रकार यहाँ स्तुतिमुखेन निन्दा के प्रस्तुत होने से व्याज-स्तुति अलंकार है। साथ ही इस लकड़हारे के चरित्र-वर्णन द्वारा कवि ने उस नृशंस पुरुष का वर्णन प्रस्तुत किया है जिसने सदैव परोपकार में रत रहने वाले किसी महापुरुष का विनाश किया है अतः प्रतीयमान ढंग से यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसालंकार उपनिबद्ध किया गया है। वह अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार उक्त व्याजस्तुति अलंकार से और अधिक शोभायुक्त होकर अलंकृत हुआ है अतः इस उदाहरण में भी व्याजस्तुति अलंकार का उपनिबन्धन कवि ने अप्रस्तुतप्रशंसा मात्र अलंकार से असन्तुष्ट होकर उसके अलंकार रूप में किया है। इसीलिए आचार्य कुन्तक कहते हैं कि—

अत्रायमेव न्यायोऽनुसन्धेयः। यथा च—

किं तारुण्यतरोरियं रसभरोद्भिन्ना नवा वल्लरी
लीलाप्रोच्छलितस्य किं लहरिका लावण्यवारांनिधेः ॥
उद्गाढोत्कलिकावतां स्वसमयोपन्यासविश्रम्भिणः
किं साक्षादुपदेशयष्टिरथवा देवस्य शृङ्गारिणः ॥ ६२ ॥

यहाँ भी यही न्याय अपनाना चाहिए। (जिस पूर्व उदाहृत "हे हेलाजित"......इत्यादि पद्य में अपनाया गया था)। और जैसे (इसी का तीसरा उदाहरण)—

(किसी नायिका के सौन्दर्य का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि)— क्या यह (सुन्दरी) तारुण्यरूपी वृक्ष की रस के अतिशय से उत्पन्न नूतन लतिका है या कि चांचल्यवश उछले हुये लावण्यरूपी सागर की तरंग है? अथवा तीव्र उत्कण्ठावाले प्रेमीजनों को अपने सिद्धान्त (प्रेम) का पाठ पढ़ानेवाले शृङ्गार-देवता (काम) की उपदेश-यष्टि है ॥ ६२ ॥

अत्र रूपकलक्षणो योऽयं वाक्यालङ्कारः तस्य सन्देहोक्तिरियं छायान्तरातिशयोत्पादनायोपनिबद्धा चेतनचमत्कारितामावहति। शिष्टं पूर्वोदाहरणद्वयोक्तमनुसर्तव्यम्।

यहाँ पर उपचार के बल पर जो सुन्दरी नायिका पर वल्लरी लहरिका एवम् उपदेश यष्टि का आरोप किया गया है इस रूप का जो रूपक नामक

श्लेष प्रयुक्त अलंकार है उसके शोभाधिक्य को उत्पन्न करने के लिए उपनिबद्ध की गई यह सन्देह की उक्तिरूप सन्देहालङ्कार सहृदयों को आनन्द प्रदान करती है। (अर्थात् यहाँ पर वाच्यरूप से सन्देहालंकार को कवि ने निबद्ध किया है जो कि प्रतीयमान रूपक अलंकार के अलंकाररूप में प्रयुक्त हुआ है। तात्पर्य यह है कि यहाँ प्रतीयमान रूपक अलंकार वाच्यरूप सन्देहालंकार से अलंकृत होकर किसी अपूर्व चमत्कार की सृष्टि करता है। इसलिए यहाँ भी कवि ने केवल प्रतीयमान रूपक से असन्तुष्ट होकर उसके लिए सन्देहरूप अन्य अलंकार की सृष्टि की है।) ये बातें पहले उदाहृत दोनों श्लोकों की भाँति समझ लेनी चाहिए। (अर्थात् इन दोनों अलंकारों में सङ्कर तथा संसृष्टि को नहीं स्वीकार किया जा सकता, दोनों के अलग-अलग स्फुटरूप से प्रतीत होने से तथा समप्राधान्य से स्थित न होने के कारण) तथा दोनों को वाच्य ही अलंकार न समझ लेना चाहिए क्योंकि दोनों का विषय भिन्न है)।

अन्यच्च कीदृक्—रत्नेत्यादि। युगलकम्। यत्र यस्मिन्नलङ्कारै- र्भ्राजमानैर्निजात्मना स्वजीवितेन भासमानैर्भूषायै परिकल्प्यते शोभायै भूष्यते। कथम्—यथा भूषणैः, कङ्कणादिभिः। कीदृशैः— रत्नरश्मिच्छटोत्सेकभासुरैः मणिमयूखोल्लासभ्राजिष्णुभिः। किं कृत्वा—कान्ताशरीरमाच्छाद्य कामिनीवपुः स्वप्रभाप्रसरतिरोहितं विधाय। भूषायै कल्प्यते तद्वदेवालङ्करणैरुपमादिभिर्यत्र कल्प्यते। एतच्चैतेषां भूषायै कल्पनम्—यदेतैः स्वशोभातिशयान्तःस्थं निजकान्ति- कमनीयान्तर्गतमलङ्कार्यमलङ्करणीयं प्रकाश्यते द्योत्यते। तदिदमत्र तात्पर्यम्—तदलङ्कारमहिमैव तथाविधोऽत्र भ्राजते, तस्यात्यन्तो- द्रिक्तवृत्तेः स्वशोभातिशयान्तर्गतमलङ्कार्यं प्रकाश्यते। यथा—

(इस तरह विचित्र-मार्ग के एक प्रकार का वर्णन कर दूसरे प्रकार को बताते हैं कि) और कैसा है (वह विचित्र-मार्ग)—रत्नेत्यादि, ३६ एवं ३७ वीं कारिकाओं के द्वारा इसका प्रतिपादन करते हैं। जहाँ अर्थात् जिस (मार्ग) में अपनी आत्मा अर्थात् अपने प्राणों (स्वरूप) से भ्राजमान अर्थात् देदीप्यमान अलंकारों के द्वारा भूषा अर्थात् शोभा के लिए परिकल्पित अर्थात् भूषित की जाती है। कैसे—जैसे—कङ्कणादि भूषणों के द्वारा। किस प्रकार के (भूषणों द्वारा)—रत्नरश्मियों की छटा के उत्सेक से भासुर अर्थात् मणियों की किरणों के उल्लास से चमकते हुए (आभूषणों) द्वारा। क्या करके—कान्ता के शरीर को आच्छादित कर अर्थात् रमणी के शरीर अपनी ज्योति के विस्तार से तिरोहित कर। भूषा के लिए कल्पित किया जाता है

अर्थात् उसी प्रकार (जिस प्रकार कि रमणी के शरीर को कटक-कुण्डलादि अलंकारों से ढँककर विभूषित किया जाता है उसी प्रकार) जहाँ उपमा आदि अलंकारों के द्वारा (अलंकार्य को) प्रकाशित किया जाता है। इन उपमा आदि अलंकारों का शोभा के लिए निबन्धन इस प्रकार होता है। कि ये उपमा आदि अलंकार अपनी शोभातिशय के अन्दर स्थित अर्थात् अपनी कमनीय कान्ति के अन्तर्गत अलङ्कार्य अर्थात् अलंकृत करने योग्य (वस्तु) को प्रकाशित करते हैं। तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि उन अलंकारों की महिमा भी उस प्रकार से शोभित होती है कि अत्यन्त उद्रिक्त स्थिति वाले उस (अलंकार) सौन्दर्यातिशय से अन्तर्भूत अलंकार्य प्रकाशित होता है।

जैसे—

आर्यस्याजिमहोत्सवव्यतिकरे नासंविभक्तोऽत्र वः
कश्चित् क्वाप्यवशिष्यते त्यजत रे नक्तञ्चराः संभ्रमम्।
भूयिष्ठेष्वपि का भवत्सु गणनात्यर्थं किमुत्ताम्यते
तस्योदारभुजोष्मणोऽनवसिता नाचारसम्पत्तयः॥ ९३॥

हे निशाचरो! तुम सब आर्य (श्रीराम) के समररूप महोत्सव के सम्बन्ध में (कि हमें शायद हिस्सा न मिल पाये इस प्रकार की) जल्दबाजी को छोड़ दो, (क्योंकि) यहाँ तुम में से कोई भी कहीं भी बिना हिस्सा पाये शेष नहीं रहेगा (अर्थात् सब को रामचन्द्र मारेंगे)। यदि तुम समझते हो कि तुम्हारी संख्या बहुत है कैसे सबको हिस्सा मिलेगा, तो यह समझना ठीक नहीं क्योंकि) बहुत से होने पर भी तुम्हारी क्या गणना है (तुम लोग बेकार ही) अत्यधिक उतावले क्यों हो रहे हो, (सभी को हिस्सा मिलेगा क्योंकि) विशाल भुजाओं की गर्मी से युक्त उन राम के न तो अभी (राक्षसवध रूप) आचार समाप्त हुए हैं (अर्थात् राक्षसवध करने में कृपणता नहीं आई है) और न (राक्षसवध करने की शक्तिरूप) सम्पत्तियाँ ही (समाप्त हुई हैं अर्थात् उनके पास राक्षसवध करने की अथाह शक्ति विद्यमान है। अतः आप लोग घबड़ायें नहीं सबका वध होगा॥ ९३॥

अत्राजेर्महोत्सवव्यतिकरत्वेन तथाविधं रूपणं विहितं यत्रालङ्कार्यम् "आर्यः स्वशौर्येण युष्मान् सर्वानेव मारयति" इत्यलङ्कारशोभातिशयान्तर्गतत्वेन भ्राजते। तथा च कश्चित् सामान्योऽपि क्वापि दवीयस्यपि देशे नासंविभक्तो युष्माकमवशिष्यते। तस्मात् समरमहोत्सवसंविभागलम्पटतया प्रत्येकं यूयं सम्भ्रमं त्यजत। गणनया वयं भूयिष्ठा इत्यशक्त्यानुष्ठानतां यदि मन्यध्वे तदप्य-

युक्तम्। यस्मादसंख्यसंविभागाशक्यता कदाचिदसम्पत्त्या कार्पण्येन वा सम्भाव्यते। तदेतदुभयमपि नास्तीत्युक्तम्—तस्योदारभुजोष्मणोऽनवसिता नाचारसम्पतयः [इति]। यथा च—

यहाँ पर संग्राम का महोत्सव के साथ सम्बन्ध बताकर उस प्रकार के रूपक की सृष्टि की गई है जिसमें अलंकार्य "आर्य अपनी वीरता से तुम सब का वध करेंगे" यह अलंकार (रूपक) की शोभा के आधिक्य के अन्दर समाया हुआ दिखाई पड़ता है। जैसा कि तुम सब में से कोई साधारण भी (राक्षस) बहुत दूर के भी देशों में कहीं भी बिना हिस्सा पाये नहीं शेष रहेगा। इसलिए संग्रामरूप महोत्सव के समुचित हिस्सा पाने की लम्पटता के कारण तुममें से हर एक (राक्षस) जल्दबाजी (उतावली) को छोड़ दें। गिनती में हम लोग बहुत ज्यादा हैं, इस लिए (सब के विभाजन का) अनुष्ठान असम्भव है। यदि ऐसा आप लोग समझते हैं तो वह भी उचित नहीं है। क्योंकि असंख्य लोगों में विभाजन की असमर्थता तो कदाचित् सम्पत्ति का अभाव होने से अथवा (सम्पत्ति होते हुए भी बाँटने की कृपणता के कारण ही सम्भव है। लेकिन आर्य के पास (सम्पत्ति का अभाव अथवा कृपणता) ये दोनों ही नहीं हैं इसे—'विशाल भुजाओं की उष्णता से युक्त उन (आर्य) के न आचार ही समाप्त हुए हैं और न सम्पत्तियाँ ही' इस कथन के द्वारा प्रतिपादित किया जा चुका है। (इस प्रकार इस श्लोक में अलंकार्य अलंकार के शोभातिशय में समाया हुआ प्रतीत होता है। अतः यह विचित्रमार्ग का उदाहरण हुआ)।

और जैसे (इसी का दूसरा उदाहरण)

कतमः प्रविजृम्भितविरहव्यथः शून्यतां नीतो देशः॥ ६४॥

अत्यधिक बढ़ी हुई विरह की व्यथा से युक्त कौन-सा देश (आपने) शून्य कर दिया है॥ ६४॥

इति। यथा च—

कानि च पुण्यभाञ्जि भजन्त्यभिख्यामक्षराणि॥ ६५॥ इति।

इस वाक्य में और जैसे—(इसी प्रसङ्ग में)

तथा कौन से पुण्यवान् वर्ण आपके नाम का आश्रयण करते हैं॥ ६५॥

इस वाक्य में—

अत्र कस्मादागताः स्थ, किं चास्य नाम इत्यलङ्कार्यमप्रस्तुतप्रशंसालक्षणालङ्कारच्छायाच्छुरितत्वेनैतदीयशोभान्तर्गतत्वेन सहृदय-

हृदयाह्लादकारितां प्रापितम्। एतच्च व्याजस्तुतिपर्यायोक्तप्रभृतीनां भूयसा विभाव्यते।

यहाँ (क्रम से) 'आप कहाँ से आये हैं,' तथा 'इनका नाम क्या है' ये ही अलंकार्य, अप्रस्तुतप्रशंसा रूप अलंकार की शोभा से युक्त होने के कारण इसी (अप्रस्तुप्रशंसा अलंकार की शोभा में समाये हुए ही सहृदयों के हृदयों को आह्लादित करते हैं। (इस प्रकार का) यह (वैचित्र्य) व्याजस्तुति तथा पर्यायोक्त आदि (अलंकारों) में प्रचुरता से देखा जाता है।

ननु च रूपकादीनां स्वलक्षणावसर एव स्वरूपं निर्णेष्यते तत् किं प्रयोजनमेतेषामिहोदाहरणस्य? सत्यमेतत्, किन्त्वेतदेव विचित्रस्य वैचित्र्यं नाम यदलौकिकच्छायातिशययोगित्वेन भूषणोपनिबन्धः कामपि वाक्यवक्रतामुन्मीलयति।

(क्योंकि प्रकरण यहाँ विचित्रमार्ग का चल रहा है लेकिन उदाहरण रूपक, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति आदि अलंकारों के दिये जा रहे हैं, तो पूर्वपक्षी यह देख कर शंका करता है कि—) रूपक आदि अलंकारों के स्वरूप का निर्णय तो उनका लक्षण करते समय ही किया जायगा तो उनके उदाहरणों को यहाँ (विचित्रमार्ग के प्रसङ्ग में) क्यों उद्धृत किया जा रहा है? (इनका उत्तर देते हैं कि) यह बात सही है (कि रूपकादि के स्वरूप का निर्णय उनका लक्षण करते समय होगा अतः यहाँ उनके उदाहरण न प्रस्तुत किये जाने चाहिए) किन्तु विचित्र (मार्ग) का तो यही वैचित्र्य ही है कि (उसमें) अलौकिक शोभा के अतिशय से युक्त रूप में ही अलंकारों का प्रयोग किसी (अनिर्वचनीय, अपूर्व) वाक्यवक्रता को उन्मीलित करता है। (अतः उसे समझाने के लिए यहाँ भी रूपकादि अलंकारों के उदाहरणों को उद्धृत करना आवश्यक हो गया है।)

विचित्रमेव रूपान्तरेण लक्षयति—यदपीत्यादि। यदपि वस्तु वाच्यमनूतनोल्लेखमनभिनवत्वेनोल्लिखितं तदपि तत्र यस्मिन्नलं कामपि काष्ठां नीयते लोकोत्तरातिशयकोटिमधिरोप्यते॥ कथम्—उक्तिवैचित्र्यमात्रेण, भणितिवैदग्ध्येनैवेत्यर्थः। यथा—

(अब) विचित्र (मार्ग) को ही दूसरे ढंग से प्रतिपादित करते हैं— 'यदपि' इत्यादि (३८ वीं कारिका के द्वारा)। (जिस मार्ग में) जहाँ जो भी वाच्यवस्तु अनूतनोल्लेख अर्थात्) पूर्व कवियों द्वारा उल्लिखित होने के कारण) अभिनव रूप से नहीं चित्रित होती वह भी पर्याप्त किसी काष्ठा को

से जाई जाती है अर्थात् अलौकिक) सौन्दर्य के) अतिशय की कोटि पर स्थापित कर दी जाती है। किस प्रकार से—उक्तिवैचित्र्यमात्र से अर्थात् केवल कहने के ढङ्ग की चतुरता द्वारा (सौन्दर्य की परकाष्ठा को पहुँचा दी जाती है)। जैसे—

अण्ण॰लडहत्तणअं अण्णं च्चिअ काइ वत्तणच्छाआ।
सामा सामण्णपआवइणो रेह च्चिअ ण होई॥ ९६॥
(अन्यद् लटभत्वमन्यैव च कापि वर्तनच्छाया।
श्यामा सामान्यप्रजापते रेखैव च न भवति)॥

कवि षोडशवर्षीया सुन्दरी 'श्यामा' का वर्णन करता हुआ कहता है। जिसका शरीर जाड़े में गरम, गर्मी में ठंढा रहता है एवम् सभी अङ्गों से शोभा सम्पन्न होती है जैसा उसका लक्षण बताया गया है कि—

शीतकाले भवेदुष्णा ग्रीष्मे च सुखशीतला।
सर्वावयवशोभाढ्या सा श्यामा परिकीर्तिता॥

इस श्यामा की सुकुमारता दूसरे ही प्रकार की (अनिर्वचनीय) है एवम् शरीर की कान्ति कुछ (अलौकिक) ही है (ऐसा समझ पड़ता है कि वह) श्यामा सामान्य प्रजापति की सृष्टि ही न हो। (अर्थात् वह ऐसे अलौकिक सौन्दर्य से युक्त है कि वैसा सौन्दर्य सामान्य प्रजापति की सृष्टि में सम्भव ही नहीं है, अतः उसकी रचना उनसे भिन्न किसी दूसरे ने ही किया होगा। यहाँ पर यद्यपि 'श्यामा' का वर्णन कोई नवीन वर्णन नहीं है फिर भी कवि ने केवल उक्ति के वैचित्र्यमात्र से इस वर्णन में अपूर्व चमत्कार ला दिया है)॥ ९६॥

यथा वा—

उद्देशोऽयं सरसकदलीश्रेणिशोभातिशायी
कुञ्जोत्कर्षाङ्कुरितहरिणीविभ्रमो नर्मदायाः।
किं चैतस्मिन् सुरतसुहृदस्तन्वि ते वान्ति वाता
येषामग्रे सरति कलिताकाण्डकोपो मनोभूः॥ ९७॥

अथवा जैसे (इसी का दूसरा उदाहरण)—

(कोई प्रेमी अपनी प्रेमिका से कहता है कि) हे सुन्दरि! सरस (हरे-भरे) केलों की कतारों से उत्पन्न शोभा के अतिशय से युक्त तथा कुञ्जों के उत्कर्ष से हरिणी के विलासों को अंकुरित करने वाला नर्मदा नदी का यह प्रदेश है और इस (प्रदेश) में सम्भोग के मित्र वे हवाएं बहती हैं जिनके आगे अनवसर में भी क्रोधित होता हुआ कामदेव चलता है॥ ९७॥

भणितिवैचित्र्यमात्रमेवात्र काव्यार्थः । न तु नूतनोल्लेखशालिवाच्यविजृम्भितम्। एतच्च भणितिवैचित्र्यं सहस्रप्रकारं सम्भवतीति स्वयमेवोत्प्रेक्षणीयम् ।

यहाँ पर भी केवल उक्ति-वैचित्र्यमात्र ही काव्य का अर्थ है न कि नवीन उल्लेख से शोभित होने वाला वाच्यार्थ का विलास । यह उक्ति का वैचित्र्य अनेकों प्रकार का सम्भव हो सकता है अतः सहृदय लोगों को उसे स्वयं जान लेना चाहिए ।

पुनर्विचित्रमेव प्रकारान्तरेण लक्षयति—यत्रान्यथेत्यादि । यत्र यस्मिन्नन्यथाभवदन्येन प्रकारेण सत् सर्वमेव पदार्थजातम्- अन्यथैव प्रकारान्तरेणैव भाव्यते। कथम्—यथारुचि। स्वप्रतिभासानुरूपेणोत्पद्यते । केन—प्रतिभोल्लेखमहत्त्वेन महाकवेः, प्रतिभासोन्मेषातिशयत्वेन सत्कवेः । यत्किल वर्ण्यमानस्य वस्तुनः प्रस्तावसमुचितं किमपि सहृदयहृदयहारि रूपान्तरं निर्मिमीते कविः । यथा—

फिर विचित्र मार्ग को ही दूसरे ढंग से लक्षित करते हैं—"यत्रान्यथा…" (इत्यादि (३९ वीं कारिका के द्वारा)। जहाँ अर्थात् जिस (मार्ग) में अन्यथा स्थित अर्थात् अन्य ढंग से विद्यमान सारा का सारा पदार्थ समूह अन्यथा ही अर्थात् दूसरे ही ढंग से दिखाई पड़ता है। कैसे—यथारुचि। अपने अनुभव के अनुसार उत्पन्न होता है। किस कारण से—महाकवि की प्रतिभा के उल्लेख की महत्ता से अर्थात् श्रेष्ठ कवि के अनुभव के उन्मेष के अतिशय से। तात्पर्य यह है कि कवि प्रकरण के अनुरूप वर्ण्यमान वस्तु के किसी अपूर्व सहृदयों के मनोहारी अन्य स्वरूप की सृष्टि करता है। जैसे—

तापः स्वात्मनि संश्रितद्रुमलताशोषोऽध्वगैर्वर्जनं
सख्यं दुःशमया तृषा तव मरो कोऽसावनर्थो न यः ।
एकोऽर्थस्तु महानयं जललवस्वाम्यस्मयोद्गर्जिनः
सन्नह्यन्ति न यत्तवोपकृतये धाराधराः प्राकृताः ॥ ९८ ॥

हे मरुस्थल ! तुम्हारे अपने शरीर के अन्दर ताप, (तुम्हारे) आश्रित वृक्षों एवं लताओं का सूख जाना, राहियों के द्वारा (तुम्हारा) परित्याग तथा बड़े ही दुःख के साथ शान्ति होने वाली पिपासा के साथ (तुम्हारी) मित्रता (सब तो है) कौन ऐसा अनर्थ (शेष बचता) है जो तुम्हारे पास न हो (अर्थात् सभी अनर्थ तुम्हारे अन्दर विद्यमान है)। हाँ ! एक महान् अर्थ (गुण) आपके पास यह (अवश्य) है कि जल के

(थोड़े से) कणों के आधिपत्य के घमण्ड से गरजने वाले पामर जलधर तुम्हारे उपकार के लिए तैयार नहीं होते ॥ ९८ ॥

टिप्पणी—यहाँ पर कवि ने अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार को बड़े ही सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है मरुस्थल के माध्यम से वह प्रतीयमान रूप से किसी उस उदार व्यक्ति का वर्णन प्रस्तुत करता है जो कि निर्धन है किन्तु स्वाभिमानी है। थोड़ा-सा धन पाकर घमण्डी हो गए लोगों के द्वारा अपने को उपकृत नहीं करना चाहता, बल्कि स्वयं अन्य लोगों के द्वारा अपनी निर्धनता के कारण किए गये त्याग रूप अपमान को, अपने आश्रित स्त्री-पुत्रादिकों के कष्ट को, तथा उससे उत्पन्न अपने दुःख को सभी को सहन करने को तैयार है।

यथा वा—

विशति यदि नो कञ्चित्कालं किलाम्बुनिधिं विधेः
कृतिषु सकलास्वेको लोके प्रकाशकतां गतः।
कथमितरथा धाम्नां धाता तमांसि निशाकरं
स्फुरदिदमियत्ताराचक्रं प्रकाशयति स्फुटम् ॥ ९९ ॥

विधाता की समस्त कृतियों में लोक में अकेला प्रकाशक प्रकाश को धारण करने वाला (सूर्य) कुछ समय यदि सागर में प्रवेश नहीं करता, तो भला फिर वह अन्धकार, चन्द्रमा एवं चमकते हुए इतने (बड़े) इस नक्षत्र-समूह को स्पष्ट रूप से कैसे प्रकाशित करता ॥ ९९ ॥

अत्र जगद्गर्हितस्यापि मरोः कविप्रतिभोल्लिखितेन लोकोत्तरौदार्यधुराधिरोपणेन तादृक् स्वरूपान्तरमुन्मीलितं यत्प्रतीयमानत्वेनोदारचरितस्य कस्यापि सत्स्वप्युचितपरिस्पन्दसुन्दरेषु पदार्थसहस्रेषु तदेव व्यपदेशपात्रतामर्हतीति तात्पर्यम्। अन्वयवार्थस्तु—दुःशमयेति 'तृड्'-विशेषणेन प्रतीयमानस्य त्रैलोक्यराज्येनाप्यपरितोषः पर्यवस्यति। अध्वगैर्वर्जनमित्यौदार्येऽपि तस्य समुचितसंविभागासम्भवादर्थिभिर्लज्जमानैरपि स्वयमेवानभिसरणं प्रतीयते। संश्रितद्रुमलताशाष इति तदाश्रितानां तथाविधेऽपि सङ्कटे तदेकनिष्ठताप्रतिपत्तिः। तस्य च पूर्वोक्तस्वपरिकरपरितोषाक्षमतया तापः स्वात्मनि न भोगलवलौल्येनेति प्रतिपद्यते। उत्तरार्धेन—तादृशे दुर्विलसितेऽपि परोपकारविषयत्वेन श्लाघास्पदत्वमुन्मीलितम्।

यहाँ (पहले उदाहरण में) संसार में कुत्सित (रूप से प्रसिद्ध) भी रेगिस्तान का, कविशक्ति द्वारा वर्णित लोकातिशायी औदार्य की चरम सीमा को

पहुँचा दिए जाने के कारण, वैसा दूसरा स्वरूप उन्मीलित हुआ है जो कि प्रतीयमान रूप से इस अभिप्राय को व्यक्त करता है कि, (दूसरे) हजारों अपने उचित स्वभाव से सुन्दर पदार्थों के विद्यमान रहने पर भी केवल वही (रेगिस्तान ही) किसी भी उदारचरित वाले (व्यक्ति) की संज्ञा का भाजन बनने योग्य है (दूसरे पदार्थ नहीं) ।

वैसे इसका प्रतीकार्थ तो यह होगा—'पिपासा' के 'कष्टपूर्वक शान्ति होने वाली' इस विशेषण के द्वारा प्रतीयमान (व्यक्ति) की तीनों लोकों के राज्य की प्राप्ति से भी असन्तुष्टि का बोध होता है। 'राहियों द्वारा परित्याग' इस (वाक्य) उदारता के रहने पर भी उसका समुचित संविभाजन सम्भव न होने से स्वयं लजाते हुए से प्रार्थियों द्वारा (उसके पास) न आने का बोध होता है। 'आश्रित वृक्षों एवं लताओं का सूख जाना' इस (विशेषण) से उसके आश्रितों की उस प्रकार का संकट पड़ने पर भी केवल उसी पर आश्रित रहने का बोध होता है। (अर्थात् उसके परिजन संकट में उसे छोड़ कर दूसरे का आश्रय नहीं करते)। और इस प्रकार 'उस (प्रतीयमान व्यक्ति) का अपने भीतर सन्ताप पहले कहे गये अपने कुटुम्बियों को सन्तुष्ट करने में असमर्थ होने के कारण है न कि अपने अल्प भोग की लालच से' यह बात प्रतीत होती है। उत्तरार्द्ध के द्वारा उस प्रकार के दुर्विलास के विद्यमान रहने पर भी उस (उस व्यक्ति की) परोपकारविषयक प्रशंसापात्रता को उन्मीलित किया गया है।

अपरत्रापि विधिविहितसमुचितसमयसम्भवं सलिलनिधिमज्जनं निजोदयन्यक्कृतनिखिलस्वपरपक्षः प्रजापतिप्रणीतसकलपदार्थप्रकाशनव्रताभ्युपगमनिर्वहणाय विवस्वान् स्वयमेव समाचरतीत्यन्यथा कदाचिदपि शशाङ्कतमस्तारादीनामभिव्यक्तिर्मनागपि न सम्भवतीति कविना नूतनत्वेन यदुल्लिखितं तदतीवप्रतीयमानमहत्त्वव्यक्तिपरत्वेन चमत्कारकारितामापद्यते।

दूसरे (उदाहरण) में भी विधि-विधान के अनुरूप (अपने) समयानुसार होने वाले (सूर्य के) सागर में डूबने को कवि ने जो इस नये ढंग से वर्णित किया है 'कि अपने उदय से सारे के सारे अपने व शत्रु के पक्ष को तिरस्कृत कर देने वाला सूर्य स्वयं ही विधिविहित समस्त पदार्थों के प्रकाशित करने के व्रतपालन का निर्वाह करने के लिए (समुद्र में डूबने का) आचरण करता है नहीं तो कभी भी चन्द्रमा, अन्धकार और नक्षत्रादिक की थोड़ी भी अभिव्यक्ति नहीं सम्भव हो सकती' वह (कवि का नवीन

वर्णन) प्रतीयमान महिमाशाली व्यक्ति का बोध करता हुआ अत्यन्त आह्लादकारी हो जाता है।

विचित्रमेव प्रकारान्तरेणोन्मीलयति—प्रतीयमानतेत्यादि। यत्र यस्मिन् प्रतीयमानता गम्यमानता काव्यार्थस्य मुख्यतया विवक्षितस्य वस्तुनः कस्यचिदनाख्येयस्य निबध्यते। कया युक्त्या—वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शब्दार्थशक्तिभ्याम्। व्यतिरिक्तस्य तदतिरिक्तवृत्तेरन्यस्य व्यंग्यभूतस्याभिव्यक्तिः क्रियते। 'वृत्ति'-शब्दोऽत्र शब्दार्थयोस्तत्प्रकाशनसामर्थ्यमभिधत्ते। एष च 'प्रतीयमान'-व्यवहारो वाक्यवक्रताव्याख्यानावसरे सुतरां समुन्मीलयते। अनन्तरोक्तमुदाहरणद्वयमत्र योजनीयम्। यथा वा—

विचित्र (मार्ग) को ही दूसरे ढंग से प्रस्तुत करते हैं—प्रतीयमानता-इत्यादि (४० वीं कारिका के द्वारा)। जहाँ अर्थात् जिस (मार्ग) में काव्यार्थ अर्थात् प्रधान ढंग से कहने के लिए अभिप्रेत किसी अनिर्वाच्य वस्तु की प्रतीयमानता अर्थात् व्यङ्ग्यरूपता (गम्यमानता) का (कवि द्वारा निबन्धन किया जाता है। किस ढङ्ग से—वाच्य और वाचक की वृत्तियों द्वारा अर्थात् शब्द और अर्थ की (प्रकाशक) शक्तियों के द्वारा। व्यतिरिक्त-अर्थात् उस (शब्द और अर्थ की प्रकाशक अभिधा शक्ति) से भिन्न (व्यंजना) शक्ति वाले अन्य व्यङ्ग्यभूत (पदार्थ) को प्रकाशित किया जाता है। यहाँ (कारिका के—'वाच्यवाचकवृत्तिभ्याम्'—में प्रयुक्त) 'वृत्ति' शब्द, शब्द तथा अर्थ के उस (व्यङ्ग्भूत अर्थ) के व्यक्त करने की सामर्थ्य का बोध कराता है। और यह व्यङ्ग्य (प्रतीयमान) अर्थ का व्यवहार वाक्यवक्रता की व्याख्या करते समय भली भाँति सुस्पष्ट हो जायगा। इस उदाहरण रूप में अभी-अभी उदाहृत किये गये ("तापः स्वात्मनि"—॥९८॥ एवं "विशति यदि नो कश्चित्कालं—" ॥९९॥ दोनों पद्यों की योजना कर लेना चाहिए। (अर्थात् उन पद्यों में जो प्रतीयमान ढंग से महापुरुषपरक अर्थ हमारे सम्मुख आता है वह अभिधेय न होकर व्यञ्जना शक्ति द्वारा प्रतिपाद्य रूप में व्यङ्ग्य बनकर हमारे सामने उपस्थित होता है। अथवा जैसे (इसका अन्य उदाहरण)

वक्त्रेन्दोर्न हरन्ति बाष्पपयसां धारा मनोज्ञां श्रियं
निश्वासा न कदर्थयन्ति मधुरां बिम्बाधरस्य द्युतिम्।
तस्यस्त्वद्विरहे विपक्वलबलीलावण्यसंवादिनी
च्छाया कापि कपोलयोरनुदिनं तन्व्याः परं पुष्यति ॥ १०० ॥

किसी विरहिणी नायिका की दूती उसके नायक से उसकी विरह-व्यथा का निवेदन करती हुई कहती है कि) तुम्हारे विरह में न तो अश्रुजलों की धारायें (ही) उस (नायिका) के मुखचन्द्र की रमणीय सुषमा का अपहरण करती हैं (और) न (विरहजन्य) निःश्वास (ही) उसके बिम्ब (फल) के सदृश (रक्तवर्ण) अधर की मनोहर छवि को दूषित करते हैं (हाँ एक बात जरूर है कि उस) कृशाङ्गी के गण्डस्थलों की, पके हुए लवली (लता के पत्ते) के लावण्य के साथ साम्य रखने वाली कोई (न छिपाई जा सकने वाली अपूर्व) कान्ति नित्य प्रति पुष्ट होती जाती है ॥ १०० ॥

अत्र त्वद्विरहवैधुर्यसंवरणकदर्थनामनुभवन्त्यास्तस्यास्तथाविधे महति गुरुसङ्कटे वर्तमानायाः—किं बहुना—बाष्पनिश्वासमोक्षावसरोऽपि न सम्भवति। केवलं परिणतलवलीलावण्यसंवादसुभगा कापि कपोलयोः-कान्तिरशक्यसंवरणा प्रतिदिनं परं परिपोषमासादयतीति वाच्य-व्यतिरिक्तवृत्ति दूत्युक्तितात्पर्यं प्रतीयते। उक्तप्रकारकान्तिमत्त्वकथनं च कान्तकौतुकोत्कलिकाकारणतां प्रतिपद्यते।

यहाँ पर वाच्य से अतिरिक्त वृत्ति वाला (व्यङ्ग्य रूप) दूती के कथन का यह तात्पर्य प्रतीयमान ढङ्ग से सहृदयों के सम्मुख उपस्थित होता हैं कि तुम्हारे वियोग के कारण उत्पन्न अत्यन्त दुःख को आच्छादित करने में (असमर्थता रूप) कष्ट का अनुभव करती हुई उस प्रकार के घोर सङ्कट में विद्यमान उस (नायिका) की, अधिक (दुरवस्था का) क्या (वर्णन किया जाय; यही क्या कम है कि उसे) आँसू गिराने एवं निःश्वास छोड़ने का भी समय नहीं सम्भव होता (अर्थात् हमेशा उसे भय लगा रहता है कि कहीं यह भेद कोई जान न ले कि वह तुम्हारी विरह-व्यथा से अत्यन्त पीड़ित है। अतः वह न रोती है और न आहें ही भरती है। उन आहों को भीतर ही दबा लेती है तथा आँसू के घूंट पी जाया करती है हाँ, एक बात जरूर है।) पके हुए लवली (पत्र) के लावण्य के समान सुन्दर उसके कपोलों की छिपाई न जा सकने वाली कान्ति अत्यधिक परिपुष्ट होती जाती है। (अर्थात् उसका चेहरा पीला होता जाता है, और इसे वह छिपा सकने में सर्वथा असमर्थ है। अतः वही आपकी विरह-व्यथा को प्रकट करता है।)

(इस प्रकार दूती द्वारा उस नायिका की) उक्त प्रकार की कान्ति से युक्त होने का कथन प्रियतम के कौतूहल और उत्कण्ठा के कारण रूप में प्रतिष्ठित होता है। (अर्थात् नायक को उसकी कपोल की पीत कान्ति के

दिन प्रतिदिन बढ़ने की बात सुनकर उस नायिका से मिलने की उत्कण्ठा जागृत होती है। इस प्रकार यहाँ प्रधान रूप से कवि ने इसी प्रतीयमान अर्थ को उपनिबद्ध किया है।)

विचित्रमेव रूपान्तरेण प्रतिपादयति—स्वभाव इत्यादि। यत्र यस्मिन् भावानां स्वभावः स्वपरिस्पन्दः सरसाकूतो रसनिर्भराभिप्रायः पदार्थानां निबध्यते निवेश्यते। कीदृशः—केनापि कमनीयेन वैचित्र्येणोपबृंहितः, लोकोत्तरेण हृदयहारिणा वैदग्ध्येनोत्तेजितः। 'भाव' शब्देनात्र सर्वपदार्थोऽभिधीयते, न रत्यादिरेव। उदाहरणम्—

विचित्र (मार्ग) को ही दूसरे ढंग से प्रतिपादित करते हैं—स्वभाव—इत्यादि (४१वीं कारिका के द्वारा)। जहाँ अर्थात् जिस (मार्ग) में भाव अर्थात् पदार्थों का, सरसाकूत अर्थात् रस के अतिशय से युक्त अभिप्राय वाला स्वभाव अर्थात् अपनी ही सत्ता का निबन्धन अर्थात् वर्णन किया जाता है। कैसा—(स्वभाव)—किसी रमणीय वैचित्र्य से वृद्धि को प्राप्त कराया गया अर्थात् अलौकिक एवं मनोहर विदग्धता से उत्सर्ग को प्राप्त। 'भाव' शब्द के द्वारा यहाँ सभी पदार्थों का ग्रहण होता है केवल रति आदि भावों ही का नहीं। (इसका) उदाहरण (जैसे)—

क्रीडासु बालकुसुमायुधसङ्गताया
यत्तत् स्मितं न खलु तत् स्मितमात्रमेव।
आलोक्यते स्मितपटान्तरितं मृगाक्ष्या-
स्तस्याः परिस्फुरदिवापरमेव किञ्चित्॥ १०१॥

क्रीडाओं में (या काम-केलि में) बाल कामदेव से संयुक्त (अर्थात् शैशवावस्था के बाद तुरत ही नये-नये काम के विकारों से युक्त) उस मृगनयनी की जो वह मुस्कुराहट है वह केवल मुस्कुहाहट ही नहीं है, अपितु मुस्कुराहट रूपी वस्त्र से ढंकी हुई कोई अन्य ही वस्तु स्फुटित होती हुई सी दिखाई देती है॥ १०१॥

अत्र न खलु तत् स्मितमात्रमेवेति प्रथमार्धेऽभिलाषसुभगं सरसाभिप्रायत्वमुक्तम्। अपरार्धे तु—हसितांशुकतिरोहितमन्यदेव किमपि परिस्फुरदावलोक्यत इति कमनीयवैचित्र्यविच्छित्तिः।

यहाँ पर "वह केवल मुस्कुराहट ही नहीं है" इस पूर्वार्द्ध में (उस तरुणी का सम्भोग की) इच्छा से रमणीय सरस अभिप्राय से युक्त होना प्रतिपादित किया गया है। तथा उत्तरार्द्ध में "मुस्कुराहटरूपी वस्त्र से ढंकी

हुई कोई अन्य ही (सम्भोग की इच्छारूप) वस्तु परिस्फुटित होती हुई दिखाई पड़ती है" इसके द्वारा किसी रमणीय वैचित्र्य की शोभा सम्पादित की गयी है।

इदानीं विचित्रमेवापसंहरति—विचित्रो यत्रेत्यादि । एवंविधो विचित्रो मार्गो यत्र यस्मिन् वक्रोक्तिवैचित्र्यम् अलङ्कारविचित्रभावो जीवितायते जीवितवदाचरति । वैचित्र्यादेव विचित्रे 'विचित्र'-शब्दः प्रवर्तते। तस्मात्तदेव तस्य जीवितम्। किं तद्वैचित्र्यं नानेत्याह—परिस्फुरति यस्यान्तः सा काप्यतिशयाभिधा। यस्यान्तः स्वरूपानुप्रवेशेन सा काप्यलौकिकातिशयोक्तिः परिस्फुरति भ्राजते। यथा—

अब (३४ वीं कारिका से ४१ वीं कारिका तक विचित्रमार्ग के अनेक प्रकारों की लक्षण एवम् उदाहरण द्वारा व्याख्या कर आचार्य कुन्तक उसी) विचित्र-मार्ग का उपसंहार करते हैं—

विचित्रो यत्र...इत्यादि (४२ वीं कारिका के द्वारा)। इस ढंग का विचित्रमार्ग होता है जहाँ अर्थात् जिस मार्ग में वक्रोक्ति का वैचित्र्य अर्थात् अलंकार की विचित्रता (चमत्कार) जीवितायते अर्थात् जीवन के समान-आचरण करती है (तात्पर्य यह कि वक्रोक्ति का वैचित्र्य ही विचित्र-मार्ग का सर्वस्व है) वैचित्र्य के कारण ही विचित्र (मार्ग) के लिए 'विचित्र' शब्द प्रवृत्त होता है । इसीलिए वह वक्रोक्ति-वैचित्र्य ही उस (विचित्र-मार्ग) का जीवितभूत है। वह वैचित्र्य है कैसा—इसे बताते हैं—जिसके भीतर कोई अतिशयोक्ति परिस्फुटित होती है। जिसके भीतर अर्थात् उसके स्वरूप में प्रविष्ट होने के कारण कोई लोकोत्तर अतिशयपूर्ण कथन परिस्फुटित अर्थात् शोभायमान होता है। जैसे—

यत्सेनारजसामुदञ्चति चये द्वाभ्यां दवीयोऽन्तरान्
पाणिभ्यां युगपद्विलोचनपुटानष्टाक्षमो रक्षितुम्।
एकैकं दलमुन्नमय्य गमयन् वासाम्बुजं कोशतां
धाता संवरणाकुलश्चिरमभूत् स्वाध्यायबद्धाननः ॥ १०२ ॥

जिसकी सेना के (प्रयाण से उत्पन्न) धूलिसमुदाय के ऊपर उठने पर (आकाश की ओर उड़ने पर, स्वाध्याय में लगे हुए ब्रह्मा जी उस धूलि से बचाने के लिए) दूर-दूर व्यवधान वाले अपने आठों अक्षिपुटों की दोनों ही हाथों से रक्षा करने में असमर्थ होकर एक-एक दल को उठाकर अपने निवास के कमल को बन्द करते हुए, बन्द करने में व्याकुल होकर चिरकाल तक स्वाध्याय न कर सके ॥ १०२ ॥

एवं वैचित्र्यं सम्भावनानुमानप्रवृत्ताया: प्रतीयमानत्वमुत्प्रेक्षाया:। तच्च धाराधिरोहणरमणीयतयातिशयोक्तिपरिस्पन्दस्यन्दि सन्दृश्यते।

इस प्रकार सम्भावना के अनुमान से प्रवृत्त होने वाली उत्प्रेक्षा की प्रतीयमानता (ही यहाँ पर) वैचित्र्य है। और वह (वैचित्र्य) चरम सीमा को पहुँची हुई सुन्दरता के कारण अतिशयोक्ति के विलसित प्रस्तुत करने वाला दिखाई पड़ता है।

तदेवं वैचित्र्यं व्याख्याय तस्यैव गुणान् व्याचष्टे—

वैदग्ध्यस्यन्दि माधुर्यं पदानामत्र बध्यते।
याति यत्त्यक्तशैथिल्यं बन्धबन्धुरताङ्गताम् ॥ ४४ ॥

इस प्रकार वैचित्र्य की व्याख्या कर अब उसके ही गुणों की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। (सर्वप्रथम माधुर्य गुण का लक्षण प्रस्तुत्त करते हैं)—

यहाँ उस विचित्र-मार्ग में पदों के वैदग्ध्य को प्रवाहित करने वाले माधुर्य गुण को उपनिबद्ध किया जाता है जो शिथिलता का त्याग कर वाक्य विन्यास की रमणीयता का साधन बन जाता है ॥ ४४ ॥

अत्रास्मिन् माधुर्यं वैदग्ध्यस्यन्दिवैचित्र्यसमर्पकं पदानां बध्यते वाक्यैकदेशानां निवेश्यते। यत्त्यक्तशैथिल्यमुज्झितकोमलभावं भवद्बन्ध-बन्धुरताङ्गतां याति सन्निवेशसौन्दर्योपकरणतां गच्छति। यथा—

'किं तारुण्यतरोः' इत्यत्र पूर्वार्धः ॥ १०३ ॥

यहाँ इस विचित्रमार्ग में वाक्य के अवयवभूत पदों के वैदग्ध्य को प्रवाहित करने वाले अर्थात् विचित्रता को प्रदान करने वाले माधुर्य (गुण) का सन्निवेश किया जाता है। जो शैथिल्य का त्याग कर अर्थात् कोमलता को परित्यक्त कर बन्ध के सौन्दर्य का अङ्ग अर्थात् संघटना की सुन्दरता का साधन बनता है जैसे—'किं तारुण्यतरोः'...इत्यादि पूर्वोदाहृत (उदाहरण सं० ९२ के पूर्वार्द्ध में देखा जा सकता है) ॥ १०३ ॥

टिप्पणी—विचित्रमार्ग के माधुर्य गुण के उदाहरण रूप में कुन्तक ने जिन पङ्क्तियों को उद्धृत किया है वे निम्न हैं—

किं तारुण्यतरोरियं रसभरोद्भिन्ना नवा वल्लरी
लीलाप्रोच्छलितस्य किं लहरिका लावण्यवारान्निधेः।

इसका अर्थ उदाहरण संख्या ९२ पर देखें। यहाँ पर कवि ने—तारुण्यतरोः, रसभरोद्भिन्ना, नवा वल्लरी, लावण्यवारान्निधेः आदि सभी ऐसे पदों का प्रयोग

किया है जो एक लोकोत्तर वैचित्र्य के समर्थक हैं। अतः यहाँ माधुर्य गुण होगा।

एवं माधुर्यमभिधाय प्रसादमभिधत्ते—

असमस्तपदन्यासः प्रसिद्धः कविवर्त्मनि।
किञ्चिदोजः स्पृशन् प्रायः प्रसादोऽप्यत्र दृश्यते ॥ ४५ ॥

इस प्रकार माधुर्य गुण को बताकर अब प्रसाद गुण का कथन प्रस्तुत करते हैं—

इस विचित्रमार्ग में विद्वानों (कवियों) के मार्ग में प्रसिद्ध, कुछ-कुछ ओज का स्पर्श करता हुआ, समासहीन पदों की रचना रूप, प्रसाद नामक गुण भी प्रायेण देखा जाता है ॥ ४५ ॥

असमस्तानां समासरहितानां पदानां न्यासो निबन्धः कविवर्त्मनि विपश्चिन्मार्गे यः प्रसिद्धः प्रख्यातः सोऽप्यस्मिन् विचित्राख्ये प्रसादाभिधानो गुणः किञ्चित् कियन्मात्रमोजः स्पृशन्नुत्तानतया व्यवस्थितः प्रायो दृश्यते प्राचुर्येण लक्ष्यते। बन्धसौन्दर्यनिबन्धनत्वात्। तथाविधस्यौजसः समासवती वृत्तिः-'ओजः'-शब्देन चिरन्तनैरुच्यते। तदयमत्र परमार्थः—पूर्वस्मिन् प्रसादलक्षणे सत्योजःसंस्पर्शमात्रमिहा विधीयते। यथा—

असमस्त अर्थात् समास से वर्जित पदों का न्यास अर्थात् निबन्ध (सङ्घटन) जो कवियों के मार्ग में अर्थात् पण्डितों की पद्धति में प्रसिद्ध अर्थात् प्रकृष्ट रूप से ख्यातिप्राप्त है वह भी प्रसाद नाम का गुण इस विचित्र नामक (मार्ग) में कुछ, थोड़ा-सा ओज का स्पर्श करता हुआ अर्थात् उत्तान ढङ्ग से (कुछ-कुछ समस्त पदों से युक्त रूप में) व्यवस्थित हुआ प्रायः दिखाई पड़ता है अर्थात् प्रचुर रूप से लक्षित होता है। उस प्रकार के ओज की समास से युक्त वृत्ति को, वाक्य-विन्यास (सङ्घटना) की रमणीयता का कारण होने से चिरन्तन (आलङ्कारिकों) ने 'ओज' शब्द से व्यवहृत किया है। इसका वास्तविक अर्थ यह है कि पहले (सुकुमार मार्ग के गुणों का प्रतिपादन करते समय ३१ वीं कारिका में किए गए) प्रसाद के लक्षण के विद्यमान रहने पर यहाँ (इस विचित्रमार्ग के प्रसाद गुण में) केवल ओज के संस्पर्श का ही विधान किया जाता है। (शेष लक्षण सुकुमार-मार्ग के प्रसाद गुण जैसा ही है। अर्थात् यहाँ भी प्रसाद गुण रस एवं वक्रोक्ति विषयक अभिप्राय को अनायास ही प्रकट कर देने वाला एवं पढ़ते

ही तुरन्त अर्थ की प्रतीति कराने वाला होना चाहिए। हाँ, यहाँ उसमें एक यही विशेषता होगी कि वह कुछ-कुछ ओज का स्पर्श करता हुआ होगा)॥ जैसे—

अपाङ्गगततारकाः स्तिमितपद्मपालीभृतः
स्फुरत्सुभगकान्तयः स्मितसमुद्गतिद्योतिताः।
विलासभरमन्थरास्तरलकल्पितैकभ्रुवो
जयन्ति रमणेऽर्पिताः समदसुन्दरीदृष्टयः॥ १०४॥

पति की ओर फेंकी गई, नेत्रों के प्रान्त भाग में स्थित कनीनिका वाली निश्चल पलकों को धारण करने वाली, स्फुरित होती हुई मनोहर छवि से युक्त, मुस्कुराहट आ जाने के कारण द्युतिमान्, विलास के भार से मन्द गति वाली तथा एक भौंह को चञ्चल बना देने वाली, हर्षित सुन्दरियों की आखें, सर्वोत्कृष्ट रूप से विद्यमान हैं॥ १०४॥

(यहाँ पर कवि ने शृङ्गार रस को बड़े ही रकणीय ढङ्ग से प्रस्तुत किया है। पदों का प्रयोग अर्थ को तुरन्त स्पष्ट कर देने वाला है ? तथा छोटे-छोटे समासों से युक्त होने के कारण सभी पद कुछ-कुछ ओज का स्पर्श कर रहे हैं। अतः यह विचित्र मार्ग के प्रसाद गुण का उदाहरण हुआ)॥

प्रसादमेव प्रकारान्तरेण प्रकटयति—

गमकानि निबध्यन्ते वाक्ये वाक्यान्तराण्यपि।
पदानीवात्र कोऽप्येष प्रसादस्यापरः क्रमः॥ ४६॥

(विचित्र मार्ग के उसी) प्रसाद गुण को दूसरे ढङ्ग से प्रस्तुत करते हैं—

यहाँ (इस विचित्र-मार्ग में एक ही) वाक्य में (व्यङ्ग्यार्थ के) समर्पक अन्य (अवान्तर) वाक्यों का भी पदों के समान (परस्पर अन्वित ढङ्ग से) सन्निवेश किया जाता है। यह (विचित्र मार्ग के) प्रसाद (गुण) का कोई (अपूर्व ही वाक्य की शोभा को उत्पन्न करने वाला) दूसरा प्रकार है॥ ४६॥

अत्रास्मिन् विचित्रे यद्वाक्यं पदसमुदायस्तस्मिन् गमकानि समर्पकाण्यन्यानि वाक्यान्तराणि निबध्यन्ते निवेश्यन्ते। कथम्—पदानीव पदवत्, परस्परान्वितानीत्यर्थः। एष कोऽप्यपूर्वः प्रसादस्यापरः क्रमः बन्धच्छायाप्रकारः। यथा—

यहाँ अर्थात् इस विचित्र (मार्ग) में जो वाक्य अर्थात् पदों का समूह है उसमें गमक अर्थात् (व्यङ्ग्यार्थ के) समर्पक अन्य दूसरे (अवान्तर) वाक्य

निबद्ध अर्थात् सन्निविष्ट किए जाते हैं। किस प्रकार से—पदों के समान अर्थात् पदों की तरह परस्पर अन्वित ढङ्ग से, (निबद्ध किए जाते हैं)। यह (विचित्र मार्ग के) प्रसाद (गुण) का कोई अपूर्व दूसरा ही क्रम अर्थात् वाक्यविन्यास की शोभा (को उत्पन्न करने) का प्रकार है। जैसे—

नामाप्यन्यतरोः इति ॥ १०५ ॥

(पूर्वोदाहृत उदाहरण सख्या ९१ का) नामाप्यन्यतरोः इत्यादि पद ॥ १०५ ॥

टिप्पणी—यहाँ ग्रन्थकार ने जिस पद को प्रसाद गुण के उदाहरण रूप में उद्‌धृत किया है वह यह है—

नानाप्यन्यतरोर्निमीलितमभूत्तत्तावदुन्मीलितं
प्रस्थाने स्खलतः स्ववर्त्मनि विधेरन्यद्‌गृहीतः करः।
लोकश्चायमदृष्टदर्शनकृताद् दृग्वैशसादुद्धृतो
युक्तं काष्ठिक लूनवान् यदसि तामाम्रालिमाकालिकीम् ॥ ९१ ॥

इसका अर्थ उदाहरण संख्या ९१ पर देखें। यहाँ कवि ने एक ही वाक्य रूप श्लोक में 'निमीलितमभूत्', 'तावदुन्मीलितं', 'गृहीतः करः', 'लोकः उद्धृतः' इत्यादि अन्य अवान्तर वाक्यों का पदों की भाँति प्रयोग किया है। अतः यहाँ प्रसाद गुण स्वीकार किया जायगा।

प्रसादमभिधाय लावण्यं लक्षयति—

अत्रालुप्तविसर्गान्तैः पदैः प्रोतैः परस्परम्।
ह्रस्वैः संयोगपूर्वैश्च लावण्यमतिरिच्यते ॥ ४७ ॥

(इस प्रकार विचित्र मार्ग के माधुर्य गुण तथा) प्रसाद (गुण के दो प्रकार) बता कर अब (तीसरे गुण) लावण्य को लक्षित करते हैं—

यहाँ (इस विचित्र मार्ग में) परस्पर संश्लिष्ट, विसर्गों से युक्त अन्त वाले संयोग से पूर्व ह्रस्व पदों (के प्रयोग) से लावण्य (गुण) अतिशय युक्त हो जाता है ॥ ४७ ॥

अत्रास्मिन्नेवंविधैः पदैर्लावण्यमतिरिच्यते परिपोषं प्राप्नोति। कीदृशैः—परस्परमन्योन्यं प्रोतैः संश्लेषं नीतैः। अन्यच्च कीदृशैः—अलुप्तविसर्गान्तैः, अलुप्तविसर्गाः श्रूयमाणविसर्जनीया अन्ता येषां तानि तथोक्तानि तैः। ह्रस्वैश्च लघुभिः। संयोगेभ्यः पूर्वैः। अतिरिच्यते इति सम्बन्धः। तदिदमत्र तात्पर्यम्—पूर्वोक्तलक्षणं लावण्यं विद्यमानमनेनातिरिक्ततां नीयते। यथा—

यहाँ अर्थात् इस (विचित्र मार्ग) में इस प्रकार के पदों (के प्रयोग) से (विचित्र मार्ग का) लावण्य (गुण) अतिशय युक्त होता है अर्थात् भलीभाँति पुष्ट होता है। कैसे (पदों के प्रयोग से) परस्पर एक दूसरे से मिले हुए संश्लिष्ट (पदों से)। और कैसे (पदों के प्रयोग से) न लुप्त हुए विसर्गों के अन्त वाले। नहीं लुप्त हुए विसर्गों वाले अर्थात् सुनाई पड़ते हुए विसर्जनीयों वाले अन्त हैं जिनके वे हुए तथोक्त (न लुप्त हुए विसर्गों के अन्त वाले) उन (पदों से)। ह्रस्व अर्थात् लघु (पदों) से। संयोग के पहले (ह्रस्व पदों से)। (लावण्य गुण) परिपुष्ट होता है। यह (वाक्य के साथ क्रिया का) सम्बन्ध है। तो इसका यहाँ अभिप्राय यह हुआ कि—पहले (सुकुमार मार्ग के गुणों का प्रतिपादन करते समय ३२ वीं कारिका में) कहे गए लक्षण वाला लावण्य (सुकुमार मार्ग का गुण विद्यमान होते हुए इस (प्रकार के प्रयोगों से इस गुण के युक्त होने के कारण इस) से भिन्न हो जाता है। जैसे—

श्वासोत्कम्पतरङ्गिणि स्तनतटे धौताञ्जनश्यामलाः
कीर्यन्ते कणशः कृशाङ्गि किममी बाष्पाम्भसां बिन्दवः।
किञ्चाकुञ्चितकण्ठरोधकुटिलाः कर्णामृतस्यन्दिनो
हुङ्काराः कलपञ्चमप्रणयिनस्त्रुट्यन्ति निर्यान्ति च॥ १०६॥

हे कृशाङ्गि, (श्रम के कारण) तेज साँसों के चलने से उभर आने के कारण हिलते हुए वक्षःस्थल पर (आँखों में लगे) आँजन को धोने के कारण काली पड़ गई ये अश्रुजल की बूँदों को टूक टूक करके क्यों ढुलकाये दे रही हो? और क्यों भला ये कानों में सुधा टपकाने वाली मधुर पञ्चम (स्वर) की तरह प्यारी लगने वाली हूँ हूँ की आवाजें मुड़े हुए गले के भर आने के कारण टेढ़ी पड़कर टूट टूट जाती हैं और निकल पड़ती हैं॥ १०६॥

टिप्पणी—यहाँ इस पद्य में 'धौताञ्जनश्यामलाः', 'कणशः,' 'बिन्दवः', '—कुटिलाः' एवं 'हूङ्काराः' 'ऐसे पदों का प्रयोग किया गया है, जिनकें अन्त में विसर्गों का लोप नहीं हुआ है। तथा कम्प, तरङ्गिणिस्तनतटे,—न श्यामलाः, कीर्यन्ते, बिन्दवः...कुञ्चित, कण्ठ,'''तस्यन्दिनो एवं'''पंचमप्रणयिनस्त्रुट्यन्ति, इत्यादि पदों में संयोग के पूर्व लघु वर्ण का प्रयोग हुआ है। जैसे 'कम्प' में 'क' का 'तरङ्गिणि' में 'र' का आदि आदि। तथा सभी पद परस्पर एक दूसरे से संश्लिष्ट होकर विचित्र मार्ग के लावण्य गुण का परिपोष करते हैं।

यथा वा—

पतन्मन्दविपक्वतिन्दुकफलश्यामोदरापाण्डुर-

प्रान्तं हन्त पुलिन्दसुन्दरकरस्पर्शक्षमं लक्ष्यते ।
तत् पल्लीपतिपुत्रि कुञ्जरकुलं कुम्भाभयाभ्यर्थना-
दीनं त्वामनुनाथते कुचयुगं पत्रांशुकैर्मा पिधाः ॥ १०७ ॥

अथवा जैसे (इसी का दूसरा उदाहरण)—

हे पल्लीपति (छोटे से ग्राम के स्वामी) की पुत्रि ! आपके तेन्दू फल के समान श्याम मध्यभागवाला तथा कुछ कुछ पीतवर्ण तट प्रदेश वाला (तुम्हारा) यह स्तनद्वन्द्व शबर के सुन्दर करों के स्पर्शयोग्य (मर्दन करने के लिये उपयुक्त) दिखाई पड़ता है । इसलिये (अपने) गण्डस्थल की रक्षा (अभय) की प्रार्थना से कातर (यह) हाथियों का समूह तुमसे याचना करता है कि अपने इस (स्तनयुगल) को पत्तों से मत ढको । (जिससे यह शबर तुम्हारे कुचों की ओर आकृष्ट होकर हम हाथियों के गण्डस्थल पर प्रहार करने से विमुख हो जायें) ॥ १०७ ॥

टिप्पणी—इस पद्य में यद्यपि 'पिधाः' को छोड़कर अन्य किसी अलुप्त-विसर्गान्ति पद का प्रयोग नहीं हुआ है । फिर भी सभी पद आपस में अच्छी तरह से संश्लिष्ट हैं । एवं 'एतन्मन्दविपक्वतिन्दुकफलश्यामो, ···रप्रान्तं, हन्त, पुलिन्द सुन्दरकरस्पर्शक्षमं लक्ष्यते । इत्यादि सभी पदों में संयोग के पूर्व ह्रस्व वर्णों के प्रयोग से श्लोक में एक अपूर्व ही चमत्कार आ गया है । जिससे लावण्य गुण पूर्ण परिपोष को प्राप्त हो रहा है ।

यथा वा—

'हंसानां निनदेषु' इति ॥ १०८ ॥

अथवा जैसे (इसका तीसरा उदाहरण पूर्वोदाहृत उदाहरण संख्या ७३ का) हंसानां निनदेषु··· । इत्यादि पद ॥ १०८ ॥

(इसका अर्थ उदाहरण संख्या ७३ पर देखें तथा लक्षण को पूर्वोदाहृत दोनों पद्यों के आधार पर स्वयं घटित कर लें) ।

एवं लावण्यमभिधायाभिजात्यमभिधीयते—

यन्नातिकोमलच्छायं नातिकाठिन्यमुद्वहत् ।
आभिजात्यं मनोहारि तदत्र प्रौढिनिर्मितम् ॥ ४८ ॥

इस प्रकार (विचित्र मार्ग के तीसरे गुण) लावण्य को बताकर (अब चतुर्थ गुण) आभिजात्य को बताते हैं—

यहाँ (इस विचित्र-मार्ग में) जो न तो बहुत अधिक कोमल कान्ति (वाला होता है) और न अधिक कठिनता को ही धारण करता (है)

वह (कवि की) प्रौढि से विरचित आभिजात्य (नामक गुण) हृदय को आनन्दित करने वाला होता है ॥ ४८ ॥

अत्रास्मिन् तदाभिजात्यं यन्नातिकोमलच्छायं नात्यन्तमसृणकान्ति-नातिकाठिन्यमुद्वहन्नातिकठोरतां धारयन् प्रौढिनिर्मितं सफलकवि-कौशलसम्पादितं सन्मनोहारि हृदयरञ्जकं भवतीत्यर्थः। यथा—

यहाँ अर्थात् इस (विचित्र मार्ग) में वह अभिजात्य (नाम का गुण होता है) जो न अधिक कोमल छाया वाला अर्थात् न तो अत्यधिक स्निग्ध कान्ति वाला (और) न अधिक कठिनता को वहन करता हुआ अर्थात् न ही अधिक कठोरता को धारण करता हुआ (होता है) वह प्रौढि से निर्मित अर्थात् कवि की समग्र कुशलता से सम्पादित हुआ मनोहारि अर्थात् हृदय को आनन्दित करनेवाला होता है, यह अर्थ हुआ। जैसे—(कोई सखी नायिका से पूछती है कि—

अधिकरतलतल्पं कल्पितस्वापलीला-
परिमलननिमीलत्पाण्डिमा गण्डपाली।
सुतनु कथय कस्य व्यञ्जयत्यञ्जसैव
स्मरनरपतिकेलीयौवराज्याभिषेकम् ॥ १०६ ॥

हे सुन्दरि ! (यह तो) बताओ कि—करतलरूपी पर्यङ्क पर शयन-लीला के कारण होने वाले (करतल तथा कपोल के) दृढ संयोग से तिरोहित होती हुई पाण्डुता से युक्त (अर्थात् रक्तवर्ण तुम्हारी यह) कपोलस्थली सहसा ही कामदेवरूपी नरपति की क्रीडाओं के यौवराज्य पद पर किस (धन्य युवक) के अभिषेक को व्यक्त कर रही है ॥ १०६ ॥

टिप्पणी—इस पद्य में कवि ने न तो अत्यधिक कठोर और न अत्यन्त कोमल ही पदावली का प्रयोग किया है। साथ ही कवि-प्रतिभा की प्रौढ़ि इस श्लोक से भलीभाँति व्यक्त हो रही है। अतः यहाँ आभिजात्य गुण स्वीकार किया जायगा।

एवं सुकुमारविहितानामेव गुणानां विचित्रे कश्चिदतिशयः सम्पाद्यत इति बोद्धव्यम्।

इस प्रकार सुकुमार (मार्ग) में कथित (माधुर्य, प्रसाद, लावण्य एवं आभिजात्य) गुण (ही) विचित्र मार्ग में किसी (अपूर्व) अतिशय से सम्पन्न कर दिये जाये हैं।—ऐसा समझना चाहिए। (और जैसा कि) यह अन्तरश्लोक (भी) है कि—

आभिजात्यप्रभृतयः पूर्वमार्गोदिता गुणाः ।
अत्रातिशयमायान्ति जनिताहार्यसम्पदः ॥ ११० ॥

इत्यन्तरश्लोकः ।

पहले (सुकुमार) मार्ग में प्रतिपादित आभिजात्य आदि (अर्थात् माधुर्य, प्रासाद, लावण्य एवं आभिजात्य चारों ही) गुण, यहाँ (इस विचित्र मार्ग में कवि की व्युत्पत्यादिजन्य) आचार्य-सम्पत्ति की सृष्टि कर (किसी अलौकिक) अतिशय को प्राप्त होते हैं ॥ ११० ॥

एवं विचित्रमभिधाय मध्यममुपक्रमते—

वैचित्र्यं सौकुमार्यं च यत्र सङ्कीर्णतां गते ।
भ्राजेते सहजाहार्यशोभातिशयशालिनी ॥ ४९ ॥

इस प्रकार (पहले सुकुमार मार्ग का विवेचन कर तदनन्तर (विचित्र (मार्ग) को बताकर (अब) मध्यम (मार्ग के विवेचन) का आरम्भ करते हैं—

जहाँ (जिस मार्ग में) सहज (अर्थात् कवि प्रतिभाजन्य) तथा आहार्य (अर्थात् कवि की व्युत्पत्यादि जन्य) कान्ति के उत्कर्ष से शोभित होने वाली सुकुमारता एवं विचित्रता सङ्कीर्ण होकर (एक दूसरे से मिश्रित होकर) शोभित होती हैं ॥ ४६ ॥

माधुर्यादिगुणग्रामो वृत्तिमाश्रित्य मध्यमाम् ।
यत्र कामपि पुष्णाति बन्धच्छायातिरिक्तताम् ॥ ५० ॥

(तथा) जहाँ (जिस मार्ग में) माधुर्य (प्रसाद, लावण्य एवं आभिजात्य) आदि गुणों का समुदाय मध्यम (अर्थात् सुकुमार तथा विचित्र दोनों मार्गों की कान्ति से युक्त) वृत्ति का आश्रयण कर संघटना की शोभा के आधिपत्य का पोषण करता है ॥ ५० ॥

मार्गोऽसो मध्यमो नाम नानारुचिमनोहरः ।
स्पर्धया यत्र वर्तन्ते मार्गद्वितयसम्पदः ॥ ५१ ॥

(तथा) जहाँ (जिस मार्ग में सुकुमार तथा विचित्र) दोनों मार्गों की सम्पत्तियाँ (परस्पर) स्पर्धा से (समान रूप में) विद्यमान रहती हैं; (ऐसा) यह विभिन्न रुचियों वाले (सहृदय आदि) के लिए मनोहर मध्यम नाम का मार्ग है ॥ ५१ ॥

अत्रारोचकिनः केचिच्छायावैचित्र्यरञ्जके।
विदग्धनेपथ्यविधौ भुजङ्गा इव सादराः ॥ ५२ ॥

यहाँ शोभा के वैचित्र्य के कारण मनोहर (इस मध्यम मार्ग) में सभ्य वेशभूषा के विधान में नागरिकों के समान कुछ रमणीय वस्तु के व्यसनी (अरोचकी कवि एवं सहृदय) आदरयुक्त होते हैं। (अर्थात् कवि लोग इसका आश्रयण कर काव्यरचना करते हैं और सहृदय इसका अध्ययन कर अलौकिक आनन्द प्राप्त करते हैं ॥ ५२ ॥

मार्गोऽसौ मध्यमो नाम मध्यमाभिधानोऽसौ पन्थाः। कीदृशः—नानाविधा रुचयः प्रतिभासा येषां ते तथोक्तास्तेषां सुकुमारविचित्रमध्यमव्यसनिनां सर्वेषामेव मनोहरो हृदयहारी। यस्मिन् स्पर्धया मार्गद्वितयसम्पदः सुकुमारविचित्रशोभाः साम्येन वर्तन्ते व्यवतिष्ठन्ते, न न्यूनातिरिक्तत्वेन। यत्र वैचित्र्यं विचित्रत्वं सौकुमार्यं सुकुमारत्वं सङ्कीर्णतां गते तस्मिन् मिश्रतां प्राप्ते सती भ्राजेते शोभेते। कीदृशे—सहजाहार्यशोभातिशयशालिनी, शक्तिव्युत्पत्तिसम्भवो यः शोभातिशयः कान्त्युत्कर्षस्तेन शालेते श्लाघेते ये ते तथोक्ते।

यह मध्यम नाम का मार्ग अर्थात् 'मध्यम' इस संज्ञा से प्रकट किया जाने वाला यह (काव्य का) पथ है। किस प्रकार का—नाना प्रकार की रुचियाँ अर्थात् प्रतीतियाँ हैं जिनके वे हुये तथोक्त (नानाविध रुचि वाले) उनका अर्थात् सुकुमार, विचित्र, एवं मध्यम मार्ग के व्यसनी सभी का ही मनोहर अर्थात् हृदय को हरण करने वाला। (सब को आनन्दित करने वाला मध्यम नामक मार्ग है)। जिस (मार्ग) में (परस्पर) स्पर्धा से दोनों मार्गों की सम्पत्तियाँ अर्थात् सुकुमार एव विचित्र (मार्गों) की छवियाँ समान रूप से वर्तमान रहती हैं, न्यूनाधिक्य रूप से नहीं विद्यमान रहती हैं। जहाँ वैचित्र्य अर्थात् विचित्रभाव सौकुमार्य अर्थात् सुकुमार भाव सङ्कीर्णता को प्राप्त होकर अर्थात् उस (मध्यम मार्ग) में मिश्रित होकर भ्राजमान अर्थात् शोभायमान होते हैं। कैसी (दोनों मार्ग की छवियाँ)—सहज एवं आहार्य शोभा के अतिशय से श्लाघनीय, अर्थात् शक्ति (सहज) एवं व्युत्पत्ति से उत्पन्न होने वाला (आहार्य) जो शोभा का अतिशय अर्थात् कान्ति का उत्कर्ष है उससे जो शालित अर्थात् प्रशंसित होती हैं वे दोनों हुई तथोक्त (सहज एवं आहार्य शोभा के अतिशय से श्लाघनीय शोभायें जिस काव्य में चमत्कार उत्पन्न करती हैं।)

माधुर्येत्यादि । यत्र च माधुर्यादिगुणग्रामो माधुर्यप्रभृतिगुणसमूहो मध्यमामुभयच्छायाच्छुरितां वृत्तिं स्वस्पन्दगतिमाश्रित्य कामप्यपूर्वां बन्धच्छायातिरिक्ततां सन्निवेशकान्त्याधिकतां पुष्णाति पुष्यतीत्यर्थः ।

(और कैसा होता है मध्यम मार्ग इसे प्रतिपादित करते हैं) माधुर्येत्यादि (५० वीं कारिका के द्वारा) । और जहाँ पर माधुर्यादि गुणों का समूह अर्थात् माधुर्य (प्रसाद, लावण्य एवं आभिजात्य) आदि (पूर्वोक्त) गुणों का समुदाय मध्यम अर्थात् (सुकुमार एवं विचित्र) दोनों (मार्गों) की शोभा से संयुक्त वृत्ति अर्थात् स्वाभाविक गति का आश्रयण कर किसी अपूर्व बन्धसौन्दर्य की अतिरिक्तता अर्थात् सङ्घटना सौन्दर्य के आधिक्य का पोषण करता है, (उसे मध्यम मार्ग कहते हैं) ।

तत्र गुणानामुदाहरणानि । तत्र माधुर्यस्य यथा—

वेलानिलैर्मृदुभिराकुलितालकान्ता
गायन्ति यस्य चरितान्यपरान्तकान्ताः ।
लीलानताः समवलम्ब्य लतास्तरूणां
हिन्तालमालिषु तटेषु महार्णवस्य ॥ १११ ॥

वहाँ (उस मध्यम मार्ग में माधुर्यादि) गुणों के उदाहरण (अब प्रस्तुत किये जाते है) । उनमें (सर्वप्रथम) माधुर्य (गुण का उदाहरण) जैसे—

हिन्ताल (वृक्षों) की कतारों से युक्त महासागर के तटों पर, वृक्षों की लताओं का सहारा लेकर विलास के साथ झुकी हुई, तथा समुद्र तट की मृदुल हवाओं (झोकों) से अस्त-व्यस्त (बिखरे हुए) केशपाश वाली दूसरे तट पर स्थित कामिनियाँ जिसके चरित्र को गाया करती हैं ॥ १११ ॥

टिप्पणी—आचार्य कुन्तक ने सुकुमार मार्ग के माधुर्य का लक्षण प्रचुर समास से रहित मनोहर पदों का विन्यास, तथा विचित्र मार्ग के माधुर्य का लक्षण शैथिल्य-रहित, बन्ध-सौन्दर्य का उपकारक एवं वैचित्र्य को उत्पन्न करने वाला किया है। इस उदाहरण में दोनों का सम्मिश्रण है । अर्थात् पदों में न तो प्रचुर समास ही है तथा न किसी प्रकार का शैथिल्य है 'न्त' एवं 'ल' और 'क' आदि मनोहर वर्णों की अनेकों बार आवृत्ति होने से एक अपूर्व ही मनोहरता एवं वैचित्र्य की सृष्टि, हुई है जिससे बन्ध का सौन्दर्य बढ़ गया है । अतः यह मध्यम मार्ग के माधुर्य गुण रूप में उद्धृत हुआ है । इसके अनन्तर अब प्रसाद गुण को प्रस्तुत करते हैं—

प्रसादस्य यथा—

'तद्वक्त्रेन्दुविलोकनेन' इत्यादि ॥ ११२ ॥

प्रसाद (गुण) का (उदाहरण) जैसे—

(उदाहरण संख्या २३ पर पूर्व उदाहृत) 'तद्वक्त्रेन्दुविलोकनेन' इत्यादि (पद्य) ॥ ११२ ॥

टिप्पणी—सुकुमार मार्ग के प्रसाद गुण का लक्षण है—'रस एवं वक्रोक्तिविषयक अभिप्राय को अनायास व्यञ्जित करना तथा शीघ्र अर्थ की प्रतीति करा देना' तथा विचित्र मार्ग के प्रसाद की विशिष्टता है—'कुछ-कुछ ओज का स्पर्श करता हुआ एवं समासहीन पदों के विन्यास से युक्त तथा एक ही वाक्य में अनेक अवान्तर वाक्यों का पदों की भाँति (व्यङ्ग्यार्थ) के व्यञ्जक रूप में प्रयोग से युक्त'। यहाँ उदाहृत निम्न पद्य—

तद्वक्त्रेन्दुविलोकनेन दिवसो नीतः प्रदोषस्तथा
तद्गोष्ठ्यैव निशापि मन्मथकृतोत्साहैस्तदङ्गार्पणैः ।
तां सम्प्रत्यपि मार्गदत्तनयनां द्रष्टुं प्रवृत्तस्य मे
बद्धोत्कण्ठमिदं मनः किमथवा प्रेमासमाप्तोत्सवम् ॥

—में शृङ्गार रस एवं दीपक रूप अलंकार अनायास ही व्यञ्जित हो जाता है। अर्थ की प्रतीति पढ़ते ही हो जाती है। तथा अधिकतर समास वर्जित पदों का प्रयोग है। हाँ, तद्वक्त्रेन्दुविलोकनेन, मन्मथकृतोत्साहैः एवं मार्गदत्तनयनाम् आदि पदों में कुछ समासों का प्रयोग होने से कुछ-कुछ ओज का स्पर्श भी प्राप्य है। तथा 'दिवसो नीतः', 'निशापि (नीता)' 'प्रदोषः (नीतः)', 'मनः (अस्ति)' इत्यादि अनेक अवान्तर वाक्यों का भी इसके व्यञ्जक रूप में प्रयोग हुआ है। अतः यह मध्यम मार्ग के प्रसाद गुण से युक्त पद्य है।

लावण्यस्य यथा—

संक्रान्ताङ्गुलिपर्वसूचितकरस्वापा कपोलस्थली
नेत्रे निर्भरमुक्तबाष्पकलुषे निश्वासतान्तोऽधरः ।
बद्धोद्भेदविसंष्ठुलालकलता निर्वेदशून्यं मनः
कष्टं दुर्नयवेदिभिः कुपचिवैर्वत्सा दृढं खेद्यते ॥ ११३ ॥

(इस प्रकार प्रसाद गुण को उदाहृत करने के अनन्तर मध्यम मार्ग के) लावण्य (गुण) का (उदाहरण) जैसे—

(जिसकी) गण्डस्थली, (कपोलों पर) संक्रमित अङ्गुलियों की ग्रन्थियों से (कपोलों के) हाथ पर (रख कर किए गये) शयन को सूचित करने

वाली (है), जिसके) नेत्र अत्यधिक बहाये गए आँसुओं से कलुषित (हो गए हैं), (जिसका) अधर (अत्यन्त उष्ण) निःश्वासों के कारण मुरझा गया है, (जिसकी) संयत केशों की लता खुल जाने के कारण व्यस्त (हो गई है) और (जिसका) चित्त निर्वेद (दुःख) के कारण शून्य (सा हो गया है, ऐसी वह मेरी प्यारी) बच्ची हाय (अपने अभिलषित वर वत्सराज उदयन के साथ विवाहित न की जाती हुई, इन) (केवल) दुर्नीति को जानने वाले कुत्सित मन्त्रियों के द्वारा बहुत ही ज्यादा सताई जा रही है ॥ ११३ ॥

टिप्पणी—सुकुमार मार्ग का लावण्य, 'शब्द और अर्थ के सौकुमार्य से मनोहर सङ्घटना की 'महिमा' को कहते हैं, जिससे पदों एवं वर्णों की शोभा अत्यधिक क्लेश से सम्पादित नहीं होती।' एवं विचित्र मार्ग का लावण्य परस्पर संश्लिष्ट पदों वाला होता है जिनके अन्त अधिकतर सविसर्ग होते हैं एवं संयोग के पूर्व का वर्ण लघु होता है। उक्त उदाहरण में दोनों लक्षण घटित होते हैं अतः यह मध्यम मार्ग के लावण्य गुण के उदाहरण रूप में उद्धृत हुआ है। अर्थात् यहाँ वर्णों एवं पदों का विन्यास शब्द और अर्थ की रमणीयता से युक्त है। उनका प्रयोग बहुत क्लेश के साथ नहीं किया गया है। साथ ही 'अधकरः', 'मनः', एवं 'वेदिभिः' पद सविसर्गान्त हैं। तथा 'संक्रान्त' 'पर्व', 'करस्वापा' 'कपोल स्थली' निर्भर-मूक्त' 'बद्धो' एवं 'कष्टम्' आदि पदों में संयोग के पूर्व आये हुए स, प, र आदि वर्ण ह्रस्व हैं।

आभिजात्यस्य यथा—

आलम्ब्य लम्बाः सरसाग्रवल्लीः पिबन्ति यस्य स्तनभारनम्राः।
स्रोतश्च्युतं शीकरकूणिताद्यो मन्दाकिनीनिर्झरमश्वमुख्यः॥ ११४॥

(अब लावण्य गुण के अनन्तर मध्यम मार्ग के चतुर्थ गुण) आभिजात्य का (उदाहरण) जैसे—

(विशाल) कुचों के बोझ से झुकी हुई एवं (वायु से उडाये गए) जलकणों (के फुहारों के पड़ने) से अर्धनिमीषित नयनों वाली घोड़ी के सदृश मुखों वाली (किन्नरवधुयें जिसकी) लम्बी एवं हरे हरे अग्रभागों से युक्त लताओं का सहारा लेकर, स्रोतों से गिरते हुए गंगा के जलप्रवाह का पान करती हैं॥ ११४॥

टिप्पणी—सुकुमार मार्ग का आभिजात्य, सुनने में मनोहर एवं स्वभावतः कोमलकान्तियुक्त होता है। एवं विचित्र मार्ग का आभिजात्य

कवि की प्रौढि से निर्मित मनोहर एवं न अत्यन्त कोमल कान्ति वाला ही और न अधिक कठोरता को धारण करने वाला ही होता है। उक्त उदाहरण श्रवण सुभग तो है ही साथ ही साथ उसमें का पूर्वार्द्ध कोमल पदावली के प्रयुक्त होने से कोमल कान्तियुक्त है, उसमें कठोरता का अभाव है। एवं परार्ध में कुछ कठोर वर्णों के आने से कठोरता आई तो है लेकिन अधिक नहीं। अतः यह श्लोक मध्यम मार्ग के आभिजात्य गुण के रूप में उद्धृत किया गया है।

एवं मध्यमं व्याख्याय तमेवोपसंहरति—अत्रेति। अत्रैतस्मिन् केचित् कतिपये सादरास्तदाश्रयेण काव्यानि कुर्वन्ति। यस्मात् अरोचकिनः कमनीयवस्तुव्यसनिनः। कीदृशे चास्मिन्—छायावैचित्र्यरञ्जके कान्तिविचित्रभावाह्लादके। कथम्—विदग्धनेपथ्यविधौ भुजङ्गा इव, अग्राम्याकल्पकल्पने नागरा यथा। सोऽपि छायावैचित्र्यरञ्जक एव।

इस प्रकार (४९-५१ कारिकाओं द्वारा) मध्यम (मार्ग) का व्याख्यान कर (अब) उसी का उपसंहार करते हैं—'अत्र' इस (५२ वीं कारिका के द्वारा)। यहाँ अर्थात् इस (मध्यम मार्ग) में कुछ (इस मार्ग के प्रति) आदरयुक्त (कवि जन) इस (मार्ग) का आश्रयण कर काव्यनिर्माण करते हैं। क्योंकि (वे कवि जन) अरोचकी अर्थात् रमणीय वस्तु के व्यसनी (होते हैं)। किस ढंग के इस (मार्ग में)—शोभा की विचित्रता के कारण रञ्जक अर्थात् कान्ति के वैचित्र्य से आनन्द प्रदान करने वाले (इस माग में रमणीय वस्तु के व्यसनी कविजन प्रवृत्त होते हैं)। किस प्रकार से—वैदग्ध्यपूर्ण नेपथ्य के विधान में चतुरों की तरह अर्थात् अग्राम्य (सभ्य) वेशभूषा की सजावट में चतुर नगरनिवासियों की तरह (रम्यवस्तुव्यसनी कवि इस मध्यम मार्ग में प्रवृत्त होते हैं)। तथा वह (सभ्य वेशभूषा की सजावट) भी तो (अपनी) शोभा की विचित्रता से आह्लादजनक होता है।

अत्र गुणोदाहरणानि परिमितत्वात्प्रदर्शितानि, प्रतिपदं पुनश्छायावैचित्र्यं सहृदयैः स्वयमेवानुसर्तव्यम्। अनुसरणदिक्प्रदर्शनं पुनः क्रियते। यथा—मातृगुप्त-मायुराज-मञ्जीरप्रभृतीनां सौकुमार्यवैचित्र्यसंवलितपरिस्पन्दस्यन्दीनि काव्यानि सम्भवन्ति। तत्र मध्यममार्गसंवलितं स्वरूपं विचारणीयम्। एवं सहजसौकुमार्यसुभगानि कालिदाससर्वसेनादीनां काव्यानि दृश्यन्ते। अत्र सुकुमार-

मार्गस्वरूपं चर्चनीयम्। तथैव च विचित्रवक्रत्वविजृम्भितं हर्षचरिते प्राचुर्येण भट्टबाणस्य विभाव्यते, भवभूतिराजशेखरविरचितेषु बन्धसौन्दर्यसुभगेषु मुक्तकेषु परिदृश्यते। तस्मात् सहृदयैः सर्वत्र सर्वमनुसर्तव्यम्। एवं मार्गत्रितयलक्षणं दिङ्-मात्रमेव प्रदर्शितम्। न पुनः साकल्येन सत्कविकौशलप्रकाराणां केनचिदपि स्वरूपमभिधातुं पार्यते। मार्गेषु गुणानां समुदायधर्मता। यथा न केवलं शब्दादिधर्मत्वं तथा तल्लक्षणव्याख्यानावसर एव प्रतिपादितम्।

यहाँ (इस मध्यममार्ग के प्रसंग में, उस मार्ग के गुणों के सीमित होने के कारण (माधुर्यादि) गुणों के उदाहरणों को (बानगी के लिए) प्रदर्शित कर दिया गया है, लेकिन पद पद में (रहने से छायावैचित्र्य के अपरिमित होने से उसका बता सकना असम्भव होने के कारण, उस) छायावैचित्र्य का सहृदयों को स्वयम् अनुसरण कर लेना चाहिए। हाँ, अनुसरण करने के लिए कुछ दिग्दर्शन हम कराये देते हैं। जैसे—मातृगुप्त, मायुराज तथा मञ्जीर आदि (कवियों) के काव्य सुकुमार भाव एवं विचित्र भाव से सम्मिश्रित रमणीयता से रसमय सत्पन्न होने वाले कहे जा सकते हैं। (अतः) वहाँ (मायुराजादि के काव्यों में) मध्यम मार्ग से संयुक्त स्वरूप का विचार करना चाहिए। (अर्थात् मध्यममार्ग की छाया का वैचित्र्य वहीं खोजना चाहिए)। इसी प्रकार कालिदास एवं सर्वसेन इत्यादि (महाकवियों) के काव्य स्वाभाविक सुकुमारता से सुन्दर दिखाई पड़ते हैं। (अतः) वहाँ (कालिदासादि के काव्यों में) सुकुमार मार्ग के स्वरूप की चर्चा करना चाहिए। उसी प्रकार (महाकवि) भट्ट बाण के 'हर्षचरित' (नामक गद्यग्रन्थ) में विविध वक्रताओं का विलास दिखाई पड़ता है, एवं भवभूति तथा राजशेखर विरचित सङ्घटना के सौन्दर्य से मनोहर मुक्तकों में (विविध वक्रताओं का विलास) पाया जाता है। (अतः सहृदयों को विचित्रमार्ग का स्वरूप इन कवियों की रचनाओं में देखना चाहिए)। इस लिए सहृदयों को सर्वत्र (सभी कवियों की रचनाओं में) सभी (मार्गों के स्वरूप) का अनुसरण करना चाहिए।

इस प्रकार (अब तक २४ वीं कारिका से ५२ वीं कारिका पर्यन्त) तीन मार्गों का लक्षण कर (हमने) दिङ्मात्र का प्रदर्शन किया है। क्योंकि श्रेष्ठ कवियों के (काव्य-निर्माण के) कौशल के (असङ्ख्य) प्रकारों का साकल्येन स्वरूप निरूपण करने में कोई भी समर्थ नहीं हो सकता। (सुकुमारादि) मार्गों में (प्रसादादि) गुणों की समुदायधर्मता है।

(अर्थात् गुण केवल शब्द आदि में रहते हैं। ऐसी बात नहीं, बल्कि वे शब्दों के समूह में रहते हैं और) जैसे उनकी केवल शब्दादिधर्मता नहीं होती है उसका प्रतिपादन उन (माधुर्यादि गुणों) के लक्षण करते समय किया जा चुका है ॥

एवं प्रत्येकं प्रतिनियतगुणग्रामरमणीयं मार्गत्रितयं व्याख्याय साधारणगुणस्वरूपव्याख्यानार्थमाह—

इस प्रकार प्रत्येक (मार्ग) में अलग ढंग से निश्चित (माधुर्य, प्रसाद, लावण्य एवं आभिजात्य रूप) गुणसमूह से सुन्दर (सुकुमार, विचित्र एवं मध्यम रूप) तीन मार्गों की व्याख्या कर (अब सभी में समान रूप से स्थित) साधारण गुणों के स्वरूप की व्याख्या करने के लिए कहते हैं—

आञ्जसेन स्वभावस्य महत्त्वं येन पोष्यते ।
प्रकारेण तदौचित्यमुचिताख्यानजीवितम् ॥ ५३ ॥

पदार्थ का औचित्ययुक्त-कथन-रूप प्राण वाला उत्कर्ष, भलीभाँति स्पष्ट ढङ्ग से, जिस (गुण) के द्वारा परिपोष को प्राप्त कराया जाता है, वह औचित्य (नामक गुण होता) है ॥ ५३ ॥

तदौचित्यं नाम गुणः। कीदृक्—आञ्जसेन सुस्पष्टेन स्वभावस्य पदार्थस्य महत्त्वमुत्कर्षो येन पोष्यते परिपोषं प्राप्यते। प्रकारेणेति प्रस्तुतत्वादभिधावैचित्र्यमत्र, 'प्रकार'-शब्देनोच्यते। कीदृशम्—उचिताख्यानमुदाराभिधानं जीवितं परमार्थो यस्य तत्तथोक्तम्। एतदानुगुण्येनैव विभूषणविन्यासो विच्छित्तिमावहति। यथा—

वह 'औचित्य' नाम का गुण (होता) है। किस प्रकार का—आञ्जस अर्थात् भलीभाँति स्पष्ट (ढङ्ग) से स्वभाव अर्थात् पदार्थ का महत्त्व यानी उत्कर्ष जिसके द्वारा पुष्ट होता है अर्थात् परिपोष को प्राप्त कराया जाता है। (कारिका में प्रयुक्त) प्रकारेण इस (पद के) प्रस्तुत होने के कारण उक्ति की विचित्रता (ही) यहाँ 'प्रकार' शब्द से कही गई है। (अर्थात् आञ्जसेन प्रकारेण का अर्थ है—'अत्यन्त स्पष्ट उक्ति के वैचित्र्य द्वारा'।) कैसा (पदार्थ का उत्कर्ष पुष्ट किया जाता है)—औचित्य युक्त आख्यान अर्थात् उदारता से युक्त कथन है जीवित अर्थात् परमार्थ (प्राण) जिसका वह हुआ तथोक्त (औचित्ययुक्त कथन रूप प्राण वाला—पदार्थ का महत्त्व)। इसी (औचित्य गुण) के अनुरूप ही अलङ्कारों का विन्यास सुशोभित होता है (अन्यथा नहीं)। जैसे—

करतलकलिताक्षमालयोः समुदितसाध्वससन्नहस्तयोः।
कृतरुचिरजटानिवेशयोरपर इवेश्वरयोः समागमः॥ ११५॥

करतलों पर सुशोभित होती हुई अक्षमाला वाले उत्पन्न भय (या सात्त्विक भाव) के कारण जड़ हो गए हुए हाथों वाले तथा निर्मित की गई सुन्दर जटाओं की रचना वाले (उन दोनों का) मानो पार्वती तथा शङ्कर का दूसरा समागम सा हुआ॥ ११५॥

यथा वा—

उपगिरि पुरुहुतस्यैष सेनानिवेश-
स्तटमपरमितोऽद्रेस्त्वद्बलान्यावसन्तु।
ध्रुवमिह करिणस्ते दुर्धराः सन्निकर्षे
सुरगजमदलेखासौरभं न क्षमन्ते॥ ११६॥

अथवा जैसे (इसी का दूसरा उदाहरण)—

पहाड़ के पास (इस ओर तो) यह इन्द्र का सैन्य सिविर है (अतः) पहाड़ के दूसरे तट पर तुम्हारी सेनायें निवास करें (क्योंकि) निश्चय ही तुम्हारे कठिनाई से वश में किए जा सकने वाले हाथी समीप में स्थित देवताओं के हाथियों के दान (जल) की रेखाओं की गन्ध को नहीं सह सकते॥ ११६॥

यथा च—

हे नागराज बहुधास्य नितम्बभागं
भोगेन गाढमभिवेष्टय मन्दराद्रेः।
सोढाविषह्यवृषवाहनयोगलीला-
पर्यङ्कबन्धनविधेस्तव कोऽतिभारः॥ १२६॥

और जैसे (इसका तीसरा उदाहरण)—

हे नागेन्द्र, इस मन्दर पर्वत के मध्य भाग को अपनी कुण्डली से कई बार कस कर लपेट लो। क्योंकि शिवजी की योगलीला के असह्य पर्यङ्कबन्ध की विधि को सहन कर लेने वाले तुम्हारे लिए यह कौन बड़ा बोझ होगा।

यहाँ पर पहले के (करतल—आदि॥ ११५॥ एवं उपगिरि…आदि॥ ११६॥) दोनों उदाहरणों में अलङ्कार के गुणों से ही वह (औचित्य नामक) गुण परिपुष्ट हो रहा है। (अर्थात् करतल इत्यादि में जो उत्प्रेक्षा अलङ्कार कवि ने कल्पित किया है, उस अलङ्कार को पुष्ट करने के लिए कवि ने जिन 'ईश्वरयोः' के तीन 'करतलकलिताक्षमालयोः' आदि विशेषण दिये हैं जो कि दोनों का साम्य बताते हैं वे अत्यन्त ही औचित्ययुक्त होने के

कारण अलङ्कार को पुष्ट करते हैं और उसी से औचित्य गुण का परिपोषण होता है। तथा दूसरे पद्य में कवि ने जो दूसरे राजा के हाथियों का सुरगजों कीं दानरेखाओं की पङ्क्तियों की गन्ध को न सहन कर सकने का वर्णन किया है, वह देवगजों की अलौकिक गन्ध का प्रतिपादन करने के कारण अत्यन्त ही औचित्यपूर्ण है अतः उस.............................से औचित्य गुण परिपुष्ट हुआ है।) तथा दूसरे ('हे नागराज....' इत्यादि ॥ ११७ ॥) में स्वभाव के औचित्यपूर्ण कथन से (औचित्य गुण परिपुष्ट हुआ है)। (अर्थात् उसमें शेषनाग के औदार्य का सत्य वर्णन हुआ है। जिससे औचित्य परिपुष्ट हो रहा है।)

अत्र पूर्वत्रोदाररणयोर्भूषणगुणेनैव तद्गुणपरितोषः, इतरत्र च स्वभावौदार्याभिधानेन।

औचित्यस्यैव छायान्तरेण स्वरूपमुन्मीलयति—

यत्र वक्तुः प्रमातुर्वा वाच्यं शोभातिशायिना।
आच्छाद्यते स्वभावेन तदप्यौचित्यमुच्यते ॥ ५४ ॥

औचित्य गुण का ही दूसरी शोभा के साथ स्वरूप-निरूपण कर रहे हैं—

जहाँ पर कहने वाले अथवा सुनने वाले के रमणीयता के अतिशय से युक्त स्वभाव के द्वारा अभिधेय वस्तु आच्छन्न हो जाती है, वह भी औचित्य (गुण) कहा जाता है ॥ ५४ ॥

यत्र यस्मिन् वक्तुरभिधातुः प्रमातुर्वा श्रोतुर्वा स्वभावेन स्वपरिस्पन्देन वाच्यमभिधेयं वस्तु शोभातिशायिना रामणीयकमनोहरेण आच्छाद्यते संव्रियते तदप्यौचित्यमेवोच्यते। यथा—

जहाँ अर्थात् जिस (गुण) में वक्ता अर्थात् कथन करने वाले अथवा प्रमाता अर्थात् श्रवण करने वाले के शोभा के अतिशय से युक्त अर्थात् सौन्दर्य के कारण चित्ताकर्षक स्वभाव अर्थात् अपने धर्म के द्वारा वाच्य अर्थात् अभिधेय वस्तु आच्छादित कर दी जाती है अर्थात् छिपा दी जाती है (दबा दी जाती है) वह भी औचित्य (नामक गुण) ही कहा जाता है। जैसे—विश्वजित् यज्ञ में सर्वस्व दान दे देने के बाद रघु के पास भिक्षार्थ गए हुए मुनि कौत्स उनसे कहते हैं—

शरीरमात्रेण नरेन्द्र तिष्ठन्नाभासि तीर्थप्रतिपादितर्द्धिः।
आरण्यकोपात्तफलप्रसूतिः स्तम्बेन नीवार इवावशिष्टः ॥ ११८ ॥

हे नरपति! (रघु! दान योग्य) सत्पात्रों को (अपनी) सम्पत्ति प्रदान कर, केवल देह से ही स्थित (आप), अरण्य-निवासियों द्वारा गृहीत फल रूप

प्रसव वाले, (अर्थात् फल ही जिनका प्रसव है, उसे ही अरण्य-निवासी मुनियों आदि के द्वारा तोड़ लेने पर) केवल डण्ठल रूप में ही शेष रहने वाले नीवार (धान्य विशेष के वृक्ष) की भाँति सुशोभित हो रहे हैं ॥ ११८ ॥

अत्र श्लाघ्यतया तथाविधमहाराजपरिस्पन्दे वर्ण्यमाने मुनिना स्वानुभवसिद्धव्यवहारानुसारेणालङ्करणयोजनमौचित्यपरिपोषमावहति । अत्र वक्तुः स्वभावेन च, वाच्यपरिस्पन्दः संवृतप्रायो लक्ष्यते। प्रमातुर्यथा।

यहाँ प्रशंसनीय रूप में उस प्रकार के (सातिशय) महाराज (रघु) के स्वभाव को वर्णित किए जाते समय, मुनि (कौत्स) के द्वारा अपने अनुभव से ज्ञात व्यवहार के अनुसार (उपमा रूप) अलङ्कार की योजना अत्यन्त ही औचित्य का परिपोषण करती है। (अर्थात् मुनि ने जो राजा की उपमा नीवार के डण्ठल से दी है वह स्वतः उनके अनुभव से ज्ञात है। क्योंकि मुनि होने के कारण वे उसके फल को तोड़ते ही थे। अतः फल तोड़ लेने के बाद जो उन्हें उसके डण्ठल में एक अपूर्व शोभा के दर्शन होते थे उसी शोभा का साम्य राजा में सब कुछ दान कर देने के बाद देखने में उन्हें अनुभव हुआ अतः उन्होंने राजा की उपमा उस नीवार के डण्ठल से दे दी, जो कि उपमा देने वाले के मुनि होने के कारण अत्यधिक औचित्ययुक्त प्रतीत होती है। इसी लिए) यहाँ पर वक्ता (कौत्स मुनि) के स्वभाव में (जो कि गम्य है। अभिधेय (राजा रघु) का स्वभाव आच्छादित सा प्रतीत होता है।) इस प्रकार इस उदाहरण के द्वारा वक्ता के स्वभाव से वाच्य के आच्छादित होने को दिखाया गया है। अब) श्रोता के (स्वभाव से वाच्य वस्तु के आच्छादित होने का उदाहरण) जैसे—

निपीयमानस्तबका शिलीमुखैरशोकयष्टिश्चलबालपल्लवा ।
विडम्बयन्ती ददृशे वधूजनैरमन्ददष्टौष्ठकरावधूननम् ॥ ११६ ॥

नायिका-निवह के द्वारा भ्रमरों से पान किए जाते हुए मधुवाले पुष्प-गुच्छों वाली और हिलते हुए नये किसलयों वाली अशोकलता जोर से काट लिए गये हुए अधर वाली (कामिनी) के हाथ हिलाने की अनुकृति करती हुई उत्प्रेक्षित की गई ॥ ११६ ॥

अत्र वधूजनैर्निजानुभववासनानुसारेण तथाविधशोभाभिरामतानुभूतिरौचित्यपरिपोषमावहति । यथा वा—

यहाँ पर नायिकाओं के द्वारा अपनी अनुभूति की वासना के अनुसार उसी तरह की विच्छित्ति की रमणीयता का अनुभव औचित्य को परिपुष्ट करता है ॥ अथवा जैसे—

वापीतडे कुडुंगा पिअसहि ह्लाउं गएहिं दीसंति ।
ण धरंति करेण भणंति ण त्ति वलिउं पुण ण देंति ॥ १२० ॥
[वापीतटे कुरङ्गाः प्रियसखि स्नातु गतैर्दृश्यन्ते ।
न धरन्ति करेण भणन्ति नेति वलितुं पुनर्न ददति ॥]

ऐ प्यारी सहेली, बावड़ी के किनारे नहाने गये लोगों के द्वारा [ऐसे] मृग देखे जाते हैं जो न तो हाथ पकड़ते हैं, न बोलते हैं और न ही मुड़ कर चले आने देते हैं ॥ १२० ॥

अत्र कस्याश्चित्प्रमातृभूतायाः सातिशयमौग्ध्यपरिस्पन्दसुन्दरेण स्वभावेन वाच्यमाच्छादितमौचित्यपरिपोषमावहति ।

इस रचना में किसी सुननेवाली सहेली के अत्यधिक भोलेपन की आदत के कारण मनोहारी स्वभाव के द्वारा छिपाया गया हुआ वाच्य अर्थ औचित्य को परिपुष्ट करता है ।

एवमौचित्यमभिधाय साभाग्यमभिधत्ते—

इत्युपादेयवर्गेऽस्मिन् यदर्थं प्रतिभा कवेः ।
सम्यक् संरभते तस्य गुणः सौभाग्यमुच्यते ॥ ५५ ॥

इस प्रकार औचित्य को बता कर (अब दूसरे सर्वसाधारण गुण) सौभाग्य का कथन करते हैं—

इस प्रकार (शब्द आदि के) इस उपादेय समूह में जिस (वस्तु) के लिये कवि की शक्ति बड़ी सावधानी से व्यापार करती है उस (वस्तु-काव्य) का गुण सौभाग्य (नाम से) कहा जाता है ॥ ५५ ॥

इत्येवंविधेऽस्मिन्नुपादेयवर्गे शब्दाद्युपेयसमूहे यदर्थं यन्निमित्तं कवेः सम्बन्धिनी प्रतिभा शक्तिः सम्यक् सावधानतया संरभते व्यवस्यति तस्य वस्तुनः प्रस्तुतत्वात् काव्याभिधानस्य यो गुणः स सौभाग्यमित्युच्यते भण्यते ॥

इस प्रकार के इस उपादेय वर्ग में अर्थात् शब्द आदि के उपायों द्वारा प्राप्त होने योग्य समूह में यदर्थं अर्थात् जिसके निमित्त से कवि की यानी कवि सम्बन्धिनी प्रतिभा अर्थात् शक्ति सम्यक् अर्थात् सावधानी के साथ संरम्भ करती है; व्यापार करती है उस वस्तु का अर्थात् यहाँ प्रसङ्गप्राप्त होने के कारण काव्य नामक (वस्तु का) जो गुण है वह 'सौभाग्य' (गुण है), इस प्रकार कहा जाता है ।

तच्च न प्रतिभासंरम्भमात्रसाध्यम्, किन्तु तद्विहितसमस्तसामग्रीसम्पाद्यमित्याह—

तथा वह सौभाग्य गुण केवल शक्ति के व्यापार से सिद्ध होने वाला नहीं होता है, अपितु उसके लिये बताई गई (व्युत्पत्ति एवं अभ्यास आदि) समस्त सामग्रियों द्वारा सम्पादित किये जाने योग्य होता है इसे बताते हैं—

सर्वसम्पत्परिस्पन्दसम्पाद्यं सरसात्मनाम् ।
अलौकिकचमत्कारकारि काव्यैकजीवितम् ॥ ५६ ॥

(काव्य-निर्माण के लिये अभीष्ट शक्ति, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास आदि) समस्त सम्पत्ति के परिस्फुरण से सम्पन्न किये जाने योग्य तथा सरस हृदय वाले (लोगों) के लिये लोकोत्तर आनन्द प्रदान करने वाला (सौभाग्य गुण) काव्य का अद्वितीय प्राण है ॥ ५६ ॥

सर्वसम्पत्परिस्पन्दसम्पाद्यं सर्वस्योपादेयराशेर्या सम्पत्तिरनवद्यताकाष्ठा तस्याः परिस्पन्दः स्फुरितत्वं तेन सम्पाद्यं निष्पादनीयम् । अन्यच्च कीदृशम्—सरसात्मनामार्द्रचेतसामलौकिकचमत्कारकारि लोकोत्तराह्लाद-विधायि । किं बहुना, तच्च काव्यैकजीवितं काव्यस्य परः परमार्थ इत्यर्थः । यथा—

समस्त सम्पत्ति के परिस्पन्द से सम्पाद्य अर्थात् (काव्य–निर्माण के लिये) उपादेय (शक्ति, व्युत्पत्ति आदि) समस्त समूह की जो सम्पत्ति अर्थात् रमणीयता का उत्कर्ष, उसका जो परिस्पन्द अर्थात् विलास (स्फुरितत्व) उसके द्वारा सम्पाद्य अर्थात् सिद्ध किये जाने योग्य । और किस प्रकार का— सरस आत्मावाले अर्थात् सार्द्रहृदय वालों के अलौकिक चमत्कार का जनक अर्थात् लोकोत्तर आह्लाद को प्रदान करने वाला । और अधिक कहने से क्या लाभ, वह (तो) काव्य का अद्वितीय प्राण अर्थात् श्रेष्ठ तत्त्व है। जैसे—

दोर्मूलावधिसूत्रितस्तनमुरः स्निह्यत्कटाक्षे दृशौ ।
किञ्चित्ताण्डवपण्डिते स्मितसुधासिक्तोक्तिषु भ्रूलते ।
चेतः कन्दलितं स्मरव्यतिकरैर्लावण्यमङ्गैर्वृतं
तन्वङ्ग्यास्तरुणिम्नि सर्पति शनैरन्येव काचिल्लिपिः ॥१२१॥

(उस तन्वी का) वक्षःस्थल बाहुमूलपर्यन्त विस्तृत स्तनों से संयुक्त हो गया है, (उसके) नेत्र वात्सल्यपूर्ण कटाक्षों से युक्त हो गए हैं तथा मुस्कुराहट रूपी अमृत से सने हुए भाषण के समय (उसकी) भौहों की पंक्तियाँ कुछ लास्य में विलक्षण सी हो जाती हैं, (उसका) हृदय काम की अवस्थाओं से अङ्कुरित सा हो गया है, एवं उनके अंगों ने (किसी अपूर्व ही) लावण्य का वरण किया है, इस प्रकार नवयौवन के आगमनकाल में धीरे-धीरे उस कृशांगी का कुछ (अपूर्व) ही विन्यास हो गया है ॥१२१॥

तन्व्याः प्रथमतरतारुण्येऽवतीर्णे, आकारस्य चेतसश्चेष्टायाश्च वैचित्र्यमत्र वर्णितम्। तत्र सूत्रितस्तनमुरो लावण्यमङ्गैर्वृतमित्याकारस्य, स्मरव्यतिकरैः कन्दलितमिति चेतसः, स्निह्यत्कटाक्षे दृशाविति किञ्चित्ताण्डवपण्डिते स्मितसुधासिक्तोक्तिषु भ्रूलते इति चेष्टायाश्च। सूत्रित-सिक्त-ताण्डव-पण्डित-कन्दलितानामुपचारवक्रत्वं लक्ष्यते, स्निह्यदित्येतस्य कालविशेषावेदकः प्रत्ययवक्रभावः, अन्यैव काचिद्-वर्णनीयेति संवृतिवक्रताविच्छित्तिः, अङ्गैर्वृतमिति कारकवक्रत्वम्। विचित्रमार्गविषयो लावण्यगुणातिरेकः। तदेवमेतस्मिन् प्रतिभा-संरम्भजनितसकलसामग्रीसमुन्मीलितं सरसहृदयाह्लादकारि किमपि सौभाग्यं समुद्भासते।

यहाँ पर कृशाङ्गी के पहिले पहल यौवन के अवतीर्ण होने पर (उसकी) आकृति, हृदय एवं चेष्टाओं के वैचित्र्य का वर्णन किया गया है। उनमें 'विस्तृत स्तनों से युक्त वक्षःस्थल' तथा 'अङ्गों ने लावण्य का वरण किया' इस (विशेषण द्वय) से आकार के, 'काम की अवस्थायें अङ्कुरित हो गई हैं'—इस (विशेषण) से हृदय के, 'वात्सल्यपूर्ण कटाक्षों से युक्त आँखें एवं मुस्कुराहट रूपी अमृत से सने हुए भाषण के समय लास्य में विचक्षण सी हो गई भौंहों की पंक्तियाँ' इन (दो विशेषणों से) चेष्टा के वैचित्र्य को कवि ने प्रतिपादित किया है)। (इस श्लोक में प्रयुक्त) सूत्रित, सिक्त, ताण्डव, पण्डित एवं कन्दलित (शब्दों) की उपचार-वक्रता (स्पष्ट रूप से) दिखाई देती है। 'स्निह्यत्', इस (पद) की (वर्तमान रूप) काल विशेष का बोध कराने वाले (शतृ) प्रत्यय की वक्रता (लक्षित होती है)। 'अन्यैव काचित्' अर्थात् 'अनिर्वचनीया' इस (पद) के द्वारा 'संवृत्तिवक्रता' की शोभा (का प्रतिपादन किया गया है।) 'अङ्गैर्वृतम्' में (अङ्गैः के) इस (तृतीया विभक्ति में प्रयोग) से 'कारक वक्रता' (प्रतिपादित की गई है) विचित्र मार्ग के विषय रूप 'लावण्य' गुण का अतिशय (इस श्लोक से लक्षित होता है) इस प्रकार इस (पद्य) में (कवि की) प्रतिभा (शक्ति) के व्यापार से जनित समस्त (वक्रता की) सामग्री से स्फुरित हुआ सरस हृदय लोगों के आनन्द को उत्पन्न करने वाला कोई (अवर्णनीय) सौभाग्य (नामक गुण) भलीभाँति उद्भासित हो रहा है।

अनन्तरोक्तस्य गुणद्वयस्य विषयं प्रदर्शयति—

एतत्त्रिष्वपि मार्गेषु गुणद्वितयमुज्ज्वलम्।
पदवाक्यप्रबन्धानां व्यापकत्वेन वर्तते॥ ५७॥

(सुकुमार विचित्र एवं मध्यम मार्गों के चार चार, माधुर्य, प्रसाद, लावण्य एवं आभिजात्य गुणों का प्रतिपादन करने से) अनन्तर (साधारण गुणों के रूप में) कहे गये दोनों (औचित्य एवं सौभाग्य) गुणों का विषय प्रदर्शित करते हैं—

मैं अलङ्कारादि से अत्यन्त शोभित (उज्ज्वल) दोनों (सौभाग्य एवं औचित्य नामक) गुण (सुकुमार, विचित्र एवं मध्यम) तीनों ही मार्गों में पद, वाक्य एवं प्रवन्धों (अर्थात् समस्त काव्य के अवयवों) में व्याप्त होकर स्थित रहते हैं ॥ ५७ ॥

एतद् गुणद्वितयमौचित्यसौभाग्याभिधानम् उज्ज्वलमतीवभ्राजिष्णु-पदवाक्यप्रबन्धानां त्रयाणामपि व्यापकत्वेन वर्तते सकलावयव-व्याप्त्यावतिष्ठते। क्वेत्याह—त्रिष्वपि मार्गेषु सुकुमारविचित्रमध्य-माख्येषु। तत्र पदस्य तावदौचित्यम्—बहुविधभेदभिन्नो वक्रभावः, स्वभावस्याञ्जसेन प्रकारेण परिपोषणमेव वक्रतायाः परं रहस्यम्, उचिताभिधानजीवितत्वाद्। वाक्यस्याप्येकदेशेऽप्यौचित्यविरहात्त-द्विदाह्लादकारित्वहानिः। यथा रघुवंशे—

यह औचित्य और सौभाग्य सञ्ज्ञक गुणद्वितय, उज्ज्वल, अर्थात् (अलङ्कारादि से युक्त होने के कारण) अत्यन्त ही सुशोभित, पद वाक्य एवं प्रवन्ध तीनों के ही व्यापक रूप से विद्यमान रहता है अर्थात् (काव्य के) समस्त अङ्गों में व्याप्त होकर स्थित रहता है। कहाँ (व्याप्त रहता है) इसे बताते हैं—सुकुमार, विचित्र एवं मध्यम सञ्ज्ञा वाले तीनों ही (काव्य के) मार्गों में। उस प्रसङ्ग में पद का औचित्य तो यह है—वक्रता नाना प्रकार के भेदों के कारण भिन्न भिन्न है, स्वभाव का त्वरितविधि से संस्फुरण और परिपाक ही वक्रता का वास्तविक रहस्य है क्योंकि उसका औचित्यपूर्ण प्रकाशन ही प्राण है। सम्पूर्ण वाक्य के एक अंश में भी औचित्य का अभाव होने पर सहृदयाह्लादकारिता की हानि होने लगती है—जैसे रघुवंश (महाकाव्य) में

पुरं निषादाधिपतेरिदं तद्यस्मिन्मया मौलिमणिं विहाय।
जटासु बद्धास्वरुदत्सुमन्त्रः कैकेयि कामाः फलितास्तवेति ॥ १२२ ॥

यह निषादों के स्वामी (गुहराज) का वह नगर है जिसमें मेरे मौलि-मणियों का त्याग कर जटायें बढ़ा लेने पर (सारथि) सुमन्त्र ने—'हे कैकेयि! (अब) तुम्हारा अभिलाष फलित हो गया' ऐसा कहकर आँसू बहाया था ॥ १२२ ॥

अत्र रघुपतेरनर्घमहापुरुषसम्पदुपेतत्वेन वर्ण्यमानस्य 'कैकेयि कामा फलितास्तव' इत्येवंविधतुच्छतरपदार्थसंस्मरणं तदभिधानं चात्यन्तमनौचित्यमावहति।

प्रबन्धस्यापि क्वचित्प्रकरणैकदेशोऽप्यौचित्यविरहादेकदेशदाहदूषित-दग्धपटप्रायता प्रसज्यते। यथा—रघुवंशे एवं दिलीप-सिंहसंवादावसरे—

महापुरुषों की अमूल्य निधियों से युक्त रूप में वर्णित किये जाने वाले रघुराज (रामचन्द्र) का 'कैकेयि ! तुम्हारा अभिलाष फलित हो गया' इस रूप के तुच्छ पदार्थ का सम्यक् स्मरण, और (केवल स्मरण ही नहीं अपितु) उसका कह भी जाना, अत्यधिक अनौचित्य को धारण करता है।

कहीं-कहीं प्रबन्ध भी प्रकरण के एक अंश में भी औचित्य के न विद्यमान रहने पर, एक भाग में जले हुए होने से दूषित (समस्त) जले हुए वस्त्र के समान (दूषित) हो जाता है। (अर्थात् जैसे किसी कपड़े का जलता तो एक ही अंश है लेकिन दूषित सारा का सारा कपड़ा हो जाता है। लोग कहते हैं कि कपड़ा जल गया न कि कपड़े का एक भाग। उसी प्रकार यदि किसी प्रबन्ध काव्य के किसी प्रकरण के एक भी अंश में दोष आ जाता है। औचित्य नहीं रहता, तो सारा का सारा प्रबन्ध दूषित कहा जाने लगता है। इसका उदाहरण जैसे (कालिदास विरचित) रघुवंश (प्रबन्ध काव्य) में ही राजा दिलीप तथा सिंह के संवाद (रूप प्रकरण) के समय—

अथैकधेनोरपराधचण्डाद्
गुरोः कृशानुप्रतिद्विभेषि।
शक्योऽस्य मन्युर्भवतापि जेतुं
गाः कोटिशः स्पर्शयता घटोध्नीः॥ १२३॥

(राजा दिलीप अपने गुरु वशिष्ठ की आज्ञा से पुत्र प्राप्ति हेतु 'नन्दिनी' धेनु की सेवा में तत्पर होते हैं। एक दिन वे उसे चराते चराते पर्वत की सुषमा देखने लगते हैं कि इतने में ही उस गाय का करुण क्रन्दन सुनाई देता है और दिलीप देखते हैं कि उस गाय के ऊपर एक सिंह आक्रमण किए है। दिलीप उस सिंह को मारने के लिये तुरन्त बाण निकालने के लिए ज्यों ही तरकश में हाथ डालते हैं, उनका हाथ फँस जाता है, वे विवश हो जाते हैं। विवश होकर सिंह से उस गाय को छोड़ देने के लिए नाना प्रकार से अनुनय करते हैं पर सिंह जब किसी भी तरह उसे छोड़ने को तैयार नहीं होता तो उस गाय के बदले अपना शरीर उसे देने के लिये तैयार हो जाते हैं। इसी बात पर सिंह दिलीप से कहता है कि)—

(हे राजन् ! यदि आप) एक ही धेनुवाले, (अतएव उसके विनाश के) अपराध के कारण अत्यन्त ही क्रुद्ध (साक्षात्) अग्निस्वरूप गुरु (वशिष्ठ) से डरते हैं (कि गुरु जी क्रुद्ध हो जायेंगे)। अतः उन्हें प्रसन्न रखने के लिए अपने प्राणों का उत्सर्ग कर देना चाहते हैं, तो यह ठीक नहीं क्योंकि (एक गाय के बदले में) घटों के समान थनों (स्तनों) वाली करोड़ों गायें प्रदान कर उनका क्रोध आप (बड़ी सरलता से) दूर कर सकते हैं। (अर्थात् उन्हें यदि एक गाय के बदले करोड़ों गायें मिल जायेंगी तो उनका गुस्सा अपने आप रफूचक्कर हो जायगा)॥ १२३ ॥

इति सिंहस्याभिधातुमुचितमेव, राजोपहासपरत्वेनाभिधीयमानत्वात्। राज्ञः पुनरस्य निजयशःपरिरक्षणपरत्वेन तृणवल्लघुवृत्तयः प्राणाः प्रतिभासन्ते। तस्यैतत्पूर्वपक्षोत्तरत्वेन—

ऐसा सिंह का कथन तो राजा का मजाक उड़ाने के लिये कहे जाने के औचित्य युक्त ही है। और फिर (इस सिंह के कथन से) इस राजा दिलीप के तुच्छ वृत्ति वाले प्राण अपने यश की भलीभाँति रक्षा करने में तत्पर होने से तृण के समान (तुच्छ) प्रतीत होते हैं। (अतः यह सिंह का कथन औचित्य युक्त है)। इस प्रश्न के उत्तर रूप में (कहा गया) उस (राजा दिलीप) का यह (कथन)—

कथं च शक्यानुनयो महर्षिर्विश्राणनादन्यपयस्विनीनाम्।
इमां तनूजां सुरभेरवेहि रुद्रौजसा तु प्रहृतं त्वयास्याम्॥ १२४॥

(कि इस नन्दिनी गाय के बदले में) दूसरी (करोड़ों) दुधारी (गायों) को प्रदान करने से (भी) महर्षि वशिष्ठ का क्रोध रहित (शक्यानुनय) कैसे होंगे। क्योंकि इस (नन्दिनी गाय) को तुम सुरभि (कामधेनु) की तनया समझो। (यह उससे कुछ भी कम नहीं है अर्थात् कामनाओं की पूर्ति यह भी करने वाली है। अतः अन्य गायें इसकी समानता में कैसे आ सकती हैं और (फिर) तुमने (भी) इस (गाय) पर (अपने प्रभाव से नहीं बल्कि) भगवान् शङ्कर के तेज से प्रहार किया है॥ १२४॥

इत्यन्यासां गवां तत्प्रतिवस्तुप्रदानयोग्यता यदि कदाचित्सम्भवति ततस्तस्य मुनेर्मम चोभयोरप्येतज्जीवितपरिक्षणनैरपेक्ष्यमुपपन्नमिति तात्पर्यवसानादत्यन्तमनौचित्ययुक्तेयमुक्तिः।

यथा च कुमारसम्भवे त्रैलोक्याक्रान्तिप्रवणपराक्रमस्य तारकाख्यस्य रिपोर्जिगीषावसरे सुरपतिर्मन्मथेनाधीयते—

(इस राजा के कथन का) यदि कहीं अन्य गायों में उस (नन्दिनी) के साथ विनिमय की योग्यता सम्भव होती तो इस (नन्दिनी गाय) के जीवन

की रक्षा की अपेक्षा न मुनि ही को और न हमें ही, दोनों (में से किसी) को भी न होती (अर्थात् यदि मैं यहाँ गुरु वशिष्ठ की आज्ञा रूप अपने इस गाय के रक्षा रूप, कर्तव्य का पालन कर रहा हूँ तो केवल विवश होकर ही क्योंकि मैं इस गाय का बदला नहीं चुका सकता हूँ, अन्यथा कर्तव्य का पालन न करता) इस प्रकार के तात्पर्य में (इस श्लोक के) पर्यवसित होने से (राजा का) यह कथन अत्यन्त ही अनौचित्य से युक्त है।

अथवा जैसे (प्रबन्ध काव्य के किसी एक प्रकरण के अनौचित्य का दूसरा उदाहरण (कुमार सम्भवमें—तीनों लोकों को आक्रान्त करने में तत्पर तारक नामक (राक्षस रूप) शत्रु को जीतने की इच्छा (से ब्रह्मा के कथनानुसार कि यदि किसी प्रकार से शङ्कर का विवाह हो जाय तो उनके वीर्य से उत्पन्न उनका पुत्र ही उस राक्षस का वध करने में समर्थ होगा। अतः शङ्कर की समाधि भङ्ग करने के लिये इन्द्र के द्वारा कामदेव के बुलाये जाने) के समय कामदेव इन्द्र से इस प्रकार कहता है कि—

कामेकपत्नीं व्रतदुःखशीलां लोलं मनश्चारुतया प्रविष्टाम्।
नितम्बिनीमिच्छसि मुक्तलज्जां कण्ठे स्वयंग्राहनिषक्तबाहुम्॥ १२५॥

पतिव्रत धर्म के कारण कठोर स्वभाव वाली (पातिव्रत के पालन में दृढ़ सङ्कल्प, लेकिन) सौन्दर्य के कारण (आपके) लालची चित्त में समाई हुई, किस (प्रशस्त नितम्ब वाली) सुन्दरी को (हमारे प्रभाव से) लज्जाहीन बनाकर स्वयं आपके कण्ठ में डाले हुए बाहुपाश वाली (बनाना) चाहते हैं॥ १२५॥

इत्यविनयानुष्ठाननिष्ठं त्रिविष्टपाधिपत्यप्रतिष्ठितस्यापि तथाविधाभिप्रायानुवर्तनपरत्वेनाभिधीयमानमनौचित्यमावहति। एतच्चैतस्यैव कवेः सहजसौकुमार्यमुद्रितसूक्तिपरिस्पन्दसौन्दर्यस्य पर्यालोच्यते, न पुनरन्येषामाहार्यमात्रकाव्यकरणकौशलश्लाघिनाम्। सौभाग्यमपि पदवाक्यप्रकरणप्रबन्धानां प्रत्येकमनेकाकारकमनीयकारणकलापकलितरामणीयकानां किमपि सहृदयहृदयसंवेद्यं काव्यैकजीवितमलौकिकचमत्कारकारि संवलितानेकरसास्वादसुन्दरं सकलावयवव्यापकत्वेन काव्यस्य गुणान्तरं परिस्फुरतीत्यलमतिप्रसङ्गेन।

(इस प्रकार कामदेव का) स्वर्ग के आधिपत्य पर प्रतिष्ठित भी (इन्द्र) का उस प्रकार के (परस्त्री के सतीत्व का अपहरण रूप) अभिप्राय के अनुरोध रूप में कहा जाता हुआ, उच्छृङ्खलता के आचरण से सम्बन्धित यह कथन अत्यन्त अनौचित्य से पूर्ण है। और यह भी स्वाभाविक सुकुमारता

से मुद्रित सूक्तियों के विलासों के सौन्दर्य वाले इसी (श्रेष्ठ) कवि (कालिदास) की सूक्ष्म आलोचना की जा रही है, न कि केवल (व्युत्पत्ति एवं अभ्यास के बलपर) बनावटी (अस्वाभाविक) काव्य-निर्माण की कुशलता से प्रशंसा के पात्र बनने वाले अन्य (ऐरे गैरे पंचकल्यानी) कवियों की सूक्ष्म आलोचना की जा रही है (क्योंकि उनमें तो इतनी सूक्ष्मता से पर्यवेक्षण के विना ही दोष मिल जायेंगे) ।

नाना प्रकार के मनोहर कारण समुदाय से उत्पन्न सौन्दर्यवाले, पद, वाक्य, प्रकरण एवं प्रबन्धों में हर एक का (अलग-अलग केवल) सहृदयों के हृदयों के द्वारा अनुभव किया जाने वाला काव्य का केवल प्राणभूत, अलौकिक आनन्द को प्रदान करनेवाला (काव्य में कवि द्वारा) सन्निविष्ट अनेक (शृङ्गारादि) रसों (की चर्वणा) के आस्वाद से रमणीय कोई (अनिर्वचनीय) सौभाग्य (नाम का) दूसरा गुण भी काव्य के समस्त अङ्गों में व्यापक रूप से प्रकाशित होता है। (अतः सहृदय ही उसका अनुभव कर सकते हैं।) इसलिये अति प्रसङ्ग (अर्थात् इसके अधिक विवेचन से कोई लाभ नहीं है ।

इदानीमेतदुपसंहृत्यान्यदवतारयति—

मार्गाणां त्रितयं तदेतदसकृत्प्राप्त्यपर्युत्सुकैः
क्षुण्णं कैरपि यत्र कामपि भुवं प्राप्य प्रसिद्धिं गताः ।
सर्वे स्वैरविहारहारि कवयो यास्यन्ति येनाधुना
तस्मिन् कोऽपि स साधु सुन्दरपदन्यासक्रमः कथ्यते ॥५८॥

इस प्रकार (अब तक प्रथम उन्मेष में मार्गों के, स्वरूप एवं उनके गुणों का विवेचन कर) अब इस (विवेचन) का उपसंहार करके (द्वितीय उन्मेष में विवेचित किये जाने वाले वर्णविन्यास क्रम आदि) दूसरे (प्रकरण) को अवतरित करते हैं—

प्रयोजन विशेष की प्राप्ति के लिए उत्कण्ठित कुछ महाकवियों के द्वारा मार्गों की यह त्रयी बार-बार संसेवित होती रही है । उनमें से कुछ भाग्यशाली महाकवियों ने अद्भुत सफलता प्राप्त करके ख्याति अर्जित की है। भविष्य में भी सभी कविगण स्वेच्छापूर्वक विहार के कारण रमणीय (मार्गत्रयी) पर चलेंगे। इसी हेतु अब इस मार्गत्रयी के विषय में सुन्दर पदों के सन्निवेश की अद्भुत परम्परा का सम्यग् विश्लेषण किया जायगा ॥५८॥

मार्गाणां सुकुमारादीनामेतत्त्रितयं कैरपि महाकविभिरेव, न सामान्यैः, प्राप्तव्यपर्युत्सुकैः प्राप्योत्कण्ठितैरसकृत् बहुवारमभ्यासेन क्षुण्णं परिगमितम्। यत्र यस्मिन् मार्गत्रये कामपि भुवं प्राप्य प्रसिद्धिं गताः लोकोत्तरां भूमिमासाद्य प्रतीतिं प्राप्ताः। सर्वे कवयस्तस्मिन्मार्गत्रितये येन यास्यन्ति गमिष्यन्ति स्वैरविहारहारि स्वेच्छाविहरणरमणीयं स कोऽपि अलौकिकः साधु शोभनं कृत्वा सुन्दरपदन्यासक्रमः कथ्यते सुभगसुप्तिङन्तसमर्पणपरिपाटीविन्यासो वर्ण्यते। मार्गस्वैरविहारपद-प्रभृतयः शब्दाः श्लेषच्छायाविशिष्टत्वेन व्याख्येयाः।

इति श्रीराजानककुन्त कविरचिते वक्रोक्तिजीविते
काव्यालंकारे प्रथम उन्मेषः।

सुकुमारादि मार्गों की त्रयी किसी-किसी के द्वारा अर्थात् महाकवियों के ही द्वारा—सामान्य कवियों के द्वारा नहीं, जो कि उद्देश्य के प्रति उत्सुक थे याने काव्यप्रयोजनों के प्रति उत्कण्ठावान् थे, बार-बार अर्थात् अनेकशः अभ्यास के द्वारा सेवित होती रही है अर्थात् ग्रहण की जाती रही है। जिस मार्गत्रयी में (उनमें से कुछ) सफलता की ऊँची भूमिका को प्राप्त करके प्रसिद्ध हो चले अर्थात् सर्वश्रेष्ठ स्थान को प्राप्त करके सर्वप्रिय बन चले। अब सभी कवि उसी मार्गत्रयी में जिस कारण से लगे रहेंगे अर्थात् उन्हीं मार्गों से चलते रहेंगे, स्वेच्छा विहार के कारण मनोहारी अर्थात् अपनी इच्छा से मार्गचयन और उसके ग्रहण-त्याग आदि का स्वातन्त्र्य-लाभ करके एक विचित्र रमणीयता ले आते हुए उस अनिर्वचनीय अर्थात् लोकोत्तर सुन्दर पदों के विन्यास के क्रम को बताया जायगा अर्थात् मनोहारी सुबन्त और तिङन्त के प्रस्तुत करने की परिपाटी का विन्यास बहुत ही अच्छे ढङ्ग से वर्णित किया जायगा। मार्ग, स्वैरविहार, पद आदि शब्द यहाँ पर श्लेष की सुन्दरता के वैशिष्टच की दृष्टि से समझे जाने चाहिए।

इस प्रकार श्री राजानक कुन्तक द्वारा विरचित काव्य के
अलङ्कारग्रन्थ वक्रोक्तिजीवित का
प्रथम उन्मेष समाप्त हुआ।



द्वितीयोन्मेषः

सर्वत्रैव सामन्यलक्षणे विहिते विशेषलक्षणं विधातव्यमिति काव्यस्य "शब्दार्थौ सहितौ" इत्यादि (१।७) सामान्यलक्षणं विध । तदवयवभूतयोः शब्दार्थयोः साहित्यस्य प्रथमोन्मेष एव विशेषलक्षणं विहितम् । इदानी प्रथमोद्दिष्टस्य वर्णविन्यासवक्रत्वस्य विशेष-लक्षणमुपक्रमते—

सभी स्थानों पर (शास्त्रों में किसी भी वस्तु का) सामान्य लक्षण करके विशेष लक्षण करना चाहिए (ऐसा नियम है) इसलिए (प्रथम उन्मेष की ७ वीं कारिका में) काव्य का 'शब्दार्थौ सहितौ इत्यादि' ऐसा सामान्य लक्षण करने के उपरान्त (विशेष लक्षण करते समय) उस (काव्य लक्षण) के अवयव रूप शब्द और अर्थ के साहित्य (सहभाव) का विशेष लक्षण प्रथम उन्मेष (कारिका सं० १६ एवं १७) में ही किया जा चुका है। अब (इस द्वितीय उन्मेष में, प्रथम उन्मेष की १९ वीं कारिका में) पहले उद्दिष्ट किये गये (अर्थात् जिसका केवल नाममात्र से सङ्कीर्तन किया गया था उसी) 'वर्ण विन्यास के वक्रभाव' के विशेष लक्षण को प्रारम्भ करने जा रहे हैं—

एको द्वौ बहवो वर्णा बध्यमानाः पुनः पुनः ।
स्वल्पान्तरास्त्रिधा सोक्ता वर्णविन्यासवक्रता ॥ १ ॥

(जहाँ थोड़े थोड़े व्यवधान वाले; एक, दो अथवा बहुत से व्यञ्जन (वर्ण) अनेकशः संयोजित (किए जाते हैं) वह तीन प्रकार की 'वर्णविन्यास-वक्रता' मानी गई है ॥ १ ॥

वर्णशब्दोऽत्र व्यञ्जनपर्यायः, तथा प्रसिद्धत्वात्। तेन सा वर्ण-विन्यासवक्रता व्यञ्जनविन्यासनविच्छित्तिः त्रिधा त्रिभिः प्रकारै-रुक्ता वर्णिता। के पुनस्ते त्रयः प्रकारा इत्युच्यते—एकः केवल एव, कदाचिद् द्वौ बहवो वा वर्णाः पुनः पुनर्बध्यमाना योज्यमानाः। कीदृशा —स्वल्पान्तराः। स्वल्पं स्तोकमन्तरं व्यवधानं येषां ते तथोक्ताः। त एव त्रयः प्रकारा इत्युच्यन्ते। अत्र वीप्सया पुनः पुनरित्ययोग-व्यवच्छेदपरत्वेन नियमः, नान्ययोगव्यवच्छेदपरत्वेन। तस्मात्पुनः पुनर्बध्यमाना एव, न तु पुनः पुनरेव बध्यमाना इति।

यहाँ (उक्तकारिका में) 'वर्ण' शब्द 'व्यञ्जन' के पर्याय रूप में प्रयुक्त हुआ है ऐसा (काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में) प्रसिद्ध होने से। अतः वह वर्णविन्यासवक्रता अर्थात् व्यञ्जनों के विशेष ढङ्ग के संयोजन की रमणीयता तीन भेदों द्वारा कही गई अर्थात् (अलङ्कारशास्त्र के ग्रन्थों में या प्रस्तुत ग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवित' में तीन प्रकार की वर्णित की गई है। आखिर वे तीन भेद हैं कौन से ? यह बताते हैं—(कभी) एक अर्थात् केवल (अकेला व्यञ्जन) ही कभी दो अथवा (कभी) बहुत से व्यञ्जन अनेकशः उपनिबद्ध किये जाते अथवा संयोजित किए जाते हैं। कैसे (व्यञ्जन)-स्वल्प अन्तर वाले। स्वल्प अर्थात् बहुत ही कम अन्तर अर्थात् बीच या फासला (व्यवधान) होता है जिनका वे हुए तथोक्त (अत्यल्प व्यवधान वाले वर्ण)। वे ही (अर्थात् कभी एक एक वर्णों का, कभी दो दो और कभी बहुत से वर्णों का बार बार विन्यास, वर्णविन्यास वक्रता के) तीन भेद हैं—ऐसा कहे जाते हैं। यहाँ (इस कारिका में) दुहराने से (वीप्सा) 'पुनः पुनः' इस (शब्द) के द्वारा 'अयोगव्यवच्छेदपरक' नियम (का विधान किया गया) है न कि 'अन्ययोगव्यवच्छेदपरक' नियम का।

टिप्पणी—विवेचकों ने 'एवं' शब्द के तीन रूप बताये हैं—

(१) अयोगव्यवच्छेदपरक (२) अन्ययोगव्यवच्छेदपरक और (३) अत्यन्तायोगव्यवच्छेदपरक-जैसा प्रतिपादित भी किया गया है कि—

अयोगमन्ययोगञ्चात्यन्तायोगमेव च।
व्यवच्छिनत्ति धर्मस्य एवकारस्त्रिधा मतः॥ इति॥

ऊपर व्याख्या में आचार्य कुन्तक ने इन तीन रूपों में से दो का उल्लेख किया है। यद्यपि पुनः पुनः के साथ 'एव' शब्द का प्रयोग नहीं है किन्तु वीप्सा (द्विरुक्ति) के द्वारा उन्होंने 'अयोगव्यवच्छेदपरक' नियम की सूचना दी है। अयोग अर्थात् असबन्ध का अवच्छेद करने वाला। जब एव का प्रयोग विशेषण के साथ होता है तो वह अयोग का व्यवच्छेदक होता है जैसे—'राम पुरुषोत्तम एव'—यहाँ पर 'राम' विशेष्य और 'पुरुषोत्तम' विशेषण है। एव का विशेषण के साथ प्रयोग यह सूचित करता है कि विशेष्य राम में विशेषण पुरुषोत्तम का (अयोग) अर्थात् सम्बन्धाभाव नहीं है, अर्थात् 'राम पुरुषोत्तम ही है' इस प्रकार राम के पुरुषोत्तम होने का नियमन करता है। लेकिन जब एव का प्रयोग विशेष्य के साथ होता है तो वह 'अन्ययोग का व्यवच्छेदक' होता है। जैसा 'राम एव पुरुषोत्तमः'—यहाँ पर एवकार अन्ययोग का व्यवच्छेदक है अर्थात् 'राम ही पुरुषोत्तम है' दूसरा कोई नहीं।

जब एवकार का प्रयोग क्रिया के साथ होता है तो अत्यन्तायोग का व्यवच्छेदक होता है। जैसे 'नीलं कमलं भवत्येव' में अत्यन्तायोग का व्यवच्छेद है अर्थात् सभी कमल नीले होते हैं ऐसी बात नहीं और न कमल से भिन्न अन्य पदार्थ ही नीले न होते हों ऐसी भी बात नहीं है बल्कि कोई कोई कमल नीला होता हैं। इस अर्थ को एवकार प्रस्तुत करता है। यहाँ कुन्तक ने अयोग व्यवच्छेद बताया है अर्थात् व्यञ्जन बार बार उपनिबद्ध होकर ही वर्णविन्यास वक्रता को प्रस्तुत करते हैं।

यत्रैकव्यञ्जननिबद्धोदाहरणं यथा—

धम्मिल्लो विनिवेशिताल्पकुसुमः सौन्दर्यधुर्यं स्मितं
विन्यासो वचसां विदग्धमधुरः कण्ठे कलः पञ्चमः।
लीलामन्थरतारके च नयने यातं विलासालसं
कोऽप्येवं हरिणीदृशः स्मरशरापातावदातः क्रमः ॥ १ ॥

वहाँ (उन तीन प्रकारों में से पहले प्रकार) एक व्यञ्जन के द्वारा निबद्ध (वर्ण विन्यास वक्रता) का उदाहरण जैसे—

विशेष रूप से गुंथे गये पुष्पों से युक्त जूड़ा, सुन्दरता के बोझ का वहन करने वाली मुस्कान, कौशलपूर्ण एवं मनोहर वाणी का विन्यास, कण्ठ में मधुर एवं धीमा पञ्चम (स्वर), विलास के कारण सुस्त पुतलियों से युक्त नयन, हावभाव के कारण धीमी चाल, (इत्यादि) इस प्रकार का उस मृगाक्षी का मदन के बाणों के प्रहार से सुन्दर कोई अपूर्व ही ढङ्ग हो गया है ॥ १ ॥

टिप्पणी—उक्त पद्य के प्रथम चरण में म्, ल्, व् और य् व्यञ्जनों का तथा दूसरे चरण में व्, स्, ध् एवं क् वर्णों का, तीसरे में ल्, र, न, य एवं स् वर्णों का तथा चतुर्थ चरण में र्, श्, एवं त् वर्णों का अलग-अलग अनेकधा विन्यास हुआ है। अतः यहाँ एक व्यञ्जन का पुनः पुनः विन्यास—रूप वर्णविन्यास वक्रता का पहला भेद है।

एकस्य द्वयोर्बहूनां चोदाहरणं यथा—

भग्नैलावल्लरीकास्तरलितकदलीस्तम्बताम्बूलजम्बू-
जम्बीरास्तालतालीसरलतरलतालासिका यस्य जह्नुः।
वेल्लत्कल्लोलहेला बिसकलनजडाः कूलकच्छेषु सिन्धोः
सेनासीमन्तिनीनामनवरतरताभ्यासतान्ति समीराः ॥ २ ॥

एक, दो एवं बहुत से वर्णों (के अनेक बार विन्यास रूप वर्णविन्यास वक्रता के तीनों ही भेदों) का (एक ही) उदाहरण जैसे—

इलायची की मंजरियों को तोड़ देने वाली, केलों के धौदों, पान जामुन तथा नींबुओंको चञ्चल बना देने वाली ताड़, ताड़ी, एवं बहुत ही सरल लताओं को लास्य कराने वाली, उठती हुई लहरों के विलास के खण्डित करने के कारण ठंढी हवायें, समुद्र के किनारे के कछारों में जिसकी सेना की स्त्रियों की निरन्तर सम्भोगजन्य थकावट को दूर कर देती थी।

टिप्पणी—उक्त पद्य में कुन्तक ने वर्णविन्यासवक्रता के तीनों भेदों का उदाहरण प्रस्तुत किया है। उनमें पहले भेद का स्वरूप जैसे—(अ) प्रथम चरण में 'ल्' अकेले वर्ण का अनेक बार प्रयोग। (ब) तृतीय चरण में 'ल्' ही अकेले वर्ण का चार बार प्रयोग। यथा (स) चतुर्थ चरण में केवल 'स' का ४ बार प्रयोग।

दूसरे भेद का स्वरूप जैसे—(अ) द्वितीय चरण में 'ताल ताली' में त् एवं ल् की दो बार आवृत्ति, (ब) तृतीय चरण में वेल्लत्कल्लोल में 'ल्ल' दो व्यञ्जनों की दो बार आवृत्ति तथा क्ल् की 'कल्लोल' 'विसकलन' एवं कूलकच्छेषु में तीन बार आवृत्ति तथा (स) चतुर्थ चरण में 'रतरताभ्यास' में र् त् की दो बार आवृत्ति।

तीसरे भेद का स्वरूप जैसे—(अ) प्रथम चरण के 'स्तम्भ ताम्बूल' में त् म् ब् की एक साथ दो बार आवृत्ति तथा 'जम्बू जम्बारा' में ज् म् ब् की एक साथ दो बार आवृत्ति एवं (ब) द्वितीय चरण के 'सरलतरलता' में र् ल् त् की एक साथ दो बार आवृत्ति।

इस प्रकार इस श्लोक में वर्णविन्यालवक्रता के तीनों भेदों के उदाहरण उपलब्ध हो जाते हैं।

एतामेव वक्रतां विच्छित्त्यन्तरेण विविनक्ति—

वर्गान्तयोगिनः स्पर्शा द्विरुक्तास्त-ल-नादयः।
शिष्टाश्च रादिसंयुक्ताः प्रस्तुतौचित्यशोभिनः॥ २॥

(अब) इसी (वर्णविन्यासवक्रता) की दूसरी विच्छित्ति से प्रतिपादित करते हैं—वर्ण्यमान वस्तु के औचित्य से शोभित होने वाले (१) (अपने अपने) वर्ग में अन्त (अन्तिम वर्ण) से युक्त (क से म पर्यन्त के) स्पर्श (वर्ण), (२) दो बार कहे गये (द्विरुक्त) त, ल, एवं न आदि (वर्ण), एवं (३) र आदि (वर्णों) से संयुक्त शेष (सभी वर्ण पुनः पुनः आवृत्त होकर इस वर्णविन्यासवक्रता के, तीन अन्य भेद कर देते) हैं॥ २॥

इयमपरा वर्णविन्यासवक्रता त्रिधा त्रिभिः प्रकारैरुक्तेति 'च'-शब्देनाभिसम्बन्धः। के पुनरस्यास्त्रयः प्रकारा इत्याह—वर्गान्तयोगिनः स्पर्शाः। स्पर्शाः कादयो मकारपर्यन्ता वर्गास्तदन्तैः ङकारादिभिर्योगः संयोगो येषां ते तथोक्ताः, पुनः पुनर्बध्यमानाः—प्रथमः प्रकारः। त-ल-नादयः तकार-लकार-नकार-प्रभृतयो द्विरुक्ता द्विरुच्चारिता द्विगुणाः सन्तः, पुनः पुनर्बध्यमानाः—द्वितीयः। तद्व्यतिरिक्ताः शिष्टाश्च व्यञ्जनसञ्ज्ञा ये वर्णास्ते रेफप्रभृतिभिः संयुक्ताः पुनः पुनर्बध्यमानाः—तृतीयः। स्वल्पान्तराः परिमितव्यवहिता इति सर्वेषामभिसम्बन्धः। ते च कीदृशाः—प्रस्तुतौचित्यशोभिनः। प्रस्तुतं वर्ण्यमानं वस्तु तस्य यदौचित्यमुचितभावस्तेन शोभन्ते ये ते तथोक्ताः। न पुनर्वर्णसावर्ण्यव्यसनितामात्रेणोपनिबद्धाः प्रस्तुतौचित्यम्लानकारिणः। प्रस्तुतौचित्यशोभित्वात् कुत्रचित्परुषरस-प्रस्तावे तादृशानेवाभ्यनुजानाति।

यह दूसरी वर्णविन्यासवक्रता तीन भेदों से कही गई है—ऐसा सम्बन्ध (इस कारिका में प्रयुक्त) 'च' शब्द से है। इस (दूसरी वर्णविन्यास-वक्रता) के आखिर वे तीन भेद हैं कौन कौन से यह बताते हैं—वर्ग के अन्त (अन्तिम वर्ण से) संयुक्त स्पर्श (वर्ण)। 'क' से लेकर 'म' पर्यन्त के वर्ग (अर्थात् कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग एवं पवर्ग) उनके अन्त ङकारादि (क्रम से ङ, ञ, ण, न एवं म) से जिनका संयोग हो, वे हुए तथोक्त (वर्गान्त से संयुक्त स्पर्श वर्ण), (वे जहाँ) बार बार (थोड़े अन्तर से) उपनिबद्ध (किये जाते) हैं—(वह) पहला भेद (हुआ)। त, ल, न, आदि अर्थात् तकार, लकार एवं नकार आदि (वर्ण) द्विरुक्त अर्थात् दो बार उच्चारित होकर, दुगुने होकर, बार बार (जहाँ थोड़े अंतर से) उपनिबद्ध (होते) हैं, (वहाँ) दूसरा भेद (हुआ)। उनसे भिन्न शेष सभी व्यञ्जन सञ्ज्ञा वाले जो वर्ण हैं वे रेफादि (रकारादि) से संयुक्त रूप में बार-बार (थोड़े अंतर से जहाँ) उपनिबद्ध होते हैं। (वह) तीसरा (भेद हुआ)। (इन) सभी (भेदों में प्रयुक्त व्यञ्जनों) का स्वल्प अंतर वाले अर्थात् परिमित व्यवधान वाले (होकर ही पुनः पुनः प्रयुक्त होने) के साथ सम्बन्ध है। (अर्थात् सभी भेदों में बताये गये क्रम के अनुसार थोड़े ही थोड़े व्यवधान से बार-बार आवृत्ति होनी चाहिए)। वे वर्ण कैसे होने चाहिए—प्रस्तुत के औचित्य से शोभित होने वाले। प्रस्तुत का अर्थ है वर्ण्यमान वस्तु उसका जो औचित्य अर्थात् उचितभाव है उसके द्वारा जो शोभित होते हैं वे हुए तथोक्त (प्रस्तुत के औचित्य से शोभित होने वाले वर्ण)। (कहने का अभि-

प्राय यही है कि (केवल वर्णों की अनुरूपता (लाने) के चक्के से ही उप-निबद्ध किये गये, (वर्ण जो कि) प्रस्तुत (वस्तु के अनुरूप न होने से उसके) औचित्य को दूषित करने वाले (हैं उनका प्रयोग) नहीं अभीष्ट है। (अर्थात् रस से अनुकूल ही वर्णों का प्रयोग करना चाहिए न कि शृङ्गार आदि कोमल रसों के प्रसंग में भी 'टकारादि' कठोर वर्णों का विन्यास। हाँ) कही कहीं (रौद्रादि) पुरुष रसों का प्रकरण होने पर (कवि अथवा सहृदय) उसी प्रकार के कठोर वर्णों को पसन्द करता है। (क्यों कि वहाँ पर वे कठोर वर्ण उस पुरुष रस के औचित्य के अनुरूप होने से अत्यन्त ही शोभित होते हैं)।

अथ प्रथमप्रकारोदाहरणं यथा—

उन्निद्रकोकनदरेणुपिशङ्गिताङ्गा
गुञ्जन्ति मञ्जु मधुपाः कमलाकरेषु।
एतच्चकास्ति च रवेर्नवबन्धुजीव-
पुष्पच्छदाभमुदयाचलचुम्बि बिम्बम्॥ ३॥

अब पहले (अपने वर्ग के अन्त से संयुक्त स्पर्श वर्णों की पुनः पुनः आवृत्ति रूप) भेद का उदाहरण (देते हैं। जैसे—

विकसित लाल कमलों की पुष्पधूलि से पीत वर्ण हो गए अंगों वाले भ्रमर कमलों के उद्भवस्थानों (अर्थात् तालाबों) में मनोहर गुञ्जार कर रहे हैं। एवम् उदयागिरि का चुम्बन (स्पर्श) करने वाला तथा नवीन बन्धुजीव (जपाकुसुम) के पुष्प पटल के सदृश कान्ति वाला (लाल वर्ण का) यह सूर्य मण्डल प्रकाशित हो रहा है॥ ३॥

टिप्पणी—उक्त श्लोक में पिशङ्गिताङ्गा, गुञ्जन्ति मञ्जु, चुम्बि एवं बिम्बम् में क्रमशः स्पर्श वर्ण ग, ग, ज, ज, यथा ब एवं ब अपने वर्ग के अन्तिम वर्णों से संयुक्त होकर दो दो बार आवृत्ति हुए हैं। अतः यह वर्णविन्यास-वक्रता के पहले भेद का उदाहरण हुआ। यहाँ आचार्य विश्वेश्वर जी ने उन्निद्र एवं बन्धु शब्द को भी उद्धृत किया है शायद विवेचन करते समय वे 'पुनः पुनर्बध्यानाः' नियम को भूल गये थे। क्योंकि इन दो पदों में प्रयुक्त 'न्न' एवं 'न्ध' की पुनरावृत्ति ही नहीं होती है।

यथा च—

कदलीस्तम्बताम्बूलजम्बूजम्बीराः इति॥ ४॥

और जैसे (इसी का दूसरा उदाहरण पूर्वोदाहृत २।२ पद्य 'भग्नैला-बल्लरीकाः' के प्रथम चरण का उत्तरार्ध)

कदलीस्तम्बताम्बूलजम्बूजम्बीराः ॥ ४ ॥

(यहाँ स्पर्श वर्ण 'ब' अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण 'म' के साथ संयुक्त होकर ४ बार आवृत्त हुआ है ।)

यथा वा —

सरस्वतीहृदयारविन्दमकरन्दबिन्दुसन्दोहसुन्दराणाम् इति ॥ ५ ॥

द्वितीयप्रकारोदाहरणम् —

प्रथममरुणच्छायः ॥ ६ ॥

इत्यस्य द्वितीयचतुर्थौ पादौ ।

तृतीयप्रकारोदाहरणमस्यैव तृतीयः पादः ।

अथवा जैसे—आचार्य कुन्तक की अपनी ही प्रथम उन्मेष की १६ वीं कारिका की वृत्ति का निम्न अंश—)

सरस्वतीहृदयारविन्दमकरन्दविन्दुसन्दोहसुन्दराणाम् ॥ ५ ॥

(यहाँ पर स्पर्श वर्ण 'द' अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण 'न' के साथ संयुक्त होकर ५ बार आवृत्त हुआ है । अतः यह भी प्रथम भेद का उदाहरण है ।

(अब) दूसरे भेद (द्विरुक्त त, ल, न आदि की पुनः पुनः आवृत्ति) का उदाहरण जैसे—

(पूर्वोदाहृत उदाहरण संख्या १।४१) प्रथममरुणच्छायः ॥ ६ ॥ इस (श्लोक) का द्वितीय तथा चतुर्थ चरण ।

टिप्पणी —उक्त पद्य का द्वितीय चरण है—

तदनु विरहोत्ताम्यत्तन्वीकपोलतलद्युतिः ।

यहाँ पर 'विरहोत्ताम्यत्तन्वी' में तकार के द्वित्व का दो बार प्रयोग हुआ है । अतः यह दूसरे भेद का उदाहरण हुआ ।

तथा इस पद्य का चतुर्थ चरण है—

सरसबिसिनीकन्दच्छेदच्छविर्मृगलाञ्छनः ।

यहाँ पर यद्यपि न तो त, ल एवं न में से ही किसी का द्वित्व हुआ है और न प्रयुक्त छ अथवा च् का ही द्वित्व हुआ है । अपितु यहाँ 'छेच' सूत्र से तुक् का आगम, अनुवन्धलोप एवं श्चुत्व होकर त् का च् हो गया है । फिर भी कुन्तक ने इसे यहाँ उदाहृत किया है । इसके दो विशेष कारण

हैं—(क) आदि शब्द से त, ल एवं न से भिन्न भी छ, ध आदि वर्णों का ग्रहण होता है। तथा (२) द्वित्व से यहाँ उसी वर्ण का द्वित्व ही नहीं अभिप्रेत है अर्थात् छ के साथ छ का ही द्वित्व हो ऐसा विधान नहीं। अपितु उस वर्ण का उच्चारण द्वित्व की भाँति होना चाहिए। जैसे जब हम 'कन्दच्छेदच्छविः' का उच्चारण करते हैं तो हमारा उच्चारण एसा होता है मानों कन्दछ्छेदछ्छविः' का उच्चारण किया जा रहा है इस प्रकार सुनने में एक अपूर्व आनन्द की उपलब्धि होती है। इसलिये यह वर्णविन्यासवक्रता के दूसरे भेद के रूप में उद्धृत हुआ है।

(वर्णविन्यासवक्रता के) तृतीय भेद (र आदि से संयुक्त शेष वर्णों की पुनः पुनः आवृत्ति) का उदाहरण इसी (प्रथममरुणच्छायः ॥ ६ ॥ श्लोक) का तृतीय चरण है।

टिप्पणी—इसका तृतीय चरण निम्न है:—

प्रसरति ततो ध्वान्तक्षोदक्षमः क्षणदामुखे ॥

यहाँ भी र आदि से ष आदि का भी ग्रहण होता है। इसी लिये यहाँ पर क् एवं ष् के संयुक्त रूप (क्ष) का तीन बार प्रयोग होने से इसे वर्णविन्यासवक्रता के तीसरे भेद के उदाहरण रूप में उद्धृत किया गया है।

आचार्य विश्वेश्वर जी ने इस उदाहरण की व्याख्या करने में पुनः इसी उन्मेष के तीसरे उदाहरण की व्याख्या वाली भूल की है। उन्होंने 'प्र' और 'ध्व' में भी वक्रता दिखाने का असफल प्रयास किया है जिनको कि एक बार भी आवृत्ति नहीं हुई है।

यथा वा—

सौन्दर्यधुर्यं स्मितम् ॥ ७ ॥

यथा च—

'कह्लार'-शब्दसाहचर्येण 'ह्लाद'-शब्दप्रयोगः ।

अथवा जैसे (इस तृतीय भेद का दूसरा उदाहरण पूर्वोदाहृत २।१ श्लोक के प्रथम चरण का अन्तिम भाग—)

सौन्दर्यधुर्यं स्मितम् ॥ ७ ॥

(यहाँ य का र् के साथ सयुक्त रूप में दो बार प्रयोग हुआ है) अतः तृतीय भेद के उदाहरण रूप में उद्धृत किया गया है। और जैसे 'कह्लार' शब्द के साथ 'ह्लाद' शब्द का प्रयोग। अर्थात् यहाँ पर ल के साथ ह् का संयोग दो बार आवृत्त होकर तीसरे वर्णविन्यास-वक्रता के भेद का उदाहरण बन जाता है।

परुषरस-प्रस्तावे तथाविधसंयोगोदाहरणं यथा —

उत्ताम्यत्तालवश्च प्रतपति तरणावांशवीं तापतन्द्री-
मद्रिद्रोणीकुटीरे कुहरिणि हरिणारातयो यापयन्ति ।।८।।

परुष (कठोर भयानक) रस का प्रकरण होने पर उसी प्रकार के (परुष वर्णों के) संयोग का उदाहरण। जैसे—

सूर्य के खूब तपने पर (अर्थात् दोपहर के समय) सूखती हुई तालुओं वाले मृगों के शत्रु सिंह (सूर्य की) किरणों के सन्ताप से उत्पन्न नींद को कुहरों वाले पर्वत की घाटियों रूपी कुटीरों में बिताते हैं ।। ८ ।।

टिप्पणी—यहाँ पर कवि को भयानक रस की सृष्टि करना अभिप्रेत था जो कि एक परुष रस है। इसीलिए कवि ने भयानक सिंह के भयावह निवास का वर्णन प्रस्तुत करते समय उसी के योग्य त, प, व, र, ह, एवं ण आदि परुष वर्णों को पुनः पुनः आवृत्त किया है, जिसके पढ़ने से ही भय की प्रतीति होने लगती है। अतः ऐसे परुष रसों के प्रस्ताव में कवि अथवा सहृदय परुष वर्णों की ही पुनः पुनः आवृत्ति रूप वक्रता को पसन्द करते हैं।

एतामेव वैचित्र्यान्तरेण व्याचष्टे —

क्वचिदव्यवधानेऽपि मनोहारिनिबन्धना ।
सा स्वराणामसारूप्यात् परां पुष्णाति वक्रताम् ।।३।।

इसी (वर्णविन्यासवक्रता) को दूसरे ढङ्ग की विचित्रता द्वारा प्रस्तुत करते हैं—

(यह वर्णविन्यासवक्रता) कहीं-कहीं (वाक्य के किसी भी अंश में) (व्यंजनों के) व्यवधान के अभाव में भी (एक ही सिलसिले से पुनः पुनः व्यञ्जनों की आवृत्ति से युक्त होने पर) चित्ताकर्षक संघटन से युक्त होती है। (तथा कहीं-कहीं पर) वह (वर्णविन्यासवक्रता) स्वरों के असमान होने से किसी अन्य अपूर्व वैचित्र्य को पुष्ट करती है ।। ३ ।।

क्वचिदनियतप्रायवाक्यैकदेशे कस्मिंश्चिदव्यवधानेऽपि व्यवधानाभावेऽप्येकस्य द्वयोः समुदितयोश्च बहूनां वा पुनः पुनर्बध्यमानानामेषां मनोहारिनिबन्धना हृदयावर्जकविन्यासा भवति। काचिदेवं सम्पद्यत इत्यर्थः। यमकव्यवहारोऽत्र न प्रवर्तते, यस्य नियतस्थानतया व्यवस्थानात्। स्वरैरव्यवधानमत्र न विवक्षितम्, तस्यानुपपत्तेः।

कहीं का अर्थ है, वाक्य (श्लोक) के प्रायः अनिश्चित किसी एक भाग में अव्यवधान अर्थात् (व्यञ्जनों के) अन्तर के अभाव में भी, एक (वर्ण),

सम्मिलित दो अथवा बहुत से बार बार उपनिबद्ध किए गये इन वर्णों की मनोहारि निबन्धन वाली अर्थात् चित्ताकर्षक विन्यास से युक्त (वक्रता) होती है। तात्पर्य यह कि कोई (रचना) इस प्रकार (चित्ताकर्षक विन्यास से युक्त) हो जाती है। (व्यवधान से रहित वर्णों की पुनः पुनः आवृत्ति होने से) यहाँ यमक का व्यवहार नहीं प्रवृत्त हो सकता, उसकी निश्चित स्थानों (पर आवृत्ति) के रूप में अवस्था होने से (अर्थात् यमक में कहाँ कहाँ व्यञ्जनों की आवृत्ति होनी चाहिए इसका नियम होता है लेकिन यहाँ (वर्णविन्यास-वक्रता में) कोई नियम नहीं है (अतः इसे यमक नहीं कहा जा सकता। यहाँ पर स्वरों के व्यवधान का अभाव विवक्षित नहीं है इसके अनुपपन्न होने से (अपितु केवल व्यञ्जनों का व्यवधान अभिप्रेत है)।

तत्रैकस्याव्यवधानोदाहरण यथा—

वामं कज्जलवद्विलोचनमुरो रोहद्विसारिस्तनम् ॥ ९ ॥

(वहाँ उन तीनों भेदों में से) व्यवधान के अभाव में एक (वर्ण की पुनः पुनः आवृत्ति) का उदाहरण जैसे—

(उदाहरण संख्या १/४४ पर अद्धृत पद्य का पहला चरण—)

वामं कज्जलवद्विलोचनमुरो रोहद्विसारि स्तनम् ॥९॥ (यहाँ पर 'कज्जल' में ज् की तथा 'विलोचनमुरो रोहद्' से र की अकेले वर्णों की बिना व्यवधान के एकही सिलसिले में आवृत्ति हुई है।

द्वयोर्यथा—

ताम्बूलीनद्धमुग्धक्रमुकतरुतलस्रस्तरे सानुगाभिः
पायं पायं कलाचीकृतकदलदलं नारिकेलीफलाम्भः।
सेव्यन्तां व्योमयात्राश्रमजलजयिनः सैन्यसीमन्तिनीभि-
र्दात्यूहव्यूहकेलीकलितकुहकुहारावकान्ता वनान्ताः॥ १० ॥

(व्यवधान के अभाव में) दो (वर्णों की पुनः पुनः आवृत्ति का उदाहरण) जैसे—(बालरामायण (१/६३) में रावण अपने सेनापतियों के लिए आदेश देता है कि वे)

व्योमगमन के कारण उत्पन्न स्वेद को हटा देने वाले और चातकसमूह की क्रीड़ा में उत्पन्न होने वाली मीठी चह चह के स्वर के कारण रमणीय वनप्रदेशों का साथ साथ चलने वाली सैनिक कामिनियों के साथ केले के पत्तों के बने हुए दोनों वाले नारियल के फल के रस का पानकर करके पान

की लतरों से बने हुए सुन्दर सुपाड़ी के वृक्षों के नीचे के विस्तारों पर (बैठकर) सेवन करें ॥ १० ॥

टिप्पणी—यहाँ 'दात्यूह' का अर्थ हम कोयल भी कर सकते हैं। जैसा कि बालरामायण के टीकाकार ने किया है। यहाँ सैनिकों की विश्राम की बात कवि ने प्रस्तुत की है। कौवे की बोली इतनी कर्णकटु होती है कि उसे सुन कर लोगों को क्रोध भले आ जाय, आनन्द कदापि नहीं मिल सकता। जबकि चातक की और कोयल की मधुर वाणी सुनने में मनुष्यों को अत्यधिक आनन्द लाभ होता है। परन्तु खेद है कि हमारे सहृदय शिरोमणि आचार्य विश्वेश्वर जी को कौवे की काँव काँव ही आनन्द प्रदान करती है, तभी तो उन्होंने 'अमरकोष' का प्रमाण उद्धृत करते हुए बालरामायण के टीकाकार द्वारा दिये गये 'कोकिल' अर्थ का बड़े जोरों के साथ खण्डन किया है। शायद वे यह भूल गये थे कि अमरकोष के अतिरिक्त भी कोई कोश है। विश्वकोश का कथन है—

"दात्यूहः कलकण्ठे स्याद् दात्यूहश्चातकेऽपि च।"

यहाँ पर 'पाय पायं', 'कदलदलं', 'केलीकलित' एवं 'कुहकुहाराव' में क्रमशः प् य्, द् ल्, एवं क् ह् की बिना किसी वर्ण के व्यवधान के आवृत्ति हुई है। पर जैसा कि आचार्य विश्वेश्वर जी ने लिखा है कि '……दात्यूहव्यूह'……क्रान्ता वनान्ता आदि में दो दो अक्षरों का अव्यवधान से प्रयोग मानकर इसकी इस प्रकार की वर्णविन्यासवक्रता का उदाहरण बतलाया है, यह कथन कहाँ तक सही है, पाठक स्वयं विचार कर सकते हैं जब कि स्पष्ट ही यूह-यूह के बीच में व का व्यवधान है जो कि स्वर नहीं है न्ता और न्ता के बीच में तो 'वना' दो अक्षरों का ही व्यवधान है। हाँ, यहाँ यह व्यवधानयुक्त वर्णविन्यासवक्रता स्वीकार की जा सकती है जैसा कि ग्रन्थकार ने आगे स्वयं अपि शब्द के ग्रहण द्वारा व्यक्त किया है।

यथा वा—

अयि पिबत चकोराः कृत्स्नमुन्नाम्य कण्ठान्
क्रमुकबलनचञ्चच्चञ्चवश्चन्द्रिकाम्भः ।
विरहविधुरितानां जीवितत्राणहेतो-
र्भवति हरिणलक्ष्मा येन तेजोदरिद्रः ॥ ११ ॥

अथवा जैसे (इसी का दूसरा उदाहरण)

सुपाड़ियों को कुतरने के कारण हिलती हुई चोंचों वाले चकोरों! विरह से विधुर लोगों के जीवन की रक्षाहेतु अपनी गर्दनों को ऊपर उठाकर सारा

का सारा चन्द्रिका का जल पी जाओ जिससे यह शशाङ्क (चन्द्रमा) तेज से हीन हो जाये (और विरहियों को परेशान न करें) ॥

यहाँ पर केवल अन्त में 'दरिद्रः' में द् र् और द् र् की विना व्यवधान के आवृत्ति हुई है।

बहूनां यथा —

सरलतरलतालासिका इति ॥ १२ ॥

(व्यवधान के अभाव में) बहुत (से वर्णों की पुनः पुनः आवृत्ति का उदाहरण) जैसे—(पूर्वोदाहृत सं० २।२ 'भग्नैला·····' आदि पद्य का निम्न अंश) सरलतरलतालासिका ॥ यह पद ॥ १२ ॥

(यहाँ समुदित 'र ल त' तीन व्यञ्जनों की बिना व्यवधान के एक बार आवृत्ति हुई है)

'अपि-शब्दात् क्वचित् व्यवधानेऽपि । द्वयोर्यथा -

स्वस्थाः सन्तु वसन्त ते रतिपतेरग्रेसरा वासराः ॥ १३ ॥

('क्वचिदव्यवधानेऽपि····इत्यादि (२।३) कारिका में) 'अपि' (भी) शब्द के (प्रयोग के) कारण कहीं कहीं व्यवधान होने पर भी यह वर्ण-विन्यासवक्रता होती है ऐसा अर्थ लिया जा सकता है। और इसीलिए व्यवधान होने पर भी इस वक्रता के उदाहरण दिये जा रहे हैं। उनमें से व्यवधान युक्त एक वर्ण की पुनः पुनः आवृत्ति का उदाहरण—'वामं कज्जल-वद्विलोचनमुरो रोहद्विसारिस्तनम्' को ही लिया जा सकता है। यहाँ 'वद्वि-लोचन' में व की व्यवधान से युक्त आवृत्ति है। अथवा 'विसारिस्तनम्' में स् की व्यवधान पूर्ण आवृत्ति है। इसका उदाहरण ग्रंथकार ने नहीं दिया। अतः उसे हमने यहाँ उदाहृत किया। अब व्यवधान होने पर) दो (वर्णों की पुनः पुनः आवृत्ति) का (उदाहरण) जैसे—

हे मधुमास ! रतिरमण (मदन) के आगे आगे चलने वाले (पुरोगामी) तुम्हारे दिवस सुखी रहें ॥ १३ ।

टिप्पणी—यहाँ समुदित त् र्, की 'ते रतिपतेरग्रे' में तथा स् र् की 'अग्रेसरा वासराः' में क्रम से 'तिप' एवं 'वा' के व्यवधान से आवृत्ति हुई है। यद्यपि 'सन्तु वसन्त' में केवल 'न् त्' की व्यवधान पूर्ण आवृत्ति मानकर उसे इसका उदाहरण कहा जा सकता है। पर अधिक समीचीन यही होगा कि यहाँ 'स् न् एवं त्' तीनों की समुदित रूप में पुनः आवृत्ति मान कर बहुत से वर्णों की व्यवधानयुक्त पुनरावृत्ति का उदाहरण माना जाय।

बहूनां व्यवधानेऽपि यथा—

चकितचातकमेचकितवियति वर्षात्यये ॥१४॥

(वर्णों का) व्यवधान होने पर भी बहुत (से वर्णों की पुनरावृत्ति) का (उदाहरण) जैसे—

वर्षा ऋतु के व्यतीत हो जाने पर परेशान पपीहों से श्यामवर्ण आकाश में (यहाँ 'चकितचातकमेचकित' में 'चकित चकित' दो बार ॥ १४ ॥ समुदित रूप से च् क् एवं त् की 'चाकत में' के व्यवधान से आवृत्ति हुई है।

सा स्वराणामसारूप्यात् सेयमनन्तरोक्ता स्वरानामकारादीनाम-सारूप्यादसादृश्यात् क्वचित्कस्मिंश्चिदावर्तमानसमुदायैकदेशे परा-मन्यां वक्रतां कामपि पुष्णाति पुष्यतीत्यर्थः। यथा—

राजीवजीवितेश्वरे ॥ १५ ॥

वह अभी अभी कही गई (वर्णविन्यासवक्रता) अकारादि स्वरों के असारूप्य अर्थात् असमान होने से कहीं कहीं अर्थात् किसी आवृत्त होने वाले (वर्णों-व्यञ्जनों के) समुदाय के एक भाग में किसी (अपूर्व) दूसरी वक्रता का पोषण करती है। जैसे—

राजीवजीवितेश्वरे ॥ १५ ॥

(यहाँ पर ज् एवं व् वर्ण समुदाय की आवृत्ति हुई है जिनमें कि व् का स्वर दोनों में भिन्न है अर्थात् पहले व् के साथ स्वर 'अ' तथा दूसरे के साथ 'इ' का प्रयोग हुआ है। जिससे एक अपूर्व चमत्कार की सृष्टि होती है।

यथा वा—

धूसरसरिति इति ॥ १६ ॥

अथवा जैसे—

धूसरसरिति ॥ यह पद ॥ १६ ॥

(यहाँ 'स् र्' वर्णों का समुदाय आवृत्त हुआ है जिनमें पहले र् के साथ स्वर 'अ' तथा दूसरे के साथ 'इ' प्रयुक्त है।

यथा च—

स्वस्थाः सन्तु वसन्त इति ॥ १७ ॥

और जैसे—

स्वस्थाः सन्तु वसन्त ॥ इति १७ ॥

(यहाँ 'स् न् त्' वर्ण समुदाय दो बार आवृत हुआ है किन्तु प्रथम त् के साथ स्वर 'उ' तथा दूसरे के साथ 'अ' प्रयुक्त हुआ है।)

यथा वा—

तालताली इति ॥ १८ ॥

अथवा जैसे—

तालताली यह ॥ १८ ॥

(यहाँ पर 'त् ल्' वर्ण समुदाय की दो बार आवृत्ति हुई पर पहले ल के साथ स्वर 'अ' प्रयुक्त है जब कि दूसरे के साथ 'ई' प्रयुक्त है। इस प्रकार स्वरों के असादृश्य के चार उदाहरण दिए।)

सोऽयमुभयप्रकारोऽपि वर्णविन्यासवक्रताविशिष्टवाक्यविन्यासो यमकाभासः सन्निवेशविशेषो मुक्ताकलापमध्यप्रोतमणिमयपदकबन्ध-बन्धुरः सुतरां सहृदयहृदयहारितां प्रतिपद्यते। तदिदमुक्तम्—

वह यह (अव्यवधानयुक्त वर्णों को आवृत्ति रूप तथा व्यवधानयुक्त वर्णों की आवृत्ति रूप) दोनों भेदों से युक्त, 'वर्णविन्यासवक्रता से' विशिष्ट वाक्य सङ्घटना वाला, यमक के समान (पदों का) विशेष प्रकार का सन्नि-वेश (पदसङ्घटना विशेष) मोतियों के हार के मध्य में अनुस्यूत किए गए मणिनिर्मित पदकों की रचना के समान रमणीय (होकर) अत्यन्त ही सहृदयहृदयावर्जक हो जाता है। इसी बात को (प्रथम उन्मेष की ३५ वीं कारिका में) कहा जा चुका है कि—

अलङ्कारस्य कवयो यत्रालङ्करणान्तरम्।
असन्तुष्टा निबध्नन्ति हारादेर्मणिबन्धवत् ॥ १९ ॥ इति।

जहाँ (जिस मार्ग में) कविजन (प्रयुक्त एक अलङ्कार से) असन्तुष्ट होकर हारादि के मणिबन्ध के समान एक अलङ्कार के लिए दूसरे अलङ्कार का प्रयोग करते हैं (उसे विचित्र मार्ग कहते हैं) ॥ १९ ॥

एतामेव विविधप्रकारां वक्रतां विशिनष्टि, यदेवंविधवक्ष्यमाण-विशेषणविशिष्टा विधातव्येति—

(अब) अनेक भेदों वाली इसी (वर्णविन्यासवक्रता) की विशेषतायें बताते हैं कि (यह वक्रता) कही जाने वाली इस प्रकार की विशेषताओं से समन्वित रूप में प्रतिपादित की जानी चाहिए—

नातिनिर्बन्धविहिता नाप्यपेशलभूषिता ।
पूर्वावृत्तपरित्यागनूतनावर्तनोज्ज्वला ॥ ४ ॥

न तो अत्यन्त हठपूर्वक विरचित और न ही कठोर (वर्णों) से अलंकृत (वर्णविन्यास का वैचित्र्य होना चाहिए अपितु) पहले (बार-बार) आवृत्त किए गये (वर्णों) के परित्याग एवं नवीन वर्णों की आवृत्ति से सुशोभित होने वाली (वर्णविन्यास की वक्रता प्रतिपादित करनी चाहिए) ।।४।।

नातिनिर्बन्धविहिता—'निर्बन्ध' शब्दोऽत्र व्यसनितायां वर्तते । तेनातिनिर्बन्धेन पुनः पुनरावर्तनव्यसनितया न विहिता, अप्रयत्नविरचितेत्यर्थः । व्यसनितया प्रयत्नविरचने हि प्रस्तुतौचित्यपरिहाणेर्वाच्यवाचकयोः परस्परस्पर्धित्वलक्षणसाहित्यविरहः पर्यवस्यति । यथा—

'अत्यधिक निर्बन्ध के साथ विहित नहीं'—यहाँ निर्बन्ध शब्द 'व्यसनिता' (अर्थ) में प्रयुक्त हुआ है। इसलिये अत्यधिक निर्बन्ध अर्थात् बार बार (वर्णों) की आवृत्ति कराने की व्यसनिता से न रची गई अर्थात् बिना (किसी) प्रयास के (स्वभावतः) विरचित होनी चाहिए। क्योंकि व्यसन हो जाने के कारण प्रयत्नपूर्वक रचना करने पर प्रकरण के औचित्य की क्षति होने से वाच्य तथा वाचक (शब्द और अर्थ) में परस्पर स्पर्धा से युक्त रूप साहित्य (सहभाव) का विच्छेद हो जाता है। जैसे—

भण तरुणि इति ॥ २० ॥

नाप्यपेशलभूषिता न चाप्यपेशलैरसुकुमारैरक्षरैरलङ्कृता । यथा

शीर्णघ्राणाङ्घ्रि इति ॥ २१ ॥

(उदाहरण संख्या १।९ पर पूर्वोदाहृत) भण तरुणि ॥ १० ॥ यह [श्लोक]। [यहाँ पर कवि केवल अनुप्रास अथवा वर्णों की पुनः पुनः आवृत्ति कराने के व्यसन के कारण केवल वर्णों के सवर्ण होने के ही सौन्दर्य को प्रस्तुत कर सका है। लेकिन अर्थ का वैचित्र्य तनिक भी नहीं। इसका अर्थ एवं व्याख्या वहीं देखें]।

तथा (वर्णविन्यासवक्रता) अपेशल अर्थात् कठोर वर्णों (की पुनः पुनः आवृत्ति) से अलंकृत भी न होनी चाहिए। जैसे—

शीर्णघ्राणाङ्घ्रि ॥ २१ ॥ इत्यादि श्लोक।

टिप्पणी—यह श्लोक मयूरशतक का ६ वाँ श्लोक है। पूरा इस प्रकार है—

शीर्णघ्राणाङ्घ्रिपाणीन् व्रणिभिरपघनैर्घर्घराव्यक्तघोषान्
दीर्घाघ्रातानघौघैः पुनरपि घटयत्येक उल्लाघयन् य।
घर्मांशोस्तस्य वोऽन्तर्द्विगुणघनघृणानिघ्ननिर्विघ्नवृत्ते-
र्दत्तार्घाः सिद्धसङ्घैर्विदधतु घृणयः शीघ्रमंहोविघातम् ॥

यहाँ पर कवि सूर्य की किरणों से पाप नष्ट करने की बात कह रहा है लेकिन इसमें ण ण, घ्र घ्र, घ्न घ्न, आदि ऐसे श्रुतिकटु वर्णों की पुनः पुनः आवृत्ति कराई है जिससे सुनने वाले के कान छलनी हो जाते हैं और किसी भी प्रकार का आनन्द नहीं प्राप्त होता। अतः ऐसी भी 'वर्णविन्यासवक्रता' बेकार होती है।

तदेवं कीदृशी तर्हि कर्तव्येत्याह—पूर्वावृत्तपरित्यागनूतनावर्तनोज्ज्वला पूर्वमावृत्तानां पुनः पुनर्विरचितानां परित्यागेन प्रहाणेन नूतनानामभिनवानां वर्णानामावर्तनेन पुनः पुनः परिग्रहेण च तदेवमुभाभ्यां प्रकाराभ्यामुज्ज्वला भ्राजिष्णुः। यथा –

तो फिर [वह वर्णविन्यासवक्रता] कैसी करनी चाहिए इसे बताते हैं—पूर्वावृत्त के परित्याग तथा नवीन आवृत्ति से उज्ज्वल। पहले आवृत्त किए गये अर्थात् बार बार विरचित [वर्णों] के परित्याग अर्थात् [उनकी पुनः पुनः आवृत्ति छोड़कर]।

नये नये अभिनव वर्णों की आवृत्ति के द्वारा अर्थात् पुनः पुनः (नये वर्णों के) ग्रहण के द्वारा, इस प्रकार दोनों ढङ्गों से उज्ज्वल अर्थात् सुशोभित होने वाली (वर्णविन्यासवक्रता प्रतिपादित करनी चाहिए)। जैसे—

एतां पश्य पुरस्तटीमिह किल क्रीडाकिरातो हरः
कोदण्डेन किरीटिना सरभसं चूडान्तरे ताडितः।
इत्याकर्ण्य कथाद्भुतं हिमनिधावद्रौ सुभद्रापते-
र्मन्दं मन्दमकारि येन निजयोर्दोर्दण्डयोर्मण्डनम् ॥२२॥

इस सामने की स्थली को तो देखो, यहीं पर अर्जुन ने धनुष के द्वारा लीला से किरात बने हुए शङ्कर के सिर के बीच तेजी के साथ चोट पहुँचाई थी। हिमालय पर इस प्रकार की सुभद्रा के प्रति अर्जुन की अद्भुत कथा सुनकर जिन (महादेव) ने अपनी दोनों भुजाओं को धीरे धीरे मण्डलाकार करके सहलाया (वे सर्वातिशायी हैं)॥ २२ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में कवि ने पहले प की फिर क एवं ड की आवृत्ति कर उसे छोड़ तीसरे चरण से द, र, म, ण्ड आदि की नवीन रूप से आवृत्ति

—

कराई है। इस प्रकार यहाँ किसी भी वर्ण की पुनः पुनः आवृत्ति कराने की कवि की व्यसनिता नहीं प्रतीत होती है। तथा बराबर नये नये वर्णों की आवृत्ति होने से एक अपूर्व चमत्कार की सृष्टि होती जाती है।

यथा वा—

हंसानां निनदेषु इति ॥ २३ ॥

अथवा जैसे—

(उदाहरण संख्या १।७३ पर पूर्वोदाहृत) हंसानां निनदेषु इत्यादि ॥ २३ ॥ यह श्लोक ॥

(इस श्लोक को तथा इसके अर्थ को वहीं देखें। इसमें कवि ने पहले न की आवृत्ति कराकर 'क' एवं 'त' की, फिर 'ठ' एवं 'घ' की, उसके बाद 'भ्' 'क्' एवं 'न' तथा 'ग्र' की आवृत्ति कराई, जिससे उत्तरोत्तर नवीनता विकसित होकर सहृदयहृदयहारिणी बन गई है।)

यथा च—

एतन्मन्दविपक्व इत्यादौ ॥ २४ ॥

और जैसे—

(उदाहरण संख्या १।१०७ पर पूर्वोद्धृत) एतन्मन्दविपक्व इत्यादि में ॥ २४ ॥

(इसका अर्थ एवं पूरा श्लोक वहीं देखें, साथ ही उक्तोदाहरण की भाँति लक्षण घटित कर लें।)

यथा वा—

णमह दसाणणसरहसकरतलिअबलन्तसेलभअविहलं।
वेवंतथोरथणहरहरकअकंठग्गहं गोरिं ॥ २५ ॥

(नमत दशाननसरभसकरतुलितबलच्छैलभयविह्वलाम्।
वेपमानस्थूलस्तनभरहरकृतकण्ठग्रहां गौरीम् ॥)

अथवा जैसे

रावण द्वारा वेग से बाँहों में उठा लिए गए हिलते हुए कैलाश पर्वत के भय से व्याकुल और काँपते हुए भारी वक्षःस्थल के आतिशय्य के कारण शंकर जी के द्वारा डाली गई गलबाहीं वाली को प्रणाम कीजिए ॥ २५ ॥

(यहाँ भी पहले ण, स, तथा ल की आवृत्ति कराकर फिर व, ह, र एवं ग आदि की आवृत्ति कराई गई है।)

एवमेतां वर्णविन्यासवक्रतां व्याख्याय तामेवोपसंहरति—

वर्णच्छायानुसारेण गुणमार्गानुवर्तिनी।
वृत्तिवैचित्र्ययुक्तेति सैव प्रोक्ता चिरन्तनैः॥ ५॥

इस प्रकार इस (वर्णविन्यासवक्रता) की व्याख्या करने के अनन्तर (अब) उसी का उपसंहार करते हैं—

(अक्षरों की (श्रव्यत्वादिगुणसम्पत्ति रूप) शोभा के अनुसार (माधुर्यादि) गुणों एवं (सुकुमारादि) मार्गों का अनुवर्तन करने वाली उसी (वर्णविन्यासवक्रता) को चिरन्तनों (उद्भट आदि आचार्यों) ने (उपनागरिका आदि) वृत्तियों के विचित्रभाव से समन्वित बताया है ॥ ५ ॥

वर्णानामक्षराणां या छाया कान्तिः श्रव्यतादिगुणसंपत्तया हेतुभूतया यदनुसरणमनुसारः प्राप्यस्वरूपानुप्रवेशस्तेन। गुणान् माधुर्यादीन् मार्गांश्च सुकुमारप्रभृतीननुवर्तते या सा तथोक्ता। तत्र गुणानामान्तरतम्यात् प्रथममुपन्यसनम्, गुणद्वारेणैव मार्गानुसरणोपपत्तेः तदयमत्रार्थः—यद्यप्येषा वर्णविन्यासवक्रता व्यञ्जनच्छायानुसारेणैव, तथापि प्रतिनियतगुणविशिष्टानां मार्गाणामनुवर्तनद्वारेण यथा स्वरूपानुप्रवेशं विदधाति तथा विधातव्येति। तत एव च तस्यास्तन्निबन्धनाः प्रवितताः प्रकाराः समुल्लसन्ति। चिरन्तनैः पुनः सैव स्वातन्त्र्येण वृत्तिवैचित्र्ययुक्तेति प्रोक्ता। वृत्तिनामुपनागरिकादीनां यद् वैचित्र्यं विचित्रभावः स्वनिष्ठसंख्याभेदभिन्नत्वं तेन युक्ता समन्वितेति चिरन्तनैः पूर्वसूरिभिरभिहता। तदिदमत्र तात्पर्यम्—यदस्याः सकलगुणस्वरूपानुसरणसमन्वयेन सुकुमारादिमार्गानुवर्तनायत्तवृत्तेः पारतन्त्र्यमपरिगणितप्रकारत्वं चैतदुभयमप्यवश्यंभावि तस्मादपारतन्त्र्यं परिमितप्रकारत्वं चेति नातिचतुरस्रम्।

वर्णों अर्थात् अक्षरों की जो छाया अर्थात् श्रव्यत्व आदि गुणों की सम्पत्ति रूप कान्ति है, कारणभूत उस (कान्ति) के द्वारा जो अनुसरण अर्थात् अनुगम है। प्राप्त करने योग्य स्वरूप में प्रवेश, उसके द्वारा गुणों अर्थात् माधुर्यादि का तथा मार्गों अर्थात् सुकुमार आदि का जो अनुसरण करती है वह हुई यथोक्त (गुणों एवं मार्गों का अनुसरण करने वाली)। इस कारिका में जो गुण शब्द का प्रयोग पहले तथा मार्गों का बाद में किया गया है उसका कारण बताते हैं कि) गुणों के अत्यन्त निकट वाले होने के कारण उनका पहले ग्रहण किया गया है। (तथा मार्गों का बाद में क्योंकि) गुणों के माध्यम से ही मार्गों का अनुवर्तन युक्तियुक्त होता है।

अतः इसका अभिप्राय यह हुआ कि—यद्यपि यह वर्णविन्यासवक्रता व्यञ्जनों की ही कान्ति के अनुगमन से आती है फिर भी हर एक के निश्चित गुणविशेष वाले मार्गों के अनुवर्तन के द्वारा ही इस तरह प्रस्तुत की जानी चाहिए जिससे कि उसके वास्तविक रूप का सन्निवेश हो जाय। इसी कारण से उसके उसी आधार पर प्रख्यात भेद प्रकाशित किये जाते हैं। प्राचीन आचार्यों ने उसी को अपनी इच्छा से वृत्तियों की विचित्रता से संवलित करके प्रस्तुत किया है। उपनागरिका आदि वृत्तियों का जो वैचित्र्य है अर्थात् अद्भुत स्वरूप वाली अपने में निहित नियतता के भेद के कारण विभिन्नता है उससे युक्त या संवलित मान कर ही उसे पुराने काव्य-शास्त्र के विद्वानों ने मान रखा है। तो यहाँ तात्पर्य यह है कि—सुकुमार आदि मार्गों का अनुवर्तन करने के अव्यधान वृत्ति वाली इस (वर्णविन्यासवक्रता) का सारे गुणों के स्वरूप के अनुसरण का समन्वय करने के कारण परतन्त्र होना और असंख्य प्रकार की होना दोनों ही अवश्यम्भावी हैं, इस तरह परतन्त्रता का अभाव और असीमप्रकारता का अभाव मानना बहुत समीचीन नहीं प्रतीत होता।

ननु च प्रथममेको द्वावित्यादिना प्रकारेण परिमितान् प्रकारान् स्वतन्त्रत्वं च स्वयमेव व्याख्याय किमेतदुक्तमिति चेन्नैष दोषः, यस्माल्लक्षणकारैर्यस्य कस्यचित्पदार्थस्य समुदायपरायत्तवृत्तेः परव्युत्पत्तये प्रथममपोद्धारबुद्धया स्वतन्त्रतया स्वरूपमुल्लिख्यते, ततः समुदायान्तर्भावो भविष्यतीत्यलमतिप्रसंगेन।

शङ्का उठाई जा सकती है कि पहले एक, दो इत्यादि प्रकार से सीमित भेदों को और स्वातन्त्र्य को स्वयं ही स्पष्ट करके फिर यह क्यों कहते हो (कि परतन्त्रता और असीम प्रकारता का अभाव मानना समीचीन नहीं)। वस्तुतः यह दोष नहीं है क्योंकि लक्षणकार किसी भी पदार्थ की दूसरे को व्युत्पत्ति कराने के लिए उसके समुदाय-परतंत्र होने पर भी पहले अपोद्धार की दृष्टि से स्वतन्त्र ढङ्ग से ही उसका स्वरूप लिखते हैं फिर तो उसका समुदाय में अन्तर्भाव हो जायगा ही, इसलिए ज्यादा विस्तार से कहने की अपेक्षा नहीं।

येयं वर्णविन्यासवक्रता नाम वाचकालंकृतिः स्थाननियमाभावात् सकलवाक्यस्य विषयत्वेन समाम्नाता, सैव प्रकारान्तरविशिष्टा नियतस्थानतयोपनिबध्यमाना किमपि वैचित्र्यान्तरमाबध्नातीत्याह—

यह जो 'वर्णविन्यासवक्रता' नामक शब्दालङ्कार (जहाँ-कहाँ वर्णों की आवृत्ति होनी चाहिए ऐसे) स्थानों के निर्धारित न होने के कारण, सम्पूर्ण

वाक्य के (ही) विषय रूप में स्वीकार किया गया है, वही (वर्णविन्यास-वक्रता अलङ्कार) निर्धारित स्थानों से युक्त रूप में उपनिबद्ध होने पर, अन्य (यमक रूप) भेद से युक्त होकर किसी (अपूर्व) दूसरे ही वैचित्र्य की सृष्टि करता है, इसे बताते हैं—

समानवर्णमन्यार्थं प्रसादि श्रुतिपेशलम्।
औचित्ययुक्तमाद्यादिनियतस्थानशोभि यत् ॥ ६ ॥

भिन्न अर्थ वाले समान वर्णों से युक्त, (शीघ्र ही वाक्यार्थ के समर्पक) प्रसाद (गुण से समन्वित सुनने में रमणीय, औचित्यपूर्ण एवं (वाक्य के) आदि (मध्य एवं अन्त) इत्यादि नियत स्थानों पर सुशोभित होने वाला जो—॥ ६ ॥

यमकं नाम कोऽप्यस्याः प्रकारः परिदृश्यते ।
स तु शोभान्तराभावादिह नाति प्रतन्यते ॥ ७ ॥

यमक नाम का कोई (अपूर्व ही) इस (वर्णविन्यासवक्रता) का (एक) भेद दिखाई पड़ता है। (उसमें स्थान नियम के अतिरिक्त, अभी कही गई वर्णविन्यासवक्रता से भिन्न किसी) दूसरी शोभा का अभाव होने के कारण, उसका यहाँ अधिक विस्तार नहीं किया जाता है॥ ७ ॥

कोऽप्यस्याः प्रकारः परिदृश्यते, अस्याः पूर्वोक्तायाः, कोऽप्यपूर्वः प्रभेदो विभाव्यते। कोऽसावित्याह—यमकं नाम। यमकमिति यस्य प्रसिद्धिः। तच्च कीदृशम्—समानवर्णम्। समानाः सरूपाः सदृशश्रुतयो वर्णा यस्मिन् तत्तथोक्तम्। एवमेकस्य द्वयोर्बहूनां सदृशश्रुतीनां व्यवहितमव्यवहितं वा यदुपनिबन्धनं तदेव यमकमित्युच्यते। तदेवमेकरूपे संस्थानद्वये सत्यपि—अन्यार्थं भिन्नाभिधेयम्। अन्यच्च कीदृशम्—प्रसादि प्रसादगुणयुक्तं झगिति वाक्यसमर्पकम्, अकदर्थनाबोध्यमिति यावत्। श्रुतिपेशलमित्येतदेव विशिष्यते—श्रुतिः श्रवणेन्द्रियं तत्र पेशलं रञ्जकम्, अकठोरशब्दविरचितम्। कीदृशम्—औचित्ययुक्तम्। औचित्यं वस्तुनः स्वभावोत्कर्षस्तेन युक्तं समन्वितम्। यत्र यमकोपनिबन्धनव्यसनित्वेनाप्यौचित्यमपरिम्लानमित्यर्थः। तदेव विशेषणान्तरेण विशिनष्टि—आद्यादिनियतस्थानशोभि यत्। आदिरादिर्येषां ते तथोक्ताः प्रथममध्यान्तास्तान्येव नियतानि स्थानानि विशिष्टाः संनिवेशास्तैः शोभते भ्राजते यत्तथोक्तम्। अत्राद्यादयः संबन्धिशब्दाः पदादिभिर्विशेषणीयाः। स तु प्रकारः प्रोक्तलक्षण-

संपदुपेतोऽपि भवन् इह नाहि प्रतन्यते ग्रन्थेऽस्मिन्नाति विस्तार्यते। कुतः—शोभान्तराभावात्। स्थाननियमव्यतिरिक्तस्यान्यस्य शोभान्तरस्य छायान्तरस्यासंभवादित्यर्थः। अस्य च वर्णविन्यासवैचित्र्यव्यतिरेकेणान्यत्किंचिदपि जीवितान्तरं न परिदृश्यते। तेनानन्तरोक्तालंकृतिप्रकारतैव युक्ता। उदाहरणान्यत्र शिशुपालवधे चतुर्थे सर्गे समर्पकाणि कानिचिदेव यमकानि, रघुवंशे वा वसन्तवर्णने।

कोई इसका भेद दिखाई पड़ता है, इस पूर्वोक्त (वर्णविन्यासवक्रता) का कोई अपूर्व भेद दृष्टिगोचर होता है। कौन है यह (भेद) इसे बताते हैं—यमक नाम का। जिसकी (साहित्य में) यमक नाम से ख्याति है। और वह है कैसा—समान वर्णों से युक्त। समान स्वरूप वाले अर्थात् एक ही तरह सुने जाने वाले वर्ण (अक्षर) हैं जिसमें वह हुआ तथोक्त (समान वर्णोंवाला)। इस प्रकार समान रूप से सुनाई पड़ने वाले एक, दो अथवा बहुत से (वर्णों) का जो व्यवधानयुक्त अथवा व्यवधानरहित विन्यास है वही यमक कहा जाता है। इस प्रकार समान रूप वाली (वर्णों की) दो राशियों (अथवा रचनाओं) के होने पर भी—अन्य अर्थों से युक्त अर्थात् भिन्न-भिन्न अर्थों वाली (समान रूप वर्णों की राशियाँ जहाँ होती हैं) और किस प्रकार का (वर्ण समुदाय)—प्रसादि अर्थात् शीघ्र ही वाक्यार्थ का समर्पक, प्रसाद गुण से युक्त, बिना किसी क्लेश के समझ में आ जाने वाला। और इसी को विशिष्ट करते हैं कि श्रुतिपेशल हो अर्थात् श्रवणेन्द्रिय (कानों) के लिये रमणीय हो, सुकुमार पदों से विरचित हो (और) किस प्रकार का—औचित्यपूर्ण। औचित्य अर्थात् पदार्थ के स्वरूप की जो महिमा उससे युक्त अर्थ भलीभाँति सङ्गत हो। तात्पर्य यह कि जहाँ यमक के प्रयोग की व्यसनिता से भी औचित्य की क्षति न होती हो। उसी को दूसरे विशेषण के द्वारा विशिष्ट करते हैं—आदि इत्यादि नियत स्थानों से सुशोभित होने वाला। आदि है आदि में जिनके वे हुए तथोक्त (आद्यादि) अर्थात् प्रथम, मध्यम और अन्त, वे ही निर्धारित स्थान अर्थात् विशिष्ट विन्यास उनके द्वारा सुशोभित होता है जो ऐसा तथोक्त (आदि, मध्य एवं अन्त इत्यादि निश्चित स्थानों से शोभित होने वाला)। यहाँ आदि इत्यादि शब्द सम्बन्ध वाचक शब्द हैं। उनको पद आदि से विशिष्ट कर लेना चाहिए (अर्थात् पदादि के आदि, मध्य अथवा अन्त में निश्चित स्थानों पर सुशोभित होने वाला) लेकिन वह (यमक रूप) (वर्णविन्यासवक्रता का) भेद उक्त प्रकार की सम्पत्ति से युक्त होने पर भी (अर्थात् सुनने में मनोहर प्रसाद गुणयुक्त, औचित्यपूर्ण इत्यादि लक्षणों वाला होते हुए भी) यहाँ इस

वक्रोक्ति जीवित नामक) ग्रन्थ में अधिक विस्तार से (प्रतिपादित) नहीं किया जाता। किस कारण से—दूसरी शोभा के अभाव के कारण स्थान के निर्धारण से भिन्न (किसी) दूसरी शोभा अथवा सौन्दर्य के असम्भव होने से। साथ ही इसका वर्णविन्यास की ही विचित्रता को छोड़कर कोई दूसरा जीवित (भूत तत्त्व) नहीं दिखाई पड़ता। इसलिये (इस यमक अलङ्कार को) अभी कहे गये (वर्णविन्यासवक्रता रूप) अलङ्कार का एक प्रकार ही स्वीकार करना सङ्गत है। इसके उदाहरण रूप में शिशुपालवध चतुर्थ सर्ग के कुछ ही वाक्यार्थ को शीघ्र बोधित करा देने वाले यमक ग्रहण किये जा सकते हैं अथवा रघुवंश (महाकाव्य) के वसन्त वर्णन में (प्रयुक्त यमक)।

टिप्पणी—ग्रन्थकार ने 'यमक' के उदाहरण के लिये रघुवंश के वसन्त वर्णन को उद्धृत किया है। कालिदास ने वैसे तो नवम सर्ग के प्रारम्भ से लेकर ५४ वें श्लोक तक निरन्तर यमकका प्रयोग किया है। पर वसन्त ऋतु का वर्णन २६ वें श्लोक से लेकर ४७ वें श्लोक तक है अतः उसी में से उदाहरणार्थ एक श्लोक यहाँ उद्धृत किया जा रहा है—

कुसुममेव न केवलमार्तवं नवमशोकतरोः स्मरदीपनम्।
किसलयप्रसवोऽपि विलासिनां मदयिता दयिताश्रवणार्पितः॥

रघुवंश, ९।२८

तथा शिशुपालवध के चतुर्थ सर्ग के कुछ यमकों को इन्होंने उदाहरण रूप में स्वीकार किया है। यद्यपि वहाँ प्रचुर मात्रा में यमकों का प्रयोग हुआ है किन्तु कहीं-कहीं वह प्रसादगुणयुक्त एवं श्रुतिपेशल नहीं है। अतः यहाँ एक ऐसा उदाहरण दिया जा रहा है जो उक्त समस्त विशेषताओं से युक्त-प्राय है। रैवतक पर्वत का वर्णन करते हुए कृष्ण का सारथि दारुक कृष्ण से कहता है—

वहति यः परितः कनकस्थलीः सहरिता लसमाननवांशुकः।
अचल एष भवानिव राजते स हरितालसमानवांशुकः॥

शि. पा. व. ४।२१

एवं पदावयवानां वर्णानां विन्यासवक्रभावे विचारिते वर्णसमुदायात्मकस्य पदस्य च वक्रभावविचारः प्राप्तावसरः। तत्र पदपूर्वार्धस्य तावद्वक्रताप्रकारः कियन्तः संभवन्तीति प्रक्रमते—

इस प्रकार पदों के अवयवभूत वर्णों के विन्यास की वक्रता का विचार कर लेने के अनन्तर वर्णों के समूहरूप पद की वक्रता का विचार करना लब्धावसर हो जाता है। उसमें पहले पद के पूर्वार्द्ध की वक्रता के कितने भेद सम्भव हो सकते हैं इसका (विचार) आरम्भ करत हैं—

यत्र रूढेरसंभाव्यधर्माध्यारोपगर्भता ।
सद्धर्मातिशयारोपगर्भत्वं वा प्रतीयते ॥ ८ ॥
लोकोत्तरतिरस्कारश्लाघ्योत्कर्षाभिधित्सया ।
वाच्यस्य सोच्यते कापि रूढिवैचित्र्यवक्रता ॥ ९ ॥

जहाँ पर वाच्य-अर्थ के सर्वातिशायी तिरस्कार अथवा प्रशंसनीय उत्कर्ष को बताने की इच्छा से, रूढि के द्वारा सम्भव न हो सकने वाले अध्यारोप के अभिप्राय का भाव, अथवा पदार्थ के किसी विद्यमान धर्म के अतिशय को प्रतिपादित करने के अभिप्राय का भाव प्रतीत होता है वह कोई अलौकिक रूढि शब्द के वैचित्र्य का वक्रभाव (रूढिवैचित्र्यवक्रता) होता है ॥ ८-९ ॥

यत्र रूढेरसंभाव्यधर्माध्यारोपगर्भता प्रतीयते। शब्दस्य नियतवृत्तिता नाम धर्मो रूढिरुच्यते, रोहणं रूढिरिति कृत्वा। सा च द्विप्रकारा संभवति—नियतसामान्यवृत्तिता नियतविशेषवृत्तिता। तेन रूढिशब्देनात्र रूढिप्रधानः शब्दोऽभिधीयते, धर्मधर्मिणोरभेदोपचारदर्शनात्। यत्र यस्मिन् विषये रूढिशब्दस्य असंभाव्यः संभावयितुमशक्यो यो धर्मः कश्चित्परिस्पन्दस्तस्याध्यारोपः समर्पणं गर्भोऽभिप्रायो यस्य स तथोक्तस्तस्य भावस्तत्ता सा प्रतीयते प्रतिपद्यते। यत्रेति संबन्धः। सद्धर्मातिशयारोपगर्भत्वं वा। संश्चासौ धर्मश्च सद्धर्मः विद्यमानः पदार्थस्य परिस्पन्दस्तस्मिन् यस्य कस्यचिदपूर्वस्यातिशयस्याद्भुतरूपस्य माहिम्न आरोपः समर्पणं गर्भोऽभिप्रायो यस्य स तथोक्तस्तस्य भावस्तत्त्वम्। तच्च वा यस्मिन् प्रतीयते। केन हेतुना—लोकोत्तरतिरस्कारश्लाघ्योत्कर्षाभिधित्सया। लोकोत्तरः सर्वातिशायी यस्तिरस्कारः खलीकरणं श्लाघ्यश्च स्पृहणीयो य उत्कर्षः सातिशयत्वं तयोरभिधित्सा अभिधातुमिच्छा वक्तुकामता तया। कस्य वाच्यस्य। रूढिशब्दस्य वाच्यो योऽभिधेयोऽर्थस्तस्य। सोच्यते कथ्यते काप्यलौकिकी रूढिवैचित्र्यवक्रता। रूढिशब्दस्यैवंविधेन वैचित्र्येण विचित्रभावेन वक्रता वक्रभावः। तदिदमत्र तात्पर्यम्—यत्सामान्यमात्रसंस्पर्शिनां शब्दानामनुमानवन्नियतविशेषालिंगनं यद्यपि स्वभावादेव न किंचिदपि संभवति, तथाप्यनया युक्त्या कविविवक्षितनियतविशेषनिष्ठतां नीयमानाः कामपि चमत्कारकारितां प्रतिपद्यन्ते।

यथा—

जहाँ रूढि के द्वारा सम्भव न हो सकने वाले धर्म के अध्यारोप की गर्भता प्रतीत होती है (उसे रूढिवैचित्र्यवक्रता कहते हैं)। रोहण और रूढि पर्याय हैं ऐसा मानकर शब्द का वह धर्म जिससे कि उसका व्यापार (प्रयोगक्षेत्र) नियत होता है रूढि कहा जाता है। वह नियतवृत्तिता दो प्रकार की होती है—सामान्यवृत्ति का नियत होना याने नियतसामान्यवृत्तिता और विशेष वृत्ति का नियत होना अर्थात् नियतविशेषवृत्तिता। अतः रूढि शब्द के द्वारा रूढिप्रधान शब्द का ग्रहण होता है क्योंकि धर्म और धर्मी के बीच लक्षणा से अभेद करने का व्यवहार प्रायः दिखाई देता है।

जहाँ अर्थात् जिस विषय में रूढि शब्द का असम्भाव्य अर्थात् (रूढि शब्द के द्वारा) सम्भव न कराया जा सकने वाला जो धर्म अर्थात् कोई स्वभाव उसका अध्यारोप अर्थात् प्रतीति कराना है गर्भ अर्थात् अभिप्राय जिसका वह हुआ तथोक्त (असम्भाव्य धर्म के अध्यारोप का गर्भ) उसका भाव हुआ (असम्भाव्य धर्म के अध्यारोप की गर्भता अर्थात् रूढि शब्द के द्वारा सम्भव न कराये जा सकने वाले पदार्थ के धर्म विशेष की प्रतीति कराने वाले अभिप्राय से युक्त) वह जहाँ प्रतीत अर्थात् प्रतिपादित होती है। अथवा (जहाँ) विद्यमान धर्म के अतिशय के आरोप की गर्भता प्रतीत होती है वहाँ भी रूढिवैचित्र्यवक्रता होती है।

यत्र से सम्बन्ध का ग्रहण किया जायगा। अथवा जहाँ पर वर्तमान धर्म के आतिशय्य के आरोप का कुक्षीकार प्रतीत होता है। जो सत् और धर्म दोनों हों उसे सद्धर्म कहते हैं अर्थात् उसमें विद्यमान पदार्थ का स्वभाव, उसमें जिस किसी अभूतपूर्व आतिशय्य का अर्थात् विस्मयकारी स्वरूप के महत्त्व का आरोप या समर्पण ही कुक्षीकृत या अभीष्ट होकर आता है उस तरह से कहे हुए उसके भाव को वह संज्ञा दी जायगी। अथवा वह जिसमें प्रतीत होता है (वहाँ रूढिवैचित्र्यवक्रता होती है) अब प्रश्न उठता है कि किस कारणवश—जो यहाँ पर असामान्य तिरस्कार और वांछनीय उत्कर्ष का प्रतिपादन करने की इच्छा से (ऐसा किया जाता है)। लोकोत्तर अर्थात् सबसे अधिक जो तिरस्कार याने अपमानित करना है (उसे) और जो प्रशंसनीय या वाञ्छनीय उत्कर्ष यानी व्यतिरेक है उन दोनों को कहने की या व्यक्त करने की इच्छा अर्थात् बताने की अभिलाषा के कारण (ऐसा किया जाता है)। यह अभिधित्सा किसकी होती है ?—वाच्य की। रूढिशब्द का वाच्य अर्थात् जो अभिधा के द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ है (उसकी)। तो वह कोई लोकोत्तर (वस्तु) रूढिवैचित्र्यवक्रता के नाम से कही जाती है। रूढि शब्द की इस

तरह की विचित्रता अर्थात् विचित्र होने के नाते आने वाली वक्रता याने बाँकपन को यह संज्ञा देते हैं। इस तरह इसका यह आशय है—जो केवल साधारण तत्त्व का ही परामर्श करने वाले शब्द हैं उनका अनुमान की तरह एक नियतवैशिष्टच का ग्रहण करना यद्यपि स्वभावतः तनिक भी सम्भव नहीं है फिर भी इस तर्क से उन शब्दों को कवि के द्वारा आकूत एक नियत वैशिष्ट्य में निहित कर दिये जाने पर (उनमें) एक लोकोत्तर चमत्कार उत्पन्न करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। जैसे—

ताला जाअंति गुणा जाला दे सहिअएहि घेप्पंति ।
रइकिरणाणुग्गहिआइ होंति कमलाइ कमलाइ ।। २६ ।।

(तदा जायन्ते गुणा यदा ते सहृदयैर्गृह्यन्ते ।
रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि ।।)

गुण तभी गुण होते हैं जब काव्य-मर्मज्ञ सहृदय उनको ग्रहण करते हैं अर्थात् सहृदय उनका आदर करते हैं (जैसे कि) सूर्य की किरणों से अनुगृहीत अर्थात् उनके कृपाभाजन कमल ही वस्तुतः कमल होते हैं ।।२६।।

प्रतीयते इति क्रियापदवैचित्र्यस्यायमभिप्रायो यदेवंविधे विषये शब्दानां वाचकत्वेन न व्यापारः, अपि तु वस्त्वन्तरवत्प्रतीतिकारित्वमात्रेणेति युक्तियुक्तमप्येतदिह नाति प्रतन्यते। यस्माद् ध्वनिकारेण व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावोऽत्र सुतरां समर्थितस्तत् किं पौनरुक्त्येन ।

कारिका में प्रयुक्त 'प्रतीयते' इव क्रियापद की विचित्रता का आशय यह है कि इस प्रकार के विषय में शब्दों का वाचक रूप से (ही) व्यापार नहीं होता है अर्थात् उस अर्थ को प्रकट करने में शब्द की अभिधा शक्ति असमर्थ होती है, अपितु दूसरी वस्तु की सी अर्थात् कविविवक्षितनियतविशेष की प्रतीति कराने के द्वारा ही उनका व्यापार प्रवृत्त होता है यहाँ पर इसके युक्तियुक्त होते हुए भी इसे हम विस्तार नहीं दे रहे हैं क्योंकि ध्वनिकार ने ऐसे स्थलों पर व्यङ्ग्य व्यञ्जक भाव का भली भाँति समर्थन कर रखा है तो उसको दुहराने से क्या लाभ।

सा च रूढिवैचित्र्यवक्रता मुख्यतया द्विप्रकारा संभवति—यत्र रूढिवाच्योऽर्थः स्वयमेव आत्मन्युत्कर्षं निकर्षं वा समारोपयितुकामः कविनोपनिबध्यते, तस्यान्यो वा कश्चिद्वक्तेति। यथा—

तथा वह 'रूढिवैचित्र्यवक्रता' प्रधान ढंग से दो तरह की सम्भव होती है—(१) जहाँ कवि, रूढि (प्रचलित शब्द) के द्वारा वाच्य अर्थ को, स्वयं

ही अपने में उत्कृष्टता अथवा निकृष्टता का समारोप करने की इच्छा से युक्त रूप में, उपनिबद्ध करता है। (वह पहला प्रकार है) अथवा (२) (जहाँ किसी पदार्थ में उत्कृष्टता अथवा निकृष्टता का समारोप करने के लिए) किसी (उस पदार्थ से भिन्न) दूसरे वक्ता को उपनिबद्ध करता है। वह दूसरा प्रकार है)। जैसे—

स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाका घना
वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः।
कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे
वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि धीरा भव॥ २७॥

(अपनी) मसृण एवं नीलवर्ण छवि से अन्तरिक्ष को व्याप्त कर देने वाले, एवं अत्यंत शोभायमान बकपङ्क्तियों से युक्त ये बादल, (जल की) बूंदों से युक्त (ठंढी-ठंढी) ये हवायें, तथा बादलों के मित्र (इन) मयूरों की (ये) आनन्दजन्य अव्यक्त मधुर ध्वनियाँ, (विरहियों को कष्ट देने वाली ये सभी वस्तुयें) भले ही हों (उनसे मेरा कुछ नहीं बिगड़ने का क्योंकि) मैं तो अत्यधिक निष्ठुर हृदय वाला राम (हूँ न) सब कुछ सहन कर लूंगा। लेकिन हाय (अत्यंत सुकुमारी) जानकी (कैसे मेरे विरह में इन्हें सहन कर सकेगी) किस दशा में होगी ? हा देवि ! (सीते ! जहाँ भी हो) धैर्य धारण करो॥ २७॥

अत्र 'राम'-शब्देन 'दृढं कठोरहृदयः' 'सर्वं सहे' इति यद्उभाभ्यां प्रतिपादयितुं न पार्यते, तदेवंविधविविधोद्दीपनविभावविभवसहन-सामर्थ्यकारणं दुःसहजनकसुताविरहव्यथाविसंष्ठुलेऽपि समये निरपत्रपप्राणपरिरक्षावैचक्षण्यलक्षणं संज्ञापदनिबन्धनं किमप्यसंभाव्यमसाधारणं क्रौर्यं प्रतीयते। वैदेहीत्यनेन जलधरसमयसुन्दरपदार्थ-संदर्शनासहत्वसमर्पकं सहजसौकुमार्यसुलभं किमपि कातरत्वं तस्याः समर्थ्यते। तदेव च पूर्वस्माद्विशेषाभिधायिनः 'तु'-शब्दस्य जीवितम्।

इस उदाहरण में 'दृढं कठोरहृदयः' और 'सर्वं सहे' इन दोनों पदों के द्वारा भी जिस (अर्थ) का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता था उस इस तरह के नाना प्रकार के उद्दीपन विभावों के वैभव को सहन कर सकने के सामर्थ्य के कारणभूत, जनकसुता की असह्यविरहव्यथा के कारण बिगड़े हुए दिनों में भी निर्लज्ज ढङ्ग से प्राणरक्षा करने की चतुरता के स्वरूप वाले द्रव्य शब्द हेतुक असम्भव और अलोकसामान्य एवं अनिर्वचनीय क्रौर्य को राम शब्द प्रतीत करा देता है। 'वैदेही' इस पद के द्वारा उस सीता का

वर्षाकालीन रमणीय प्राकृतिक उपादानों के देखने में असमर्थ होने का भाव व्यक्त करने वाला स्वाभाविक सुकुमारता में सरलता से प्राप्त होने वाला एक अनिर्वचनीय भीरुत्व प्रतिपादित होता है। और वही पहले कहे गए हुए (कविविवक्षितनियत) विशेष को प्रतिपादित करने वाले 'तु' शब्द का प्राण है।

विद्यमानधर्मातिशयवाच्याध्यारोपगर्भत्वं यथा—

ततः प्रहस्याह पुनः पुरन्दरं व्यपेतभीर्भूमिपुरन्दरात्मजः।
गृहाण शस्त्रं यदि सर्ग एष ते न खल्वनिर्जित्य रघुं कृती भवान् ॥२८॥

(पदार्थ में) विद्यमान धर्म के (लोकोत्तर) उत्कर्ष का आरोप करने के अभिप्राय से युक्त होने का (उदाहरण) जैसे—

(रघुवंश महाकाव्य में अपने पिता दिलीप द्वारा छोड़े गये अश्वमेध यज्ञ के घोड़े का अपहरण कर एवं बिना युद्ध के किसी भी तरह उसे न वापस करने के लिए उद्यत इन्द्र के)

इस (प्रकार के प्रतिवचनों को सुनने) के अनंतर वसुन्धरा के सुरपति (राजा दिलीप) के बेटे (रघु) ने भयहीन होकर पुनः अट्टहास करते हुए इन्द्र से कहा कि (हे इन्द्र) यदि यह तुम्हारा स्वभाव (ही) है (कि सीधे सीधे कहने पर शेखी बघारते जाते हो) तो हथियार उठाओ, क्योंकि (हम) रघु पर विना विजय प्राप्त किए (ही) आप कृतकृत्य नहीं (हो सकेंगे, अर्थात् बिना मुझे परास्त किए आप अश्व का अपहरण नहीं कर सकते) ॥२८॥

'रघु'-शब्देनात्र सर्वत्राप्रतिहतप्रभावस्यापि सुरपतेस्तथाविधाध्यवसायव्याघातसामर्थ्यनिबन्धनः कोऽपि स्वपौरुषातिशयः प्रतीयते। प्रहस्येत्यनेनैतदेवोपबृंहितम्।

यहाँ (इस श्लोक में) 'रघु' शब्द के द्वारा, समस्त लोकों में अनिरुद्ध प्रभाव वाले भी देवताओं के स्वामी (इन्द्र) के उस प्रकार (अश्व का अपहरण करने) के उत्साह को भङ्ग करने के सामर्थ्य के कारणभूत अपने (में विद्यमान) पराक्रम के किसी (लोकोत्तर) उत्कर्ष की प्रतीति होती है। 'प्रहस्य' (अर्थात् अट्टहास करके) इस पद के द्वारा इसी (पराक्रम के अलौकिक उत्कर्ष) को ही परिपुष्ट किया गया है।

टिप्पणी—इस प्रकार 'स्निग्ध श्यामल' में राम के अन्दर जिस क्रूरता की सम्भावना नहीं का जा सकती थी उसके आरोप के अभिप्राय को लेकर 'राम' शब्द प्रयुक्त हुआ था। अतः वह रूढिशब्द राम के द्वारा असम्भाव्य

धर्म के अध्यारोप की गर्भता (रूप पहले भेद) का उदाहरण हुआ। साथ हीं कवि ने स्वयं राम के द्वारा ही उसे कहलाया है।

अन्यो वक्ता यत्र तत्रोदाहरणं यथा—

आज्ञा शक्रशिखामणिप्रणयिनो शास्त्राणि चक्षुर्नवं
भक्तिर्भूतपतौ पिनाकिनि पदं लङ्केति दिव्या पुरी।
संभूतिर्द्रुहिणान्वये च तदहो नेदृग्वरो लभ्यते
स्याच्चेदेष न रावणः क्व नु पुनः सर्वत्र सर्वे गुणाः ॥ २९ ॥

जहाँ (कवि पदार्थ में उत्कर्ष अथवा अपकर्ष का आरोप कराने के लिए स्वयं रूढि शब्द द्वारा वाच्य पदार्थ को ही न उपनिबद्ध कर, उससे भिन्न दूसरे वक्ता (को उपनिबद्ध करता है) उसका उदाहरण जैसे—

(बालरामायण नाटक में रावण के विषय में राजा जनक से शतानन्द की निम्न उक्ति कि जिस रावण की) आज्ञा देवराज इन्द्र के मुकुट की मणियों से प्रणय करने वाली है (अर्थात् इन्द्र द्वारा शिरोधार्य है), शास्त्र ही (जिसकी) अभिनव दृष्टि है; पिनाक (धनुष) को धारण करने वाले भूतनाथ (भगवान् शङ्कर) में (जिसकी) भक्ति है, दिव्य लङ्का नगरी (जिसकी) निवास-स्थली है, ब्रह्मा के कुल में (जिसका) जन्म हुआ है; अहो ! (ऐसे उत्कृष्ट गुणों से सम्पन्न) ऐसा दूसरा वर (संसार में) कहाँ मिलता यदि यह (रावयतीति रावणः—प्राणियों को पीड़ित करने वाला) 'रावण' न होता (पर ऐसा होता कैसे—क्योंकि) कहाँ सभी में सब गुण सम्भव होते हैं ॥ २९ ॥

'रावण'-शब्देनात्र सकललोकप्रसिद्धदशाननदुर्विलासव्यतिरिक्तमभिजनविवेकसदाचारप्रभावसंभोगसुखसमृद्धिलक्षणायाः समस्तवरगुणसामग्रीसंपदस्तिरस्कारकारणं किमप्यनुपादेयतानिमित्तभूतमौपहत्यं प्रतीयते।

यहाँ पर 'रावण' शब्द से सारे लोकों में प्रसिद्ध दशमुख के कुप्रपञ्च के अतिरिक्त सज्जनों के विवेक, सदाचार, प्रभाव और ऐहिक सुख की समृद्धि के स्वरूप वाली पति के सारे गुणों की समग्रता रूपी सम्पत्ति के तिरस्कार की हेतुरूप हेयता के निमित्तभूत अपमान की प्रतीति होती है।

अत्रैव विद्यमानगुणातिशयाध्यारोपगर्भत्वं यथा—

रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धिं पराम् ॥ ३० ॥

यहीं पर (पदार्थ में विद्यमान) गुण के आतिशय्य की आरोपगर्भता (का उदाहरण) जैसे—

ये राम हैं जो अपने पराक्रम-गुणों से लोकों में परम प्रसिद्धि को प्राप्त हुए हैं ।। ३० ।।

अत्र 'राम'-शब्देन सकलत्रिभुवनातिशायी रावणानुचरविस्मयास्पदं शौर्यातिशयः प्रतीयते ।

यहाँ पर 'राम' शब्द के द्वारा समस्त त्रिलोकी को अतिक्रमण कर जाने वाला, रावण के सेवक का विस्मयभूत पराक्रमातिशय प्रतीत होता है ।

एषा च रूढिवैचित्र्यवक्रता प्रतीयमानधर्मबाहुल्याद् बहुप्रकारा भिद्यते । तच्च स्वयमेवोत्प्रेक्षणीयम् । यथा—

तथा इस 'रूढिवैचित्र्यवक्रता' के प्रतीयमान धर्मों के असंख्य होने के कारण अनेक भेद सम्भव हैं । उनको (सहृदयों को) स्वयं ही विचार कर लेना चाहिए । जैसे—

गुर्वर्थमर्थी श्रुतपारदृश्वा रघोः सकाशादनवाप्य कामम् ।
गतो वदान्यान्तरमित्ययं मे मा भूत्परीवादनवावतारः ।। ३१ ।।

(रघुवंश महाकाव्य में—विश्वजित् यज्ञ में सर्वस्व दान कर देने के अनंतर, गुरुदक्षिणा के निमित्त द्रव्य याचना के लिए पधारे हुए, किंतु प्रथम स्वागत में ही मिट्टी के अर्घ्यपात्र को देख कर निराश हो किसी अन्य दाता के पास द्रव्यहेतु जाने के लिए उद्यत वरतंतु के शिष्य कौत्स से राजा रघु की यह उक्ति कि—)

'(समग्र) शास्त्रों का पारङ्गत गुरुदक्षिणा (प्रदान करने) के निमित्त याचना करने वाला (स्नातक कौत्स दान देने में प्रसिद्ध राजा) रघु के समीप से मनोवांछित (वस्तु को) न पाकर दूसरे दानी के पास चला गया' ऐसा यह (आज तक कभी न हुआ) मेरा नवीन अपयश आविर्भूत न होवे । अतः आप जब तक मैं उसका प्रबंध करूँ, दो-तीन दिन मेरी अग्नि शाला में ठहरें) ।। ३१ ।।

'रघु'-शब्देनात्र त्रिभुवनातिशाय्यौदार्यातिरेकः प्रतीयते । एतस्यां वक्रतायामयमेव परमार्थो यत् सामान्यमात्रनिष्ठतामपाकृत्य कविविवक्षितविशेषप्रतिपादनसामर्थ्यलक्षणः शोभातिशयः समुल्लास्यते । संज्ञाशब्दानां नियतार्थनिष्ठत्वात् सामान्यविशेषभावो न कश्चित सम्भवतीति न वक्तव्यम् । यस्मात्तेषामप्यवस्थासहस्रसाधारणवृत्तेर्वाच्यस्य नियतदशाविशेषवृत्तिनिष्ठता सत्कविविवक्षिता संभवत्येव, स्वरश्रुतिन्यायेन लग्नांशुकन्यायेन चेति ।

इस (रूढिवैचित्र्यवक्रता) में यही तो तत्त्व है कि इसमें (रूढि शब्द के द्वारा उसकी) केवल सामान्यगत निष्पत्तियुक्तता का परित्याग कर कवि के अभिप्रेत विशेष (पदार्थ) का बोध कराने की क्षमता वाली रमणीयता का उत्कर्ष प्रतिपादित किया जाता है। संज्ञा शब्दों के (किसी) निश्चित अर्थ की (ही) प्रतीति कराने वाले होने के कारण उनमें कोई भी सामान्य और विशेष भाव हो ही नहीं सकता ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि उनकी भी हजारों अवस्थाओं में समान रूप से पाई जाने वाली वृत्ति वाले वाच्य के एक अच्छे कवि द्वारा विवक्षित नियत अवस्थाविशेष में व्यापार की निष्ठता सम्भव होती ही है जैसे कि 'स्वरश्रुतिन्याय' में और 'लग्नांशुकन्याय' में।

एवं रूढिवक्रतां विवेच्य क्रमप्राप्तसमन्वयां पर्यायवक्रतां विविनक्ति-

अभिधेयान्तरतमस्तस्यातिशयपोषकः ।
रम्यच्छायान्तरस्पर्शात्तदलंकर्तुमीश्वरः ॥ १० ॥

स्वयं विशेषणेनापि स्वच्छायोत्कर्षपेशलः ।
असंभाव्यार्थपात्रत्वगर्भं यश्चाभिधीयते ॥ ११ ॥

अलंकारोपसंस्कारमनोहारिनिबन्धनः
पर्यायस्तेन वैचित्र्यं परा पर्यायवक्रता ॥ १२ ॥

(१) (जो पर्याय) अभिधेय का अत्यन्त अन्तरङ्ग है, (२) उस (अभिधेय) के अतिशय को पुष्ट करनेवाला है, (३) स्वयं ही अथवा अपने विशेषण के द्वारा (जो) रमणीय दूसरी शोभा के स्पर्श से उस (अभिधेय) को अलंकृत करने में समर्थ है, (४) अपनी कांति के प्रकर्ष से रमणीय है, (५) तथा जो पर्याय सम्भावित न किए जा सकने वाले अर्थ का पात्र होने के अभिप्राय वाला कहा जाता है, एवं (६) अलङ्कारों के कारण उत्पन्न दूसरी शोभा से, अथवा अलङ्कारों की दूसरी शोभा को उत्पन्न करने से मनोहर रचना वाला पर्याय है, उसके कारण (जहाँ) विचित्रता होती है वह कोई प्रकृष्ट पर्याय की वक्रता होती है ॥ १०–१२ ॥

पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टः काव्यविषये पर्यायस्तेन हेतुना यद्वैचित्र्यं विचित्रभावो विच्छित्तिविशेषः सा परा प्रकृष्टा काचिदेव पर्यायवक्रतेत्युच्यते। पर्यायप्रधानः शब्दः पर्यायोऽभिधीयते। तस्य चैतदेव पर्यायप्राधान्यं यत् स कदाचिद्विवक्षिते वस्तुनि वाचकतया

प्रवर्तते, कदाचिद्वाचकान्तरमिति। तेन पूर्वोक्तनीत्या बहुप्रकारः पर्यायोऽभिहितः, तर्हि कियन्तस्तस्य प्रकाराः सन्तीत्याह—अभिधेया-न्तरतमः। अभिधेयं वाच्यं वस्तु तस्यान्तरतमः प्रत्यासन्नतमः। यस्मात् पर्यायशब्दत्वे सत्यप्यन्तरंगत्वात् स यथा विवक्षितं वस्तु व्यनक्ति तथा नान्यः कश्चिदिति। यथा—

पूर्वोक्त विशेषणों से विशिष्ट जो काव्य में पर्याय (होता है उसके कारण जो वैचित्र्य अर्थात् विशेष प्रकार की शोभा होती है वह कोई प्रकृष्ट पर्याय-वक्रता कही जाती है। दूसरे शब्द का स्थान ग्रहण करने की क्षमता जिसमें प्रधान रूप से पाई जाती है उसे पर्याय शब्द कहते हैं। उसकी पर्याय प्रधानता यही है कि वह कभी कहने के लिए अभिप्रेत वस्तु के विषय में वाचकरूप से प्रवृत्त होता है, कभी दूसरे वाचक के रूप में। इसलिये पूर्वोक्त न्याय से अनेक प्रकार का पर्याय बताया गया है।

(१) (जो) अभिधेय का अत्यन्त अन्तरङ्ग होता है। अभिधेय अर्थात् प्रतिपाद्य वस्तु उसका अन्तरतम अर्थात् निकटतम होता है। क्योंकि पर्याय शब्द होने पर भी (अर्थात् उस शब्द के स्थान पर उसका दूसरा पर्याय भी प्रयुक्त किया जा सकता है फिर भी) अत्यन्त अन्तरङ्ग होने के कारण कहने के लिये अभिप्रेत वस्तु को जैसे वह व्यक्त कर देता है वैसे कोई दूसरा (पर्याय) नहीं व्यक्त कर सकता है। जैसे—

नाभियोक्तुमनृतं त्वमिष्यसे कस्तपस्विविशिखेषु चादरः।
सन्ति भूभृति हि नः शराः परे ये पराक्रमवसूनि वज्रिणः॥३२॥

(किरातार्जुनीय महाकाव्य में अर्जुन के पास अपने सेनापति शिव के बाण के लिए गया हुआ किरात अर्जुन से कहता है कि)—आपसे हम मिथ्या कथन करने की इच्छा नहीं कर सकते (अर्थात् हम आपके बाणों के लिये झूठ बोलें यह असम्भव है।) क्योंकि (आप सरीखे शोच्य) मुनियों के बाणों में (हमारी) कैसी आस्था? (वैसे तो) हमारे नरेश के पास (अनेक) ऐसे बाण हैं जो वज्रधारी (इन्द्र) के शौर्य के विभव अर्थात् सर्वस्व हैं। (तात्पर्य यह कि वे बाण इन्द्र के वज्र का भी अतिक्रमण करने वाले हैं)॥ ३२॥

अत्र महेन्द्रवाचकेष्वसंख्येषु संभवत्सु पर्यायशब्देषु 'वज्रिणः' इति प्रयुक्तः पर्यायवक्रतां पुष्णाति। यस्मात् सततसंनिहित वज्रस्यापि सुरपतेर्ये पराक्रमवसूनि विक्रमधनानीति सायकानां लोकोत्तरत्व-

प्रतीतिः । 'तपस्वि'-शब्दोऽप्यतितरां रमणीयः । यस्मात् सुभटसायकानामादरो बहुमानः कदाचिदुपपद्यते, तापसमार्गणेषु पुनरकिंचित्करेषु कः संरम्भ इति ।

यहाँ महेन्द्र के वाचक अनेक पर्याय शब्दों के होने पर भी (कवि द्वारा (प्रयुक्त 'वज्रिणः' (अर्थात् वज्र धारण करने वाला) यह शब्द पर्यायवक्रता का पोषण करता है। क्योंकि (जो बाण) सदैव वज्र को धारण करनेवाले देवाधिप इन्द्र के भी शौर्य के विभव हैं इससे बाणों की अलौकिकता द्योतित होती है । साथ ही 'तपस्वि' पद भी अत्यधिक रमणीय है, क्योंकि शूरों के बाणों के प्रति शायद कभी आदर अथवा अभिलाष उचित भी हो पर तपस्वियों के बेकार बाणों के प्रति कैसी अभिरुचि हो सकती है । (इस प्रकार यहाँ प्रयुक्त 'तपस्वि' पद भी अत्यधिक चमत्कारकारी है, क्योंकि यदि किरात यहाँ केवल अर्जुन के लिए किसी विशेष वाचक पद का प्रयोग करता तो वह चमत्कार न आ पाता जो सामान्य वाचक 'तपस्वि' पद से आ गया है ।)

यथा वा—

कस्त्वं ज्ञास्यसि मां स्मर स्मरसि मां दिष्ट्या किमभ्यागत-
स्त्वामुन्मादयितु कथं ननु बलात् किं ते बलं पश्य तत् ।
पश्यामीत्यभिधाय पावकमुचा यो लोचनेनैव तं
कान्ताकण्ठनिषक्तबाहुमदहत्तस्मै नमः शूलिने ॥ ३३ ॥

अथवा जैसे (इसी पर्यायवक्रता का दूसरा उदाहरण)—(जिस समय देवराज इन्द्र के अनुरोध से कामदेव भगवान् शङ्कर की समाधि भङ्ग करने के लिए उनके पास जाता है, उसी अवसर पर काम और शङ्कर की परस्पर नाटचपूर्ण वार्ता का वर्णन कवि प्रस्तुत करता है कि—) (शङ्कर—) तू कौन है रे ? (काम०) अभी (अपने आप) मुझे जान जाओगे (उतावले मत बनो) । (शङ्कर) अरे (धूर्त) काम ! तू मेरा स्मरण करता है ? (या नहीं जो मुझे अभी पता लगवाने आया है) । (काम०) हाँ, हाँ, बड़े प्रेम से (मुझे आप की याद आ रही है) । (शङ्कर) तो फिर यहाँ किस लिए आया है ? (काम०)-तुम्हें उन्मत्त बनाने के लिये ! (शङ्कर)-सो कैसे । (काम०) अरे बलपूर्वक (और कैसे) । (शङ्कर)–(वाह) कौन-सा है तेरा वह बल (जिसके भरोसे उछलरहा है) । (काम०)–(हहह मेरा बल जानना चाहते हो तो) देखो । शङ्कर–(आ दिखा अब तेरा बल ही में देखता हूँ ऐसा कहकर जिन्होंने आग उगलने वाले (अपने ललाट के) नेत्र से ही अपनी प्रियतमा

के गले में बाँह डाले हुए उस (कामदेव) को जला दिया। उन त्रिशूल को धारण करने वाले (भगवान् शङ्कर) को प्रणाम है ॥ ३३ ॥

अत्र परमेश्वरे पर्यायसहस्रेष्वपि संभवत्सु 'शूलिने' इति यत्प्रयुक्तं तत्रायमभिप्रायो यत्तस्मै भगवते नमस्कारव्यतिरेकेण किमन्यदभिधीयते। यत्तत्तथाविधोत्सेकपरित्यक्तविनयवृत्तेः स्मरस्य कुपितेनापि तदभिमतावलोकव्यतिरेकेण तेन सततसंनिहितशूलेनापि कोपसमुचितमायुधग्रहणं नाचरितम्। लोचनपातमात्रेणैव कोपकार्यकरणाद्भगवतः प्रभावातिशयः परिपोषितः। अत एव तस्मै नामोऽस्त्विति युक्तियुक्ततां प्रतिपद्यते।

यहाँ भगवान् शङ्कर के वाचक हजारों पर्यायों के सम्भव होने पर भी कवि ने जो 'शूलिनः, (त्रिशूलधारी) पर्याय पद को प्रयुक्त किया है उसका आशय यह है कि उन ऐश्वर्यशाली शङ्कर के लिए नमस्कार के अलावा और कहा ही क्या जा सकता है क्योंकि उस प्रकार की धृष्टता से विनम्रता का परित्याग कर देने वाले कामदेव पर क्रुद्ध हो जाने पर भी एवं निरन्तर त्रिशूल को धारण किए रहने पर भी उन्होंने उस (कामदेव) के अभिमत दर्शन से भिन्न अपने क्रोध के अनुरूप हथियार नहीं उठाया। (अर्थात् यदि वे चाहते तो अपने त्रिशूल से काम को तमाम कर देते लेकिन फिर भी उन्होंने उसकी ओर केवल देखा ही था जैसा कि आपने स्वयं कहा था कि यदि मेरा बल देखना है तो देखो (पश्य)। इसीलिए कुन्तक ने तदभिमत् शब्द को प्रयुक्त किया है—जिसकी कि व्याख्या करना ही आचार्य विश्वेश्वर जी भूल गए।) साथ ही केवल देखने भर से ही (काम को भस्म कर देने से) क्रोध का कार्य सम्पन्न हो जाने के कारण भगवान् शङ्कर के प्रताप का उत्कर्ष और भी अधिक पुष्ट हो गया है। अतः उनको नमस्कार है, यह कथन अत्यन्त ही समीचीन प्रतीत होता है। (इस प्रकार इस उदाहरण में 'शूलिनः' शब्द के प्रयोग से पर्यायवक्रता परिपुष्ट हुई है)।

अयमपरः पदपूर्वार्धवक्रताहेतुः पर्यायः—यस्तस्यातिशयपोषकः। तस्याभिधेयस्यार्थस्यातिशयमुत्कर्षं पुष्णाति यः स तथोक्तः। यस्मात् सहजसौकुमार्यसुभगोऽपि पदार्थस्तेन परिपोषितातिशयः सुतरां सहृदयहृदयहारितां प्रतिपद्यते। यथा—

(२) पदपूर्वार्द्ध वक्रता का कारण यह दूसरा पर्याय (प्रकार) है—जो उसके अतिशय को पुष्ट करने वाला है। उस अभिधेय अर्थ के अतिशय अर्थात् उत्कर्ष का जो पोषण करता है वह (अभिधेय के उत्कर्ष को पुष्ट करने वाला

पर्याय कहा जाता है)। क्योंकि अपनी सहज कोमलता से रमणीय भी पदार्थ उस (पर्याय) के द्वारा परिपुष्ट किए गये उत्कर्ष से युक्त होकर सहृदयों का अत्यन्त मनोहारी बन जाता है। जैसे—

संबन्धी रघुभूभुजां मनसिजव्यापारदीक्षागुरु-
गौराङ्गीवदनोपमापरिचितस्तारावधूवल्लभः ।
सद्योमार्जितदाक्षिणात्यतरुणीदन्तावदातद्युति-
श्चन्द्रः सुन्दरि दृश्यतामयमितश्चण्डीशचूडामणिः ।। ३४ ।।

'बालरामायण के दशम अङ्क में' पुष्पक विमान द्वारा लङ्का से अयोध्या को आते समय राम सीता से चन्द्रमा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि—हे सुन्दरि सीते ! इधर रघुवंशी नृपों के संबंधी, मदन व्यापार संबंधी मंत्रों के उपदेष्टा, गौर वर्ण अङ्गों वाली रमणियों के मुखों के सादृश्य के लिए विख्यात, ताराङ्गनाओं के प्रियतम तथा तत्काल माँजे गये दक्षिण प्रदेश की युवतियों के दाँतों के समान सफेद छवि वाले, अम्बिकेश के शिरोरत्न इस चन्द्रमा को देखो ।। ३४ ।।

टिप्पणी—यह बालरामायण के दशम अङ्क का ४१ वाँ श्लोक है। किन्तु वहाँ इसका प्रथम चरण चतुर्थ चरण के रूप में आया है एवं पद्य का प्रारम्भ 'गौराङ्गी ···' इत्यादि द्वितीय चरण से होता है।

अत्र पर्यायाः सहजसौन्दर्यसंपदुपेतस्यापि चन्द्रमसः सहृदयहृदयाह्लादकारणं कमप्यतिशयमुत्पादयन्तः पदपूर्वार्धवक्रतां पुष्णन्ति। तथा च रामेण रावणं निहत्य पुष्पकेण गच्छता सीतायाः सविस्रम्भं स्वैरकथास्वेतदभिधीयते यच्चन्द्रः सुन्दरि दृश्यतामिति, रामणीयकमनोहारिणि सकललोकलोचनोत्सवश्चन्द्रमा विचार्यतामिति। यस्मात्तथाविधानामेव तादृशः समुचितो विचारगोचरः। संबन्धी रघुभूभुजामित्यनेन चास्माकं नापूर्वो बन्धुरयमित्यवलोकनेन संमान्यतामिति प्रकारान्तरेणापि तद्विषयो बहुमानः प्रतीयते। शिष्टाश्च तदतिशयाधानप्रवणत्वमेवात्मनः प्रथयन्ति। तत एव च प्रस्तुतमर्थं प्रति प्रत्येकं पृथक्त्वेनोत्कर्षप्रकटनात्पर्यायाणां बहूनामप्यपौनरुक्त्यम। तृतीये पादे विशेषणवक्रता विद्यते, न पर्यायवक्रत्वम् ।

यहाँ पर पर्याय (शब्द) स्वभावतः रमणीयता की सम्पत्ति से सम्पन्न भी चन्द्रमा के, सहृदयों के हृदयों के आनंद के हेतुभूत किसी (अपूर्व) अतिशय की सृष्टि करते हुए पदपूर्वार्द्ध वक्रता का पोषण करते हैं। जैसे कि लङ्कापति रावण का वध कर (अयोध्या के लिये) पुष्पक विमान से प्रस्थान

किए हुए राम (मार्ग में) सीता की स्वच्छन्द वार्ता के प्रसङ्ग में यह कहते हैं कि—हे सुन्दरि ! चंद्रमा को देखो। अर्थात् सौंदर्य के कारण मनोहारिणि सीते ! समस्त लोक के नेत्रों को आनन्दित करने वाले चन्द्रमा का विचार करो। क्यों उसी प्रकार के लोगों का वह भलीभाँति विचार का विषय बन सकता है। (तात्पर्य यह कि सोने का पारखी जौहरी ही हो सकता है। किसी की विद्वत्ता का विचार कोई विद्वान ही कर सकता है। अतः तुम्हीं इस सुन्दर चन्द्रमा का विचार कर सकती हो क्योंकि तुम स्वयं सुन्दर हो। यही 'सुन्दरि' पर्याय की वक्रता है।) 'रघुवंशी राजाओं का यह सम्बन्धी है' इससे यह कोई हमारा नवीन स्वजन नहीं (अपितु प्राचीन ही है) अतः इसकी ओर देखकर इसके प्रति सम्मान प्रकट करो, ऐसा दूसरे ढङ्ग से भी चन्द्रमा के विषय में सम्मान का बोध होता है। (भाव यह कि यह केवल सुन्दर है अतः इसे सम्मान प्रदान करो यही बात नहीं है, अपितु यह हमारा प्राचीन बन्धु भी है इस लिये दर्शन से इसे सम्मानित करो) तथा शेष (मनसिजव्यापार-दीक्षागुरुः इत्यादि) शब्द उस (चन्द्रमा) के उत्कर्ष को धारण करने की अपनी तत्परता को ही प्रकट करते हैं। (अर्थात् चन्द्रमा के उत्कर्ष को व्यक्त करते हैं) और इसी लिए प्रस्तुत अर्थ (चन्द्रमा) के प्रति अलग-अलग (उसके) अतिशय की प्रतीति कराने से बहुत से पर्याय भी पुनरुक्त से नहीं प्रतीत होते। (उक्त 'सम्बन्धी रघुभूभुजाम्—' इत्यादि पद के) तृतीय चरण (सद्यो-मार्जितदाक्षिणात्यतरुणीदन्तावदातद्युतिः') में 'विशेषणवक्रता' है, 'पर्याय-वक्रता' नहीं।

टिप्पणी—आचार्य ने तृतीय चरण में 'विशेषणवक्रता' बताई है। शेष में पर्यायवक्रता। विशेषणवक्रता का स्वरूप—जैसा कि इसी उन्मेष की १५ वीं कारिका में बताया जायगा—इस प्रकार है—'जहाँ विशेषण के महात्म्य से क्रिया का रूप अथवा कारकरूप वस्तु की रमणीयता उद्भासित है वहाँ 'विशेषणवक्रता' होती है।' इस प्रकार उक्त पद्य का तृतीय चरण चन्द्रमा के पर्याय के रूप में नहीं प्रयुक्त हुआ है वह केवल विशेषण रूप में ही प्रयुक्त है क्योंकि—'तत्काल मज्जन किए गये दक्षिण प्रदेश की युवतियों के दाँतो की तरह सफेद कान्ति वाला' केवल चन्द्रमा को सफेदी से विशिष्ट बताता है अतः उसका पर्याय नहीं है और इसके प्रयोग से जो चमत्कार आया वह विशेषण की ही वक्रता होगी। जब कि 'चण्डीशचूडामणिः', 'तारावधूवल्लभः' इत्यादि पद चन्द्रमा के पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त हैं। अतः उनसे जो सौन्दर्य प्रतीति हुई वह 'पर्यायवक्रता' होगी।

अयमपरः पर्यायप्रकारः पदपूर्वार्धवक्रतानिबन्धनः—यस्तदलं-कर्तुमीश्वरः। तदभिधेयलक्षणं वस्तु विभूषयितुं यः प्रभवतीत्यर्थः। कस्मात्—रम्यच्छायान्तरस्पर्शात्। रम्यं रमणीयं यच्छायान्तरं विच्छित्त्यन्तरं श्लिष्टत्वादि तस्य स्पर्शात्, शोभान्तरप्रतीतेरित्यर्थः। कथम्—स्वयं विशेषणेनापि। स्वयमात्मनैव, स्वविशेषणभूतेन पदान्तरेण वा। तत्र स्वयं यथा—

(३) पदपूर्वार्द्ध वक्रता के हेतुभूत पर्याय का यह अन्य भेद है कि—जो (पर्याय) उसे अलङ्कृत करने में सामर्थ्यवान है अर्थात् उस अभिधेय रूप वस्तु को मण्डित करने में समर्थ होता है। किससे (मण्डित करने में)—रमणीय दूसरी शोभा के स्पर्श से। रम्य अर्थात् मनोरम जो दूसरी छाया अर्थात् श्लिष्टता आदि अन्य कान्ति उसके स्पर्श से। तात्पर्य यह कि दूसरी शोभा की प्रतीति से (मण्डित करने में समर्थ होता है)। कैसे (समर्थ होता है) स्वयं तथा विशेषण से भी। स्वयं अर्थात् अपने आप अथवा अपने विशेषण रूप अन्य पदार्थ के द्वारा (अभिधेय को विभूषित करने में) समर्थ होता है। उनमें स्वयं जैसे (अभिधेय को विभूषित करता है उसका उदाहरण)—

इत्थं जडे जगति को नु बृहत्प्रमाण-
कर्णः करी ननु भवेद् ध्वनितस्य पात्रम्।
इत्यागतं झटिति योऽलिनमुन्ममाथ
मातङ्ग एव किमतः परमुच्यतेऽसौ॥ ३५॥

इस तरह के जड़ संसार में (हमारे) शब्दों का पात्र कौन हो सकता है सम्भवतः बहुत बड़े आकार वाले कानों वाला हाथी ही हो सकता है इसी से आये हुए भ्रमर को जिसने तुरन्त ही मसल डाला अतः वह मातङ्ग (चाण्डाल) ही है; इससे अधिक और उसे क्या कहा जा सकता है॥३५॥

अत्र 'मातङ्ग'-शब्दः प्रस्तुते वारणमात्रे प्रवर्तते। श्लिष्टया वृत्त्या चण्डाललक्षणस्याप्रस्तुतस्य वस्तुनः प्रतीतिमुत्पादयन् रूपकालंकार-च्छायासंस्पर्शाद् गौर्वाहीक इत्यनेन न्यायेन सादृश्यनिबन्धनस्योपचारस्य संभवात् प्रस्तुतस्य वस्तुनस्तत्त्वमध्यारोपयन् पर्यायवक्रतां पुष्णाति। यस्मादेवंविधे विषये प्रस्तुतस्याप्रस्तुतेन संबन्धोपनिबन्धो रूपकालंकार-द्वारेण कदाचिदुपमामुखेन वा। यथा 'स एवायं' 'स इवाय' मिति वा।

यहाँ पर 'मातङ्ग' शब्द (अभिधावृत्ति से प्रकरण द्वारा अभिधा के केवल हाथी रूप अर्थ में ही नियन्त्रित हो जाने से) प्रस्तुत (वर्ण्यमान)

केवल हाथी का बोध कराता है। परन्तु शेष बची हुई (लक्षणा) वृत्ति के द्वारा 'चाण्डाल रूप अप्रस्तुत वस्तु का बोध कराता हुआ रूपकालङ्कार की शोभा के स्पर्श से 'गौर्वाहीकः' में प्रयुक्त न्याय से सादृश्य के कारण उपचार के सम्भव होने से प्रस्तुत (वारण रूप) वस्तु में उस (चाण्डाल रूप अप्रस्तुत वस्तु के) भाव का आरोप करता हुआ 'पर्यायवक्रता' का पोषण करता है। क्योंकि इस प्रकार (सादृश्यमूला लक्षणा) के विषय में प्रस्तुत के अप्रस्तुत के साथ सम्बन्ध को कभी रूपकालङ्कार के द्वारा अथवा कभी उपमालङ्कार के द्वारा व्यक्त किया जाता है। जैसे (उसमें (सः) और इसमें (अयम्) सादृश्य का बोध या तो) 'वह ही यह है' इस प्रकार (रूपक के द्वारा) अथवा 'यह उसके समान है' इस प्रकार (उपमा के द्वारा कराया जा सकता है।)

टिप्पणी—इस स्थल की व्याख्या करते समय कवि ने कुछ ऐसे प्रयोग किए हैं जो अधिक व्याख्या की अपेक्षा रखते हैं। उनमें हम एक एक की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं।

१ 'मातङ्ग' शब्द केवल प्रस्तुत 'हाथी' अर्थ का बोध कराता है। इसका तात्पर्य यह है कि यद्यपि 'मातङ्ग' शब्द का अर्थ 'हाथी' एवं 'चाण्डाल' दोनों है। दोनों ही सङ्केतित अर्थ हैं। सङ्केतित अर्थ का बोध कराने वाली शक्ति-अभिधा वृत्ति कहलाती है। जैसा कि साहित्यदर्पणकार के शब्दों में—'तत्र सङ्केतितार्थस्य बोधनादग्रिमाभिधा' ॥ २।४ ॥ यही सर्वप्रथम प्रवृत्त होती है। किन्तु जहाँ एक शब्द में अनेक अर्थों का संकेत रहता है वहाँ किसी विशेष अर्थ का बोध कराने में अभिधा का निम्न हेतुओं से नियन्त्रण हो जाता है। वे हेतु हैं—

"संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ॥
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ॥" इति ॥

यहाँ हमें अभिधा का प्रकरण से किसी अर्थ में कैसे नियंत्रण होता है इस पर विचार करना है। जैसे कोई भृत्य अपने स्वामी से कहता है कि "सर्वं जानाति देवः।" यहाँ प्रकरण के कारण देव शब्द का 'आप' अर्थ में नियंत्रण हो जाता है। अर्थात् अभिधा केवल 'आप' अर्थ का ही बोध करा कर क्षीण हो जाती है। उसी प्रकार यहाँ प्रकरण भ्रमर एवं हाथी का ही प्रस्तुत है इसलिये अभिधा का मातङ्ग शब्द के द्वारा हाथी अर्थ देने में

नियन्त्रण हो जाता है। वह दूसरा चाण्डाल रूप अर्थ नहीं दे सकती। इसी लिए कहा गया है कि 'मातङ्ग' शब्द यहाँ केवल प्रस्तुत हाथी का ही बोध कराता है।

२. शिष्ट वृत्ति के द्वारा चाण्डाल रूप अप्रस्तुत वस्तु की प्रतीति कराता हुआ।

यहाँ आचार्य विश्वेश्वर जी ने डॉ० डे के पाठ को अशुद्ध बताते हुए 'शिष्टया' के स्थान पर 'श्लिष्टया' पाठ को समीचीन बताया है। वस्तुतः वह भ्रांति है। क्योंकि (१) 'श्लिष्टा' नाम की कोई वृत्ति नहीं होती। (२) 'गौर्वाहीकः' में श्लिष्टता का लेश भी नहीं है। क्योंकि गौर्वाहीकः श्लिष्टता का उदाहरण नहीं अपितु सादृश्यमूला लक्षणा का उदाहरण है। यहाँ ग्रन्थकार ने जो 'गौर्वाहीकः' न्याय को प्रस्तुत किया है उससे स्पष्ट है कि वह लक्षणा वृति को स्वीकार करते हैं। लक्षणा का क्षेत्र अभिधा के बाद आता है। इस प्रकार उक्त उदाहरण में 'मातङ्ग' का 'हाथी' रूप अर्थ देकर अभिधा तो कृतार्थ हो जाती है। वह दूसरा अर्थ दे नहीं सकती।

अतः शेष बचती है लक्षणा वृत्ति। इसी के लिये ग्रन्थकार ने 'शिष्टया वृत्त्या' कहा है। लक्षणा का लक्षण 'काव्यप्रकाश' में दिया गया है—'मुख्यार्थ-बाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्। अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया॥'' २।९॥ अर्थात् मुख्यार्थ का बाध होने पर, उस (मुख्यार्थ) के साथ सम्बन्ध होने पर रूढि अथवा प्रयोजन के कारण जिसके द्वारा अन्य अर्थ लक्षित होता है वह आरोपित व्यापार लक्षणा कहा जाता है॥

वह लक्ष्यार्थ का अभिधेयार्थ के साथ सम्बन्ध ४ प्रकार का होता है जैसा कहा गया है—

अभिधेयेन सामीप्यात् सारूप्यात् समवायतः।
वैपरीत्यात् क्रियायोगाल्लक्षणा पञ्चधा मता॥

ग्रन्थकार ने यहाँ गौर्वाहीकः के न्याय को प्रस्तुत किया है। गौर्वाहीकः का सिद्धान्त मम्मट के शब्दों में इस प्रकार है—

१. अत्र हि स्वार्थसहचारिणो गुणा जाड्यमान्द्यादयो लक्ष्यमाणा अपि गोशब्दस्य परार्थाभिधाने प्रवृत्तिनिमित्तत्वमुपयान्ति इति केचित्।

२. स्वार्थसहचारिगुणाभेदेन परार्थगता गुणा एव लक्ष्यन्ते न परार्थोभि-धीयते इत्यन्ये।

३. साधारणगुणाश्रयत्वेन परार्थ एव लक्ष्यते इत्यपरे।

तीसरा सिद्धान्त ही मम्मट को मान्य है।

एष एव च शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्यस्य पदध्वनेर्विषयः, बहुषु चैवंविधेषु सत्सु वाक्यध्वनेर्वा । यथा —

कुसुमसमययुगमुपसंहरन्नुत्फुल्लमल्लिकाधवलाट्टहासो व्यजृम्भत ग्रीष्माभिधानो महाकालः ।। ३६ ।।

यही (पर्यायवक्रता का तीसरा भेद ध्वनिवादियों के अनुसार उक्त उदाहरण की भाँति एक पर्याय पद के प्रयुक्त होने पर) शब्दशक्तिमूल अनुरणन रूप व्यंग्य के पदध्वनि का विषय होता है। अथवा इसी प्रकार के अनेक (पर्यायों) के (प्रयुक्त) होने पर वाक्यध्वनि का विषय होता है। जैसे (वाक्यध्वनि का उदाहरण)—

वसन्त युग का उपसंहार करते हुए खिली हुई बेला के उज्ज्वल अट्टहास वाला ग्रीष्म नामक दीर्घकाल आ गया। (व्यंग्यार्थ—कुसुमसमय तुल्य युग को समाप्त करता हुआ खिले हुए बेला के फूल की तरह सफेद अट्टहास वाले यमराज ने जँमाई ली) ।। ३६ ।।

यथा—

वृत्तेऽस्मिन् महाप्रलये धरणीधारणायाधुना त्वं शेषः इति ।। ३७ ।।

और जैसे (सिंहनाद के कथनानुसार हर्षचरित के प्रक्रान्त पक्ष में) उत्सवों के इस सर्वतः विनाश के संघटित हो जाने पर साम्राज्य के सम्हालने के लिए अब तुम्हीं अवशिष्ट हो। (व्यंग्यार्थ पक्ष में) इस महाप्रलय के हो जाने पर (अर्थात् दशों दिक्पालों और दिग्गजों के समाप्त हो जाने पर) इस वसुन्धरा के धारण के लिए शेषनाग ही रह जाते हैं। (यह दूसरा अर्थ ध्वनिवादियों के अनुसार उपमाध्वनि को प्रस्तुत करता है) ।। ३७ ।।

अत्र युगादयः शब्दा प्रस्तुताभिधानपरत्वेन प्रयुज्यमानाः सन्तोऽप्यप्रस्तुतवस्तुप्रतीतिकारितया कामपि काव्यच्छायां समुन्मीलयन्तः प्रतीयमानालङ्कारव्यपदेशभाजनं भवन्ति ।।

यहाँ पर युग आदि शब्द को प्रकाशित करने में लगे होने के कारण प्रयोग में लाए जाते हुए भी आक्रान्त वस्तु का बोध कराने वाले के रूप में एक अनिर्वचनीय काव्य शोभा को उन्मीलित करते हुए प्रतीयमान अलङ्कार की संज्ञा के पात्र बनते हैं।

विशेषणेन यथा—

सुस्निग्धमुग्धधवलोरुदृशं विदग्ध-
मालोक्य यन्मधुरमद्य विलासदिग्धम् ।

भस्मीचकार मदनं ननु काष्ठमेव
तन्नूनमीश इति वेत्ति पुरन्ध्रिलोकः ॥ ३८ ॥

विशेषण के द्वारा जैसे—

कामिनी समुदाय ने स्नेहमयी सुन्दर श्वेत और विशाल आँखों वाले तथा सरस मदिरा के कारण उत्पन्न शृङ्गार हावों से परिपूर्ण विदग्ध नायक को देखकर 'शिवजी ने निश्चित रूप से मदन नामक काठ को ही जला दिया था' ऐसा निश्चय किया ॥ ३८ ॥

अत्र काष्ठमिति विशेषणपदं वर्ण्यमानपदार्थापेक्षया मन्मथस्य नीरसतां प्रतिपादयद् रम्यच्छायान्तरस्पर्शिश्लेषच्छायामनोज्ञविन्यास-परमस्मिन् वस्तुन्यप्रस्तुते मदनाभिधानपादपलक्षणे प्रतीतिमुत्पादयद् रूपकालङ्कारच्छायासंस्पर्शात् कामपि पर्यायवक्रतामुन्मीलयति ।

यहाँ पर 'काष्ठम्' यह विशेष पद वर्णन के विषयभूत पदार्थ के प्रति अपेक्षा होने के नाते मन्मथ की नीरसता को प्रकाशित करते हुए और रमणीय दूसरी कान्ति का स्पर्श करने वाले श्लेष की शोभा के कारण सुन्दर विन्यास से उत्कर्ष को पाने वाला होकर इस अप्रस्तुत मदन नामक वृक्ष रूपी वस्तु के विषय में बोध को उत्पन्न कराते हुए रूपक नामक अलंकार की शोभा के स्पर्श के कारण एक अद्भुत पर्यायवक्रता को प्रस्तुत करता है ।

अयमपरः पर्यायप्रकारः पदपूर्वार्धवक्रतायाः कारणम्-यः स्वच्छायोत्कर्षपेशलः । स्वस्यात्मनश्छाया कान्तिर्या सुकुमारता तदुत्कर्षेण तदतिशयेन यः पेशलो हृदयहारी । तदिदमत्र तात्पर्यम्— यद्यपि वर्ण्यमानस्य वस्तुनः प्रकारान्तरोल्लासकत्वेन व्यवस्थितिस्तथापि परिस्पन्दसौन्दर्यसंपदेव सहृदयहृदयहारितां प्रतिपद्यते । यथा—

(४) 'पदपूर्वार्धवक्रता' का हेतु यह अन्य पर्याय का भेद है कि—जो अपनी कान्ति के उत्कर्ष से मनोहर होता है । स्वच्छाया अर्थात् अपनी जो कान्ति अथवा सुकुमारता है उसके उत्कर्ष अर्थात् आधिक्य से पेशल अर्थात् मनोरम (पर्याय) । तो इसका भाव यह है कि—यद्यपि वर्णन की जाती हुई वस्तु की स्थिति दूसरे प्रकार को उत्पादित करने वाली के रूप में होती है फिर भी उसकी स्वाभाविक सौन्दर्य-सम्पत्ति ही सहृदयों के हृदय को आकृष्ट कर लेने वाली हो उठती है । जैसे—

इत्थमुत्कयति ताण्डवलीलापण्डिताब्धिलहरीगुरुपादैः ।
उत्थितं विषमकाण्डकुटुम्बस्यांशुभिः स्मरवतीविरहो माम् ॥ ३९ ॥

स्मरवती (प्रियतमा) का विरह नृत्यलीला निपुण सागर की लहरियों की प्रशस्त आचार्य पंचबाण के मित्र चन्द्र की किरणों के कारण इस तरह उठ पड़े हुए मुझको व्याकुल किए दे रहा है ॥ ३९ ॥

अत्रेन्दुपर्यायो 'विषमकाण्डकुटुम्ब'-शब्दः कविनोपनिबद्धः । यस्मान्मृगाङ्कोदयद्वेषिणा विरहविधुरहृदयेन केनचिदेतदुच्यते । यदयमप्रसिद्धोऽप्यमरिम्लानसमन्वयतया प्रसिद्धतमतामुपनीतस्तेन प्रथमतरोल्लिखितत्वेन च चेतनचमत्कारितामवगाहते । एष च स्वच्छायोत्कर्षपेशलः सहजसौकुमार्यसुभगत्वेन नूतनोल्लेखविलक्षणत्वेन च कविभिः पर्यायान्तरपरिहारपूर्वकमुपवर्ण्यते । यथा—

यहाँ कवि ने चन्द्रमा के (वाचक) पर्याय के रूप में 'विषमकाण्डकुटुम्ब'-शब्द को उपनिबद्ध किया है। (तात्पर्य यह कि 'विषमकाण्डकुटुम्ब' शब्द चन्द्रमा का पर्यायवाची नहीं है किन्तु जिस प्रकार से विषम काण्डों अर्थात् ५ बाणों वाला कामदेव विरहियों को कष्ट पहुँचाता है उसी प्रकार चन्द्रमा भी उनके लिए कष्टदायक होता है इसी लिए चन्द्रमा को कामदेव का कुटुम्बी, उसका स्वजन बताया गया है) क्योंकि (प्रियतमा के) विरह से विकल हृदय चन्द्रोदय से वैर रखने वाला कोई (विरही) कह रहा है। क्योंकि यह (शब्द चन्द्रमा के पर्याय रूप में) प्रख्यात न होते हुए भी अछूते सम्बन्ध के कारण अत्यन्त ख्याति को प्राप्त कराया गया है अतः सर्वप्रथम (चन्द्र के पर्याय रूप में) उल्लिखित अथवा प्रयुक्त होने के कारण प्राणियों को आनन्दित करता है। तथा अपनी ही शोभा के आधिक्य से मनोहर इस (पर्याय) का अपनी स्वाभाविक सुकुमारता से रमणीय होने के कारण एव अभिनव उल्लेख से विलक्षण होने के कारण कविजन दूसरे पर्यायों का परित्याग कर प्रयोग करते हैं। जैसे—

कृष्णकुटिलकेशीति वक्तव्ये यमुनाकल्लोलवक्रालकेति । यथा वा गौराङ्गीवदनोपमापरिचित इत्यत्र वनितादिवाचकसहस्रसद्भावेऽपि गौराङ्गीत्यभिधानमतीवरमणीयम् ।

'काले एवं टेढ़े बालों वाली' कहने के लिए 'कालिन्दी कल्लोल यमुना की तरङ्गों के समान कुञ्चित चूर्णकुन्तलों वाली' कहा जाय। अथवा जैसे—

(पहले उदाहरण संख्या २।३४ पर उद्धृत 'सम्बन्धी रघुभूभुजा'-इत्यादि पद के द्वितीय चरण) 'गौराङ्गीवदनोपमापरिचितः' में (स्त्री के वाचक)

वनिता आदि हजारों पर्यायों के होने पर भी (कवि द्वारा प्रयुक्त) 'गौराङ्गी' यह कथन ग्राम्य न होने के कारण अत्यन्त ही मनोहर है।

अयमपरः पर्यायप्रकारः पदपूर्वार्धवक्रताभिधायी--असंभाव्यार्थ-पात्रत्वगर्भं यश्चाभिधीयते। वर्ण्यमानस्यासंभाव्यः संभावयितुमशक्यो योऽर्थः कश्चित्परिस्पन्दस्तत्र पात्रत्वं भाजनत्वं गर्भोऽभिप्रायो यत्राभि-धाने तत्तथाविधं कृत्वा यश्चाभिधीयते भण्यते। यथा—

(५) 'पदपूर्वार्द्धवक्रता' का प्रतिपादक यह अन्य (पाचवाँ) पर्याय का भेद है कि--जो (पर्याय) असम्भाव्य अर्थ के पात्र होने के अभिप्राय वाला कहा जाता है। वर्णित की जाने वाली वस्तु का असम्भाव्यमान अर्थात् जिसकी सम्भावना नहीं की जा सकती है ऐसा जो अर्थ अर्थात् कोई विशेष धर्म होता है उसका पात्र अर्थात् भाजन होने का गर्भ अर्थात् अभिप्राय जिस कथन में निहित होता है वह उस प्रकार का जो पर्याय कहा जाता है। जैसे—

अलं महीपाल तव श्रमेण प्रयुक्तमप्यस्त्रमितो वृथा स्यात्।
न पादपोन्मूलनशक्ति रंहः शिलोच्चये मूर्च्छति मारुतस्य॥ ४०॥

(रघुवंश महाकाव्य में राजा दिलीप का गुरु की गाय के रक्षार्थ तरकश से वाण निकालते समय उसी में हाथ फँस जाने पर सिंह राजा से कहता है कि) हे पृथ्वीपते! अब (इस गाय को मेरे चङ्गुल से बचाने के लिए) आपका (मुझ पर बाण चलाने का) प्रयास व्यर्थ है, (क्योंकि) इधर (मेरे ऊपर) फेंका गया (आप का) शस्त्र निष्फल हो जायगा। जैसे (विशाल) वृक्षों को उखाड़ फेंकने में समर्थ भी हवा का वेग पहाड़ पर मूर्च्छित हो जाता है (पहाड़ को नहीं उखाड़ पाता)॥ ४०॥

अत्र महीपालेति राज्ञः सकलपृथ्वीपरिरक्षणमपौरुषस्यापि तथा-विधप्रयत्नपरिपालनीयगुरुगोरूपजीवमात्रपरित्राणासामर्थ्यं स्वप्ने-ऽप्यसंभावनीयं यत्तत्पात्रत्वगर्भमामन्त्रणमुपनिबद्धम्।

यहाँ पर 'महीपाल' ऐसा सम्बोधन पद समस्त वसुन्धरा की भलीभाँति रक्षा करने में समर्थ पराक्रम वाले राजा की जो स्वप्न में भी सम्भावित न किए जा सकनेवाली उस प्रकार के प्रयत्नों से सम्यक् पालन किये जाने योग्य गुरु की गाय रूप केवल एक ही प्राणी की भी रक्षा करने में असमर्थता है, उसकी पात्रता के अभिप्राय से युक्त रूप में प्रयुक्त हुआ है। (अर्थात् राजा को सम्पूर्ण पृथ्वी का रक्षक बता कर उनका उपहास किया

जा रहा है कि आप हैं तो महीपाल लेकिन एक गाय की भी रक्षा नहीं कर सकते। इसी राजा के असामर्थ्य को ही सूचित करने के लिए इस पद को प्रयुक्त किया गया है।)

यथा वा—

भूतानुकम्पा तव चेदियं गौरेका भवेत् स्वस्तिमती त्वदन्ते।
जीवन् पुनः शश्वदुपप्लवेभ्यः प्रजाः प्रजानाथ पितेव पासि ॥ ४१ ॥

अथवा जैसे (इसका दूसरा उदाहरण)—

(उसी दिलीप एवं सिंह संवाद में से यह पद्य भी उद्धृत है। जब राजा अपने प्राणों का उत्सर्ग कर उस गाय की रक्षा करने को तैयार हो जाते हैं तो सिंह राजा से कहता है कि—)

यह (इस गाय की रक्षा के हेतु तुम्हारा अपने प्राणों का उत्सर्ग कर देना) यदि तुम्हारी जीवों पर कृपा है, (तो भी तुम्हारे प्राणों का उत्सर्ग ठीक नहीं क्योंकि) तुम्हारा विनाश हो जाने पर, यह अकेली ही गाय कल्याणमती हो सकेगी। जब कि हे प्रजापति ! आप जीवित रहते हुए हमेशा पिता के समान (तमाम) प्रजाओं को उपद्रवों (अथवा विपत्तियों) से बचाओगे। (अतः केवल एक ही गाय के लिए तुम्हारा प्राणपरित्याग ठीक नहीं) ॥ ४१ ॥

अत्र यदि प्राणिकरुणाकारणं निजप्राणपरित्यागमाचरसि यदप्ययुक्तम्। यस्मात्त्वदन्ते स्वस्तिमती भवेदियमेकैव गौरिति त्रितयमप्यनादरास्पदम्। जीवन् पुनः शश्वत्सदैवोपप्लवेभ्योऽनर्थेभ्यः प्रजाः सकलभूतधात्रीवलयवर्तिनीः प्रजानाथ पासि रक्षसि। पितेवेत्यनादरातिशयः प्रथते।

यहाँ यदि तुम जीवों पर अनुकम्पा होने के कारण अपने प्राणों का विसर्जन कर रहे हो तो वह भी ठीक नहीं। क्योंकि १—तुम्हारा विनाश हो जाने पर, २—यह अकेली ही, ३—(वह भी) गाय कल्याणमती होगी। इस प्रकार ये तीनों ही बातें तिरस्कारयोग्य हैं जबकि आप १—जीवित रहते हुए, २—समस्त भूमण्डल पर निवास करनेवाली (तमाम) प्रजाओं की हे प्रजानाथ ! पिता के समान हमेशा अनेक उपद्रवों अथवा अनर्थों से, ३—रक्षा कर सकोगे। इसके द्वारा ऊपर कहे गए तिरस्कार का और भी अतिरेक प्रतिपादित करता है।

तदेवं यद्यपि सुस्पष्टसमन्वयोऽयं वाक्यार्थस्तथापि तात्पर्यान्तरमत्र प्रतीयते। यस्मात् सर्वस्य कस्यचित्प्रजानाथत्वे सति सदैव तत्परिरक्षणस्याकरणस्याकरणमसंभाव्यम्। तत्पात्रत्वगर्भमेव तदभिहितम्। यस्मात् प्रत्यक्षप्राणिमात्रभक्ष्यमाणगुरुहोमधेनुप्राणपरिरक्षणापेक्षानिरपेक्षस्य सतो जीवतस्तवानेन न्यायेन कदाचिदपि प्रजापरिरक्षणं मनागपि न संभाव्यत इति प्रमाणोपपन्नम्।

तदिदमुक्तम्—

प्रमाणवत्त्वादायातः प्रवाहः केन वार्यते ॥ ४२ ॥ इति।

तो इस प्रकार यद्यपि इस वाक्य (श्लोक) का अर्थ भली-भाँति समन्वित हो जाता है फिर भी यहाँ दूसरे अभिप्राय की प्रतीति होती है। क्योंकि सभी किसी के प्रजापति होने पर हमेशा ही उस प्रजा के परित्राण के न करने की सम्भावना नहीं की जा सकती (अर्थात् कोई भी राजा अपनी प्रजा का परित्राण तो करेगा ही क्योंकि प्रजापालन ही तो इसका धर्म है। इस प्रकार गाय की रक्षा करना राजा दिलीप का धर्म है। उसकी रक्षा उन्हें अवश्य करनी चाहिए। यही 'प्रजानाथ' पद के द्वारा राजा का उपहास किया जा रहा है कि बनते प्रजानाथ हो पर एक गाय की रक्षा नहीं कर सकते) इसी की पात्रता के अभिप्राय से युक्त रूप में उन्हें प्रजानाथ कहा गया है। क्योंकि प्रत्यक्ष ही केवल एक जीव (सिंह) के द्वारा (जिसके पास कोई अस्त्र अथवा सेना नहीं है उसके द्वारा) भक्षण की जानेवाली गुरु की यज्ञ की गाय के प्राणों का परित्राण करने से विमुख तुम्हारे जीवित रहने पर भी इसी प्रकार कभी प्रजा की थोड़ी भी रक्षा असम्भव है यह बात स्वयं (अर्थापत्ति) प्रमाण से सिद्ध हो जाती है। जैसा कहा भी गया है कि—प्रगाणों से युक्त होने के कारण उपस्थित प्रवृत्ति को कौन रोक सकता है ॥ ४२ ॥

अत्राभिधानप्रतीतिगोचरीकृतानां पदार्थानां परस्परप्रतियोगित्वमुदाहरणप्रत्युदाहरणन्यायेनानुसंधेयम्।

इस विषय में उक्तिबोध में दृष्टिगत होने वाले पदार्थों की एक दूसरे के साथ प्रतियोगिता उदाहरणों और प्रत्युदाहरणों के द्वारा (अन्वय व्यतिरेक से) जान लेनी चाहिए।

अयमपरः पर्यायप्रकारः पदपूर्वार्धवक्रतां विदधाति—अलंकारोपसंस्कारमनोहारिनिबन्धनः। अत्र 'अलंकारोपसंस्कार'-शब्दे तृतीयासमासः षष्ठीसमासश्च करणीयः। तेनार्थद्वयमभिहितं भवति।

अलंकारेण रूपकादिनोपसंस्कारः शोभान्तराधानं यत्तेन मनोहारि हृदयरञ्जकं निबन्धनमुपनिबन्धो यस्य स तथोक्तः। अलंकारस्योत्प्रेक्षादेरुपसंस्कारः शोभान्तराधानं चेति विगृह्य। तत्र तृतीयासमास पक्षोदाहरणं यथा—

(६) यह अन्य (छठवाँ) पर्याय का भेद 'पदपूर्वार्द्धवक्रता' को प्रस्तुत करता है—(जो) अलङ्कारोपसंस्कार से रमणीय रचना वाला होता है। यहाँ 'अलङ्कारोपसंस्कार' शब्द में तृतीयासमास तथा षष्ठीसमास (रूप तत्पुरुष) करना चाहिए। इसलिये इस शब्द से दो अर्थ प्रतिपादित होते हैं (तृतीया समास करने पर) अलङ्कार अर्थात् रूपकादि के कारण जो उपसंस्कार अर्थात् दूसरी शोभा की सृष्टि उसके द्वारा मनोहर हृदय को आनन्दित करने वाले निबन्धन अर्थात् रचना वाला (यह अर्थ होगा। तथा षष्ठी समास करने पर) उप्रेक्षा आदि अलङ्कारों का जो उपसंस्कार अर्थात् दूसरी शोभा की उत्पत्ति उससे (रमणीय रचना वाला पर्याय—यह अर्थ होगा)। उनमें तृतीया समास वाले पक्ष का उदाहरण जैसे—

यो लीलातालवृन्तो रहसि निरुपधिर्यश्च केलीप्रदीपः
कोपक्रीडासु योऽस्त्रं दशनकृतरुजा योऽधरस्यैकसेकः।
आकल्पे दर्पणं यः श्रमशयनविधौ यश्च गण्डोपधानं
देव्याः स व्यापदं वो हरतु हरजटाकन्दलीपुष्पमिन्दुः ॥४३॥

जो देवी पार्वती का विलासव्यजन है, एकान्त का निष्कपट केलिदीप है, प्रणयकोप के लिए जो अस्त्ररूप है, जो दाँतों के द्वारा उत्पन्न कर दी गई हुई पीड़ा वाले अधर के लिए एकमात्र सेंक का काम देता है, पत्ररचना के समय जो दर्पण का काम देता है और थक कर सोने के विषय में जो कपोलों के नीचे का तकिया है वह भगवान् शिव की जटारूपी कन्दली से निकला हुआ फूल चन्द्रमा तुम लोगों की विपत्ति को दूर करे॥ ४३॥

अत्र तालवृन्तादिकार्यसामान्यादभेदोपचारनिबन्धनो रूपकालंकारविन्यासः सर्वेषामेव पर्यायाणां शोभातिशयकारित्वेनोपनिबद्धः।

यहाँ पर तालवृन्त आदि कार्यों में समान रूप से पाये जाने वाले एकाधिकरण्य के कारण तादात्म्यमूलक लक्षणा पर आधारित रूपक अलङ्कार का विन्यास सभी पर्यायों की शोभा को सर्वातिशायी रूप से प्रस्तुत करनेवाले के रूप में किया गया है।

षष्ठीसमासपक्षोदाहरणं यथा—

देवि त्वन्मुखपङ्कजेन शशिनः शोभातिरस्कारिणा
पश्याब्जानि विनिर्जितानि सहसा गच्छन्ति विच्छायताम् ॥४४॥

षष्ठी-समास वाले पक्ष का उदाहरण जैसे—(रत्नावली नाटिका में नायक वत्सराज उदयन देवी वासवदत्ता की चाटुकारिता में लगा हुआ कहता है कि)—हे देवि ! देखो, शशधर की सुषमा की अवहेलना करने वाले तुम्हारे वदनारविन्द से पराजित अथवा तिरस्कृत ये कमल अकस्मात् शोभाहीन होते जा रहे हैं ॥ ४४ ॥

अत्र स्वरससंप्रवृत्तसायंसमयसमुचिता सरोरुहाणां विच्छायता-प्रतिपत्तिर्नायकेन नागरकतया वल्लभोपलालनाप्रवृत्तेन तन्निदर्शनापक्रम रमणीयत्वमुखेन निर्जितानीवेति प्रतीयमानोत्प्रेक्षालंकारकारित्वेन प्रतिपाद्यते। एतदेव च युक्तियुक्तम्। यस्मात्सर्वस्य कस्यचित्पङ्कजस्य शशाङ्कशोभातिरस्कारितां प्रतिपद्यते। त्वन्मुखपङ्कजेन पुनः शशिनः शोभातिरस्कारिणा न्यायतो निर्जितानि सन्ति विच्छायतां गच्छन्ती-वेति प्रतीयमानस्योत्प्रेक्षालक्षणस्यालंकारस्य शोभातिशयः समु-ल्लास्यते।

यहाँ अपनी सन्ध्यावेला के अनुरूप स्वाभाविक ढङ्ग से सम्पन्न होने वाली कमलों की शोभाहीनता की संवित्ति को, प्रियतमा की चाटुकारिता में प्रवृत्त नायक ने बड़े ही चातुर्यपूर्ण ढङ्ग से उन कमलों के साथ सादृश्य बताने के उपक्रम से रमणीयता के प्रतिपादन द्वारा 'मानों पराजित से हो गए हैं' इस प्रकार से गम्य उत्प्रेक्षा अलङ्कार के विधायक रूप में प्रतिपादित किया है। तथा यही समीचीन भी है। क्योंकि सभी किसी कमल की कान्ति चन्द्रमा की कान्ति से अनादृत हो जाती है फिर भला चन्द्रमा की (भी) कान्ति की अवहेलना करने वाले तुम्हारे मुखारविन्द से पराजित होकर जो शोभाहीन से होते जा रहे हैं यह तो न्यायानुकूल ही है। इस प्रकार गम्य उत्प्रेक्षारूप अलङ्कार का सौन्दर्यातिशय व्यक्त किया जा रहा है।

एवं पर्यायवक्रतां विचार्य क्रमसमुचितावसरामुपचारवक्रतां विचारयति—

यत्र दूरान्तरेऽन्यस्मात्सामान्यमुपचर्यते।
लेशेनापि भवत् कांचिद्वक्तुमुद्रिक्तवृत्तिताम् ॥ १३ ॥

इस प्रकार पर्यायवक्रता का विवेचन कर क्रमानुसार अवसरप्राप्त उपचार-वक्रता का विवेचन प्रस्तुत करते हैं—

जहाँ किसी अतिशयपूर्ण व्यापार (धर्म) के भाव को प्रतिपादित करने के लिए अत्यधिक व्यवधानवाली वर्ण्यमान वस्तु में दूसरे पदार्थ से किञ्चिन्मात्र रूप में भी विद्यमान साधारण धर्म का आरोप किया जाता है वहाँ उपचारवक्रता होती है ।। १३ ।।

यन्मूला सरसोल्लेखा रूपकादिरलंकृतिः ।
उपचारप्रधानासौ वक्रता काचिदुच्यते ।। १४ ।।

(एवं) जिसके मूल में होने के कारण रूपकादि अलङ्कार चमत्कारयुक्त हो जाते हैं वह उपचार की प्रधानतावाली कोई अपूर्व (उपचार) वक्रता कही जाती है ।। १४ ।।

असौ काचिदपूर्वा वक्रतोच्यते वक्रभावोऽभिधीयते । कीदृशी—उपचारप्रधाना । उपचरणमुपचारः स एव प्रधानं यस्याः सा तथोक्ता । किंस्वरूपा च—यत्र यस्यामन्यस्मात्पदार्थान्तरात् प्रस्तुतत्वाद्वर्ण्यमाने वस्तुनि सामान्यमुपचर्यते साधारणो धर्मः कश्चिद्वक्तुमभिप्रेतः समारोप्यते । कस्मिन् वर्ण्यमाने वस्तुनि—दूरान्तरे । दूरमनल्पमन्तरं व्यवधानं यस्य तत्तथोक्तं तस्मिन् ।

यह कोई अपूर्व वक्रता अर्थात् बाँकपन कहा जाता है । कैसी (वक्रता) उपचार के प्रधान्य वाली । उपचरण को उपचार कहते हैं (उपचरण से तात्पर्य है साथ-साथ गमन अर्थात् गौण रूप होना—क्योंकि जिसके साथ गमन किया जाता है वह तो हुआ प्रधान एवं उसके साथ-साथ चलने वाला हुआ गौण । उसी प्रकार शब्द का संकेतित अर्थ तो हुआ मुख्य अर्थ पर उसके साथ-साथ प्रतीत होने वाला अर्थ हुआ गौण । इसी गौणता को अथवा अमुख्यता को उपचार कहते हैं) वही रहता है प्रधान रूप से जिसमें उसे उपचारवक्रता कहते हैं । और क्या स्वरूप है (इस उपचारवक्रता का) ?—जहाँ अर्थात् जिस वक्रता में (वर्ण्यमान से भिन्न) दूसरे पदार्थ से, प्रस्तुत होने के कारण वर्ण्यमान वस्तु में सामान्य उपचरित होता है अर्थात् उस वस्तु में विवक्षित (दूसरे पदार्थ के) किसी साधारण धर्म का सम्यक् आरोप किया जाता है (उसे उपचारवक्रता कहते हैं) । किस वर्ण्यमान वस्तु में (आरोप किया जाता है) दूरान्तरवाली (वस्तु में) । दूर माने अत्यधिक अन्तर अर्थात् व्यवधान होता है जिसमें (उस वर्ण्यमान वस्तु में आरोप किया जाता है) ।

ननु च व्यवधानममूर्त्तत्वाद्वर्ण्यमानस्य वस्तुनो देशविहितं तावन्न संभवति। कालविहितमपि नास्त्येव, तस्य क्रियाविषयत्वात्। क्रियास्वरूपं कारकस्वरूपं चेत्युभयात्मकं यद्यपि वर्ण्यमानं वस्तु, तथापि देशकालव्यवधानेनात्र न भवितव्यम्।। यस्मात्पदार्थानामनुमानवत् सामान्यमात्रमेव शब्दैर्विषयीकर्तुं पार्यते, न विशेषः। तत्कथं दूरान्तरत्वमुपपद्यते ?

(इस पर पूर्वपक्षी प्रश्न करता है कि आपने जो वर्ण्यमान वस्तु में अनल्प व्यवधान बताया है, वह) व्यवधान वर्ण्यमान वस्तु के अमूर्त होने के कारण देशविहित तो सम्भव ही नहीं हो सकता (क्योंकि देशविहित व्यवधान केवल मूर्त पदार्थों में ही सम्भव होता है।) तथा (उस वस्तु में) कालकृत (व्यवधान) भी सम्भव नहीं क्योंकि वह क्रियाविषयक होता है (वर्ण्यमान वस्तु में कोई क्रिया होती ही नहीं। इस प्रकार यह कथन कि वस्तु में व्यवधान होता है ठीक नहीं। इसी प्रश्न को और भी दृढ़ करने के लिए पूर्वपक्षी और भी कहता है कि यदि आप यह कहें कि कविकल्पना के समय उसके मस्तिष्क में वर्ण्यमान वस्तु क्रिया एवं कारक दोनों से युक्त स्वरूप उपस्थित रहता है। अतः कालकृत एवं देशकृत दोनों व्यवधान सम्भव है तो ठीक नहीं। (क्योंकि) यद्यपि वर्ण्यमान वस्तु (कविकल्पना में) कारकस्वरूप एवं क्रियास्वरूप दोनों प्रकार की होती है फिर भी यहाँ देशविहित अथवा कालविहित (व्यवधान) सम्भवन हीं हो सकते,क्यों कि (व्यवधान तो विशेष में होता है, सामान्य में नहीं और कविकल्पना में) पदार्थों का अनुमान की भाँति केवल सामान्य ही शब्दों का विषय बनता है, न कि विशेष, अतः (वस्तु में) अत्यधिक व्यवधान का होना कैसे सम्भव हो सकता है ?

सत्यमेतत्, किन्तु 'दूरान्तर'-शब्दो मुख्यतया देशकालविषये विप्रकर्षे प्रत्यासत्तिविरहे वर्तमानोऽप्युपचारात् स्वभावविप्रकर्षे वर्तते। सोऽयं स्वभावविप्रकर्षो विरुद्धधर्माध्यासलक्षणः पदार्थानाम्। यथा मूर्तिमत्त्वममूर्तत्वापेक्षया, द्रवत्वं च घनत्वापेक्षया, चेतनत्वमचेतनत्वापेक्षयेति।

(इस पूर्वपक्ष का सिद्धान्त पक्ष उत्तर देता है कि) ठीक है (आपकी) यह बात (कि वस्तु में व्यवधान सम्भव नहीं) फिर भी 'दूरान्तर' शब्द मुख्य रूप से देश-कालविषयक विप्रकर्ष अर्थात् दूरी अर्थ का प्रतिपादक होने पर भी उपचार अर्थात् (गौण रूप) से स्वभाव के विप्रकर्ष का भी प्रतिपादक होता है। तथा वही यह पदार्थों के स्वभाव का अप्रकर्ष विपरीत धर्मों का

आरोपस्वरूप होता है। जैसे—मूर्तिमत्ता अमूर्तता की अपेक्षा, द्रवरूपता घनत्व की अपेक्षा, चेतनता अचेतनता की अपेक्षा (विरुद्ध धर्मों का होने के कारण दूरव्यवधान वाली होती है) ।

कीदृक् तत्सामान्यम्--लेशेनापि भवत्। मनाङ्मात्रेणापि सत्। किमर्थम्--कांचिदपूर्वामुद्रिक्तवृत्तितां ववतु सातिशयपरिस्पन्दताम-भिधातुम्। यथा—

स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतः ॥ ४५ ॥

(इस प्रकार 'दूरान्तर' पद की सम्यक् उपपति का विवेचन कर अव पुनः कारिका की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं कि जो सामान्य उपचरित होता है) वह सामान्य कैसा होता है—लेश से भी विद्यमान अर्थात् थोड़ा-सा भी विद्यमान (सामान्य उपचरित होता है) । किस लिये (यह सामान्य उपचरित किया जाता है)—किसी अपूर्व उद्रिक्तवृत्तिता अर्थात् अतिशय पूर्ण व्यापार अथवा धर्म के भाव का प्रतिपादन करने के लिए । जैसे—

(उदाहरण सङ्ख्या २।२७ पर पूर्वोदाहृत पद्य का निम्न अंश कि) (अपनी) स्निग्ध·····॥ ४५ ॥

अत्र यथा बुद्धिपूर्वकारिणः केचिच्चेतनवर्णच्छायातिशयोत्पाद-नेच्छया केनचिद्विद्यमानलेपनशक्तिना मूर्तेन नीलादिना रञ्जनद्रव्य-विशेषेण किंचिदेव लेपनीयं मूर्तिमद्वस्तु वस्त्रप्रायं लिम्पन्ति, तद्वदेव तत्कारित्वसामान्यं मनाङ्मात्रेणापि विद्यमानं कामप्युद्रिक्तवृत्तिताम-भिधातुमुपचारात् स्निग्धश्यामलया कान्त्या लिप्तं वियद् द्यौरित्युप-निबद्धम्। 'स्निग्ध'-शब्दोऽप्युपचारवक्र एव। यथा मूर्तं वस्तु दर्शन-स्पर्शनसंवेद्यस्नेहनगुणयोगात् स्निग्धमित्युच्यते, तथैव कान्तिरमूर्ता-प्युपचारात् स्निग्धेत्युक्ता। यथा वा—

यहाँ पर जिस तरह बुद्धिपूर्वक कार्य करने वाले कुछ लोग वर्णों की चेतन कान्ति के अतिशय को उत्पन्न करने की इच्छा से किसी लेपन शक्ति से युक्त नील आदि वास्तविक रँगने के माध्यम स्वरूप वस्तु विशेष के द्वारा किसी रँगने के योग्य मूर्तिमती या ठोस वस्तु जैसे कि वस्त्र को रँगते हैं उसी तरह उसे कर सकने का साधर्म्य केवल थोड़ा-सा भी स्थित रह कर किसी अति-शायी व्यापार के भाव को लक्षणा के द्वारा प्रस्तुत करने के लिए 'चिकनी साँवली कान्ति से रँगा हुआ आकाश अर्थात् स्वर्ग' इस ढंग से प्रस्तुत किया गया है। 'स्निग्ध' शब्द भी लक्षणा की वक्रता से ही संवलित है। जैसे कि ठोस

चीज देखने-छूने और अनुभव करने योग्य स्निग्धत्व के गुण के समावेश के कारण चिकनी कही जाती है उसी तरह अमूर्त कान्ति को भी उपचार के बल पर चिकनी कहा गया है। अथवा जैसे—

गच्छन्तीनां रमणवसतिं योषितां तत्र नक्तं
रुद्धालोके नरपतिपथे सूचिभेद्यैस्तमोभिः।
सौदामिन्या कनकनिकषस्निग्धया दर्शयोर्वी
तोयोत्सर्गस्तनितमुखरो मास्म भूर्विक्लवास्ताः ॥ ४६ ॥

(मेघदूत में विरही यक्ष अपनी प्रियतमा के पास सन्देश ले जाने वाले मेघ से मार्ग निर्देश करता हुआ उज्जयिनी के विषय में कहता है कि हे मेघ! तुम) वहाँ (उज्जयिनी में) रात्रि में घोर (सूचिभेद्य) अन्धकार के द्वारा सड़कों पर प्रकाश के रुद्ध हो जाने पर (अपने) प्रियतम के निवास स्थान को जाती हुई अबलाओं की स्वर्ग-कसौटी के समान स्निग्ध (चमकीली) बिजली के द्वारा भूमि दिखलाना (अर्थात् मार्ग प्रदर्शन करना) लेकिन जलवृष्टि एवं गर्जन के द्वारा दुर्मुख मत हो जाना (अन्यथा वे) विह्वल हो जायँगी ॥ ४६ ॥

अत्रामूर्तानामपि तमसामतिबाहुल्याद् घनत्वान्मूर्त्तसमुचित सूचिभेद्यत्वमुपचरितम्। यथा वा—

गअणं च मत्तमेहं धारालुलिअज्जुणाइ अ वणाइ।
णिरहंकारमिअंका हरंति णीलाओ वि णिसाओ ॥ ४७ ॥

(गगनं च मत्तमेघं धारालुलितार्जुनानि च वनानि।
निरहङ्कारमृगाङ्का हरन्ति नीला अपि निशाः ॥)

यहाँ पर अमूर्त भी अन्धकारों की बहुलता से उनके घने होने के कारण मूर्त के लिए उचित सूचिभेद्य उपचरित हुआ है। अर्थात् सूई के द्वारा भेदन किसी मूर्त पदार्थ का ही सम्भव है। किन्तु जैसे कि मूर्त पदार्थ घना होता है उसी प्रकार अन्धकार के बाहुल्य के कारण अन्धकार भी घना प्रतीत होने लगता है। इसीलिए केवल इसी सघनता मात्र के साम्य के कारण यहाँ सूची-भेद्य शब्द का प्रयोग उपचार से किया गया है। इसलिए यहाँ उपचार-वक्रता होगी। अथवा जैसे (इसी का अन्य उदाहरण)—

अहंकाररूपी चन्द्रमा से शून्य काली रातें भी मतवाले मेघों वाले आकाश को और (वर्षा की) धाराओं से क्षुब्ध अर्जुनों वाले बनों को हटा देती हैं ॥४७॥

अत्र मत्तत्वं निरहंकारत्वं च चेतनधर्मसामान्यमुपचरितम्। सोऽयमुपचारवक्रताप्रकारः सत्कविप्रवाहे सहस्रशः संभवतीति सहृदयैः स्वयमेवोत्प्रेक्षणीयः। अत एव च प्रत्यासन्नान्तरेऽस्मिन्नुपचारे न वक्रताव्यवहारः, यथा गौर्वाहीक इति।

यहाँ प्राणियों का सामान्य धर्मभूत मतवालापन एवं अहङ्कारहीनता उपचरित हुई है। अर्थात् अहंकार से रहित होना, एवं मदमत्त होना तो चेतन प्राणियों का ही धर्म है वह अचेतन में तो सम्भव नहीं हो सकता किन्तु यहाँ मत्तता एवं निरहङ्कारता का प्रयोग क्रमशः बादलों एवं चन्द्रमा के लिए हुआ है जो कि उनमें सम्भव नहीं है। लेकिन जिस प्रकार से मतवाला मनुष्य इधर उधर भटका करता है उसी प्रकार आकाश भी इधर उधर आकाश में भ्रमण करते हैं इसीलिए केवल इधर उधर भ्रमण करने के ही साम्य को लेकर बादलों के लिए मत्त शब्द का अमुख्य रूप से उपचारतः प्रयोग हुआ है, उसी प्रकार जैसे चेतन प्राणी का रूप अथवा सम्पत्ति आदि से हीन हो जाने पर अहंकार समाप्त हो जाता है और वह निरहंकार हो जाता है उसी प्रकार चन्द्रमा भी बादलों के छाये रहने के कारण अपने प्रकाश अथवा अपनी चन्द्रिका से रहित रहता अतः इसी रूपराहित्य के साम्य के कारण ही चन्द्रमा के लिए निरहंकार शब्द का प्रयोग गौण रूप से उपचारतः उनकी प्रकाशहीनता को द्योतित करने के लिए किया गया है। अतः यहाँ उपचारवक्रता हुई।

इसी उदाहरण को आनन्दवर्द्धनाचार्य ने 'अत्यन्त तिरस्कृत वाक्य ध्वनि' के वाक्यगत उदाहरण रूप में उद्धृत किया है। उसकी अभिनवगुप्तपादाचार्य ने इस प्रकार किया है—

इस प्रकार यह उपचार-वक्रता का भेद श्रेष्ठकवियों की प्रवृत्ति के अन्तर्गत (अर्थात् उनके काव्यों में) हजारों तरह का सम्भव हो सकता है अतः सहृदयों को स्वयं ही उसका विचार कर लेना चाहिए। (क्योंकि उसे चारुछः उदाहरणों द्वारा नहीं बताया जा सकता)।

इदम परमुपचारवक्रतायाः स्वरूपम्—यन्मूला सरसोल्लेखा रूपकादिरलंकृतिः। या मूलं यस्याः सा तथोक्ता। रूपकमादिर्यस्याः सा तथोक्ता। का सा—अलंकृतिरलंकरणं रूपकप्रभृतिरलंकारविच्छित्तिरित्यर्थः। कीदृशी—सरसोल्लेखा। सरसः सास्वादः सचमत्कृतिरुल्लेखः समुन्मेषो यस्याः सा तथोक्ता। समानाधिकरणयोरत्र हेतुहेतुमद्भावः, यथा—

उपचार-वक्रता का यह दूसरा स्वरूप है—जिसके मूल में होने के कारण रूपकादि अलङ्कार सरस उल्लेख वाले हो जाते हैं। जो जिसका मूल होता है उसे यन्मूलक कहते हैं। रूपक जिसके आदि में होता है उसे रूपकादि कहते हैं। वह (रूपकादि) क्या है—अलङ्कृति अर्थात् आभूषण। तात्पर्य यह है कि जिसके मूल में होने के कारण रूपक आदि अलङ्कारों की शोभा। कैसी (हो जाती है) सरस उल्लेख से युक्त। सरस का अर्थ है आस्वादपूर्ण अर्थात् चमत्कारसम्पन्न होता है उल्लेख अर्थात् भली भाँति प्रकाश जिसका उसे सरस उल्लेख से युक्त कहा जाता है। समान अधिकरण वाले अलङ्कृति और 'सरसोल्लेखा' में हेतुहेतुमद्भाव सम्बन्ध है, जैसे—

अतिगुरवो राजभाषा न भक्ष्या इति ॥ ४८ ॥

यन्मूला सती रूपकादिरलंकृतिः सरसोल्लेखा। तेन रूपकादेरलंकरणकलापस्य सकलस्यैवोपचारवक्रता जीवितमित्यर्थः।

बहुत बड़े-बड़े काले उड़द के दाने नहीं खाना चाहिए ॥ ४८ ॥

जिसके मूल में रहने के कारण ही रूपकादि अलङ्कार चमत्कार पूर्ण वर्णन से युक्त हो जाते हैं (उसे भी उपचारवक्रता कहते हैं)। इसलिए उसका आशय यह निकला कि उपचारवक्रता रूपकादि समस्त अलङ्कार-समुदाय का जीवितभूत है।

ननु च पूर्वस्मादुपचारवक्रताप्रकारादेतस्य को भेदः ? पूर्वस्मिन् स्वभावविप्रकर्षात् सामान्येन मनाङ्मात्रमेव साम्यं समाश्रित्य सातिशयत्वं प्रतिपादयितुं तद्धर्ममात्राध्यारोपः प्रवर्तते, एतस्मिन् पुनरदूरविप्रकृष्टसादृश्यसमुद्भवप्रत्यासत्तिसमुचितत्वादभेदोपचारनिबन्धनं-तत्त्वमेवाध्यारोप्यते। यथा—

पहले कहे गये उपचारवक्रता के प्रकार से इस उपचारवक्रता-प्रकार का क्या भेद है।

पहले (वक्रताप्रकार) में स्वभाव का अत्यन्त विप्रकर्ष होने से साधारणतया लेशमात्र ही सादृश्य का आधार ग्रहण कर (उस पदार्थ की) अत्यधिक उत्कर्षयुक्तता का बोध कराने के लिए केवल (अन्य पदार्थ के) धर्म को ही आरोपित किया जाता है, जबकि इस (द्वितीय वक्रता-प्रकार) में बहुत ही थोड़े व्यवधान वाले पदार्थ के सादृश्य से उत्पन्न अत्यन्त समीपता के योग्य होने से अभेदोपचार के कारणभूत उस पदार्थ को ही आरोपित किया जाता है। (अर्थात् पहले भेद में केवल पदार्थ के धर्म का आरोप होता है जबकि दूसरे प्रकार में पदार्थ का ही आरोप किया जाता है) जैसे—

सत्स्वेव कालश्रवणोत्पलेषु सेनावनालीविषपल्लवेषु ।
गाम्भीर्यपातालफणीश्वरेषु खड्गेषु को वा भवतां मुरारिः ॥४९॥

अत्र कालश्रवणोत्पलादिसादृश्यजनितप्रत्यासत्तिविहितमभेदोपचारनिबन्धनं तत्त्वमध्यारोपितम् ।

'आदि'-ग्रहणादप्रस्तुतप्रशंसाप्रकारस्य कस्यचिदन्यापदेशलक्षणस्योपचारवक्रतैव जीवितत्वेन लक्ष्यते ।

मृत्यु रूप श्रवणों के (सजाने हेतु) कमलरूप, या सैन्यरूप वनवीथिका के विष किसलयभूत, या गम्भीरतारूपी पाताल के (धारण करने वाले) अहिपतिरूप आपके खड्गों के स्थित रहने पर मुरारि अर्थात् विष्णु क्या चीज हैं ॥ ४९ ॥

('यन्मूला सरसोल्लेखा रूपकादिरलङ्कृतिः' में रूपक के साथ) आदि के ग्रहण करने से किसी अन्योक्तिरूप अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार के प्रकारविशेष की भी प्राणभूता उपचारवक्रता ही परिलक्षित होती है ।

तथा च किमपि पदार्थान्तरं प्राधान्येन प्रतीयमानतया चेतसि निधाय तथाविधलक्षणसाम्यसमन्वयं समाश्रित्य पदार्थान्तरमभिधीयमानतां प्रापयन्तः प्रायशः कवयो दृश्यन्ते । यथा—

और जैसा कि कविजन अधिकतर मुख्यतया किसी दूसरे पदार्थ को गम्य रूप में अपने हृदय में निहित कर उसी प्रकार के स्वरूप के सादृश्यरूप सम्बन्ध को आधार बनाकर दूसरे पदार्थ का प्रतिपादन करते हुए दिखाई पड़ते हैं । जैसे—

अनर्घः कोऽप्यन्तस्तव हरिण हेवाकमहिमा
स्फुरत्येकस्यैव त्रिभुवनचमत्कारजनकः ।
यदिन्दोर्मूर्तिस्ते दिवि विहरणारण्यवसुधा
सुधासारस्यन्दी किरणनिकरः शष्पकवलः ॥ ५० ॥

(हरिण को प्रतिपाद्य बनाता हुआ कोई कहता है कि) हे मृग ! तुम्हारी अकेले की ही, तीनों लोकों में चमत्कार को उत्पन्न करने वाली (तुम्हारे द्वारा) प्रेरित कोई अमूल्य (अतुलनीय) खड्ग की महत्ता स्फुरित होती है जिससे (भयभीत होकर) चन्द्रमा का कलेवर तुम्हारे विहार करने के लिए अरण्यभूमि बना हुआ है एवं अमृततत्त्व को प्रवाहित करने वाला (चन्द्रमा की) रश्मियों का समुदाय (तुम्हारे भक्षण के लिए) बालतृणों का ग्रास बना हुआ है ॥ ५० ॥

अत्र लोकोत्तरत्वलक्षणमुभयानुयायि सामान्यं समाश्रित्य प्राधान्येन विवक्षितस्य वस्तुनः प्रतीयमानवृत्तेरभेदोपचारनिबन्धनं तत्त्वमध्यारोपितम्। यथा चैतयोर्द्वयोरप्यलंकारयोस्तुल्येऽप्युपचार-वक्रताजीवितत्वे वाच्यत्वमेकत्र प्रतीयमानत्वमपरस्मिन् स्वरूपभेदस्य निबन्धनम्। एतच्चोभयोरपि स्वलक्षणव्याख्यानावसरे समुन्मील्यते।

यहाँ (हरिण तथा अलौकिक प्रभाववाले व्यक्ति) दोनों में अनुगत अलौकिकतारूप सामान्य (धर्म) का आधार ग्रहण कर मुख्यरूप से प्रति-पादित करने के लिए अभीष्ट गम्यवृत्तिवाले पदार्थ के अभेदोपचार के कारणभूत उस (हरिण रूप) पदार्थ का ही आरोप कर दिया गया है। और इसी लिए इन दोनों अलङ्कारों में उपचारवक्रता के समान रूप से प्राण रूप होने पर भी एक जगह (रूपकालङ्कार में) वाच्यरूपता एवं दूसरी जगह (अप्रस्तुत प्रशंसा अलङ्कार में) प्रतीयमानता दोनों अलङ्कारों के स्वरूप भेद का कारण है। यह (बात) दोनों के ही अपने-अपने लक्षणों की व्याख्या करते समय भलीभाँति स्पष्ट किया जायगा।

एवमुपचारवक्रतां विवेच्य समनन्तरप्राप्तावकाशां विशेषणवक्रतां विविनक्ति—

विशेषणस्य माहात्म्यात् क्रियायाः कारकस्य वा।
यत्रोल्लसति लावण्यं सा विशेषणवक्रता ॥ १५ ॥

इस प्रकार उपचारवक्रता का विवेचन कर तदनन्तर स्थानप्राप्त विशेषणवक्रता का विवेक प्रारम्भ करते हैं—

जहाँ विशेषण के माहात्म्य से क्रिया अथवा कारक (रूप वस्तु) की रमणीयता प्रकाशित होती है उसे 'विशेषणवक्रता' कहते हैं। (क्योंकि वहाँ लोकोत्तर विशेषण के कारण ही सौन्दर्य व्यक्त होता है)।। १५ ।।

सा विशेषणवक्रता विशेषणवक्रत्वविच्छित्तिरभिधीयते। कीदृशी यत्र यस्यां लावण्यमुल्लसति रामणीयकमुद्भिद्यते। कस्य—क्रियायाः कारकस्य वा। क्रियालक्षणस्य वस्तुनः कारकलक्षणस्य वा। कस्मात्—विशेषणस्य माहात्म्यात्। एतयोः प्रत्येकं यद्विशेषणं भेदकं (तस्य माहात्म्यात्) पदार्थान्तरस्य सातिशयत्वात्। किं तत्सातिशयत्वम्—भावस्वभावसौकुमार्यसमुल्लासकत्वमलंकारच्छाया-तिशयपरिपोषकत्वं च। यथा—

उसे विशेषणवक्रता अर्थात् विशेषण के वैचित्र्य से उत्पन्न शोभा कहा जाता है। कैसी (है वह विशेषणवक्रता) ? जहाँ अर्थात् जिस (वक्रता) में लावण्य उल्लसित होता है अर्थात् रमणीयता व्यक्त होती है। किसकी (रमणीयता व्यक्त है) क्रिया अथवा कारक की। तात्पर्य यह कि क्रियारूप वस्तु की या कारकरूप वस्तु की (रमणीयता व्यक्त होती है)। किसके कारण–विशेषण के माहात्म्य के कारण। अर्थात् इन (क्रिया एवं कारक रूप) दोनों (वस्तुओं) के जो विशेषण अर्थात् (एक दूसरे के अपने सजातीय से) भेदक होते हैं (उनके माहात्म्य के कारण) दूसरे पदार्थ के उत्कर्ष युक्त हो जाने से (रमणीयता आती है) वव अतिशययुक्तता क्या है ? (१) वस्तु की सहज सुकुमारता को भलीभाँति व्यक्त करना तथा (२) अलङ्कारों की शोभा के उत्कर्ष को परिपुष्ट करना (ही अतिशययुक्तता है), जैसे—(वस्तु की सहज सुकुमारता को व्यक्त करने वाले कारकविशेषण का उदाहरण)—

श्रमजलसेकजनितनवलिखितनखपददाहमूर्च्छिता
वल्लभरभसलुलितललितालकवलयचयार्धनिह्नुता ।
स्मररसविविधविहितसुरतक्रमपरिमलनत्रपालसा
जयति निशात्ययेे युवतिदृक् तनुमधुमदविशदपाटला ॥५१॥

रात्रि के समाप्त हो जाने पर तुरन्त के आरोपित नखव्रणों में स्वेद के लगने से उत्पन्न छरछराहट के कारण मूर्च्छित, प्रियतमों के द्वारा रसावेश में बिखेर दी गई हुई सुन्दर बालों की घुंघराली लटों से आधी ढकी हुई, कामाभिलाष के कारण सम्पादित अनेकानेक सम्भोग-परम्पराओं के सिलसिले से किए गये मर्दन के कारण उत्पन्न लज्जावश अलसायी और उतरी हुई शराब की खुमारी के कारण साफ गुलाबी सुन्दरियों की नजर सबसे बढ़-चढ़कर मालूम पढ़ती है ॥ ५१ ॥

यथा वा —

करान्तरालीनकपोलभित्तिर्बाष्पोच्छलत्कूणितपत्रलेखा ।
श्रोत्रान्तरे पिण्डितचित्तवृत्तिः शृणोति गीतध्वनिमत्र तन्वी ॥ ५२ ॥

अथवा जैसे—

हथेलियों के बीच छुपायी गयी हुई कपोलफलकवाली और आँसुओं के उमड़ने के कारण फैल गई हुई (कपोल की) पत्ररचनावाली और कर्णरन्ध्र में ही अपनी चित्तवृत्ति को समेटकर लगा देनेवाली यह विरहिणी बाला गीत के बोलों को सुन रही है ॥ ५२ ॥

यथा वा—

शुचिशीतलचन्द्रिकाप्लुताश्चिरनिःशब्दमनोहरा दिशः ।
प्रशमस्य मनोभवस्य वा हृदि तस्याप्यथ हेतुतां ययुः ॥ ५३ ॥

या जैसे—

धवल शीतल चाँदनी से आप्लावित और काफी देर से गुमसुम और मनोहारी दिशायें उसके भी हृदय में या तो वैराग्य या कामभावना को जगाने का कारण बनीं ॥ ५३ ॥

क्रियाविशेषणवक्रत्वं यथा—

सस्मार वारणपतिर्विनिमीलिताक्षः
स्वेच्छाविहारवनवासमहोत्सवानाम् ॥ ५४ ॥

[इस प्रकार कारकविशेषण वक्रता के तीन उदाहरण प्रस्तुत कर कुन्तक क्रियाविशेषणवक्रता का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—]

क्रियाविशेषणवक्रता (का उदाहरण) जैसे—

करिराज जंगल में रहने के समय के स्वेच्छापूर्वक किए गए विहार के महोत्सवों को आँख मूंद कर याद करने लगा ॥ ५४ ॥

अत्र सर्वत्रैव स्वभावसौन्दर्यसमुल्लासकत्वं विशेषणानाम् । अलंकारच्छायातिपरिपोषकत्वं विशेषणस्य यथा—

शशिनः शोभातिरस्कारिणा ॥ ५५ ॥

एतदेव विशेषणवक्रत्वं नाम प्रस्तुतौचित्यानुसारि सकलसत्काव्यजीवितत्वेन लक्ष्यते, यस्मादनेनैव रसः परां परिपोषपदवीमवतार्यते । यथा—

करान्तरालीन इति ॥ ५६ ॥

यहाँ सभी उदाहरणों में विशेषण सहज रमणीयता को व्यक्त करते हैं। विशेषण की अलङ्कारों की शोभा के उत्कर्ष की परिपुष्टि जैसे—

(उदाहरण संख्या २।४४ पर पूर्वोद्धृत—शशिनः शोभातिरस्कारिणा ॥ ५५ ॥

यह विशेषण वर्ण्यमान पदार्थ के औचित्य के अनुरूप होने पर यही विशेषणवक्रता समस्त श्रेष्ठ काव्यों की प्राणभूता प्रतीत होती है, क्योंकि इसी के कारण रस अपनी परिपुष्टि की चरम स्थिति को पहुँचाया जाता है। जैसे—

उदाहरण संख्या २।५२ पर उदाहृत करान्तरालीन ॥ इत्यादि श्लोक ॥ ५६ ॥

स्वमहिम्ना विधीयन्ते येन लोकोत्तरश्रियः ।
रसस्वभावालंकारास्तद्विधेयं विशेषणम् ॥ ५७ ॥

(इति) अन्तरश्लोकः ॥

जो अपने माहात्म्य से रस, (वस्तु) स्वभाव और अलङ्कार को अलौकिक सौन्दर्य से युक्त बना दे, (काव्य में महाकवियों द्वारा) वैसे ही विशेषण का प्रयोग करना चाहिए ॥ ५७ ॥

यह अन्तरश्लोक है ।

एवं विशेषणवक्रतां विचार्य क्रमसमर्पितावसरां संवृतिवक्रतां विचारयति—

यत्र संव्रियते वस्तु वैचित्र्यस्य विवक्षया ।
सर्वनामादिभिः कश्चित् सोक्ता संवृतिवक्रता ॥ १६ ॥

इस प्रकार विशेषणवक्रता का विवेचन प्रस्तुत कर अब क्रमानुकूल अवसर-प्राप्त 'संवृतिवक्रता' का विवेचन प्रस्तुत करते हैं—

जहाँ विचित्रता का प्रतिपादन करने की इच्छा से किन्हीं (अपूर्वता के प्रतिपादक) सर्वनाम आदि के द्वारा पदार्थ को छिपाया जाता है उसे संवृति-वक्रता कहते हैं (क्योंकि उसमें वस्तु के स्वरूप की संवृति अर्थात् छिपाने की प्रधानता से ही चमत्कार आता है, अतः उमे संवृति वक्रता कहत हैं ।) ॥ १७ ॥

सोक्ता संवृतिवक्रता—या किलैवंविधा सा संवृतिवक्रतेत्युक्ता कथिता । संवृत्या वक्रता संवृतिप्रधाना वेति समासः । यत्र यस्यां वस्तु पदार्थलक्षणं संव्रियते समाच्छाद्यते । केन हेतुना—वैचित्र्यस्य विवक्षया विचित्रभावस्याभिधानेच्छया । यया पदार्थो विचित्रभावं समासादयतीत्यर्थः । केन संव्रियते—सर्वनामादिभिः कैश्चित् । सर्वस्य नाम सर्वनाम तदादिर्येषां ते तथोक्तास्तैः कैश्चिदपूर्वैर्वाचकै-रित्यर्थः ।

उसे संवृतिवक्रता प्रधान कहा जाता है । जो इस प्रकार की होती है उसे संवृतिवक्रता कहा जाता है । संवरण के कारण जो वक्रता होती है अथवा संवरण जिसमें प्रधान होता है (उसे संवृति वक्रता कहते हैं) इस प्रकार दोनों तरह का समास यहाँ हो सकता है । जहाँ अर्थात् जिस वक्रता में वस्तु अर्थात् पदार्थ के स्वरूप को संवृत किया जाता है अर्थात् छिपाया जाता है । किस हेतु से (वस्तु का संवरण किया जाता है) ?—वैचित्र्य की

विवक्षा अर्थात् विचित्रता के प्रतिपादन करने की इच्छा से (वस्तु का संवरण किया जाता है) जिसके कारण पदार्थ में विचित्रता आ जाती है। किसके द्वारा (वस्तु का) संवरण किया जाता है? किन्हीं सर्वनाभादिकों के द्वारा। सर्व का नाम सर्वनाम होता है वह जिनके आदि में होता है वे सर्वनामादि कहे जाते हैं उन्हीं सर्वनामादि किन्हीं अपूर्व शब्दों के द्वारा (वस्तु का संवरण किया जाता है)।

अत्र बहवः प्रकाराः संभवन्ति। (१) यत्र किमपि सातिशयं वस्तु वक्तुं शक्यमपि साक्षादभिधानादियत्तापरिच्छिन्नतया परिमितप्रायं मा प्रतिभासतामिति सामान्यवाचिना सर्वनाम्नाच्छाद्य तत्कार्याभिधायिना तदतिशयाभिधानपरेण वाक्यान्तरेण प्रतीतिगोचरतां नीयते। यथा—

इसके बहुत से भेद हो सकते हैं। (१) (उनमें से पहला भेद वहाँ होता है) जहाँ किसी कही जा सकने वाली भी उत्कर्षयुक्त वस्तु को, साक्षात् कथन के कारण इयत्ता से आच्छन्न होकर सीमित सी न हो जाय इसलिए सामान्य का कथन करने वाले सर्वनाम के द्वारा आच्छादित कर उसके व्यापार का कथन करने वाले उसके उत्कर्ष का प्रतिपादन करने में तत्पर दूसरे वाक्य के द्वारा ज्ञान का विषय बनाया जाता है। जैसे—

तत्पितर्यथ परिग्रहलिप्सौ स व्यधत्त करणीयमणीयः।
पुष्पचापशिखरस्थकपोलो मन्मथः किमपि येन निदध्यौ ॥५८॥

(अपने) पिता के (दूसरी) पत्नी के इच्छुक होने पर उस (देवव्रत) ने उस कर्तव्य का पालन किया जिससे कि पुष्पनिर्मित धनुष की नोक पर गाल रखे हुए कामदेव कुछ अपूर्व ही अवस्था वाले बना दिए गए ॥ ५८ ॥

अत्र सदाचारप्रवणतया गुरुभक्तिभावितान्तःकरणो लोकोत्तरौदार्यगुणयोगाद्विविधविषयोपभोगवितृष्णमना निजेन्द्रियनिग्रहमसंभावनीयमपि शान्तनवो विहितवानित्यभिधातुं शक्यमपि सामान्याभिधायिना सर्वनाम्नाच्छाद्योत्तरार्धेन कार्यान्तराभिधायिना वाक्यान्तरेण प्रतीतिगोचरतामानीयमानं कामपि चमत्कारकारितामावहति।

यहाँ पर 'शिष्टाचार में तत्पर होने के कारण पिता के प्रति श्रद्धा से अभिभूत चित्त वाले एवं अलौकिक सरलता रूप गुण से युक्त होने के कारण नाना प्रकार के ऐन्द्रिय उपभोगों के विरक्त-हृदय भीष्म ने सम्भावित न किए जा सकने वाले अपनी इन्द्रियों का निरोध (अर्थात् उन्हें विषयों से पराङ्मुख)

कर लिया' इस कही जा सकने वाली भी वस्तु को सामान्य का कथन करने वाले (तत्) सर्वनाम के द्वारा आच्छादित कर उत्तरार्द्ध के (कामदेव की दशा रूप) अन्य कार्य का प्रतिपादन करने वाले दूसरे वाक्य के द्वारा, ज्ञान का विषय बनाया जाना किसी अलौकिक चमत्कार की सृष्टि करता है।

(२) अयमपरः प्रकारो यत्र स्वपरिस्पन्दकाष्ठाधिरूढः सातिशयं वस्तु वचसामगोचर इति प्रथयितुं सर्वनाम्ना समाच्छाद्य तत्कार्याभिधायिना तदतिशयवाचिना वाच्यान्तरेण समुन्मील्यते। यथा—

(२) यह (संवृति वक्रता का) दूसरा भेद है जहाँ अपने स्वभाव के चरमोत्कर्ष को प्राप्त होने से उत्कर्षयुक्त वस्तु को अनिर्वचनीय है, ऐसा प्रतिपादित करने के लिए (उसका) सर्वनाम के द्वारा संवरण कर उस कार्य का निरूपण करने वाले उसके उत्कर्ष के प्रतिपादक दूसरे वाक्य के द्वारा व्यक्त कराया जाता है। जैसे—

याते द्वारवतीं तदा मधुरिपौ तद्दत्तकम्पानतां
कालिन्दीजलकेलिवञ्जुललतामालम्ब्य सोत्कण्ठया।
तद् गीतं गुरुबाष्पगद्गदगलत्तारस्वरं राधया
येनान्तर्जलचारिभिर्जलचरैरप्युत्कमुत्कूजितम् ॥ ५९ ॥

भगवान् कृष्ण के उस समय द्वारका चले जाने पर उनके द्वारा हिला कर झुका दी गई हुई यमुना की जलधारा में जलवेतस की लता का सहारा लेकर विरह से उत्कण्ठित होकर राधा ने अत्यधिक उमड़ आये हुए आंसुओं के कारण भर आये हुए गले से तारस्वर से इस तरह गाया कि जिसके कारण पानी में विचरण करनेवाले जलजन्तु भी बहुत ही बेचैन होकर चीख उठे ॥ ५९ ॥

अत्र सर्वनाम्ना संवृतं वस्तु तत्कार्याभिधायिना वाक्यान्तरेण समुन्मील्य सहृदयहृदयहारितां प्रापितम्। यथा वा—

यहाँ (तत्) सर्वनाम के द्वारा आच्छादित वस्तु, उस कार्य का निरूपण करने वाले दूसरे वाक्य के द्वारा व्यक्त कराई जाने से सहृदयों के हृदयों को आनन्दित करने वाली हो गई है। अथवा जैसे—

तह रुण्णं कण्ह विसाहीआए रोहग्गरगिराए।
जह कस्स वि जम्मसए वि कोइ मा वल्लहो होउ ॥ ६० ॥

(तथा रुदितं कृष्ण विशाखया रोधगद्गगिरा।
यथा कस्यापि जन्मशतेऽपि कोऽपि मा वल्लभो भवतु ॥)

हे कृष्ण (गला) रुँधा होने के कारण गद्गद वाणी वाली विशाखा ने उस प्रकार से विलाप किया, जिससे (ऐसा लगता था) कि सैकड़ों जन्मों में भी कोई किसी का प्रियतम न होवे ।। ६० ।।

अत्र पूर्वार्धे संवृतं वस्तु रोदनलक्षणं तदतिशयाभिधायिना वाक्यान्तरेण कामपि तद्विदाह्लादकारितां नीतम् ।

यहाँ पर पूर्वार्द्ध में (तथा सर्वनाम के द्वारा) छिपाई गई रोदन रूप वस्तु उसके अतिशय का प्रतिपादन करने वाले दूसरे वाक्य के द्वारा किसी अनिर्वचनीय सहृदयाह्लादकारिता को प्राप्त करा दी गई है ।

(३) इदमपरमत्र प्रकारान्तरं यत्र सातिशयसुकुमारं वस्तु कार्यातिशयाभिधानं विना संवृतिमात्ररमणीयतया कामपि काष्ठामधिरोप्यते । यथा—

(३) यह (संवृतिवक्रता) का (तीसरा) अन्य भेद है जहाँ अत्यधिक कोमल पदार्थ को (उसके) कार्य के उत्कर्ष का प्रतिपादन किए बिना ही केवल गोपनीयताजन्य सौन्दर्य से ही किसी अपूर्व पर्यवसान को प्राप्त कराया जाता है । जैसे—

दर्पणे च परिभोगदर्शिनी पृष्ठतः प्रणयिनो निषेदुषः ।
वीक्ष्य बिम्बमनुबिम्बमात्मनः कानि कानि न चकार लज्जया ।।६१।।

आइने में सम्भोग (जन्य नखदन्तक्षतादि) को देखने वाली (पार्वति) ने अपने पीछे स्थित प्रेमी (भगवान शङ्कर) की परछाहीं को अपनी परछाहीं के पीछे देख कर लज्जा से क्या क्या नहीं कर डाला ।। ६० ।।

(४) अयमपरः प्रकारो यत्र स्वानुभवसंवेदनीयं वस्तु वचसामवक्तुमविषय इति ख्यापयितुं संव्रियते । यथा—

तान्यक्षराणि हृदये किमपि ध्वनन्ति ।। ६२ ।।

इति पूर्वमेव व्याख्यातम् ।

(४) (इसी संवृतिवक्रता का) यह दूसरा भेद है जहाँ केवल अपने द्वारा अनुभवगम्य बात की वाणी के द्वारा अनिर्वचनीयता प्रतिपादित करने के लिए (उस बात को सर्वनामादि के द्वारा) आच्छादित किया जाता है । जैसे—

(उदाहरण संख्या १।५१ पर पूर्वोदाहृत 'निद्रानिमीलतदृशो'—इत्यादि श्लोक के द्वारा नायक का अपनी प्रियतमा के अक्षरों का स्मरण कर यह

कथन कि)—(प्रियतमा के) वे अक्षर (आज भी) हृदय में कुछ (अपूर्व) ध्वनि कर रहे हैं ॥ ६२ ॥

इसकी व्याख्या पहले ही (१।५१) श्लोक की व्याख्या रूप में की जा चुकी है।

(५) इदमपि प्रकारान्तरं संभवति यत्र परानुभवसंवेद्यस्य वस्तुनो वक्तुरगोचरतां प्रतिपादयितुं संवृतिः क्रियते। यथा—

मन्मथः किमपि येन निदध्यौ ॥ ६३ ॥

(५) (इस संवृतिवक्रता का) यह एक अन्य भी भेद सम्भव हो सकता है जहाँ दूसरे के द्वारा अनुभवगम्य बात की वक्ता के द्वारा अगोचरता का प्रतिपादन करने के लिये (उस बात का सर्वनामादि के द्वारा) संवरण किया जाता है। जैसे—

जिससे कि कामदेव कुछ (अनिर्वचनीय बात का) ध्यान करने लगा ॥ ६३ ॥

अत्र त्रिभुवनप्रथितप्रतापमहिमा तथाविधशक्तिव्याघातविषण्णचेताः कामः किमपि स्वानुभवसमुचितमचिन्तयदिति।

यहाँ तीनों लोकों में विख्यात पराक्रम की प्रभुता वाले कामदेव ने उस प्रकार (भीष्म के द्वारा आजीवन ब्रह्मचर्यव्रतपालन की प्रतिज्ञा को सुनकर अपनी) शक्ति की रुकावट से व्याकुलहृदय होकर कुछ अपने अनुभव के अनुरूप सोचने लगा। (इस प्रकार दूसरे कामदेव के अनुभवगम्य पदार्थ को वक्ता ने अपनी वाणी द्वारा व्यक्त करने में असमर्थ होकर उसका 'किमपि' सर्वनाम के द्वारा संवरण कर दिया है)।

(६) इदमपरं प्रकारान्तरमत्र विद्यते—यत्र स्वभावेन कविविवक्षया वा केनचिदौपहत्येन युक्तं वस्तु महापातकमिव कीर्तनीयतां नार्हतीति समर्पयितुं संव्रियते। यथा—

(६) (संवृतिवक्रता का) यह अन्य भेद है—जहाँ स्वभाव के कारण अथवा कवि के कथनाभिलाष के कारण किसी दोष से युक्त वस्तु महापातक के समान कथन करने योग्य नहीं है यह प्रतिपादित करने के लिए (उस वस्तु को सर्वनामादि के द्वारा) आच्छादित किया जाता है। जैसे—

दुर्वचं तदथ मास्म भून्मृगस्त्वय्यसौ यदकरिष्यदोजसा।
नैनमाशु यदि वाहिनीपतिः प्रत्यपत्स्यत शितेन पत्रिणा ॥ ६४ ॥

(किरातार्जुनीय महाकाव्य में किरातवेषधारी भगवान शङ्कर का एक अनुचर सैनिक अर्जुन से कहता है कि)—यह (हमारे) सेनापति ने (अपने) पैने तीर से इस (वराह) को शीघ्र ही न मार डालते तो यह जङ्गली पशु (अपने भयङ्कर) बल से जो कुछ करता वह कहने योग्य नहीं और (ईश्वर करें कि आपके लिये (कभी) न होवे ।। ६४ ।।

यथा वा—

निवार्यतामालि किमप्ययं वटुः पुनर्विवक्षुः स्फुरितोत्तराधरः ।
न केवलं यो महतोऽपभाषते शृणोति तस्मादपि यः स पापभाक् ।।६५।।

अथवा जैसे—

(कुमारसम्भव में कपटवटुवेषधारी भगवान् शङ्कर द्वारा पार्वती की परीक्षा लेने के लिए शङ्कर की निन्दा करते समय पार्वती का अपनी सखी से यह कथन कि)—हे सखि ! इस वाचाट को रोको (क्योंकि) स्फुरित होते हुए होठों वाला यह फिर से कुछ कहने की इच्छा कर रहा है (क्योंकि) जो महापुरुषों की निन्दा करता है केवल वह ही नहीं (अपितु) जो उससे (उस निन्दा को) सुनता है वह पाप का भाजन बनता है ।। ६५ ।।

अत्रार्जुनमारणं भगवदपभाषणं च न कीर्तनीयतामर्हतीति संवरणेन रमणीयतां नीतम् । कविविवक्षयोपहतं यथा —

सोऽयं दम्भधृतव्रतः प्रियतमे कर्तुं किमप्युद्यतः ।। ६६ ।।

इति प्रथममेव व्याख्यातम् ।

यहाँ (पहले श्लोक में) अर्जुन का वध एवं (दूसरे श्लोक में) भगवान् शङ्कर की निन्दा कहने के योग्य नहीं है अतः संवरण के द्वारा उसे सुन्दर बना दिया गया है । कवि के कथनाभिलाष से उपहत । जैसे—

(तापसवत्सराज नाटक में वत्सराज उदयन पद्मावती के साथ विवाह करते समय अपनी महारानी प्रियतमा वासवदत्ता की याद करके कहते हैं कि—हे प्रियतमे ! आज धूर्तता के कारण (एकपत्नी) व्रत को धारण करने वाला वह यह (उदयन) कुछ (अनुचित कार्य) करने के लिए तत्पर हो गया है ।। ६६ ।।

इसकी व्याख्या (१।५० के व्याख्यारूप में) पहले ही की जा चुकी है ।

एवं संवृतिवक्रतां विचार्य प्रत्ययवक्रतायाः कोऽपि प्रकारः पदमध्यान्तर्भूतत्वादिहैव समुचितावसरस्तस्मात्तद्विचारमाचरति —

इस प्रकार संवृतिवक्रता का विवेचन प्रस्तुत कर पदों के मध्य से अन्तर्भूत होने के कारण अवसरप्राप्त 'प्रत्ययवक्रता' के किसी भेद का विवेचन प्रस्तुत करते हैं—

प्रस्तुतौचित्यविच्छित्तिं स्वमहिम्ना विकासयन् ।
प्रत्ययः पदमध्येऽन्यामुल्लासयति वक्रताम् ॥ १७ ॥

पद के मध्य में स्थित प्रत्यय अपने उत्कर्ष से प्रस्तुत वस्तु के औचित्य की शोभा को विकसित करता हुआ अन्य (अपूर्व) वक्रता को प्रकाशित करता है ॥ १७ ॥

कश्चित् प्रत्यय कृदादिः पदमध्यवृत्तिरन्यामपूर्वां वक्रतामल्लासयति वक्रभावमुद्दीपयति । किं कुर्वन्—प्रस्तुतस्य वर्ण्यमानस्य वस्तुनो यदौचित्यमुचितभावस्तस्य विच्छितिमुपशोभां विकासयन् समुल्लासयन् । केन—स्वमहिम्ना निजोत्कर्षेण । यथा—

वेल्लद्बलाका घनाः ॥ ६७ ॥

यथा वा—

स्निह्यत्कटाक्षेदृशौ इति ॥ ६८ ॥

पदों के मध्य में स्थित कोई कृदादि प्रत्यय अन्य अपूर्व वक्रता को उल्लासित करता है अर्थात् वैचित्र्य को प्रकट करता है । क्या करता हुआ—प्रस्तुत अर्थात् वर्णन की जाती हुई वस्तु का जो औचित्य अर्थात् उपयुक्तता अथवा योग्यता है उसकी विच्छित्ति अर्थात् सौन्दर्य को विकसित करता हुआ अर्थात् व्यक्त करता हुआ । किस के द्वारा—अपनी महिमा अपनी प्रधानता के द्वारा (शोभा का विकास करता हुआ) जैसे—

वेल्लद्बलाका घनाः ॥ शोभित होती हुई बकपङ्क्तियों से युक्त बादल ॥ ६७ ॥

अथवा जैसे—

स्निह्यत्कटाक्षे दृशौ ॥ स्नेह करते हुए कटाक्षों वाले नेत्र ॥ ६८ ॥

अत्र वर्तमानकालाभिधायी शतृप्रत्ययः कामप्यतीतानागतविभ्रमविरहितां तात्कालिकपरिस्पन्दसुन्दरीं प्रस्तुतौचित्यविच्छित्तिं समुल्लासयन् सहृदयहृदयहारिणीं प्रत्ययवक्रतामावहति ।

यहाँ (दोनों ही उदाहरणों में) वर्तमान काल का प्रतिपादन करने वाला शतृ प्रत्यय, भूत और भविष्य को शोभा से हीन उसी समय की सहज-

रमणीयतायुक्त वर्ण्यमान वस्तु की उपयुक्तता के सौन्दर्य को प्रकाशित करता हुआ रसिकजनों के हृदयों को आनन्द प्रदान करने वाली प्रत्ययवक्रता को धारण करता है।

इदानीमेतस्याः प्रकारान्तरं पर्यालोचयति—

आगमादिपरिस्पन्दसुन्दरः शब्दवक्रताम्।
परः कामपि पुष्णाति बन्धच्छायाविधायिनीम्॥ १८॥

अब इस (प्रत्ययवक्रता) के अन्य भेदों को विवेचित करते हैं—

आगमादि के विलास से रमणीय दूसरा (प्रत्ययवक्रता का) भेद विन्यास के सौन्दर्य को उत्पन्न करने वाली शब्द वक्रता का पोषण करता है॥ १८॥

परो द्वितीयः प्रत्ययप्रकारः कामप्यपूर्वां शब्दवक्रतामाबध्नाति वाचकवक्रभावं विदधाति। कीदृक् आगमादिपरिस्पन्दसुन्दरः। आगमो मुमादिरादिर्यस्य स तथोक्तः, तस्यागमादेः परिस्पन्दः स्वविलसितं तेन सुन्दरः सुकुमारः। कीदृशीं शब्दवक्रताम्—बन्धच्छायाविधायिनीं संनिवेशकान्तिकारिणीमित्यर्थः। यथा—

पर अर्थात् दूसरा प्रत्यय (वक्रता) का भेद किसी अपूर्व शब्दवक्रता को उत्पन्न करता है अर्थात् वाचक वकता की सृष्टि करता है। कैसा (प्रत्यय-प्रकार)? आगमादि के परिस्फुरण से रमणीय। आगम अर्थात् मुम् इत्यादि है आदि में जिसके उसे आगमादि कहते हैं। उस आगमादि का परिस्पन्द अर्थात् अपना वैभव ऊससे सुन्दर अर्थात् कोमल (प्रत्यय प्रकार शब्दवक्रता को पुष्ट करता है)। कैसी शब्दवक्रता को—बन्ध की शोभा को उत्पन्न करने वाली अर्थात् विन्यास के सौन्दर्य की सृष्टि करने वाली (शब्दवक्रता को पुष्ट करता है)। जैसे—

जाने सख्यास्तव मयि मनः संभृतस्नेहमस्मा-
दित्थंभूतां प्रथमविरहे तामहं तर्कयामि।
वाचालं मां न खलु सुभगंमन्यभावः करोति
प्रत्यक्षं ते निखिलमचिराद् भ्रातरुक्तं मया यत्॥ ६९॥

(मेघदूत में विरही यक्ष अपनी प्रेयसी की निज विरह-दशा का वर्णन कर, मेघ को अत्यधिक विश्वास दिलाने के लिये उससे कहता है कि हे मेघ!)

मुझे मालूम है कि तुम्हारी सहेली (अर्थात् मेरी कान्ता) का हृदय मेरे विषय में प्रेम पूर्ण है, अन एव (अपने) प्रथम वियोग के अवसर पर उसे

इस प्रकार की अवस्थाओं से युक्त सोचता हूँ (जैसा कि अभी मैंने तुमसे बताया है, क्योंकि तुम यह निश्चित समझ लो कि) मुझे अपना सौन्दर्याभिमान (ऐसी दशा की कल्पना करने के लिये) वाचाट नहीं बना रहा है, (अपितु उसका मेरे प्रति ऐसा अगाध स्नेह है जिससे कि ऐसी दशा उसकी हो गई होगी। और अधिक क्या कहूँ) भइया, मैंने जो कुछ भी कहा है वह शीघ्र ही तुम अपनी आँखों से देखोगे ।। ६९ ।।

यथा च—

दाहोऽम्भः प्रसृतिंपचः इति ।। ७० ।।

यथा वा—

पायं पायं कलाचीकृतकदलदलम् इति ।। ७१ ।।

और जैसे—

दाहोऽम्भः प्रसृतिम्पचः ।। ७० ।। यह १।४८ पर पूर्वोदाहृत पद्य का अंश अथवा जैसे—पायं पायं कलाचीकृतकदलदलम् ।। ७१ ।। यह २।१० पर उद्धृत श्लोक का अंश।

अत्र सुभगंमन्यभावप्रभृतिशब्देषु मुमादिपरिस्पन्दसुन्दराः संनिवेशच्छायाविधायिनीं वाचकवक्रतां प्रत्ययाः पुष्णन्ति।

यहाँ 'सुभगम्मन्यभाव' इत्यादि पदों में मुमादि के विलास के कारण रमणीय प्रत्यय विन्यास की शोभा को उत्पन्न करने वाली शब्दवक्रता को पुष्ट करते हैं।

एवं प्रसंगसमुचितां पदमध्यवर्तिप्रत्ययवक्रतां विचार्य समनन्तर-संभविनीं वृत्तिवक्रतां विचारयति—

इस प्रकार प्रसङ्ग के अनुरूप पदों की मध्यवर्तिनी प्रत्ययवक्रता का विवेचन कर तदनन्तर अवसरप्राप्त वृत्तिवक्रता को प्रस्तुत करते हैं—

अव्ययीभावमुख्यानां वृत्तीनां रमणीयता
यत्रोल्लसति सा ज्ञेया वृत्तिवैचित्र्यवक्रता ।। १९ ।।

जहाँ पर अव्ययीभाव (समास) प्रधान वृत्तियों की सुन्दरता परिस्फुरित होती है उसे वृत्ति की विचित्रता से उत्पन्न (वृत्तिवैचित्र्यवक्रता) जानना चाहिए ।। १९ ।।

सा वृत्तिवैचित्र्यवक्रता ज्ञेया बोद्धव्या। वृत्तीनां वैचित्र्यं विचित्र-भावः सजातीयापेक्षया सौकुमार्योत्कर्षस्तेन वक्रता वक्रभावविच्छित्तिः।

कीदृशी—रमणीयता यत्रोल्लसति। रामणीयकं यस्यामुद्भिद्यते। कस्य—वृत्तीनाम्। कासाम्—अव्ययीभावमुख्यानाम्। अव्ययीभावः समासः मुख्यः प्रधानभूतो यासां तास्तथोक्तास्तासां समासतद्धितसुब्धातुवृत्तीनां वैयाकरणप्रसिद्धानाम्। तदयमत्रार्थः—यत्र स्वपरिस्पन्दसौन्दर्यमेतासां समुचितभित्तिभागोपनिबन्धादभिव्यक्तिमासादयति। यथा—

उसे वृत्तिवैचित्र्यवक्रता जानना अथवा समझना चाहिए। वृत्तियों का वैचित्र्य अर्थात् विचित्रता, समानधर्मियों को अपेक्षा सुकुमारता का आधिक्य, उसके कारण वक्रता अर्थात् जो बांकपन की शोभा होती है (उसे वृत्तिवैचित्र्यवक्रता कहते हैं)। कैसे (वक्रता)—जिसमें रमणीयता उल्लसित होती है, अर्थात् जिसमें सौन्दर्य झलकता रहता है। किसका (सौन्दर्य)—वृत्तियों का। किन वृत्तियो का—अव्ययीभावप्रधान (वृत्तियों) का। अर्थात् अव्ययीभाव समास जिनमें मुख्य अर्थात् प्रधानभूत है उन वैयाकरणों में प्रख्यात अव्ययीभाव प्रधान—समास-तद्धित एवं सुब्धातु वृत्तियों का (सौन्दर्य जहाँ प्रस्फुटित रहता है)। इसका आशय यह हुआ कि जहाँ इन (समास-तद्धित आदि वृत्तियों) की अपनी सहज रमणीयता एक उचित भूमिका पर उपन्यस्त किए जाने के कारण स्फुटित होती है (वहाँ वृत्तिवैचित्र्यवक्रता होती है।) जैसे—

अभिव्यक्तिं तावद् बहिरलभमानः कथमपि
स्फुरन्नन्तः स्वात्मन्यधिकतरसंमूर्च्छितभरः।
मनोज्ञामुद्वृत्तां परपरिमलस्पन्दसुभगा-
महा धत्ते शोभामधिमधु लतानां नवरसः॥ ७२॥

आश्चर्य है कि मधुमास में किसी भी प्रकार प्रकाशित होने में असमर्थ, अत्यधिक सम्मोह के भार से युक्त अपने अन्दर ही स्फुरित होता हुआ लताओं का नवरस, प्रकृष्ट सुगन्धि के स्फुरित होने से रमणीय, हृदयावर्जक एवं अत्यधिक सम्पन्न श्री को धारण करता है॥ ७२॥

अत्र 'अधिमधु'-शब्दे विभक्त्यर्थविहितः समासः समयाभिधायित्वेऽपि विषयसप्तमीप्रतीतिमुत्पादयन् 'नवरस'-शब्दस्य श्लेषच्छायास्फुरणवैचित्र्यमुन्मीलयति। एतद्वृत्तिविरहिते वियासान्तरे वस्तुप्रतीतौ सत्यामपि न तादृक्तद्विदाह्लादकारित्वम्। उद्वृत्तपरिमल-स्पन्द-सुभग-शब्दानामुपचारवक्रत्वं परिस्फुरद्विभाव्यते। यथा च—

यहाँ 'अधिमधु' शब्द में ('मधौ इति अधिमधु' इस प्रकार का 'अव्ययं विभक्ति' इत्यादि पा० २।१।६ से) विभक्ति अर्थ में किया गया (अव्ययीभाव) समास समय का प्रतिपादक होते हुए भी विषय सप्तमी का बोध कराता हुआ 'नवरस' शब्द की श्लेष की शोभा के अधिगत होने से उत्पन्न विचित्रता को उन्मीलित करता है। इस (अव्ययीभाव समास रूप) वृत्ति के विना भी दूसरे ढङ्ग से विरचित होने पर विषय का ज्ञान हो जाने पर भी उस प्रकार काव्यमर्मज्ञों के लिये आनन्द नहीं उत्पन्न हो सकेगा। उद्वृत्त, परिमल, स्पन्द एवं सुभग शब्दों की 'उपचारवक्रता' तो साफ-साफ झलकती दिखाई देती है। और जैसे (इसी का दूसरा उदाहरण)—

आ स्वर्लोकादुरगनगरं नूतनालोकलक्ष्मी-
मातन्वद्भिः किमिव सिततां चेष्टितैस्ते न नीतम्।
अप्येतासां दयितविहिता विद्विषत्सुन्दरीणां
यैरानीता नखपदमया मण्डना पाण्डिमानम् ॥ ७३ ॥

देवलोक से नागलोक पर्यन्त अपूर्व प्रकाश की कान्ति को विखेरने वाले आपके कार्यों ने किसे नहीं सफेद बना दिया (अर्थात् सभी को सफेद बना दिया, और यहाँ तक कि आपके) दुश्मनों की इन पत्नियों के अपने पतियों द्वारा विलिखित नखचिह्नों वाले आभूषण को भी सफेद (पाण्डुवर्ण) का बना दिया है ॥ ७३ ॥

अत्र पाण्डुत्व-पाण्डुता-पाण्डुभाव-शब्देभ्यः पाण्डिम-शब्दस्य किमपि वृत्तिवैचित्र्यवक्रत्वं विद्यते। यथा च—

यहाँ पाण्डुत्व, पाण्डुता अथवा पाडुभाव शब्दों की अपेक्षा पाण्डिम शब्द की कोई अपूर्व ही वृत्तिवैचित्र्य वक्रता नजर आती है। तथा जैसे (इसी का तीसरा उदाहरण)—

कान्तत्वीयति सिंहलीमुखरुचां चूर्णाभिषेकोल्लस-
ल्लावण्यामृतवाहिनिर्झरजुषामाचान्तिभिश्चन्द्रमाः।
येनापानमहोत्सवव्यतिकरेष्वेकातपत्रायते
देवस्य त्रिदशाधिपावधि जगज्जिष्णोर्मनोजन्मनः ॥ ७४ ॥

चूर्णाभिषेक के कारण विलसित होते हुए सौन्दर्यामृत का वहन करने वाले निर्झरों का सेवन करनेवाली सिंहलियों के मुख की कान्ति का आचमन कर-करके चन्द्रमा (ऐसी) मनोहारिता को प्राप्त कर लेता है जिसके कारण देवराज इन्द्र तक के लोक को जीतने की इच्छा वाले कामदेव की पानगोष्ठियों

के उत्सव के प्रसंगों में वह (चन्द्रमा) अद्वितीय राजच्छत्र की तरह आचरण करने लगता है ॥ ७४ ॥

अत्र सुब्धातुवृत्तेः समासवृत्तेश्च किमपि वक्रतावैचित्र्यं परिस्फुरति ।

यहाँ सुब्धातुवृत्ति तथा समासवृत्ति की वक्रता की कोई (असाधारण) विचित्रता परिलक्षित होती है ।

एवं वृत्तिवक्रतां विचार्य पदपूर्वार्धभाविनीमुचितावसरां भाववक्रतां विचारयति ।

इस प्रकार वृत्तिवक्रता का विवेचन कर पदों के पूर्वार्द्ध में स्थित होने वाली एवं अवसरप्राप्त 'भाववक्रता' का विवेचन करते हैं—

साध्यतामप्यनादृत्य सिद्धत्वेनाभिधीयते ।
यत्र भावो भवत्येषा भाववैचित्र्यवक्रता ॥ २० ॥

यहाँ पर भाव अर्थात् क्रिया रूप धातु के अर्थ को (अपनी) साध्यता की भी अवहेलना करके सिद्ध रूप में प्रतिपादित किया जाता है वहाँ यह 'भाववैचित्र्यवक्रता' होती है ॥ २० ॥

एषा वर्णितस्वरूपा भाववैचित्र्यवक्रता भवत्यस्ति । भावो धात्वर्थरूपस्तस्य वैचित्र्यं विचित्रभावः प्रकारान्तराभिधानव्यतिरेकि रामणीयकं तेन वक्रता वक्रत्वविच्छित्तिः । कीदृशी—यत्र यस्यां भावः सिद्धत्वेन परिनिष्पन्नत्वेनाभिधीयते भण्यते । किं कृत्वा—साध्यतामप्यनादृत्य निष्पाद्यमानतां प्रसिद्धामप्यवधीर्य । तदिदमत्र तात्पर्यम्—यत् साध्यत्वेनापरिनिष्पत्तेः प्रस्तुतस्यार्थस्य दुर्बलः परिपोषः, तस्मात् सिद्धत्वेनाभिधानं परिनिष्पन्नत्वात्पर्याप्तं प्रकृतार्थपरिपोषमावहति । यथा—

यह जिसके स्वरूप का वर्णन किया गया है भाववैचित्र्यवक्रता होती है। भाव का अर्थ है धात्वर्थ का रूप अर्थात् क्रिया, उसका वैचित्र्य अर्थात् विचित्रता दूसरे ढङ्ग से प्रतिपादित होने के कारण अतिशययुक्त सुन्दरता, उसके कारण जो वक्रता अर्थात् बांकपन की शोभा होती है (उसे भाववैचित्र्यवक्रता कहते हैं)। (वह भाववैचित्र्यवक्रता होती) कैसी है—जहाँ अर्थात् जिस (वक्रता) में धात्वर्थ रूप क्रिया को सिद्ध रूप में पूरी तरह से निष्पन्न रूप से कहा जाता है। क्या करके—साध्यता का भी अनादर

करके अर्थात् विख्यात निष्पन्नता की अवज्ञा करके। तो यहाँ इसका आशय यह है—क्योंकि साध्य रूप से भलीभाँति सिद्ध न होने के कारण वर्ण्यमान विषय कम पुष्ट हो पाता है अतः सिद्ध रूप से कथन पूर्णतया सम्पन्न होने के कारण प्रस्तुत पदार्थ का भलीभाँति पोषण करता है। जैसे—

श्वासायासमलीमसाधररुचेर्दोःकन्दलीतानवात्
केयूरायितमङ्गदैः परिणतं पाण्डिम्नि गण्डत्विषा।
अस्याः किञ्च विलोचनोत्पलयुगेनात्यन्तमश्रुस्नुता
तारं तादृगपाङ्गयोररुणितं येनोत्प्रतापः स्मरः॥ ७५॥

(गरम) सांसों के चलने के आयास के कारण धूमिल पड़ गए हुए अधर के कान्तिवाली इसकी भुजाओं के कन्दली की कृशता के कारण कंकणों के द्वारा बाजूबन्द की तरह का आचरण किया गया है और कपोल की कान्ति के द्वारा सफेदी में परिणत किया गया है, और तो और, उसके नेत्र कमलों के युगल के द्वारा अत्यधिक आँसू बहाने के कारण कोरों पर इतनी तेज अरुणिमा उत्पन्न करा दी गई कि जिसके कारण काम अत्यधिक तापवाला हो उठा॥ ७५॥

येत्र भावस्य सिद्धत्वेनाभिधानमतीव चमत्कारकारि।

यहाँ पर भाव का सिद्ध रूप से प्रतिपादन अत्यन्त ही वैचित्र्य को उत्पन्न करने वाला है।

एवं भाववक्रतां विचार्य प्रातिपदिकान्तर्वर्तिनीं लिङ्गवक्रतां विचारयति—

इस प्रकार भाववक्रता का विवेचन कर प्रातिपदिक के अन्दर स्थित लिङ्गवक्रता का विवेचन करते हैं—

भिन्नयोर्लिङ्गयोर्यस्यां सामानाधिकरण्यतः।
कापि शोभाभ्युदेत्येषा लिङ्गवैचित्र्यवक्रता॥ २१॥

जिसमें अलग-अलग लिङ्गों के सामानाधिकरण्य से किसी अपूर्व सौन्दर्य की सृष्टि होती है, इसे लिङ्गवैचित्र्यवक्रता कहते हैं॥ २१॥

एषा कथितस्वरूपा लिङ्गवैचित्र्यवक्रतास्त्र्यादिविचित्रभाव-वक्रताविच्छित्तिः। भवतीति सम्बन्धः, क्रियान्तराभावात्। कीदृशी— यस्यां यत्र विभिन्नयोर्विभक्तस्वरूपयोर्लिङ्गयोः सामानाधिकरण्य-स्तुल्याश्रयत्वादेकद्रव्यवृत्तित्वात् काप्यपूर्वा शोभाभ्युदेति कान्तिरुल्ल-सति। यथा—

यह, जिसका स्वरूप (उक्त २१ वीं कारिका में) बताया गया है, लिङ्ग-वैचिव्यवक्रता अर्थात् स्त्री (नपुंसक) आदि (लिङ्गों) की विचित्रता के बाँकपन से उत्पन्न शोभा होती है। (इस वाक्य को) दूसरी क्रिया के अभाव में भवति (होती है) क्रिया के साथ सम्बन्ध है (अर्थात् भवति क्रिया का अध्याहार होगा)। कैसी है (यह वक्रता) जिसमें अर्थात् जहाँ पर विभिन्न, अलग-अलग स्वरूप वाले लिङ्गों के सामानाधिकरण्य अर्थात् समान आश्रय होने से एक द्रव्य वृत्ति हो जाने के कारण कोई अपूर्व शोभा उदित होती है अर्थात् रमणीयता आ जाती है। जैसे—

यस्यारोपणकर्मणापि बहवो वीरव्रतं त्याजिताः
कार्यं पुङ्खितबाणमीश्वरधनुस्तद्दोर्भिरेभिर्मया।
स्त्रीरत्नं तदगर्भसंभवमितो लभ्यं च लीलायिता
तेनैषा मम फुल्लपङ्कजवनं जाता दृशां विंशतिः ॥ ७६ ।

जिसके प्रत्यञ्चायुक्त करने की क्रिया से भी बहुतों से शूरता का व्रत छुड़वा दिया गया उसी शिवधनुष को मुझे इन भुजाओं के द्वारा बाणयुक्त करना है और इसके द्वारा उस अयोनिजा नारीरत्न को प्राप्त करना है, इसीलिये तो मेरी केलि सी करती हुई ये वीसों आँखें खिले हुए कमलों का समूह बन चली हैं ॥ ७६ ॥

यथा वा—

नभस्वता लासितकल्पवल्लीप्रबालबालव्यजनेन यस्य।
उरःस्थलेऽकीर्यत दक्षिणेन सर्वास्पदं सौरभमङ्गरागः ॥ ७७ ॥

अथवा जैसे—

नचाई गई कल्पलता के नवाङ्कुर रूप नये पंखों वाले मलयानिल ने उसके हृदयस्थल पर सर्वत्र सुगन्धित अङ्गराग को छिड़क दिया ॥ ७७ ॥

यथा च—

आयोज्य मालामृतुभिः प्रयत्नसंपादितामंसतटेऽस्य चक्रे।
करारविन्दं मकरन्दबिन्दुस्यन्दि श्रिया विभ्रमकर्णपूरः ॥ ७८ ॥

तथा जैसे—

ऋतुओं के द्वारा परिश्रमपूर्वक तैयार की गई माला को इसके कन्धों पर डाल कर मधुबिन्दुओं को बरसाने वाले अपने करकमल को शोभावश (इसका) लीला कर्णपूर बना दिया ॥७८ ॥

इयमपरा च लिङ्वैचिक्ष्यवक्रता—

सति लिङ्गान्तरे यत्र स्त्रीलिङ्गं च प्रयुज्यते ।
शोभानिष्पत्तये यस्मान्नामैव स्त्रीति पेशलम् ॥ २२ ॥

यह दूसरी लिङ्ग के वैचित्र्य की वक्रता होती है—जहाँ पर अन्य लिङ्गों के विद्यमान रहने पर भी सौन्दर्य की सृष्टि के लिए स्त्रीलिङ्ग का (ही) प्रयोग किया जाता है (वहाँ लिङ्गवैचित्र्यवक्रता होती है) क्योंकि स्त्री जैसा कथन ही सुकुमार होता ॥ २२ ॥

यत्र यस्यां लिङ्गान्तरे सत्यन्यस्मिन् संभवत्यपि लिङ्गे स्त्रीलिङ्गं प्रयुज्यते निबध्यते । अनेकलिङ्गत्वेऽपि पदार्थस्य स्त्रीलिङ्गविषयः प्रयोगः क्रियते । किमर्थम्—शोभानिष्पत्तये । कस्मात कारणात्—यस्मान्नामैव स्त्रीति पेशलम् । स्त्रीत्यभिधानमेव हृदयहारि । विच्छित्त्यन्तरेण रसादियोजनयोग्यत्वात् । उदाहरणं, यथा—

जहाँ जिस (वक्रता) दूसरे लिङ्ग के विद्यमान होने पर अर्थात् अन्य लिङ्ग के सम्भव हो सकने पर भी स्त्रीलिङ्ग का प्रयोग किया जाता है, (स्त्रीलिङ्ग को ही) उपनिबद्ध किया जाता है। अर्थात् पदार्थ के अनेक लिङ्ग वाला होने पर भी स्त्रीलिङ्गविषयक प्रयोग किया जाता है। किस लिए—शोभा की निष्पत्ति के लिये (अर्थात् सौन्दर्य की सृष्टि के लिए) किस कारण से (स्त्रीलिङ्ग का ही प्रयोग किया जाता है)—क्योंकि स्त्री यह नाम ही सुकुमार होता है। अर्थात् दूसरे प्रकार की शोभा का जनक होने के कारण रसादि की संयोजना के अनुरूप होने से स्त्री यह कथन ही मनोहर होता है। (इसका) उदाहरण जैसे—

यथेयं ग्रीष्मोष्मव्यतिकरवती पाण्डुरभिदा
मुखोद्भिन्नम्लानानिलतरलवल्लीकिसलया ।
तटी तारं ताम्यत्यतिशशियशाः कोऽपि जलद-
स्तथा मन्ये भावी भुवनवलयाक्रान्तिसुभगा ॥ ७६ ॥

जैसे कि यह ग्रीष्म काल की गर्मी के सम्पर्क वाली, अत्यधिक पाण्डु (श्वेत पीत) वर्ण की, मुख से निकले हुए मलिन पवन से चञ्चल लताओं के नव पल्लवों से युक्त तटी अत्यधिक सन्तप्त हो रही है इससे मालूम पढ़ता है कि चन्द्रमा की (भी शीतलता रूप) कीर्ति का अतिक्रमण करने वाला सारे भुवनमण्डल को आक्रान्त करने के कारण मनोहर कोई जलधर उपस्थित होने वाला है ॥ ७९ ॥

अत्र त्रिलिङ्गत्वे सत्यपि 'तट'-शब्दस्य, सौकुमार्यात् स्त्रीलिङ्गमेव प्रयुक्तम्। तेन विच्छित्यन्तरेण भावी नायकव्यवहारः कश्चिदासूत्रित इत्यतीव रमणीयत्वाद्वक्रतामावहति ॥

यहाँ पर तट शब्द के (स्त्री, नपुंसक एवं पुंल्लिङ्ग) तीनों ही लिङ्गों में सम्भव होने पर भी सुकुमारता के कारण स्त्रीलिङ्ग को ही प्रयुक्त किया गया है। अतः दूसरे ढङ्ग से उपस्थित होने वाला नायक का व्यवहार प्रतिपादित किया गया है। अतः यह अत्यधिक मनोहर होने के कारण वक्रता को धारण करता है।

इदमपरमेतस्याः प्रकारान्तरं लक्षयति—

विशिष्टं योज्यते लिङ्गमन्यस्मिन् संभवत्यपि ।
यत्र विच्छित्तये सान्या वाच्यौचित्यानुसारतः ॥ २३ ॥

अब इसके अन्य भेद का लक्षण करते हैं—

जहाँ पर (वर्ण्यमान) पदार्थ के औचित्य के अनुरूप अन्य (लिङ्ग) के सम्भव होने पर भी सौन्दर्य उपस्थित करने के लिए विशेष लिङ्ग को प्रयुक्त किया जाता है वह दूसरे प्रकार की (लिङ्गवैचित्र्यवक्रता) होती है ॥ २३ ॥

सा चोक्तस्वरूपान्यापरा विद्यते। यत्र यस्यां विशिष्टं योज्यते लिङ्गत्रयाणामेकतमं किमपि कविविवक्षया निबध्यते। कथम्—अन्यस्मिन् संभवत्यपि, लिङ्गान्तरे विद्यमानेऽपि। किमर्थम्—विच्छित्तये शोभायै। कस्मात् कारणात्—वाच्यौचित्यानुसारतः। वाच्यस्य वर्ण्यमानस्य वस्तुनो यदौचित्यमुचितभावस्तस्यानुसरणमनुसारस्तस्मात्। पदार्थौचित्यमनुसृत्येत्यर्थः। यथा—

वह, जिसका स्वरूप (२३ वीं कारिका में) कहा गया है अन्य अर्थात् दूसरी (लिङ्गवैचित्र्यवक्रता) है। जहाँ, जिस (वक्रता) में विशेष (लिङ्ग) की योजना की जाती है अर्थात् तीनों लिङ्गों में से किसी एक लिङ्ग (विशेष) का प्रयोग (कवि के अभिप्रेत कथन के कारण) किया जाता है। कैसे (लिङ्गविशेष का प्रयोग किया जाता है ?) अन्य लिङ्ग के सम्भव होने पर भी अर्थात् (जिसका प्रयोग किया गया है उससे भिन्न) दूसरे लिङ्गों के विद्यमान रहने पर भी (लिङ्गविशेष प्रयुक्त होता है)। किसलिए ?—विच्छित्ति अर्थात् सौन्दर्य (लाने) के लिए। किस कारण से—पदार्थ के औचित्य के अनुसार। वाच्य अर्थात् वर्णन किए जाने वाले पदार्थ का जो

औचित्य अर्थात् उपयुक्तता अथवा योग्यता है उसके अनुसरण अर्थात् अनुगमन के कारण। तात्पर्य यह कि पदार्थ की उपयुक्तता के अनुरूप (जहाँ लिङ्गविशेष का प्रयोग किया जाता है)। जैसे—

त्वं रक्षसा भीरु यतोऽपनीता तं मार्गमेताः कृपया लता मे।
अदर्शयन् वक्तुमशक्नुवन्त्यः शाखाभिरावर्जितपल्लवाभिः ॥८०॥

(रघुवंश में पुष्पकविमान से अयोध्या के लिए लौटते हुए राम सीता से कहते हैं कि—), हे भयशीले ! दैत्य रावण तुम्हें जिस मार्ग से (अपहृत कर) ले गया था, उस मार्ग को (वागिन्द्रिय के अभाव के कारण) बोलने में अशक्त इन लताओं ने झुके हुए (हस्तस्थानीय) पल्लवों वाली डालों के द्वारा कृपापूर्वक (मानो हाथ के इशारे से) दिखाया था ॥ ८० ॥

अत्र सीताया सह रामः पुष्पकेनावतरंस्तस्याः स्वयमेव तद्विरहवैधुर्यमावेदयति—यत्त्वं रावणेन तथाविधत्वरापरतन्त्रचेतसा मार्गे यस्मिन्नपनीता तत्र तदुपमर्दवशात्तथाविधसंस्थानयुक्तत्वं लतानामुन्मुखत्वं मम त्वन्मार्गानुमानस्य निमित्ततामापन्नमिति वस्तु विच्छित्त्यन्तरेण रामेण योज्यते। यथा—हे भीरु स्वाभाविकसौकुमार्यकातरान्तःकरणे, रावणेन तथाविधक्रूरकर्मकारिणा यस्मिन्मार्गे त्वमपनीता तमेमाः साक्षात्परिदृश्यमानमूर्तयो लताः किल मामदर्शयन्निति। सन्मार्गप्रदर्शनं परमार्थतस्तासां निश्चेतनतया न न संभाव्यम् इति प्रतीयमानवृत्तिरुत्प्रेक्षालंकारः कवेरभिप्रेतः। यथा—तव भीरुत्वं रावणस्य क्रौर्यं ममापि त्वत्परित्राणप्रयत्नपरतां पर्यालोच्य स्त्रीस्वभावादार्द्रहृदयत्वेन समुचितस्वविषयपक्षपातमाहात्म्यादेताः कृपयैव मम मार्गप्रदर्शनमकुर्वन्निति। केन करणभूतेन—शाखाभिरावर्जितपल्लवाभिः यस्माद्वागिन्द्रियवर्जितत्वाद्वक्तुमशक्नुवन्त्यः। यत्किल ये केचिदजल्पन्तो मार्गप्रदर्शनं प्रकुर्वन्ति ते तदुन्मुखीभूतहस्यपल्लवैर्बाहुभिरित्येतदतीव युक्तियुक्तम्। तथा चात्रैव वाक्यान्तरमपि विद्यते—

यहाँ सीता के साथ पुष्पक विमान से उतरते हुए राम खुद ही सीता के वियोग की विकलता का वर्णन करते हैं—उस प्रकार (भय के कारण शीघ्र अपहरण करने की (शीघ्रता से पराधीन चित्त वाला रावण जिस मार्ग से तुम्हारा अपहरण कर ले गया था उस मार्ग में उसके प्रतिरोध (उपमर्द) के कारण उस प्रकार की अवस्था से युक्त होना अर्थात् लताओं का उसी ओर झुका होना मेरे लिये तुम्हारे गमन-मार्ग का अनुमान करने का कारण बना

था, इसी बात को राम दूसरे ढंग से प्रस्तुत करते हैं। जैसे—हे भयशीले ! अर्थात् सहज सुकुमारता के कारण अधीर हृदय वाली सीते ! उस प्रकार के भयावह (नृशंस) कार्य को करने वाला रावण जिस रास्ते से तुम्हें अपहरण कर ले गया था उसे साक्षात् दिखाई देने वाले विग्रह वाली इन लताओं ने मुझे दिखाया था। उन लताओं का रास्ता बताना वस्तुतः उनके जड़ होने के कारण सम्भव नहीं है अतः यहाँ पर प्रतीयमान उत्प्रेक्षा रूप अलङ्कार कवि को अभीष्ट है। जैसे कि तुम्हारी भयशीलता, रावण की नृशंसता तथा मेरी भी तुम्हारी रक्षा करने के प्रयास की तत्परता का विचार कर नारीस्वभाव होने के कारण कृपालु हृदय होने के नाते एवं अपने विषय के (अर्थात् स्त्री स्वरूप के) अनुरूप पक्षपात की महत्ता के कारण इन्होंने कृपापूर्वक ही मुझे रास्ता बताया था। किस साधन के द्वारा (इन्होंने रास्ता बनाया था)—झुके हुए पल्लवों से युक्त डालों के द्वारा अर्थात् इशारे से बताया था। क्योंकि वागिन्द्रिय के अभाव के कारण बोलने में अशक्त थीं। जैसा कि देखा भी जाता है कि जो कुछ लोग न बोलते हुए रास्ता बताते हैं वे उसी ओर अपने कर पल्लवों से युक्त भुजाओं को घुमाकर के ही (रास्ता बताते हैं) इसलिये (लताओं का उस प्रकार भाग बताना) युक्तिसङ्गत है। और जैसे कि यही इसका उदाहरण रूप दूसरा श्लोक भी है कि—

मृग्यश्च दर्भाङ्कुरनिर्व्यपेक्षास्तवागतिज्ञं समबोधयन्माम्।
व्यापारयन्त्यो दिशि दक्षिणस्यामुत्पक्ष्मराजीनि विलोचनानि ॥८१॥

तुम्हारी गति से अनभिज्ञ (अर्थात् तुम किस मार्ग से गई यह न जानने वाले) मुझे (अपने भक्ष्य) कुश के अंकुरों से निस्पृह होकर (अर्थात् कुशाङ्कुरों का खाना बन्द कर) दक्षिण दिशा की ओर उठी हुई पालकों से सुशोभित होने वाने अपने नेत्रों की प्रवृत्त करती हुई मृगियों ने (तुम्हारे गमन-मार्ग को आँख के इशारों से) भली-भाँति बताया था ॥ ८१ ॥

हरिण्यश्च मां समबोधयन्। कीदृशम्—तवागतिज्ञम्, लताप्रदर्शितमार्गमजानन्तम्। ततस्ताः सम्यगबोधयन्निति, यतस्तास्तदपेक्षया किंचित्प्रबुद्धा इति। ताश्च कीदृश्यः—तथाविधवैशससंदर्शनवशाद् दुःखितत्वेन परित्यक्ततृणग्रासाः। किं कुर्वाणाः—तस्यां दिशि नयनानि समर्पयन्त्यः। कीदृशानि—ऊर्ध्वीकृतपक्ष्मपङ्क्तीनि। तदेवं तथाविधस्थानयुक्तत्वेन दक्षिणां दिशमन्तरिक्षेण नीतेति संज्ञया निवेदयन्त्यः। अत्र वृक्षमृगादिषु लिंगान्तरेषु संभवत्स्वपि स्त्रीलिंगमेव पदार्थौचित्या

नुसारेण चेतनचमत्कारकारितया कवेरभिप्रेतम्। तस्मात् कामपि वक्रतामावहति।

तथा हरिणियों ने मुझे भली-भाँति बताया था। कैसे मुझे (बताया था) तुम्हारे गमन (मार्ग) को न जानने वाले (मुझे) अर्थात् लताओं द्वारा दिखाए गए रास्ते को न समझने वाले मुझे (रास्ता बताया था)। इसीलिए उन्होंने भली-भाँति रास्ता दिखाया था क्योंकि वे उन लता आदि की अपेक्षा कुछ अधिक समझदार थीं। वे (हरिणियाँ) कैसी थीं—(तुम्हारे अपहरण रूप) उस प्रकार के दुःख के देखने से पीड़ित होने के कारण तृण भक्षण का परित्याग कर चुकी थीं। क्या करती हुई?—उसी दिशा की ओर अपनी आँखें घुमाए हुए (जिधर तुम गई थी)। कैसी आँखें—जिनकी पलकों की कतारें ऊपर की ओर उठी हुई थीं। तो इस प्रकार उस प्रकार की अवस्था से युक्त होने के कारण आकाश-पक्ष से दक्षिण दिशा की ओर (तुम) ले जाई गई ऐसा (अपनी आँखों के) इशारे से सूचित करती हुई (मृगियों ने तुम्हारा जाने का रास्ता बताया)।

यहाँ पर (लता के स्थान पर) वृक्ष आदि (तथा मृगियों के स्थान पर) मृग आदि दूसरे लिङ्गों के विद्यमान होने पर वर्ण्यमान वस्तु के औचित्य के अनुरूप सहृदयों का आह्लादजनक होने से स्त्रीलिङ्ग (लता एवं हरिणियाँ) ही अभिष्ट था। उसी के कारण (यह वर्णन) किसी अपूर्व वक्रता को धारण करता है।

एवं प्रातिपदिकलक्षणस्य सुबन्तसंभविनः पदपूर्वार्धस्य यथासंभवं वक्रभावं विचार्येदानीमुभयोरपि सुप्तिङन्तयोर्धातुस्वरूपः पूर्वभागो यः संभवति यस्य वक्रतां विचारयति। तस्य च क्रियावैचित्र्यनिबन्धनमेव वक्रत्वं विद्यते। तस्मात् क्रियावैचित्र्यस्यैव कीदृशाः कियन्तश्च प्रकाराः संभवन्तीति तत्स्वरूपनिरूपणार्थमाह—

इस प्रकार सुबन्त से सम्भव होने वाले प्रातिपदिक रूप, पदपूर्वार्द्ध की वक्रता का यथासम्भव विवेचन प्रस्तुत कर अब सुबन्त तथा तिङन्त दोनों का ही धातु रूप जो पूर्वभाग सम्भव होता है उसकी वक्रता का विवेचन करते हैं। उसकी वक्रता का कारण क्रिया की विचित्रता ही होता है। इस लिये क्रिया की विचित्रता के ही किस प्रकार के और कितने भेद सम्भव हो सकते हैं उनका स्वरूप बताने के लिए (ग्रन्थकार) कहता है कि—

कर्त्तुरत्यन्तरङ्गत्वं कर्त्रन्तरविचित्रता।
सविशेषणवैचित्र्यमुपचारमनोज्ञता ॥ २४ ॥

कर्मादिसंवृतिः पञ्च प्रस्तुतौचित्यचारवः ।
क्रियावैचित्र्यवक्रत्वप्रकारास्त इमे स्मृताः ॥ २५ ॥

१. कर्ता का अत्यन्त अन्तरङ्ग होना, २. दूसरे कर्ता के कारण होने वाली विचित्रता, ३. अपने विशेषण के कारण विचित्रता, ४. उपचार से होने वाली रमणीयता एवं ५. कर्म आदि का संवरण ये पाँच वर्ण्यमान वस्तु के औचित्य के कारण रमणीय क्रियावैचित्र्य की वक्रता के वेद कहे गए हैं ॥ २४–२५ ॥

क्रियावैत्रित्र्यवक्रत्वप्रकारा धात्वर्थविचित्रभाववक्रताप्रभेदास्त इमे स्मृता वर्ण्यमानस्वरूपाः कीर्तिताः । कियन्तः—पञ्च पञ्चसंख्या-विशिष्टाः कीदृशाः—प्रस्तुतौचित्यचारवः । प्रस्तुतं वर्ण्यमानं वस्तु तस्य यदौचित्यमुचितभावस्तेन चारवो रमणीयाः । तत्र प्रथमस्तावत् प्रकारो यः—कर्तुरत्यन्तरङ्गत्वं नाम । कर्तुः स्वतन्त्रतया मुख्यभूतस्य कारकस्य क्रियां प्रति निर्वर्तयितुर्यदत्यन्तरङ्गत्वम् अत्यन्तमान्तरतम्यम । यथा—

जिनका स्वरूप अभी बताया जायगा, ये क्रिया के वैचित्र्य की वक्रता के प्रकार अर्थात् धात्वर्थ की विचित्रता के बांकपन के भेद स्मरण किये गए हैं अर्थात् बताये गये हैं। कितने (भेद बताये गये हैं)—पाँच अर्थात् गणना में ५ भेद (बताये गए हैं) कैसे हैं (वे वेद ?)—प्रस्तुत के औचित्य के कारण सुन्दर। प्रस्तुत का अर्थ है वर्णन किया जाने वाला पदार्थ, उसका जो औचित्य अर्थात् उपयुक्तता है उसके कारण सुन्दर अर्थात् चित्ताकर्षक (हैं) तो उनमें से जो कर्ता की अत्यन्त अन्तरङ्गता है। (१) कर्ता अर्थात् स्वतन्त्र होने के कारण प्रधान भूत कारक की क्रिया के प्रति निर्वाह करने में जो अत्यधिक अन्तरङ्गता अर्थात् अन्तरतमता है, वह (क्रियावैचित्यवक्रता का) पहला भेद है। (उसका उदाहरण) जैसे—

चूडारत्ननिषण्णदुर्वहजगद्भारोन्नमत्कन्धरो
धत्तामुद्धरतामसौ भगवतः शेषस्य मूर्धा परम् ।
स्वैरं संस्पृशतीषदप्यवनति यस्मिन् लुठन्त्यक्रमं
शून्ये नूनमियन्ति नाम भुवनान्युद्दामकम्पोत्तरम् ॥ ८२ ॥

भगवान् शेषनाग का यह चूड़ामणि पर स्थित कठिनाई से वहन करने योग्य जगती के भार के कारण झुकती हुई कन्धरा वाला फण मजबूती से खड़ा रहे, जिससे क स्वेच्छापूर्वक थोड़ा-सा भी झुकने का स्पर्श करने पर

भी (अर्थात् झुकने का नाम लेने पर भी) ये इतने भुवन आकाश में अत्यधिक कम्प के साथ बेसिलसिला लुढ़कने लग जाते हैं ॥ ८२ ॥

अत्रोद्धुरताधारणलक्षणक्रियाकर्तुः फणीश्वरमस्तकस्य प्रस्तुतौचित्यमाहात्म्यादन्तर्भावं यथा भजते तथा नान्या काचिदिति क्रियावैचित्र्यवक्रतामावहति । यथा वा—

यहाँ पर खड़ा रखने के स्वरूप वाला व्यापार कर्ता रूप शेषनाग के फण का, वर्ण्यमान के औचित्य की महिमा से जिस प्रकार अन्तरङ्ग बन जाता है वैसे अन्य कोई व्यापार नहीं इसलिए यहाँ क्रियावैचित्र्यवक्रता है। अथवा जैसे-

किं शोभिताहमनयेति पिनाकपाणेः ।
पृष्ठस्य पातु परिचुम्बनमुत्तरं वः ॥ ८३ ॥

उदाहरण संख्या १।८१ पर उद्धृत 'क्रीडारसेन—' इत्यादि पद का यह उत्तरार्ध । (कि पार्वती के द्वारा अपने शिर पर चन्द्रलेखा लगाकर) 'क्या मैं इसके द्वारा अच्छी लग रही हूँ' इस प्रकर पूछे गये चन्द्रमौलि (भगवान शङ्कर) का उत्तर रूप परिचुम्बन आप लोगों की रक्षा करे ॥ ८३ ॥

अत्र चुम्बनव्यतिरेकेण भगवता तथाविधलोकोत्तरं गौरीशोभातिशयाभिधानं न केनचित् क्रियान्तरेण कर्तुं पार्यत इति क्रियावैचित्र्यनिबन्धनं वक्रभावमावहति । यथा च—

यहाँ पर पार्वती के उस प्रकार की अलौकिक सुन्दरता के उत्कर्ष का चुम्बन से भिन्न किसी दूसरी क्रिया के द्वारा प्रतिपादन करना सम्भव नहीं था इसीलिये यह (वाक्य) उस वक्रता का धारण करता है जिसका कारण (चुम्बन रूप) क्रिया की विचित्रता है (यही क्रिया अत्यन्त अन्तरङ्गता को प्राप्त हो गई है ।) तथा जैसे—(दूसरा उदाहरण)

रुद्दस्य तइअणअण पव्वइपरिचुम्बिअं जअइ ॥ ८४ ॥
(रुद्रस्य तृतीयनयनं पार्वतीपरिचुम्बितं जयति ।)

पार्वती के द्वारा चुम्बन किया गया भगवान शङ्कर का तृतीय नेत्र सर्वोत्कृष्ट रूप में विद्यमान है ॥ ८४ ॥

यथा वा—

सिढिलिअचाओ जअइ मअरद्धओ ॥ ८५ ॥

(शिथिलितचापो जयति मकरध्वजः ।)

अथवा जैसे—

धनुष को ढीला किए हुए कामदेव सर्वोत्कर्ष सम्पन्न हैं ॥ ८५

एतयोर्वैचित्र्यं पूर्वमेव व्याख्यातम् ।

इन दोनों उदाहरणों की विचित्रता का विश्लेषण पहले ही (उदा० सं० १।५८ एवं १।६८ की व्याख्या करते समय) कर चुके हैं।

अयमपरः क्रियावैचित्र्यवक्रतायाः प्रकारः--कर्त्रन्तरविचित्रता । अन्यः कर्ता कर्त्रन्तरं तस्माद्विचित्रता वैचित्र्यम् । प्रस्तुतत्वात् सजातीयत्वाच्च कर्तुरेव। एतदेव च तस्य वैचित्र्यं यत् क्रियामेव कर्त्रन्तरापेक्षया विचित्रस्वरूपां संपादयति । यथा—

(२) यह 'दूसरे कर्त्ता के कारण होनेवाली विचित्रता' क्रियावैचित्र्य-वक्रता का दूसरा भेद है। कर्त्रन्तर का अर्थ है दूसरा कर्ता उससे जो विचित्रता अर्थात् विलक्षणता होती है। (यह विलक्षणता) वर्ण्यमान एवं समानधर्मी होने के करण कर्ता की ही होती है। उस (कर्ता) की यही विलक्षणता है कि वह दूसरे कर्ता की अपेक्षा विचित्र स्वरूप वाली क्रिया को ही निष्पन्न करता है। जैसे—

नैकत्र शक्तिविरतिः क्वचिदस्ति सर्वे
भावाः स्वभावपरिनिष्ठिततारतम्याः ।
आकल्पमौर्वदहनेन निपीयमान-
मम्भोधिमेकचुलुकेन पपावगस्त्यः ॥ ८६ ॥

कहीं एक ही स्थान पर सामर्थ्य की निवृत्ति नहीं होती है। सभी वस्तुयें अपने स्वाभाविक न्यूनाधिक्य से युक्त होती हैं । कल्प के प्रारम्भ से ही वडवाग्नि के द्वारा अच्छी तरह से पिये जाते हुए सागर को अगस्त्य (ऋषि) ने एक चुल्लू से ही पी डाला था ॥ ८६ ॥

अत्रैकचुलुकेनाम्भोधिपानं सतताध्यवसायाभ्यासकाष्ठाधिरूढिप्रौढत्वाद्वाडवाग्नेः किमपि क्रियावैचित्र्यमुद्वहत् कामपि वक्रतामुन्मीलयति ।

यहाँ पर निरन्तर प्रयास के अभ्यास की चरमावधि को पहुँचे होने से प्रौढ़ हुए वडवानल की अपेक्षा एक ही चुल्लू से सागर का पान कर जाना किसी अपूर्व क्रिया की विलक्षणता को धारण करता हुआ किसी लोकोत्तर बाँकपन को व्यक्त करता है।

यथा वा—

प्रपन्नार्तिच्छिदो नखाः ॥ ८७ ॥

यथा वा –

स दहतु दुरितं शाम्भवो वः शराग्निः ॥ ८८ ॥

अथवा जैसे—

शरण में आये हुए लोगों की विपत्ति का छेदन करनेवाले नाखून (आप लोगों की रक्षा करें) ॥ ८७ ॥

अथवा जैसे—

वह शङ्कर भगवान के वाणों की आग आप सबके पापों को भस्म कर दें ॥ ८८ ॥

एतयोर्वैचित्र्यं पूर्वमेव प्रदर्शितम् ।

इन दोनों उदाहरणों का वैचित्र्य पहले ही (उदा० सं० ११५९ एवं ११६० की व्याख्या करते समय) दिखाया जा चुका है।

अयमपरः क्रियावैचित्र्यवक्रतायाः प्रभेदः—स्वविशेषणवैचित्र्यम् । मुख्यतया प्रस्तुतत्वात् क्रियायाः स्वयमात्मनो यद् विशेषणं भेदकं तेन वैचित्र्यं दिचित्रभावः । यथा

(३) यह 'अपने विशेषण के कारण विचित्रता' क्रियावैचित्र्यवक्रता का अन्य तीसरा भेद है। प्रधान रूप से वर्णित होने के कारण क्रिया का जो अपना ही निजी विशेषण अर्थात् (दूसरी सजातीय क्रियाओं से उसे) भिन्न करने वाला है, उसके कारण जो वैचित्र्य अर्थात् विलक्षणता होती है, (वह क्रियावैचित्र्यवक्रता का तृतीय भेद है) जैसे—

इत्युद्गते शशिनि पेशलकान्तिदूती-
संलापसंवलितलोचनमानसाभिः ।
अग्राहि मण्डनविधिर्विपरीतभूषा-
विन्यासहासितसखीजनमङ्गनाभिः ॥ ८९ ॥

इस प्रकार चन्द्रोदय के अनन्तर सुकुमार कान्तिवाली दूतियों के सुन्दर-वचनों में संलग्न नेत्रों एवं चित्तवाली स्त्रियों ने, विपरीत अलङ्कार रचना के कारण सखियों को हँसानेवाली अलङ्करण पद्धति को ग्रहण किया ॥ ८९ ॥

अत्र मण्डनविधिग्रहणलक्षणायाः क्रियाया विपरीतभूषाविन्यास-हासितसखीजनमिति विशेषणेन किमपि सौकुमार्यमुन्मीलितम । यस्मात्तथाविधादरोपरचितं प्रसाधनं यस्य व्यञ्जकत्वेनोपात्तं मुख्यतया वर्ण्यमानवृत्तेर्वल्लभानुरागस्य सोऽप्यनेन सुतरां समुत्तेजितः ।

यहाँ पर अलङ्करण पद्धति ग्रहण रूप को क्रिया की, 'विपरीत अलङ्कार रचना के कारण सखियों को हँसानेवाली' (अलङ्करण पद्धति) इस विशेषण के द्वारा किसी लोकोत्तर सुकुमारता को व्यक्त किया गया है। क्योंकि प्रधान रूप से वर्णन किए जाते हुए जिस प्रियतम के अनुराग के व्यञ्जक रूप से उस प्रकार आदरपूर्वक विरचित वेश ग्रहण किया गया है वह (प्रियतम का अनुराग) भी इस (विशेषण) के द्वारा अच्छी तरह चमक गया है।

यथा वा—

मय्यासक्तश्चकितहरिणीहारिनेत्रत्रिभागः ॥ ९० ॥

अथवा जैसे—

(उस प्रियतम ने) मेरे ऊपर विस्मित अथवा भयभीत मृगी के (कटाक्षों के सदृश) रमणीय कटाक्ष को फेंका ॥ ९० ॥

अस्य वैचित्र्यं पूर्वमेवोदितम्। एतच्च क्रियाविशेषणं द्वयोरपि क्रियाकारकयोर्वक्रत्वमुल्लासयति। यस्माद्विचित्रक्रियाकारित्वमेव कारकवैचित्र्यम्।

इसकी विचित्रता पहले ही (उदा० १।४९ की व्याख्या करते समय) बताई जा चुकी है। यह क्रिया विशेषणक्रिया तथा कारक दोनों की ही वक्रता को प्रकट करता है, क्योंकि विचित्र क्रिया का करना ही कारक की विचित्रता होती है।

इदमपरं क्रियावैचित्र्यवक्रतायाः प्रकारान्तरम्—उपचारमनोज्ञता। उपचारः सादृश्यादिसमन्वयं समाश्रित्य धर्मान्तराध्यारोपस्तेन मनोज्ञता वक्रत्वम्। यथा—

(४) यह 'उपचार के कारण रमणीयता' क्रिया वैचित्र्यवक्रता का अन्य (चतुर्थ) भेद है। उपचार का अर्थ है सादृश्य आदि सम्बन्धों का आश्रयण कर किसी दूसरे धर्म का आरोप, उसके कारण जो मनोज्ञता अर्थात् बांकपन होता है (वही क्रियावैचित्र्यवक्रता का चतुर्थ प्रभेद है)। जैसे—

तरन्तीवाङ्गानि स्खलदमलमावण्यजलधौ
प्रथिम्नः प्रागल्भ्यं स्तनजघनमुन्मुद्रयति च।
दृशोर्लीलारम्भाः स्फुटमपवदन्ते सरलता-
महोसारङ्गाक्ष्यास्तरुणिमनि गाढः परिचयः ॥ ९१ ॥

अहो ! इस हरिणाक्षी का युवावस्था से अत्यधिक प्रणय हो गया है (क्योंकि इसके) अवयव मानो चञ्चल एवं निर्मल सौन्दर्य के समुद्र में तैर रहे हैं. (इसकी) स्तन एवं जङ्घायें मानो स्थूलता के अभिमान को व्यक्त कर रहे हैं तथा (इसके) नेत्रों के विलास का उद्यम भी साफ-साफ सरलता की निन्दा कर रहा है ।। ९१ ।।

अत्र स्खलदमललावण्यजलधौ समुल्लसद्विमलसौन्दर्यसंभारसिन्धौ परिस्फुरन्त्यपि स्पन्दतया प्लवमानत्वेन लक्ष्यमाणानि पारप्राप्तिमासादयितुं व्यवस्यन्तीवेति चेतनपदार्थसंभाविसादृश्योपचारात्तारुण्यतरलतरुणीगात्राणां तरणमुत्प्रेक्षितम् । उत्प्रेक्षायाश्चोपचार एव भूयसा जीवितत्वेन परिस्फुरतीत्युत्प्रेक्षावसर एव विचारयिष्यते । प्रथिम्नः प्रागल्भ्यं स्तनजघनमुन्मुद्रयति च [इति]—अत्र स्तनजघनं कर्तृ प्रथिम्नः प्रागल्भ्यं महत्त्वस्य प्रौढिमुन्मुद्रयत्युन्मीलयति । यथा कश्चिच्चेतनः किमपि रक्षणीयं वस्तु मुद्रयित्वा कमपि समयमवस्थाप्य समुचितोपयोगावसरे स्वयमुन्मुद्रयत्युद्घाटयति, तदेवं तत्कारित्वसाम्यात् स्तनजघनस्योन्मुद्रणमुपचरितम् । तदिदमुक्तं भवति—यत् यदेव शैशवदशायां शक्त्यात्मना निभालितस्वरूपमनवस्थितमासीत्, यस्य प्रथिम्नः प्रागल्भ्यस्य प्रथमतरतारुण्यावतारावसरसमुचितं प्रथनप्रसरं समर्पयति । दृशोर्लीलारम्भाः स्फुटमपवदन्ते सरलताम् [इति]—अत्र शैशवप्रतिष्ठितां स्पष्टतां प्रकटमेवापसार्य दृशोर्विलासोल्लासाः कमपि नवयौवनसमुचितं विभ्रममधिरोपयन्ति । यथा केचिच्चेतनाः कुत्रचिद्विषये कमपि व्यवहारं समासादितप्रसरमपसार्य किमपि स्वाभिप्रायाभिमतं परिस्पन्दान्तरं प्रतिष्ठापयन्तीति तत्कारित्वसादृश्याल्लीलावतीलोचनविलासोल्लासानां सरलत्वापवदनमुपचरितम् । तदेवंविधेनोपचारेणैतास्तिस्रोऽपि क्रियाः कामपि वक्रतामधिरोपिताः । वाक्येऽस्मिन्नपरेऽपि वक्रताप्रकाराः प्रतिपदं संभवन्तीत्यवसरान्तरे विचार्यन्ते ।

यहाँ स्खलित होते हुए निर्मल लावण्य के सागर में अर्थात् प्रकाशमान एवं स्वच्छ सौन्दर्य समूह के सागर में फड़फड़ाते हुए भी चञ्चल होने के कारण बहते हुए से दिखाई पड़ते हुए पार पहुँचने के लिए मानो व्यवसाय सा कर रहे हैं । इस प्रकार के चेतन पदार्थ में सम्भव हो सकने वाले सादृश्य के कारण उपचार (अथवा गुणवृत्ति) से युवावस्था के कारण चञ्चल युवती के अङ्गों का तैरना उत्प्रेक्षित किया गया है । तथा उत्प्रेक्षा में उपचार

ही ज्यादातर प्राण रूप में स्फुरित होता है इसका विवेचन उत्प्रेक्षा का निरूपण करते समय ही करेंगे ।

इसके 'स्तन एवं जंघाएँ स्थूलता के अभिमान को व्यक्त कर रही हैं।' यहाँ कर्ता रूप स्तन एवं जङ्घायें पृथुता की प्रगल्भता अर्थात् गुरुता की निपुणता को उन्मुद्रित कर रहे अर्थात् व्यक्त कर रहे हैं। जिस प्रकार से कि कोई चेतन (प्राणी) किसी रक्षा करने योग्य वस्तु को छिपाकर कुछ समय के लिए रखकर उसके प्रयोग के योग्य समय पर अपने आप उसे उन्मुद्रित कर देता है अर्थात् प्रकट कर देता है। तो इसी प्रकार उसी प्रकार का कार्य करने की समानता के कारण स्तन एवं जङ्घाओं का (पृथुता के) प्रकट करने का उपचार से प्रयोग किया गया है। तो कहने का तात्पर्य यह है कि जो ही (पृथुता की प्रगल्भता) बाल्यावस्था में आच्छन्न स्वरूप वाली होने से शक्तिरूप में स्थित थी इसी पृथुता की प्रगल्भता के पहले पहले जवानी आने के समय के अनुरूप व्यक्त होने को प्रतिपादित किया गया है।

'नेत्रों के विलासों का उद्यम साफ-साफ सरलता की निन्दा कर रहा है'—यहाँ बाल्यकाल में समाहृत सरलता को स्पष्ट ही त्याग कर के आँखों के विलासों के उद्भव किसी (अनिर्वचनीय) नवयौवन के अनुरूप चेष्टा को (अथवा शोभा को) आरोपित कर रहे हैं। जैसे कुछ प्राणी किसी विषय में (मान्यता) प्रधानताप्राप्त व्यवहार का परित्याग कर अपना इच्छानुकूल दूसरे व्यवहार को प्रतिष्ठित करते हैं। उसी प्रकार का कार्य करने के सादृश्य के कारण विलासवती के नेत्रों के विलासों के उद्यमों की सरलता को निन्दा करने का उपचार से प्रयोग किया गया है। तो इस प्रकार के उपचार से ये तीनों ही (तरन्ति, उन्मुद्रयति तथा अपवदन्ते) क्रियायें किसी (लोकोत्तर) बाँकपन को प्राप्त करा दिये गये हैं। इस श्लोक में दूसरे भी वक्रता के भेद पद-पद में सम्भव हो सकते हैं इसका विवेचन अन्य अवसरों पर किया जायगा।

इदमपरं क्रियावैचित्र्यवक्रतायाः प्रकारान्तरम्—कर्मादिसंवृतिः। कर्मप्रभृतीनां कारकाणां संवृतिः संवरणम्, प्रस्तुतौचित्यानुसारेण सातिशयप्रतीतये समाच्छाद्याभिधा। सा च क्रियावैचित्र्यकारित्वात् प्रकारत्वेनाभिधीयते।

(५) यह 'कर्म आदि का संवरण' क्रियावैचित्र्यवक्रता का अन्य (पाँचवाँ) भेद है। कर्म इत्यादि कारकों की संवृति अर्थात् छिपाने का अर्थ है वर्ण्यमान पदार्थ को उत्कर्ष के अनुसार उसके अतिशय का

बोध कराने के लिए (कर्मादि को) छिपा करके कहना तथा यह कथन क्रिया के वैचित्र्य को उत्पन्न करने के कारण उसके भेद रूप से कहा जाता है।

कारणे कार्योपचाराद् यथा—

नेत्रान्तरे मधुरमर्पयतीव किंचित्
कर्णान्तिके कथयतीव किमप्यपूर्वम्।

अन्तःसमुल्लिखति किंचिदिवायताक्ष्या
रागालसे मनसि रम्यपदार्थलक्ष्मीः ॥ ९२ ॥

कारण में कार्य का उपचार होने से (कर्मादि का संवरण) जैसे—

इस विशाल नयनों वाली (नायिका) की रमणीय वस्तुशोभा आँखों के अन्दर कुछ मीठा-मीठा भर सा देती है और कानों के पास कुछ अश्रुत-पूर्व मीठी बातें बोल सी जाती है और प्रेम से अलसाये मन भीतर ही कुछ मधुर (भाव) उत्कीर्ण सा कर देती है ॥ ९२ ॥

अत्र तदनुभवैकगोचरत्वादनाख्येयत्वेन किमपि सातिशयं प्रतिपदं कर्म संपादयन्त्यः क्रियाः स्वात्मनि कमपि वक्रभावमुद्भावयन्ति। उपचारमनोज्ञताप्यत्र विद्यते। यस्मादर्पणकथनोल्लेलनान्युपचारनिबन्धनान्येव चेतनपदार्थधर्मत्वात्। यथा च—

यहाँ केवल उसी के अनुभवगम्य होने के कारण अनिर्वचनीय होने से, प्रत्येक पद में किसी अत्यधिक उत्कर्षपूर्ण कर्म की पुष्टि करती हुई क्रियायें अपने भीतर किसी लोकोत्तर वक्रता को प्रकट करती हैं। साथ ही यहाँ उपचार के कारण होने वाली रमणीयता भी विद्यमान है, क्योंकि प्रदान करना, कहना, उल्लेख करना क्रियायें चेतन पदार्थ का धर्म होने के नाते (सादृश्य के कारण) उपचार से ही प्रयुक्त हुई हैं। तथा जैसे (दूसरा उदाहरण)—

नृत्तारम्भाद्विरतरभसस्तिष्ठ तावन्मुहूर्तं
यावन्मौलौ श्लथमचलतां भूषणं ते नयामि।
इत्याख्याय प्रणयमधुरं कान्तया योज्यमाने
चूडाचन्द्रे जयति सुखिनः कोऽपि शर्वस्य गर्वः ॥ ९३ ॥

वेग से विरत हो जाने वाले तुम थोड़ी देर तक नर्तन के उपक्रम से तब तक ठहर जाओ जब तक कि मैं तुम्हारे सिर पर के ढीले आभूषण को स्थिरता प्रदान कर दूँ। (अपनी) प्रियतमा (पार्वती) के द्वारा स्नेह की

मिठास से भरी यह बात कहने पर चूडाचन्द्र के लगाये जाते समय हर्षविभार शिव का अनिर्वचनीय गर्व सर्वातिशायी है ।। ९३ ।।

अत्र 'कोऽपि' इत्यनेन सर्वनामपदेन तदनुभवैकगोचरत्वादव्यपदेश्यत्वेन सातिशयः शर्वस्य गर्व इति कर्तृसंवृतिः । जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते इति क्रियावैचित्र्यनिबन्धनम् ।

यहाँ 'कोई' (कोऽपि) इस सर्वनाम पद के द्वारा केवल शङ्कर के अनुभव द्वारा ही जाने जा सकने वाले होने के कारण अनिर्वचनीयता के द्वारा शंकर के किसी आतिशय पूर्ण घमण्ड (का कथन कर) कर्त्ता को छिपाया गया है जो 'जयति' अर्थात् सर्वोत्कृष्ट रूप में विद्यमान है इस क्रिया की विचित्रता का कारण है ।

इत्ययं पदपूर्वार्धवक्रभावो व्यवस्थितः ।
दिङ्मात्रमेवैतस्य शिष्टं लक्ष्ये निरूप्यते ।। ९४ ।।

इति संग्रहश्लोकः ।

इस प्रकार यह पदपूर्वार्द्ध की वक्रता की व्यवस्था की गई है । (यथा उक्तविवेचन रूप में) इस प्रकार इसका केवल एक हिस्सा (बताया गया है) शेष (वक्रतायें) लक्ष्य (काव्यादि) में दिखाई पढ़ते हैं ।। ९४ ।।

यह संग्रह श्लोक है ।

तदेवं सुप्तिङन्तयोर्द्वयोरपि पदपूर्वार्धस्य प्रातिपदिकस्य धातोश्च यथायुक्ति वक्रतां विचार्येदानीं तयोरेव यथास्वमपरार्धस्य प्रत्ययलक्षणस्य वक्रतां विचारयति । तत्र क्रियावैचित्र्यवक्रतायाः समनन्तरसंभविनः क्रमसमन्वितत्वात् कालस्य वक्रत्वं पर्यालोच्यते, क्रियापरिच्छेदकत्वात्तस्य ।

तो इस प्रकार सुबन्त तथा तिङन्त दोनों पदों के पूर्वार्द्ध प्रातिपदिक एवं धातु की यथोचित वक्रता का विवेचनकर अब उन्हीं दोनों के यथोचित प्रत्यय रूप उत्तरार्द्ध की वक्रता का विवेचन प्रस्तुत करते हैं । उनमें क्रियावैचित्र्य वक्रता के तुरन्त वाद में सम्भव होने वाले अतएव क्रमानुकूल तथा साथ ही, उसके क्रिया की अवधि होने के कारण, काल की वक्रता का विवेचन करते हैं ।

औचित्यान्तरतम्येन समयो रमणीयताम् ।
याति यत्र भवत्येषा कालवैचित्र्यवक्रता ।। २६ ।।

जहाँ पर औचित्य का अत्यन्त अन्तरङ्ग होने के कारण समय रमणीयता को प्राप्त कर लेता है (वैसी) यह 'कालवैचित्र्य वक्रता' होती है ।। २६ ।।

एषा प्रकान्तस्वरूपा भवत्यस्ति कालवैचिज्यवक्रता। कालो वैयाकरणादिप्रसिद्धो वर्तमानादिर्लट्प्रभृतिप्रत्ययवाच्यो यः पदार्थाना-मुदयतिरोधानविधायी तस्य वैचित्र्यं विचित्रभावस्तथाविधत्वेनोप-निबन्धस्तेन वक्रता वक्रत्वविच्छित्तिः। कीदृशी—यत्र यस्यां समयः कालाख्यो रमणीयतां याति रामणीयकं गच्छति। केन हेतुना— औचित्यान्तरतम्येन। प्रस्तुतत्वात्प्रस्तावाधिकृतस्य वस्तुनो यदौचित्य-मुचितभावस्तस्यान्तरतम्येनान्तरङ्गत्वेन। तदतिशयोत्पादकत्वेने-त्यर्थः।

यथा—

यह जिसका स्वरूप (अभी) बताया जा रहा है, यह कालवैचित्र्य वक्रता होती है। काल का अर्थ है व्याकरणशास्त्र के ज्ञाताओं में प्रसिद्ध लट् आदि प्रत्ययों के द्वारा कहे जाने वाले पदार्थों के उदित होने एवं तिरोहित होने की व्यवस्था करने वाला वर्तमानादि काल उसका वैचित्र्य अर्थात् विचित्रता, उस ढंग से उसका वर्णन उसके कारण जो वक्रता अर्थात् बाँकपन की सुन्दरता होता है (उसे कालवैचिव्य वक्रता कहते हैं)। कैसी है (वह कालवक्रता) जहाँ अर्थात् जिस (वक्रता) में कहा जाने वाला समय रमणीयता को प्राप्त होता है अर्थात् मनोहर हो जाता है। किस कारण से (मनोहर हो जाता है) औचित्य का अन्तरतम होने से। प्रसंगप्राप्त होने के कारण प्रकरण की अधि-कारिक वस्तु का जो औचित्र्य अर्थात् उपयुक्तता है उसके आन्तरतम्य के द्वारा अर्थात् उसका अत्यन्त ही अन्तरंग होने के कारण अर्थात् उस वस्तु में उत्कर्ष लाने के कारण (रमणीय हो जाता है)। जैसे—

समविसमणिव्विसेसा समंतदो मंदमंदसंचारा।
अइरो होहिंति पहा मणोरहाणं पि दुल्लंघा ।। ९५ ।।

(समविषमनिर्विशेषाः समन्ततो मन्दमन्दसञ्चाराः।
अचिराद्भविष्यन्ति पन्थानो मनोरथानामपि दुर्लङ्घ्या ।।)

चारों ओर से बराबरी एवं ऊँचे नीचे की विशेषताओं से हीन, धीरे-धीरे (बचा बचाकर) चलने लायक, ये रास्ते शीघ्र ही अभिलाषाओं के लिए भी दुर्गम हो जायेंगे ।। ९५ ।

अत्र वल्लभाविरहवैधुर्यकातरान्तःकरणेन भाविनः समयस्य संभावनानुमानमाहात्म्यमुत्प्रेक्ष्य उद्दीपनविभावत्वविभवविलसितं तत्परिस्पन्दसौन्दर्यसन्दर्शनासहिष्णुना किमपि भयविसंष्ठुलत्वमनभूय शङ्काकुलत्वेन केनचिदेतदभिधीयते-यदचिराद् भविष्यन्ति पन्थानो मनोरथानामप्यलङ्घनीया इति भविष्यकालाभिधायी प्रत्ययः कामप्यपराधवक्रतां विकासयति। यथा वा—

यहाँ पर भविष्य में होने वाले समय की सम्भावना को कल्पना की महिमा की उत्पेक्षा करके उद्दीपन विभाव वैभव-विलास को एवं उसके स्वरूप की सुन्दरता को देखना न सहन कर सकने वाले, एवं भय के कारण किसी अप्रकृतिस्थता का अनुभव कर शंका से व्याकुल हो गये एवं प्रियतमा के वियोग के दुःख से भयभीत हृदय कोई इस प्रकार कहता है— कि शीघ्र ही रास्ते मनोरथों के लिए भी दुर्लभ हो जायँगे—इस प्रकार यहाँ भविष्य काल का प्रतिपादन करने वाला (लृट्) प्रत्यय किसी अपूर्व) उत्तरार्द्ध की वक्रता को व्यक्त करता है। अथवा जैसे—

यावत्किंचिदपूर्वमार्द्रमनसामावेदयन्तो नवाः
सौभाग्यातिशयस्य कामपि दशां मन्तुं व्यस्यन्त्यमी।
भावस्तावदनन्यजस्य विधुरः कोऽप्युद्यमो जृम्भते
पर्याप्ते मधुविभ्रमे तु किमयं कर्तेति कम्पामहे॥ ९६॥

जबकि आर्द्रहृदय लोगों को कोई अपूर्व (आनन्द) प्रदान करते हुए ये अभिनव पदार्थ रमणीयता के उत्कर्ष किसी अनिर्वचनीय अवस्था को प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील हैं तभी कामदेव का कोई विकल कर देने वाला उद्योग दिखाई पड़ने लगा है तो भला वसन्त वैभव के पूर्ण हो जाने पर यह क्या करेगा ? इस लिए हम काँप रहे हैं॥ ९६॥

अत्र व्यवस्यन्ति जृम्भते कर्ता कम्पामहे चेति प्रत्ययाः प्रत्येकं प्रतिनियतालाभिधायिनः कामपि पदपरार्धवक्रतां प्रख्यापयन्ति। तथा च-प्रथमतरावतीर्णमधुसमयसौकुमार्यसमुल्लसितसुन्दरपदार्थसार्थसमुन्मेष-समुद्दीपितसहजविभवविलसितत्वेन मकरकेतोर्मनाङ्मात्रमाधवसाना-थ्यसमुल्लसितातुलशक्तेः सरसहृदयविधुरताविधायी कोऽपि संरम्भः समुज्जृम्भते। तस्मादनेनानुमानेन परं परिपोषमधिरोहति कुसुमाकरविभवविभ्रमे मानिनीमानदलनदुर्ललितसमुदितसहजसौकुमार्य-संपत्संजनितसमुचितजिगीषावसरः किमसौ विधास्यतीति विकल्पयन्त-

स्तत्कुसुमशरनिकरनिपातकातरान्तःकरणाः किमपि कम्पामहे चकित-चेतसः संपद्यामहे इति प्रियतमाविरहविधुरचेतसः सरसहृदयस्य कस्य-चिदेतदभिधानम् ।

यहाँ व्यवस्यन्ति (में लट्), जम्भते (में लट्, कर्ता (में लुट्) एवं कम्पामहे (में लट्)–ये प्रत्येक निश्चित काल का प्रतिपादन करने वाले प्रत्यय पद के उत्तरार्ध की किसी अपूर्व वक्रता को व्यक्त करते हैं। जैसे कि पहले पहल अवतीर्ण हुए वसन्तकाल की सुकुमारता से अत्यधिक शोभा-यमान पदार्थ समुदाय के प्रसार से भलीभाँति उद्दीप्त किये गये ऐश्वर्य से सुशोभित होने के कारण थोड़े से ही वसन्त के संयोग से उत्पन्न अनुपम पराक्रम वाले कामदेव का सहृदय हृदयों को कष्ट प्रदान करने वाला कोई उत्साह उत्पन्न हो गया है। इसलिए इस अनुमान के द्वारा (कि यदि अभी ही ऐसा हाल है तो आगे चलकर) वसन्तऋतु के वैभव विलास के पूर्णतया परिपुष्ट हो जाने पर मनिनियों के मान को खण्डित कर देने के कारण ढीठ तथा उत्पन्न स्वाभाविक सुकुमारता की सम्पत्ति वाला और उत्पन्न हो गए समुचित विजय की इच्छा के अवसर वाला यह (कामदेव) क्या करेगा ? इस प्रकार सोचते हुए उस (कामदेव) के पुष्पबाणों के गिरने से भयभीत हृदय वाले (हम) कुछ काँप रहे हैं अर्थात् घबड़ा रहे हैं ऐसी कोई प्रियतमा के वियोग से दुखी हृदय वाले किसी सहृदय की यह उक्ति है।

एवं कालवक्रतां विचार्य क्रमसमुचितावसरां कारकवक्रतां विचारयति—

इस प्रकार कालवक्रता का विवेचन कर क्रमानुकूल अवसरप्राप्त कारक-वक्रता का विवेचन करते हैं—

यत्र कारकसामान्यं प्राधान्येन निबध्यते।
तत्वाध्यारोपणान्मुख्यगुणभावाभिधानतः ॥ २७ ॥
परिपोषयितुं काञ्चिद्भङ्गीभणितिरम्यताम् ।
कारकाणां विपर्यासः सोक्ता कारकवक्रता ॥ २८ ॥

यहाँ प्रधान की गौणता का प्रतिपादन करने से एवं (गौण में) मुख्यता का आरोप करने से किसी (अपूर्व) भंगिमा के द्वारा कथन की रमणीयता को परिपुष्ट करने के लिए कारक सामान्य का प्रधान रूप से प्रयोग किया जाता है, (इस प्रकार के) कारकों के परिवर्तन से युक्त उसे कारक वक्रता कहा गया है ॥ २७–२८ ॥

सोक्ता कारकवक्रता सा कारकवक्रत्वविच्छित्तिरभिहिता। कीदृशी—यस्यां कारकाणां विपर्यासः साधनानां विपरिवर्तनम्, गौणमुख्ययोरितरेतरत्वापत्तिः। कथम्—यत् कारकसामान्यं मुख्यापेक्षया करणादि तत् प्राधान्येन मुख्यभावेन प्रयुज्यते। कया युक्त्या—तत्त्वाध्यारोपणात्। तदिति मुख्यपरामर्शः, तस्य भावस्तत्त्वं तदध्यारोपणात् मुख्यभावसमर्पणात्। तदेवं मुख्यस्य का व्यवस्थेत्याह—मुख्यगुणभावाभिधानतः। मुख्यस्य यो गुणभावस्तदभिधानादमुख्यत्वेनोपनिबन्धादित्यर्थः। किमर्थम्—परिपोषयितुं कांचि‍द् भङ्गीभणितिरम्यताम्। कांचिदपूर्वां विच्छित्त्युक्तिरमणीयतामुल्लासयितुम्। तदेवमचेतनस्यापि चेतनसंभविस्वातन्त्र्यसमर्पणादमुख्यस्य करणादेर्वा कर्तृत्वाध्यारोपणाद्यत्र कारकविपर्यासश्चमत्कारकारी संपद्यते। यथा—

उसे कारक वक्रता कहा गया है अर्थात् (कर्ता आदि) कारकों के बांकपन से होने वाली शोभा कहा गया है। कैसी है (वह कारक वक्रता) जिसमें कारकों की विलोमता अर्थात् साधनों का विशेष परिवर्तन रहता है अर्थात् अप्रधान एवं प्रधान की एक दूसरे से बरावरी आ जाती है। कैसे—जो कारक सामान्य होता है अर्थात् प्रधान की अपेक्षा (गौण) कारण आदि है वह प्रधान रूप से अर्थात् मुख्यरूप से प्रयुक्त होता है। किस ढंग से (प्राधान्येन प्रयुक्त होता है) प्रधानता का अध्यारोप करने से। (तत्त्वाध्यारोप में) तत् शब्द से मुख्य का ग्रहण होता है। तत् का भाव तत्ता हुआ उसके अध्यारोप से अर्थात् प्रधानता का प्रतिपादन करने से (गौण का प्राधान्येन प्रयोग होता है)। तो इस प्रकार प्रधान कारक की क्या व्यवस्था होती है इसे बताते हैं—मुख्य की गौणता के कथन से। अर्थात् प्रधान की जो गौणता है उसका कथन करने से गौणरूप में प्रधान का प्रयोग करने से यह अभिप्राय हुआ। (ऐसा परिवर्तन) किसलिए (किया जाता है)—किसी भंगीभणिति की रम्यता को पुष्ट करने के लिए। अर्थात् विच्छित्ति द्वारा कथन की किसी अपूर्व रमणीयता की सृष्टि करने के लिए। तो इस प्रकार चेतन में सम्भव होने वाली स्वतन्त्रता को अचेतन में भी प्रतिपादित करने से अथवा गौण करणादि में कर्तृता का आरोप करने से जहाँ कारकों का परिवर्तन चमत्कार को उत्पन्न करने वाला होता है (वहाँ कारक वक्रता होती है) जैसे—

याच्ञां दैन्यपरिग्रहप्रणयिनीं नेक्ष्वाकवः शिक्षिताः
सेवासंवलितः कदा रघुकुले मौलौ निबद्धोऽञ्जलिः।

सर्वं तद्विहितं तथाप्युदधिना नैवोपरोधः कृतः
पाणिः संप्रति मे हठात् किमपरं स्प्रष्टुं धनुर्धावति ॥ ९७ ॥

दैन्य को स्वीकार करने के विषय में समुत्सुक मधुकरी वृत्ति की शिक्षा इक्ष्वाकुवंशियों ने कभी भी ग्रहण नहीं की। रघुकुल में भला कब सेवा भाव से संवलित (किसी के सामने) मस्तक पर रख कर हाथ जोड़ने की बात सुनी गई। परन्तु वह सब किया गया फिर भी सागर ने बाँध नहीं बँधने दिया। और क्या अब तो मेरा हाथ बरबस धनुष का स्पर्श करने के लिए दौड़ा जा रहा है ॥ ९७ ॥

अत्र पाणिनि धनुर्ग्रहीतुमिच्छामीति वक्तव्ये पाणिः करणभूतस्य कर्तृत्वाध्यारोपः कामपि कारकवक्रतां प्रतिपद्यते ।

यथा वा—

स्तनद्वन्द्वम् इत्यादौ ॥ ९८ ॥

वहाँ हाथ से धनुष ग्रहण करना चाहता हूँ यह कहने के बजाय करण-भूत पर कर्तृत्व के आरोप वाला पाणि किसी अपूर्व कारकवक्रता को प्रस्तुत करता है।

यथा वा—

निष्पर्यायनिवेशपेशलरसैरन्योन्यनिर्भर्त्सिभि-
र्हस्ताग्रैर्युगपन्निपत्य दशभिर्वामैर्धृतं कार्मुकम् ।
सव्यानां पुनरप्रथीयसि विधावस्मिन् गुणोरोपणे
मत्सेवाविदुषामहंप्रथमिक काप्यम्बरे वर्तते ॥ ९९ ॥

अथवा जैसे—

(रावण के) अपरिवर्तनीय ढंग से ग्रहण करने के विषय में पेशल अभि-निवेश वाले और एक दूसरे की भर्त्सना करने वाले दसों बायें हाथों के अगले भागों के द्वारा एक साथ आगे बढ़कर धनुष पकड़ा गया और अपनी सेवा को भलीभाँति जानने वाले दाहिने हस्ताग्रों की इस धनुष के ऊपर प्रत्यञ्चा चढ़ाने की प्रक्रिया की सिद्धि के अभाव में सारे आकाश में एक अनिर्वचनीय अहमहमिका फैली हुई है ॥ ९९ ॥

अत्र पूर्ववदेव कर्तृत्वाध्यारोपनिबन्धनं कारकवक्रत्वम् ।

यथा वा—

बद्धस्पर्द्ध इति ॥ १०० ॥

यहाँ पर भी पहले की ही तरह कर्तृत्व के आरोप वाली कारकवक्रता है। अथवा जैसे—'बद्धस्पर्ध' इत्यादि पहले उदा० सं० १।६६ पर उद्धृत श्लोक।

एवं कारकवक्रतां विचार्य क्रमसमन्वितां सांख्यावक्रतां विचारयति, तत्परिच्छेदकत्वात् संख्यायाः—

कुर्वन्ति काव्यवैचित्र्यविवक्षापरतन्त्रिताः ।
यत्र संख्याविपर्यासं तां संख्यावक्रतां विदुः ॥ २९ ॥

इस प्रकार कारकवक्रता का विवेचन कर, संख्या के उसकी इयत्ता बताने वाली होने के कारण क्रमानुकूल 'संख्यावक्रता' का विवेचन करते हैं—

जहाँ पर (कविजन) काव्य में विचित्रता के प्रतिपादन करने की इच्छा से पराधीन होकर वचनों का परिवर्तन कर लेते हैं उसे संख्यावक्रता (अथवा वचनवक्रता) कहते हैं ॥ २९ ॥

यत्र यस्यां कवयः काव्यवैचित्र्यविवक्षापरतन्त्रिताः स्वकर्मविचित्रभावाभिधित्सापरवशाः संख्याविपर्यासं वचनविपरिवर्तनं कुर्वन्ति विदधते तां संख्यावक्रतां विदुः तद्वचनवक्रत्वं जानन्ति तद्विदः । तदयमत्रार्थः—यदेकवचने द्विवचने प्रयोक्तव्ये वैचित्र्यार्थं वचनान्तरं यत्र प्रयुज्यते, भिन्नवचनयोर्वा यत्र सामानाधिकरण्यं विधीयते । यथा—

जहाँ अर्थात् जिस (वक्रता) में कविजन काव्य के वैचित्र्य को विवक्षा से परतंत्र होकर अर्थात् अपने व्यापार की विचित्रता का प्रतिपादन करने की इच्छा से पराधीन (अथवा बाध्य) होकर संख्याओं में विपर्यास अर्थात् वचनों को परिवर्तन कर देते हैं उसको 'संख्यावक्रता' कहते हैं अर्थात् काव्यमर्मज्ञ उसे वचनों की वक्रता समझते हैं । तो यहाँ इसका आशय यह है कि एकवचन अथवा द्विवचन का प्रयोग करने के अवसर पर जहाँ विचित्रता लाने के लिए अन्य वचन का प्रयोग होता है, अथवा जहाँ भिन्न-भिन्न वचनों का समान अधिकरण से युक्त रूप में प्रयोग किया जाता है (वहाँ सङ्ख्यावक्रता होती है) जैसे—

कपोले पत्राली करतलनिरोधेन मृदिता
निपीतो निश्वासैरयममृतहृद्योऽधररसः ।
मुहुः कण्ठे लग्नस्तरलयति बाष्पः स्तनतटीं
प्रियो मन्युर्जातस्तव निरनुरोधे न तु वयम् ॥ १०१ ॥

हे पराङ्मुखखि ! (तुम्हारे) गण्डस्थल पर बनी हुई (कस्तूरी-चन्दन की) पत्र-रचना को हथेली के आच्छादन ने मसल डाला है, तथा अमृत के समान मनोहर (तुम्हारे) इस अधर रस को निःश्वासों ने पूरी तरह से पी डाला

है, एवं बार-बार गले तक बहता हुआ आँसू तुम्हारे स्तनतट को कँपा रहा है (इससे जाहिर है कि) क्रोध (ही) तुम्हारा प्रिय बन गया है, न कि मैं ॥१०१॥

अत्र 'न त्वहम्' इति वक्तव्ये, 'न तु वयम्' इत्यनन्तरङ्गत्वप्रतिपादनार्थं ताटस्थ्यप्रतीतये बहुवचनं प्रयुक्तम् । यथा वा —

वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती ॥ १०२ ॥

अत्रापि पूर्ववदेव ताटस्थ्यप्रतीतिः । यथा वा—

फुल्लेन्दीवरकाननानि नयने पाणी सरोजाकराः ॥१०३॥

यहाँ 'न कि मैं' (तुम्हारा प्रिय हूँ) ऐसा कहने के बजाय 'न कि हम' (तुम्हारे प्रिय हैं) ऐसा कहने में अपने अन्तरङ्ग न होने का प्रतिपादन करने के लिए, साथ ही अपनी तटस्थता का बोध कराने के लिए बहुवचन का प्रयोग किया गया है । अथवा जैसे—

(शाकुन्तल में शकुन्तला के ऊपर मंडराते हुए भ्रमर को देखकर दुष्यन्त का यह कथन कि) हे भ्रमर ! हम तो असलियत का पता लगाने में ही मारे गए (लेकिन) तुम कृतकृत्य हो गए ॥ १०२ ॥

यहाँ पर भी पहले (उदाहरण) की ही तरह (वयं) के द्वारा ताटस्थ्य की प्रतीति कराई गई है ।

अथवा जैसे—(उस नायिका की)

आँखें विकसित नीलकमल के वन तथा हाथ कमलों की खान हैं ॥१०३॥

अत्र द्विवचनबहुवचनयोः सामानाधिकरण्यलक्षणः संख्याविपर्यासः सहृदयहृदयहारितामावहति । यथा वा—

शास्त्राणि चक्षुर्नवम् इति ॥ १०४ ॥

अत्र पूर्ववदेवैकवचनबहुवचनयोः सामानाधिकरण्यं वैचित्र्यविधायि।

यहाँ द्विवचन एवं बहुवचन का सामानाधिकरण्यरूप वचनों का परिवर्तन सहृदयों के लिये मनोहर हो गया है । अथवा जैसे—

शास्त्र (रावण की) अभिनव दृष्टि है । यह ॥ १०४ ॥

यहाँ पहले (उदाहरण) की ही तरह एकवचन और बहुवचन का सामानाधिकरण्य विचित्रता की सृष्टि करता है ।

एवं संख्यावक्रतां विचार्य तद्विषयत्वात् पुरुषाणां क्रमसमर्पितावसरां पुरुषवक्रतां विचारयति—

प्रत्यक्तापरभावश्च विपर्यासेन योज्यते ।
यत्र विच्छित्तये सैषा ज्ञेया पुरुषवक्रता ।। ३० ।।

इस प्रकार सङ्ख्यावक्रता का विवेचन कर पुरुषों के उसका विषय होने के कारण क्रमशः अवसर प्राप्त पुरुषवक्रता का विवेचन करते हैं—

जहाँ वैचित्र्य की सृष्टि करने के लिए अपने स्वरूप को और दूसरे के स्वरूप को परिवर्तन के साथ निबद्ध किया जाता है उसे 'पुरुषवक्रता' समझना चाहिए ।। ३० ।।

अत्र यस्यां प्रत्यक्ता निजात्मभावः परभावश्च अन्यत्वमुभयमप्येतद्विपर्यासेन योज्यते विपरिवर्तनेन निबध्यते । किमर्थम्—विच्छित्तये वैचित्र्याय । सैषा वर्णितस्वरूपा ज्ञेया ज्ञातव्या पुरुषवक्रता पुरुषवक्रत्वविच्छित्तिः । तदयमत्रार्थः यदन्यस्मिन्नुत्तमे मध्यमे वा पुरुषे प्रयोक्तव्ये वैचित्र्यायान्यः कदाचित् प्रथमः प्रयुज्यते । तस्माच्च पुरुषैकयोगक्षेमत्वादस्मदादेः प्रातिपदिकमात्रस्य च विपर्यासः पर्यवस्यति ।

जहाँ अर्थात् जिस (वक्रता) में प्रत्यक्ता अर्थात् अपना स्वरूप तथा परभाव अर्थात् अन्य का स्वरूप ये दोनों ही परिवर्तन के साथ संयोजित किये जाते हैं अर्थात् प्रयुक्त किए जाते हैं । किस लिए–विच्छित्ति अर्थात् विचित्रता लाने के लिए । ऐसा जिसका वर्णन किया गया है उसे पुरुषवक्रता अर्थात् पुरुषों के बांकपन से उत्पन्न शोभा जानना अथवा समझना चाहिए । तो यहाँ इसका आशय यह है कि जहाँ अन्य, उत्तम, अथवा मध्यम पुरुष का प्रयोग करने के अवसर पर, विचित्रता लाने के लिए अन्य पुरुष अर्थात् प्रथम पुरुष का प्रयोग किया जाता है । और इस लिए किसी पुरुष के ले आने और सुरक्षित रखने के कारण अस्मदादि और केवल प्रातिपदिक का विरोध समाप्त हो जाता है ।

यथा—

कौशाम्बी परिभूय नः कृपणकैर्विद्वेषिभिः स्वीकृतां
जानाम्येव तथा प्रमादपरतां पत्युर्नयद्वेषिणः ।
स्त्रीणां च प्रियविप्रयोगविधुरं चेतः सदैवात्र मे
वक्तुं नोत्सहते मनः परमतो जानातु देवी स्वयम् ।।१०५।।

ज्ञात ही है जैसे—

राजनीति से विद्वेष रखने वाले महाराज की वैसी लापरवाही (जिसके कारण) मामूली से शत्रुओं के द्वारा हम लोगों को पराजित करके कौशाम्बी

ग्रहण कर ली गई। स्त्रियों का हृदय प्रियतम के वियोग से विह्वल होता ही है अतः इस विषय में मेरा मन सदा से ही कुछ कह सकने में असमर्थ रहा है। इसके आगे स्वयं देवी जानें (कि उन्हें क्या करना चाहिए)।॥ १०५ ॥

अत्र 'जानातु देवी स्वयम्' इति युष्मदि मध्यमपुरुषे प्रयोक्तव्ये प्रातिपदिकमात्रप्रयोगेण वक्तुस्तदशक्त्यनुष्ठानतां, मन्यमानस्यौदासीन्य-प्रतीतिः। तस्याश्च प्रभुत्वात् स्वातन्त्र्येण हिताहितविचारपूर्वकं स्वयमेव कर्तव्यार्थप्रतिपत्तिः कमपि वाक्यवक्रभावमावहति। यस्मादेतदेवास्य वाक्यस्य जीवितत्वेन परिस्फुरति।

यहाँ 'युष्मद्' शब्द के मध्यम पुरुष के प्रयोग करने के स्थान पर 'देवी स्वयं जानें' इस केवल प्रातिपदिक के प्रयोग के द्वारा उसके द्वारा न किए जा सकने योग्य कार्य को जानने वाले वक्ता के औदासीन्य की प्रतीति होती है। तथा उसके प्रभु होने के कारण स्वतन्त्रतापूर्वक हित एवं अहित को ध्यान में रखकर कर्तव्य के लिये विचार करना किसी (लोकोत्तर) वाक्यवक्रता को धारण करता है। क्योंकि यही इस वाक्य के प्राण रूप से स्फुरित होता है।

एवं पुरुषवक्रतां विचार्य पुरुषाश्रयत्वादात्मनेपदपरस्मैपदयोरुचिता-वसरां वक्रतां विचारयति। धातूनां लक्षणानुसारेण नियतपदाश्रयः प्रयोगः पूर्वाचार्याणाम् 'उपग्रह'-शब्दाभिधेयतया प्रसिद्धः तस्मात्तदभिधानेनैव व्यवहरति—

पदयोरुभयोरेकमौचित्याद् विनियुज्यते।
शोभायै यत्र जल्पन्ति--तामुपग्रहवक्रताम् ॥ ३१ ॥

इस प्रकार पुरुषवक्रता का विवेचन कर पुरुषों के आश्रय होने के कारण, उपयुक्त अवसर प्राप्त, आत्मनेपद एवं परस्मैपद की वक्रता का विवेचन करते हैं। आचार्यों में, धातुओं का लक्षण के अनुसार निश्चित पद के आश्रय वाला प्रयोग 'उपग्रह' शब्द के द्वारा प्रतिपादित किया गया है। इसलिये उसी नाम से ही (ग्रन्थकार कुन्तक भी) व्यवहार करते हैं—

जहाँ पर औचित्य के कारण सौन्दर्य की सृष्टि के लिए (आत्मनेपद एवं परस्मैपद) दोनों पदों में से एक का विशेष रूप से प्रयोग किया जाता है, उसे (कविजन) उपग्रह वक्रता कहते हैं ॥ ३१ ॥

तामुक्तस्वरूपामुपग्रहवक्रतामुपग्रहवक्रत्वविच्छित्तिं जल्पन्ति कवयः कथयन्ति। कीदृशी—यत्र यस्यां पदयोरुभयोर्मध्यादेकमात्मनेपदं

परस्मैपदं वा विनियुज्यते विनिबध्यते नियमेन। कस्मात्कारणात्—औचित्यात्। वर्ण्यमानस्य वस्तुनो यदौचित्यमचितभावस्तस्मात्, तं समाश्रित्येत्यर्थः। किमर्थम्—शोभायै विच्छित्तये।

यथा—

प्रतिपादित किए गये स्वरूप वाली उस (वक्रता) को कविजन उपग्रहवक्रता अर्थात् उपग्रह के कारण उत्पन्न बांकपन की शोभा कहते हैं। कैसी (वक्रता को)—जहाँ अर्थात् जिस (वक्रता) में दोनों पदों के मध्य से आत्मनेपद अथवा परस्मैपद एक का विनियोग अर्थात् नियमपूर्वक विशेषरूप से प्रयोग किया जाता है। किस कारण से—औचित्य के कारण। वर्णन की जाने वाली वस्तु का जो औचित्य अर्थात् उपयुक्तता होती है उसके कारण अर्थात् उसका आश्रय ग्रहण कर। किस लिये—शोभा अर्थात् रमणीयता के लिये। जैसे—

तस्यापरेष्वपि मृगेषु शरान्मुमुक्षोः
कर्णान्तमेत्य बिभिदे निविडोऽपि मुष्टिः।
त्रासातिमात्रचटुलैः स्मरयत्सु नेत्रैः
प्रौढप्रियानयनविभ्रमचेष्टितानि ॥ १०६ ॥

भय के कारण अत्यधिक चञ्चल नयनों से (साम्य के कारण) प्रगल्भ प्रिया के नेत्र विलासों के व्यापार का स्मरण कराने वाले दूसरे हरिणों पर भी बाण चलाने की इच्छा वाले उस (राजा दशरथ) की अत्यन्त दृढ़ मुट्ठी भी श्रवण पर्यन्त पहुँचकर शिथिल हो गई॥ १०६॥

अत्र राज्ञः सुललितविलासवतीलोचनविलासेषु स्मरणगोचरमवतरत्सु तत्परायत्तचित्तवृत्तेराङ्गिकप्रयत्नपरिस्पन्दविनिवर्तमाना मुष्टिर्बिभिदे भिद्यते स्म। स्वयमेवेति कर्मकर्तृनिबन्धनमात्मनेपदमतीव चमत्कारिणी कामपि वाक्यवक्रतामावहति।

यहाँ विलासवती (प्रियतमा) के सुन्दर हाव भावों से युक्त नेत्र व्यापारों की याद आ जाने से उसके वशीभूत चित्तवृत्ति वाले राजा (दशरथ) की शारीरिक प्रयास के व्यापार से हीन मुट्ठी अपने आप ही भिन्न अर्थात् शिथिल हो गई। इस कर्म कर्त्ता का कारण आत्मनेपद अत्यन्त ही चमत्कार को उत्पन्न करने वाली किसी (अपूर्व) वाक्यवक्रता को धारण करता है।

एवमुपग्रहवक्रतां विचार्य तदनुसंभविनीं प्रत्ययान्तरवक्रतां विचारयति—

विहितः प्रत्ययादन्यः प्रत्ययः कमनीयताम् ।
यत्र कामपि पुष्णाति सान्या प्रत्ययवक्रता ॥ ३२ ॥

इस प्रकार उपग्रहवक्रता का विवेचन कर उसके बाद सम्भव होने वाली दूसरे प्रत्ययों की वक्रता का विवेचन करते हैं—

जहाँ (तिङादि) प्रत्यय से किया गया प्रत्यय किसी अपूर्व रमणीयता को पुष्ट करता है वह दूसरी प्रत्ययवक्रता होती है ॥ ३२ ।

सान्या प्रत्ययवक्रता सा सामाम्नातरूपादन्यापरा काचित् प्रत्ययवक्रत्वविच्छित्तिः । अस्तीति सम्बन्धः । यत्र यस्यां प्रत्ययः कामप्यपूर्वां कमनीयतां रम्यतां पुष्णाति पुष्यति । कीदृशः—प्रत्ययात् तिङादेर्विहितः पदत्वेन विनिर्मितोऽन्यः कश्चिदिति ।

वह दूसरी प्रत्ययवक्रता होती है अर्थात् जिसका स्वरूप पहले बताया गया है उससे भिन्न कोई (नवीन) प्रत्ययों के बांकपन का सौन्दर्य होता है । (इस कारिका का 'अस्ति' क्रिया के साथ सम्बन्ध है ।) जहाँ अर्थात् जिस (वकता) में प्रत्यय किसी अपूर्व कमनीयता अर्थात् सुन्दरता को पुष्ट करता है । कैसा (प्रत्यय)—तिङादि प्रत्ययों से किया गया पद रूप से बनाया गया कोई दूसरा प्रत्यय (जहाँ रमणीयता का पोषण करता है वह प्रत्ययवक्रता होती है) । जैसे—

लीनं वस्तुनि येन सूक्ष्मसुभगं तत्त्वं गिरा कृष्यते
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं वाचैव यो वाक्पतिः ।
वन्दे द्वावपि तावहं कविवरौ वन्देतरां तं पुन-
र्यो विज्ञातपरिश्रमोऽयमनयोर्भारावतारक्षमः ॥ १०७ ॥

जो अपनी वीणा के द्वारा वस्तुओं में गुप्त रूप से निहित सूक्ष्म सुन्दर तत्त्व को आकृष्ट कर लेता है और जो वाचस्पति अपनी वाणी के ही द्वारा यह रमणीयता तत्त्व प्रस्तुत कर देने में समर्थ होता है उन दोनों कविवरों को मैं प्रणाम करता हूँ और फिर उस (महापुरुष) को और भी अधिक प्रणाम करता हूँ जो परिश्रम को भलीभाँति समझ कर इन दोनों का बोझ उतार ले सकने में सक्षम हो सकता है ॥ १०७ ॥

'वन्देतराम्' इत्यत्र कापि प्रत्ययवक्रता कवेश्चेतसि परिस्फुरति । तत एव 'पुनः'-शब्द पूर्वस्माद्विशेषाभिधायित्वेन प्रयुक्तः ।

'वन्देतराम्' यहाँ पर कोई अपूर्व प्रत्ययवक्रता कवि के हृदय में स्फुरित होती है। इसीलिए 'पुनः' शब्द का प्रयोग पहले की अपेक्षा विशेष का प्रतिपादन करने के लिये किया गया है।

एव नामाख्यातस्वरूपयोः पदयोः प्रत्येकं प्रकृत्याद्यवयवविभागद्वारेण यथासंभवं वक्रत्वं विचार्येदानीमुपसर्गनिपातयोरव्युत्पन्नत्वादसंभवद्विभविभक्तित्वाच्च निरस्तावयवत्वे सत्यविभक्तयोः साकल्येन वक्रतां विचारयति—

इस प्रकार नाम एवं आख्यात रूप पदों में से प्रत्येक के प्रकृति आदि अङ्गों को विभक्त करके (अलग अलग) यथासम्भव वक्रता का विवेचन कर अब उपसर्ग तथा निपातों के रूढ़ होने से तथा विभक्तियों के सम्भव न होने से अङ्गों से हीन होने पर समग्र रूप से वक्रता का विवेचन करते हैं—

रसादिद्योतनं यस्यामुपसर्गनिपातयोः।
वाक्यैकजीवितत्वेन सा परा पदवक्रता ॥ ३३ ॥

जिस (वक्रता) में उपसर्ग एवं निपातों की (शृङ्गारादि) रसों की प्रकाशकता (व्यंजकता) वाक्य के एकमात्र प्राण रूप से होती है, वह दूसरी पदवक्रता होती है ॥ ३३ ॥

सापरा पदवक्रता—सा समर्पितस्वरूपापरा पूर्वोक्तव्यतिरिक्ता पदवक्रत्वविच्छित्तिः। अस्तीति संबन्धः। कीदृशी—यस्यां वक्रतायामुपसर्गनिपातयोर्वैयाकरणप्रसिद्धाभिधानयो रसादिद्योतनं शृगारप्रभृतिप्रकाशनम्। कथम्—वाक्यैकजीवितत्वेन। वाक्यस्य श्लोकादेरेकजीवितं वाक्यैकजीवितं तस्य भावस्तत्त्वं तेन। तदिदमुक्तं भवति—यद्वाक्यस्यैकस्फुरितभावेन परिस्फुरति यो रसादिस्तत्प्रकाशनेनेत्यर्थः। यथा—

वह दूसरी पदवक्रता होती है अर्थात् पहले बताई गई पदवक्रता से भिन्न, जिसका स्वरूप बताया जा रहा है वह पदों के बांकपन की शोभा होती है। (इस कारिका का) अस्ति इस क्रिया से सम्बन्ध है। कैसी (वक्रता)–जिस वक्रता में वैयाकरणों में प्रसिद्ध सञ्ज्ञा वाले उपसर्ग एवं निपातों का रसादि का द्योतन अर्थात् शृङ्गारादि (रसों) का प्रकाशन (होता है)। कैसे (होता है)–वाक्य के एक मात्र प्राण रूप से, वाक्य अर्थात् श्लोकादि उसका जो अकेला जीवन है वह कहा जायगा वाक्य का एकमात्र जीवन। उसके भाव

से। तो इसका आशय यह है कि--वाक्य के एकमात्र प्राण रूप में जो रसादि स्फुरित होता है उसके प्रकाशन के द्वारा (जो जीवित भूत होता है)। जैसे—

वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि धीरा भव ॥ २०८ ॥

लेकिन हाय (अत्यन्त सुकुमारी) जानकी किस दशा में होगी ? हा देवि ! धैर्य धारण करो ॥ ५०८ ॥

अत्र रघुपतेस्तत्कालज्वलितोद्दीपनविभावसंपत्समुल्लासितः संभ्रमो निश्चितजनितजानकीविपत्तिसंभावनस्तत्परित्राणकरणोत्साहकारणतां प्रतिपद्यमानस्तदेकाग्रतोल्लिखितसाक्षात्कारस्तदाकारतया विस्मृत-विप्रकर्षः प्रत्यग्ररसपरिस्पन्दसुन्दरो निपातपरंपराप्रतिपद्यमानवृत्तिर्वा-क्यैकजीवितत्वेन प्रतिभासमानः कामपि वाक्यवक्रतां समुन्मीलयति । तु-शब्दस्य च वक्रभावः पूर्वमेव व्याख्यातः । यथा वा—

यहाँ वर्षाकाल में प्रकाशित उद्दीपन विभावों की सामग्री से उत्पन्न निश्चित रूप से उत्पन्न जानकारी की विपत्ति की सम्भावना वाला राम का संवेग सीता के प्राणों की रक्षा करने के उत्साह का कारण बनता हुआ वैदेही के प्रति एकाग्रता के कारण उनके साक्षात्कार को विचित्र कर देने वाला तदाकारता के कारण दुरवस्था को भुला देने वाला नवीन रस के संस्फुरण के कारण सुन्दरता निपातपरम्पराओं के कारण प्राप्तसत्ताक होकर वाक्य के एकमात्र प्राण रूप से प्रतीत होता हुआ किसी अनिर्वचनीय वाक्यवक्रता को प्रस्तुत करता है। तथा 'तु' शब्द की वक्रता की व्याख्या पहले ही (उदा० सं० २।२७ की व्याख्या करते समय) की जा चुकी है। अथवा जैसे—

अयमेकपदे तया वियोगः प्रियया चोपनतः सुदुःसहो मे ।
नववारिधरोदयादहोभिर्भवितव्यं च निरातपत्वरम्यैः ॥१०९॥

(विक्रमोर्वशीय में उर्वशी के विरह से पीड़ित होकर पुरूरवा दुःख प्रकट करता है कि जिनके भाग्य खराब हो जाते हैं उनके एक दुःख में दूसरा दुःख लगा ही रहता है क्योंकि)

(एक ओर) एकाएक मुझे उस प्रियतमा का अत्यन्त असह्य वियोग प्राप्त हुआ तथा (दूसरी ओर) नये-नये बादलों के आकाश में छा जाने से उष्णतारहित होने के कारण रमण करने योग्य दिन आ गए ॥ १०९ ॥

अत्र द्वयोः परस्परं सुदुःसहत्वोद्दीपनसामर्थ्यसमेतयोः प्रियाविरह-वर्षाकालयोस्तुल्यकालत्वप्रतिपादनपरं 'च'-शब्दद्वितयं समसमयसमुल्ल-

सितवह्निदाहदक्षदक्षिणवातव्यजनसमानतां समर्थयत् कामपि वाक्यवक्रतां समुद्दीपयति । 'सु' - 'दुः'-शब्दाभ्यां च प्रियाविरहस्याशक्यप्रतीकारता प्रतीयते । यथा च—

यहाँ पर परस्पर अत्यन्त असह्यता को उद्दीत करने की सामर्थ्य से संयुक्त प्रियतमा के वियोग एवं वर्षा ऋतु, दोनों की समानकालिकता का प्रतिपादन करने में तत्पर दो बार प्रयुक्त 'च' शब्द, एक ही समय में उत्पन्न अग्नि, एवं जलाने में चतुर दक्षिणवन रूप पंखे की समानता का समर्थन करता हुआ किसी (अपूर्व) श्लोक के वक्रभाव को प्रकाशित करता है। 'सु' एवं 'दुः' शब्दों के द्वारा प्रेयसी के वियोग का निराकरण असम्भव है। इस बात की प्रतीति होती है। तथा जैसे—

मुहुरङ्गुलिसंवृताधरोष्ठं प्रतिषेधाक्षरविक्लवाभिरामम् ।
मुखमंसविवर्ति पक्ष्मलाक्ष्याः कथमप्युन्नमितं न चुम्बितं तु ॥१०१॥

'अभिज्ञान शाकुन्तल' में राजा दुष्यन्त कहता है कि—

सुन्दर बरौनियों वाली आंखों से युक्त, बार-बार अंगुलियों से ढंके अधर वाले, एवं ('नहीं ऐसा नहीं' इस प्रकार) निषेध के अक्षरों के अस्पष्ट उच्चारण के कारण रमणीय (उस प्रियतमा शकुन्तला के) कन्धे की ओर मुड़े हुए मुख को किसी प्रकार उठाया तो पर चूमा नहीं ॥ ११९ ॥

अत्र नायकस्य प्रथमाभिलाषविवशवृत्तेरनुभवस्मृतिसमुल्लिखिततत्कालसमुचिततद्वदनेन्दुसौन्दर्यस्य पूर्वपरिचुम्बनस्खलितसमुद्दीपितपश्चात्तापवशावेशद्योतनपरः 'तु'-शब्दः कामपि वाक्यवक्रतामुत्तेजयति।

यहाँ पर पहली कामना के कारण बेकाबू हो उठी हुई चित वृत्ति वाले नायक की पूर्वानुभव की स्मृति से चित्रित कर दिए गए हुए उस समय के लिए समीचीन उस (शकुन्तला) के मुखचन्द्र के सौन्दर्य का चुम्बन न ले पाने के कारण प्रखर हो उठे हुए पश्चात्तापवश उत्पन्न पहले के आवेश को प्रकाशित करने में लगा हुआ 'तु' शब्द एक लोकोत्तर वाक्यवक्रता को उद्दीप्त कर देता है।

एतदुत्तरत्र प्रत्ययवक्रत्वमेवंविधप्रत्ययान्तरवक्रभावान्तर्भूतत्वात् पृथक्त्वेन नोक्तमिति स्वयमेवोत्प्रेक्षणीयम् । यथा—

इन उपसर्गादिकों के आगे लगने वाले प्रत्ययों की वक्रता इस प्रकार की दूसरी प्रत्यय वक्रताओं में अन्तर्भूत होने के कारण अलग से नहीं बताई गई, उसकी (सहृदयों को) स्वयं उत्प्रेक्षा कर लेनी चाहिए। जैसे—

येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते ते
बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णोः ॥ १११ ॥

जिसके कारण चमकती हुई कान्ति वाले मयूरपिच्छ से युक्त कृष्णावतार धारण करने वाले विष्णु के (शरीर की) अतिशायिनी कान्ति को तुम्हारा श्यामल शरीर प्राप्त करेगा ॥ १११ ॥

अत्र 'अतितराम्' इत्यतीव चमत्कारकारि। एवमन्येषामपि सजातीयलक्षणद्वारेण लक्षणनिष्पत्तिः स्वयमनुसर्तव्या। तदेवमियमनेकाकारा वक्रत्वविच्छित्तिश्चतुर्विधपदविषया वाक्यैकदेशजीवितत्वेनापि परिस्फुरन्ती सकलवाक्यवैचित्र्यनिबन्धनतामुपयाति।

यहाँ 'अतितराम्' यह पद अत्यन्त ही चमत्कार को उत्पन्न करता है। इस प्रकार समानधर्मीय लक्षणों के आधार पर अपने आप लक्षणों की सिद्धि का अनुसरण कर लेना चाहिए (अर्थात् लक्षणों को घटित कर लेना चाहिए)। तो इस प्रकार यह चार प्रकार के पदों की विषयभूत अनेक प्रकार की वक्रताओं की शोभा वाक्य के एक भाग (पदों) में ही प्राण रूप से स्फुरित होती हुई भी समस्त वाक्य की विचित्रता का कारण बनती है।

वक्रतायाः प्रकाराणामेकोऽपि कविकर्मणः।
तद्विदाह्लादकारित्वहेतुतां प्रतिपद्यते ॥ ११२ ॥

इत्यन्तरश्लोकः।

वक्रता के प्रभेदों में से एक भी प्रभेद कवि व्यापार (काव्य) के काव्यमर्मज्ञों को आनन्दित करने का कारण बन जाता है ॥ ११२ ॥

यह अन्तरश्लोक है।

यद्येवमेकस्यापि वक्रताप्रकारस्य यदेवंविधो महिमा तदेते बहवः संपतिताः सन्तः किं संपादयन्तीत्याह—

यदि वक्रता के एक भी भेद का ऐसा माहात्म्य है (कि वह काव्यतत्त्वज्ञों को आह्लादित करने लगता है) तो ये बहुत से भेद (एक साथ ही उपस्थित होकर) क्या करते हैं—यह बताते हैं—

परस्परस्य शोभायै बहवः पतिताः क्वचित्।
प्रकारा जनयन्त्येतां चित्रच्छायामनोहराम् ॥ ३४ ॥

कहीं-कहीं परस्पर सौन्दर्य की सृष्टि के लिये (एक साथ) बहुत से

(वक्रताओं के) प्रभेद एकत्र होकर इसे विविध कान्तियों से रमणीय बना देते हैं ।। ३४ ।।

क्वचिदेकस्मिन् पदमात्रवाक्ये वा वक्रताप्रकारा वक्रत्वप्रभेदा बहवः प्रभूताः कविप्रतिभामाहात्म्यसमुल्लसिताः । किमर्थम्—परस्परस्य शोभायै, अन्योन्यस्य विच्छित्तये । एतामेव चित्रच्छायामनोहरामनेकाकारकान्तिरमणीयां वक्रतां जनयन्त्युत्पादयन्ति । यथा—

तरन्तीव इति ।। ११६ ।।

कहीं-कहीं का अर्थ है केवल एक पद में अथवा एक वाक्य में बहुत से वक्रताप्रकार, बांकपन के प्रभेद कवि की शक्ति महत्ता (प्रभाव) से उत्पन्न होकर । किस लिए—परस्पर की शोभा के लिये एक दूसरे की रमणीयता के लिए (उत्पन्न होकर) इसी वक्रता को विचित्र छाया से मनोहर अर्थात् अनेक प्रकार की कमनीयता से रमणीय बना देते हैं । जैसे—

(उदाहरण संख्या २.९१ पर पूर्वोद्धृत) 'तरन्तीवाङ्गानि' इत्यादि पद ।। ११३ ।।

अत्र क्रियापदानां त्रयाणामपि प्रत्येकं त्रिप्रकारं वैचित्र्यं परिस्फुरति—क्रियावैचित्र्यं कारकवैचित्र्यं कालवैचित्र्यं च । प्रथिम-स्तन-जघन-तरुणिम्नां त्रयाणामपि वृत्तिवैचित्र्यम् । लावण्यजलधि-प्रागल्भ्य-सरलता-परिचय-शब्दानामुपचारवैचित्र्यम् । तदेवमेते बहवो वक्रताप्रकारा एकस्मिन् पदे वाक्ये वा संपतिताश्चित्रच्छायामनोहरामेतामेव चेतनचमत्कारकारिणीं वाक्यवक्रतामावहन्ति ।

यहाँ तीनों ही क्रियापदों में से हर एक की तीन प्रकार की विचित्रता प्रकाशित होती है—(१) क्रिया की विचित्रता, (२) कारक की विचित्रता तथा (३) काल की विचित्रता । 'प्रथिम' 'स्तनजघन' एवं 'तरुणिमा' तीन शब्दों में वृत्तिवैचित्र्य की वक्रता है । 'लावण्य', 'जलधि', 'प्रागल्भ्य' 'सरलता' एवं 'परिचय शब्दों में उपचारवक्रता है । तो इस प्रकार ये बहुत से वक्रताओं के प्रभेद एक ही पद अथवा वाक्य में साथ ही एकत्र होकर चित्र की शोभा के सदृश चित्ताकर्षक, सहृदयों को आनन्द प्रदान करने वाली इसी वाक्यवक्रता को धारण करते हैं ।

एवं नामाख्यातोपसर्गनिपातलक्षणस्य चतुर्विधस्यापि पदस्य यथासंभवं वक्रताप्रकारान् विचार्येदानीं प्रकरणमुपसंहृत्यान्यदवतारयति —

इस प्रकार नाम, आख्यात, उपसर्ग एवं निपात रूप चार प्रकार के पद की वक्रता का यथासम्भव विवेचन कर अब इस प्रकरण का उपसंहार करके दूसरे प्रकरण को अवतरित करते हैं

वाग्वल्ल्याः पदपल्लवास्पदतया या वक्रतोद्भासिनी
विच्छित्तिः सरसत्वसंपदुचिता काप्युज्ज्वला जृम्भते।
तामालोच्य विदग्धषट्पदगणैर्वाक्यप्रसूनाश्रयि
स्फारामोदमनोहरं मधु नवोत्कण्ठाकुलं पीयताम् ॥३५॥

वाणीरूपी लता को पदरूपी किसलयों के आश्रय से सरसत्व (श्रृङ्गारादि की व्यञ्जकता, एवं तात्कालिक रस की प्रचुरता) की सम्पत्ति से सम्पन्न वक्रता (उक्तिवैचित्र्य, एवं बालचन्द्र के सदृश सुन्दर रचना का संयोग) से सुशोभित होने वाली एवं उज्ज्वल (संघटना की सुन्दरता से युक्त एवं पत्तों की शोभा से युक्त) जो कोई अलौकिक विच्छित्ति (कवि-कौशल की कमनीयता एवं सुन्दर ढङ्ग से पत्तों का विभाग) उल्लसित होती है, उसका विचार करके सहृदय रूप भ्रमरों का समूह वाक्यरूपी पुष्पों के आश्रय वाले अत्यधिक आमोद (सहृदयह्लादकारिता एवं सुगन्धि) के कारण हृदयावर्जक मधु (समस्त काव्य की कारण सामग्री के उदय एवं मकरन्द) का नवीन उत्कण्ठा से व्याकुल होकर पान करें ॥ ३५ ॥

वागेव वल्ली वाणीलता तस्याः काप्यलौकिकी विच्छित्तिर्जृम्भते शोभा समुल्लसति। कथम्—पदपल्लवास्पदतया। पदान्येव पल्लवानि सुप्तिङन्तान्येव पत्राणि तदा स्पदतया तदाश्रयत्वेन। कीदृशी विच्छित्तिः-सरसत्वसंपदुचिता, रसवत्त्वापातिशयोपपन्ना। किंविशिष्टा च— वक्रतया वक्रभावेनोद्भासते भ्राजते या सा तथोक्ता। कीदृशी—उज्ज्वला छायातिशयरमणीया। तामेवंविधामालोच्य विचार्य विदग्धषटपदगणैर्विबुधषट्चरणचक्रैर्मधु पीयतां मकरन्द आस्वाद्यताम्। कीदृशम्— वाक्यप्रसूनाश्रयम्। वाक्यान्येव पदसमुदायरूपाणि प्रसूनानि पुष्पाण्याश्रयः स्थानं यस्य तत्तथोक्तम्। अन्यच्च कीदृशम्— स्फारामोदमनोहरम्। स्फारः स्फीतो योऽसावामोदस्तद्धर्मविशेषस्तेन मनोहरं हृदयहारि। कथमास्वाद्यताम्—नवोत्कण्ठाकुलं नूतनोत्कलिकाव्यग्रम्। मधुकरसमूहाः खलु वल्ल्याः प्रथमोल्लसितपल्लवोल्लेखमालोच्य प्रतीतचेतसः समनन्तरोद्भिन्नसुकुमारसुकुममकरन्दपानमहोत्सवमनुभवन्ति। तद्वदेव सहृदयाः पदास्पदं कामपि वक्रता-

विच्छित्तिमालोच्य नवोत्कलिकाकलितचेतसो वाक्याश्रयं किमपि वक्रताजीवितसर्वस्वं विचारयन्त्विति तत्पर्यार्थः। अत्रैकत्र सरसत्वं स्वसमयसम्भवविरसाढ्यत्वम्, अन्यत्र शृङ्गारादिव्यञ्जकत्वम्। वक्रतैकत्र बालेन्दुसुन्दरसंस्थानयुक्तत्वम्, इतरत्रोक्त्यादिवैचित्र्यम्। विच्छित्तिरेकत्र सुविभक्तपत्रत्वम् अन्यत्र कविकौशलकमनीयता उज्ज्वलत्वमेकत्र पर्णच्छायायुक्तत्वम्, अपरत्र सन्निवेशसौन्दर्यसमुदयः। आमोदः पुष्पेषु सौरभम्, वाक्येषु तद्विदाह्लादकारिता। मधु कुसुमेषु मकरन्दः, वाक्येषु सकलकाव्यकारणसम्पत्समुदय इति।

इति श्रीमत्कुन्तकविरचिते वक्रोतिजीविते
द्वितीय उन्मेषः॥

वाणी ही है वल्ली अर्थात् वाणीरूपी लता, उसकी कोई अलौकिक विच्छित्ति अर्थात् शोभा उल्लसित होती है। कैसे—पद पल्लवों के आश्रय से। पद ही है पल्लव अर्थात् सुवन्त एवं तिङन्त (पद) ही किसलय हैं, उनकी आस्पदता से अर्थात् उसके आश्रय से (उल्लसित होती है)। कैसी विच्छित्ति (उल्लसित होती है)—सुरसता की सम्पत्ति से युक्त अर्थात् रसयुक्तता के अतिरेक से सम्पन्न (विच्छित्ति)। और कैसी (विच्छित्ति) जो वक्रता से अर्थात् बाँकपन के कारण उद्भासित अर्थात् सुशोभित होती है ऐसी (विच्छित्ति) और कैसी—उज्ज्वल अर्थात् कान्ति के उत्कर्ष से रमणीय। उस उस प्रकार की शोभा की आलोचना अर्थात् विचार करके विदग्ध रूप षट्पदों का समूह अर्थात् सहृदय रूपी भ्रमरों का समुदाय मधु का पान करें अर्थात् पुष्प रस का आस्वादन करें। कैसे (पुष्प रस का) वाक्य पुष्प के आश्रय वाले (रस का)। पदों के समुदाय रूप वाक्य ही हैं पुष्प अर्थात् फूल एवं वे ही हैं आश्रय अर्थात् निवासस्थान जिसके ऐसे पुष्प रस का पान करें। और कैसा है (वह पुष्प रस) प्रचुर आमोद के कारण मनोहर स्फार। अर्थात् अत्यधिक जो यह आमोद अर्थात् पुष्प का धर्मविशेष (सुगन्धि) होता है उससे मनोहर चित्ताकर्षक (रस का आस्वादन करें) कैसे आस्वादन करें—नवीन उत्कण्ठा से व्याकुल होकर अर्थात् अभिनव उत्कण्ठा से क्षुब्ध होकर। (इसका आशय यह है कि जैसे) भ्रमरों के समूह लता के पहले-पहल निकले हुए किसलयों की उत्पत्ति को देखकर विश्वस्त होकर उसके बाद खिले हुए सुमोकल पुष्पों के पुष्परस के पीने का आनन्द अनुभव करते हैं उसी प्रकार सहृदय पदों के आश्रय वाली किसी अलौकिक वक्रता की शोभा का विवेचन कर अभिनव उत्कण्ठा से संवलितहृदय

होकर वाक्य के आश्रय वाले वक्रता के प्राणस्वरूप किसी तत्त्व का विचार करते हैं।

यहाँ लतापक्ष में सरलता का अर्थ है अपने समय के अनुसार उत्पन्न होने वाली रस की प्रचुरता तथा वाणीपक्ष में अर्थ है शृङ्गारादि रसों की व्यञ्जकता। लतापक्ष में वक्रता से तात्पर्य है बालचन्द्रमा की तरह सुन्दर संघटना से युक्त होना तथा वाणीपक्ष में अर्थ है कथन आदि की विचित्रता विच्छित्ति से लतापक्ष में अभिप्राय है पत्तों के सुन्दर ढङ्ग के विभाग से तथा वाणीपक्ष में अर्थ है कवि की कुशलता का सौन्दर्य। लतापक्ष में उज्ज्वल होने का अर्थ है पत्तों की शोभा से युक्त होना, तथा वाणीपक्ष में तात्पर्य है संघटना की सुन्दरता की भली-भाँति सृष्टि। फूल में आमोद से तात्पर्य है सुगन्धि से तथा वाक्य में आमोद का अर्थ है सहृदयों को आनन्दित करने की शक्ति से। फूलों में मधु का अर्थ है पुष्प रस तथा वाक्यों में मधु का अर्थ है समस्त काव्यों की कारण सामग्री की सम्पत्ति का आविर्भाव।

इस प्रकार श्रीमान् कुन्तक द्वारा विरचित वक्रोक्तिजीवित का
द्वितीय उन्मेष समाप्त हुआ।



तृतीयोन्मेषः

एवं पूर्वस्मिन् प्रकरणे वाक्यावयवानां यथासंभवं वक्रभावं विचारयन् वाचकवक्रताविच्छित्तिप्रकाराणां दिक्प्रदर्शनं विहितवान्। इदानीं वाक्यवक्रतावैचित्र्यमासूत्रयितुं वाच्यस्य वर्णनीयतया प्रस्तावाधिकृतस्य वस्तुनो वक्रतास्वरूपं निरूपयति, पदार्थावबोधपूर्वकत्वाद् वाक्यार्थावसितेः-

इस प्रकार पहले (द्वितीय उन्मेष के) प्रसङ्ग में वाक्य के अङ्गरूप पदों की यथासम्भव वक्रता का विवेचन करते समय (ग्रन्थकार के) शब्दों की वक्रता से उत्पन्न होने वाले वैचित्र्य के प्रभेदों का कुछ परिचय दिया था। अब (तृतीय उन्मेष में) वाक्यों की वक्रता की विच्छित्ति का प्रतिपादन करने के लिए वाच्य अर्थात् वर्णन का विषय होने के कारण प्रकरण के आश्रित रहने वाले पदार्थ की वक्रता का स्वरूपनिरूपण करते हैं, क्योंकि पदार्थ का ज्ञान हो जाने के बाद ही वाक्यार्थ का बोध होता है।

उदारस्वपरिस्पन्दसुन्दरत्वेन वर्णनम्।
वस्तुनो वक्रशब्दैकगोचरत्वेन वक्रता ॥ १ ॥

(वर्ण्यमान) केवल अपने सर्वोत्कृष्ट स्वभाव की रमणीयता से युक्त रूप में, वस्तु का वक्र शब्द के द्वारा ही प्रतिपाद्य रूप में, वर्णन, (उस पदार्थ या वस्तु की) वक्रता होती है ॥ १ ॥

वस्तुनो वर्णनीयतया प्रस्तावितस्य पदार्थस्य यदेवंविधत्वेन वर्णनं सा तस्य वक्रता वक्रत्वविच्छित्तिः। किंविधत्वेनेत्याह—उदारस्वपरिस्पन्दसुन्दरत्वेन। उदारः सोत्कर्षः सर्वातिशायी यः स्वपरिस्पन्दः स्वभावमहिमा तस्य सुन्दरत्वं सौकुमार्यातिशयस्तेन, अत्यन्तरमणीयस्वाभाविकधर्मयुक्तत्वे। वर्णनंप्रतिपादनम्। कथम्—वक्रशब्दैकगोचरत्वेन। वक्रो योऽसौ नानाविधवक्रताविशिष्टः शब्दः कश्चिदेव वाचकविशेषो विवक्षितार्थसमर्थस्तस्यैकस्य केवलस्य गोचरत्वेन प्रतिपाद्यतया विषयत्वेन। वाच्यत्वेनेति नोक्तम्, व्यङ्ग्यत्वेनापि प्रतिपादनसंभवात्। तदिदमुक्तं भवति—यदेवंविधे भावस्वभावसौकुमार्यवर्णनप्रस्तावे भूयसां न वाच्यालङ्काराणामुपमादीनामुपयोगयोग्यता संभवति, स्वभावसौकुमार्यातिशयम्लानताप्रसङ्गात्।

वस्तु अर्थात् वर्णन का विषय होने के कारण प्रकरणप्राप्त पदार्थ का जो इस तरह से वर्णन है वह उस (वस्तु) की वक्रता अर्थात् बांकपन का वैचित्र्य होता है। किस तरह से वर्णन (वक्रता होती है) इसे (ग्रन्थकार)

कहते हैं—अपने उदार स्वरूप की रमणीयता से (किया गया) वर्णन । उदार का अर्थ है उत्कृष्टता से सम्पन्न सर्वातिरिक्त ऐसा जो अपना परिस्पन्द अर्थात् अपने स्परूप की महत्ता उसकी सुन्दरता अर्थात् अत्यधिक सुकुमारता उससे अर्थात् अत्यधिक मनोहर अपने सहज धर्म से युक्त रूप से (किया गया) वर्णन अर्थात् प्रतिपादन (वस्तुवक्रता होती है) कैसे (किया गया वर्णन) केवल वक्र शब्द के द्वारा ही गोचर रूप से। वक्र का अर्थ है नाना प्रकार की वक्रताओं से सम्पन्न जो शब्द अर्थात् कोई ही अभीष्ट प्रतिपाद्य अर्थ का प्रतिपादन कराने वाला विशेष शब्द केवल। उसी के गोचर रूप से अर्थात् प्रतिपाद्य होने के कारण विषय रूप से (वर्णन)। यहाँ वाच्य रूप से (प्रतिपादन) नहीं कहा गया क्योंकि प्रतिपादन व्यङ्ग्य रूप से भी हो सकता है। तो इसका आशय यह है कि इस प्रकार के पदार्थ की सहज सुकुमारता का प्रतिपादन करते समय बहुत से उपमा आदि अर्थालङ्कारों का प्रयोग ठीक नहीं होता, क्योंकि उससे पदार्थ के स्वभाव की सुकुमारता का उत्कर्ष मलिन हो जाने की सम्भावना रहती है।

(इस पर स्वभावोक्ति को अलङ्कार स्वीकार करने वालों की ओर से यह प्रश्न उठाया जाता है कि अरे वस्तु वक्रता के रूप में आपने जिसका प्रतिपादन किया है) यह तो वही (दण्डी आदि आचार्यों द्वारा) अलङ्कार रूप से स्वीकार की गई सहृदयों को आनन्दित करने वाली स्वभावोक्ति है, अतः उस (स्वभावोक्ति की अलङ्कारता को) दूषित करने के दुर्व्यसनयुक्त प्रयास से क्या (मतलब) ? क्योंकि उन (स्वभावोक्त्यलङ्कारवादियों) की दृष्टि में वस्तु का सामान्य धर्म ही अलङ्कार्य है और अतिशययुक्त स्वभाव के सौन्दर्य की परिपुष्टि अलङ्कार है। अतः स्वभावोक्ति की अलंकारता ही युक्तियुक्त है ऐसा जो मानते हैं उनके प्रति (ग्रन्थकार) समाधान प्रस्तुत करता है कि यह बात सर्वथा समीचीन नहीं है। क्योंकि अगतिकगतिन्याय से जैसे-कैसे भी काव्य-रचना प्रतिष्ठा के योग्य नहीं होती क्योंकि काव्य का लक्षण 'सहृदयों को आनन्दित करने वाला' होता है। (जैसी-तैसी काव्य-रचना से सहृदयों को आनन्द नहीं मिलेगा अतः वह काव्य नहीं होगी।)

ननु च सैषा सहृदयाह्लादकारिणी स्वभावोक्तिरलंकारतया समाम्नाता, तस्मात् किं तद्दूषणदुर्व्यसनप्रयासेन ? यतस्तेषां सामान्यवस्तुधर्ममात्रमलंकार्यम् , सातिशयस्वभावसौन्दर्यपरिपोषणमलंकारः प्रतिभासते। तेन स्वभावोक्तेरलंकारत्वमेव युक्तियुक्तमिति ये मन्यन्ते तान् प्रति समाधीयते यदेतन्नातिचतुरश्रम्। यस्मादगतिकगतिन्यायेन

काव्यकरणं न यथाकथंचिदनुष्ठेयतामर्हति, तद्विदाह्लादकारिकाव्यलक्षणप्रस्तावात्। किंच—अनुत्कृष्टधर्मयुक्तस्य वर्णनीयस्यालंकरणमप्यसमुचितभित्तिभागोल्लिखितालेख्यवन्न शोभातिशयकारितामावहति। यस्मादत्यन्तरमणीयस्वाभाविकधर्मयुक्तं वर्णनीयवस्तु परिग्रहणीयम्। तथाविधस्य तस्य यथायोगमौचित्यानुसारेण रूपकाद्यलंकार योजनया भवितव्यम्। एतावांस्तु विशेषो यत् स्वाभाविकसौन्दर्यप्राधान्येन विवक्षितस्य न भूयसा रूपकाद्यलंकार उपकाराय कल्प्यते, वस्तुस्वभावसौकुमार्यस्य रसादिपरिपोषणस्य वा समाच्छादनप्रसङ्गात्। तथा चैतस्मिन् विषये सर्वाकारमलंकार्यं विलासवतीव पुनरपि स्नानसमयविरहव्रतपरिग्रह- सुरतावसानादौ नात्यन्तमलंकरणसहतां प्रतिपद्यते, स्वाभाविकसौकुमार्यस्यैव रसिकहृदयाह्लादकारित्वात्। यथा—

और फिर अतिशय से हीन धर्म वाली वर्ण्यमान वस्तु का अलङ्कृत करना भी दीवाल के अनुपयुक्त हिस्से पर चित्रित किये गये चित्र के समान अत्यधिक सौन्दर्य नहीं उत्पन्न कर पाता। अतः अत्यधिक मनोहर सहज धर्म से सम्पन्न वर्ण्यमान वस्तु को ही उपनिबद्ध करना चाहिए। तदनन्तर उस प्रकार की (सहज रमणीय धर्म से युक्त) उस वस्तु के औचित्य को ध्यान में रखते हुए यथासम्भव रूपकादि अलङ्कारों को उपनिबद्ध करना चाहिए। हाँ यह विशेषता जरूर है कि जिस वस्तु के वर्णन में सहज रमणीयता ही प्रधान रूप से अभिप्रेत है उसके प्रतिपादन में बहुत से रूपकादि अलङ्कारों का प्रयोग उपयुक्त नहीं होता क्योंकि उससे या तो उस वर्ण्य पदार्थ की सहज सुकुमारता ही नहीं प्रकट हो पाती अथवा शृङ्गारादि रसों का पूर्ण परिपोष नहीं हो पाता। क्योंकि इस विषय में सब तरह से अलङ्कृत करने योग्य वस्तु भी अत्यधिक अलङ्कारों को उसी प्रकार नहीं सहन कर पाती है जैसे कि विलासिनी स्त्री नहाते समय, या विरह के कारण व्रत धारण किए रहने पर, अथवा सम्भोग की समाप्ति पर अत्यधिक अलङ्कारों को नहीं सहन कर पाती, क्योंकि उस समय उसकी सहज सुकुमारता ही सहृदयों के हृदयों को आनन्दित करती है। जैसे—

तां प्राङ्मुखीं तत्र निवेश्य तन्वीं क्षणं व्यलम्बन्त पुरो निषण्णाः।
भूतार्थशोभाह्रियमाणनेत्राः प्रसाधने संनिहितेऽपि नार्यः॥ १॥

(कुमारसम्भव में पार्वती की सहज शोभा से शृङ्गार करने वाली नारियों के मुग्ध हो जाने का यह वर्णन कि—(अन्तःपुर की) स्त्रियाँ कृशाङ्गी उन (पार्वती) को वहाँ (अलङ्कारगृह मण्डप में) पूर्वाभिमुख बैठा कर सामने (अलङ्कार पहनाने के लिये) बैठी हुई अलङ्कारादि के समीप विद्यमान रहने

पर भी (पार्वती) सहज सौन्दर्य से आकृष्ट नयनों वाली होकर क्षण भर के लिए देर लगा दिया (अर्थात् उनके सहज सौन्दर्य को ही एकटक देखती हुई अलङ्कार पहनाना भूल गई)॥ १॥

अत्र तथाविधस्वाभाविकसौकुमार्यमनोहरः शोभातिशयः कवेः प्रतिपादयितुमभिप्रेतः। अस्यालंकरणकलापकलनं सहजच्छायातिरोधानशङ्कास्पदत्वेन संभावितम्। यस्मात् स्वाभाविकसौकुमार्यप्राधान्येन वर्ण्यमानस्योदारस्वपरिस्पन्दमहिम्नः सहजच्छायातिरोधानविधायि प्रतीत्यन्तरापेक्षमलंकरणकल्पनं नोपकारितां प्रतिपद्यते। विशेषस्तु— रसपरिपोषपेशलायाः प्रतीतेर्विभावानुभावव्यभिचार्यौचित्यव्यतिरेकेण प्रकारान्तरेण प्रतिपत्तिः प्रस्तुतशोभापरिहारकारितामावहति। तथा च प्रथमतरतरुणीतारुण्यावतारप्रभृतयः पदार्थाः सुकुमारवसन्तादिसमयसमुन्मेषपरिपोषपरिसमाप्तिप्रभृतयश्च स्वप्रतिपादकवाक्यवक्रताव्यतिरेकेण भूयसा न कस्यचिदलंकरणान्तरस्य कविभिरलंकरणीयतामुपनीयमानाः परिदृश्यन्ते। यथा—

यहाँ पर कवि को उस प्रकार की अपूर्व सहज सुकुमारता से हृदयावर्जक सौन्दर्यातिशय का प्रतिपादन करना ही अभीष्ट है। इसके अलङ्कार समूह की रचना स्वाभाविक कान्ति के तिरोहित हो जाने की शङ्का से युक्त रूप में उत्प्रेक्षित है। क्योंकि सहज सुकुमारता की प्रधानता से युक्त रूप में वर्णन की जाने वाली वस्तु के अपने उत्कर्ष युक्त स्वभाव की महत्ता के स्वाभाविक सौन्दर्य को अभिभूत कर देने वाले एवं दूसरी प्रतीति की अपेक्षा वाले अलङ्कारों की रचना उपकारक नहीं होती। खास बात तो यह है कि रसों के सम्यक् पोषण से मनोहर प्रतीति का, विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारिभाव के औचित्य से रहित दूसरे ढङ्ग से प्रतिपादन वर्ण्यमान पदार्थ के सौन्दर्य का बाधक बन जाता है। इसीलिये अधिकतर कविजन युवती की पहले-पहल युवावस्था के प्रारम्भ इत्यादि एवं अत्यन्त कोमल वसन्त आदि ऋतुओं के प्रारम्भ, परिपोष एवं समाप्ति आदि पदार्थों को उनके प्रतिपादन करने वाली वाक्यवक्रता से भिन्न किसी दूसरे अलङ्कार के द्वारा अलंकृत करते हुए नहीं दिखाई पड़ते। जैसे—

स्मितं किंचिन्मुग्धं तरलमधुरो दृष्टिविभवः
परिस्पन्दो वाचामभिनवविलासोक्तिसरसः।
गतानामारम्भः किसलयितलीलापरिमलः
स्पृशन्त्यास्तारुण्यं किमिव हि न रम्यं मृगदृशः॥ २॥

(कोई किसी नवयौवना का स्वाभाविक वर्णन करते हुए कहता है कि पहले-पहल जवानी का स्पर्श करने वाली हरिणाक्षी की मधुर मन्द मुसकान, चञ्चल होने के कारण रमणीय नयनों की छटा, नई-नई विलासपूर्ण बातों के कारण सरस वाणी का विकास और अनेकों हावभावों की सुगन्धि को विकसित करने वाली गति का उपक्रम (इनमें) कौन सी वस्तु रमणीय नहीं है (अर्थात् सभी कुछ तो रमणीय है) ॥ २ ॥

यथा वा—

अव्युत्पन्नमनोभवा मधुरिमस्पर्शोल्लसन्मानसा
भिन्नान्तःकरणं दृशौ मुकुलयन्त्याघ्रातभूतोद्भ्रमाः ।
रागेच्छां न समापयन्ति मनसः खेदं विनैवालसा
वृत्तान्तं न विदन्ति यान्ति च वशं कान्या मनोजन्मनः ॥ ३ ॥

अथवा जैसे—

(नई-नई जवानी को प्राप्त करने वाली कुमारियों का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि)—कामदेव के पूर्णज्ञान से रहित तथा (जवानी के) मादक स्पर्श से प्रफुल्लित हृदयों वाली कुमारियाँ प्राणियों के भ्रम का इशारा पाकर ही हृदय को टुकड़े-टुकड़े कर देती हुई आँखें बन्द कर लेती हैं। मानसिक अनुराग की अभिलाषा को नहीं समाप्त कर पाती, विना परिश्रम के ही अलसाई (रहती हैं) तथा पूरा वृत्तान्त नहीं जानतीं फिर भी काम के वश में हो जाती हैं ॥ ३ ॥

यथा च—

दोर्मूलावधि इति ॥ ४ ॥

तथा जैसे—(उदाहरण संख्या १।१२१ पर पूर्वोदाहृत)

'दोर्मूलावधि सूत्रितस्तनमुरो' इत्यादि पद्य युवती के प्रथमतर तारुण्य के सहज वर्णन को प्रस्तुत करता है ॥ ४ ॥

यथा वा—

गर्भग्रन्थिषु वीरुधां सुमनसो मध्येऽङ्कुरं पल्लवा
वाञ्छामात्रपरिग्रहः पिकवधूकण्ठोदरे पञ्चमः ।
किंच त्रीणि जगन्ति जिष्णु दिवसैर्द्वित्रैर्मनोजन्मनो
देवस्यापि चिरोज्झितं यदि भवेदभ्यासवश्यं धनुः ॥ ५ ॥

अथवा जैसे—

लताओं के गांसों की पोर पर (खिले हुए) पुष्प, अङ्कुरों के बीच (निकलते हुए) किसलय और मादा कोयल के कण्ठविवर में इच्छामात्र

से प्रस्तुत किया जाने वाला पंचम स्वर यदि ये हों तो ये तीनों लोकों को जीत लेने वाला कामदेव का बहुत दिनों से छोड़ दिया गया हुआ धनुष् भी दो-तीन दिनों में ही अभ्यास के द्वारा वशीभूत किए जाने योग्य हो सकता है ॥ ५ ॥

यथा वा—

हंसानां निनदेषु इति ॥ ६ ॥

अथवा जैसे—

(उदाहरण संख्या १।७३ पर पूर्वोदाहृत) हंसानां निनदेषु इत्यादि (श्लोक) ॥ ६ ॥

यथा च—

सज्जेइ सुरहिमासो ण दाव अप्पेइजुअइअणलक्खसुहे ।
अहिणअसहआरमुहे णवपल्लवपत्तले अणंगस्स सरे ॥ ७ ॥
(सज्जयति सुरभिमासो न तावदर्पयति युवतिजनलक्ष्यसुखान् ।
अभिनवसहकारमुखान् नवपल्लवपत्रलाननङ्गस्य शरान् ॥)

तथा जैसे—

मधुमास तरुणियों को निशाना बनाने वाले, अग्रभाग से युक्त, एवं नूतन किसलय रूप पंखों को धारण करने वाले कामदेव के बाणों को जिनमें नवमुकुलित आम्र प्रधान है, बनाता तो है लेकिन (कामदेव को प्रहार करने के लिए) देता नहीं है ॥ ७ ॥

एवंविधविषये स्वाभाविकसौकुमार्यप्राधान्येन वर्ण्यमानस्य वस्तुनस्तदाच्छादनभयादेव न भूयसा तत्कविभिरलंकरणमुपनिबध्यते । यदि वा कदाचिदुपनिबध्यते तत्तदेव स्वाभाविकं सौकुमार्यं सुतरां समुन्मीलयितुम् , न पुनरलंकारवैचित्र्योपपत्तये । यथा—

इस प्रकार के स्थानों पर कविजन सहज सुकुमारता की प्रधानता से युक्त रूप में वर्णन की जाने वाली वस्तु को अत्यधिक अलङ्कारों से युक्त इसी लिए नहीं करते क्योंकि उन अलङ्कारों से उस वस्तु के सहज स्वभाव के अभिभूत हो जाने का भय रहता है। और यदि कभी (अलङ्कारों की) रचना करते हैं तो वह केवल उसकी स्वाभाविक सुकुमारता को ही प्रकट करने के लिए, न कि अलङ्कारों की विचित्रता का प्रतिपादन करने के लिए। जैसे—

धौताञ्जने च नयने स्फटिकाच्छकान्ति-
र्गण्डस्थली विगतकृत्रिमरागमोष्ठम्।
अङ्गानि दन्तिशिशुदन्तविनिर्मलानि
किं यन्न सुन्दरमभूत्तरुणीजनस्य ॥ ८ ॥

सम्भवतः स्नान किए हुए युवती की सुन्दरता का वर्णन कोई करता है कि—युवतियों के धुल गये काजल वाले नेत्र, स्फटिक के सदृश निर्मल छवि वाली कपोलस्थली, एवं बनावटी लालिमा से हीन ओष्ठ, तथा हाथी के बच्चे के दाँतों के सदृश स्वच्छ अवयव (इनमें) कौन ऐसी वस्तु है जो रमणीय नहीं है (अर्थात् सभी वस्तुयें रमणीय हैं) ॥ ८ ॥

अत्र 'दन्तिशिशुदन्तविनिर्मलानि' इत्युपमया स्वाभाविकमेव सौन्दर्यमुन्मीलितम्। यथा वा—

अकठोरवारणवधूदन्ताङ्कुरस्पर्धिनः इति ॥ ६ ॥

यहाँ कवि ने 'हाथी के बच्चे के दाँतों के समान स्वच्छ' (युवती के अङ्ग) इस प्रकार की उपमा के प्रयोग द्वारा (युवती की) सहज सुकुमारता को ही व्यक्त किया है। अथवा जैसे—

(उदाहरण संख्या १।७२ 'हंसानां निनदेषु' आदि श्लोक के तृतीय चरण 'अकठोर वारणवधू' आदि में उपमा के द्वारा मृणाल की नवीन ग्रन्थियों का स्वाभाविक सौन्दर्य ही उत्कर्ष को प्राप्त हुआ है ॥ ९ ॥

एतदेवातीव युक्तियुक्तम्। यस्मान्महाकवीनां प्रस्तुतौचित्यानुरोधेन कदाचित् स्वाभाविकमेव सौन्दर्यमैकराज्येन विजृम्भयितुमभिप्रेतं भवति, कदाचिद् विविधरचनावैचित्र्ययुक्तमिति। अत्र पूर्वस्मिन् पक्षे, रूपकादेरलंकरणकलापस्य न तादृक् तत्त्वम्। अपरस्मिन् पुनः, स एव सुतरां समुज्जृम्भते। तस्मादनेन न्यायेन सर्वातिशायिनः स्वाभाविकसौन्दर्यलक्षणस्य पदार्थपरिस्पन्दस्यालंकार्यत्वमेव युक्तियुक्ततामालम्बते। न पुनरलंकरणत्वम्। सातिशयत्वशून्यधर्मयुक्तस्य वस्तुनो विभूषितस्यापि पिशाचादेरिव तद्विदाह्लादकारित्वविरहादनुपादेयत्वमेवेत्यलमतिप्रसङ्गेन। यदि वा प्रस्तुतौचित्यमाहात्म्यान्मुख्यतया भावस्वभावः सातिशयत्वेन वर्ण्यमानः स्वमहिम्ना भूषणान्तरासहिष्णुः स्वयमेव शोभातिशयशालित्वादलंकार्योऽप्यलंकरणमित्यभिधीयते तदयमस्माकीन एव पक्षः। तदतिरिक्तवृत्तेरलंकारान्तरस्य तिरस्कारतात्पर्येणाभिधानान्नात्र वयं विवदामहे।

तथा यही अत्यन्त युक्तिसङ्गत है। क्योंकि श्रेष्ठ कवियों को कभी भी वर्ण्यमान पदार्थ के औचित्य के अनुसार (वस्तु की) अद्वितीय ढङ्ग से केवल सहज सुकुमारता ही उन्मीलित करना अभिप्रेत होता है, तथा कभी-कभी नाना प्रकार की रचनाओं की विचित्रता से युक्त सौन्दर्य को (उन्मीलित करना अभिप्रेत होता है) यहाँ पहले पक्ष में (अर्थात् जब केवल सहज रमणीयता का प्रतिपादन ही कवि को अभिप्रेत होता है तब) रूपक आदि अलङ्कारों की वैसी प्रधानता नहीं होती। जब कि दूसरे पक्ष में (जब केवल रचनावैचित्र्य का चारुत्व कवि को अभिप्रेत होता है तब) वह (रूपकादि अलङ्कार समुदाय) ही भली-भाँति प्रकाशित होता है। तो इस ढङ्ग से सहज रमणीयता रूप पदार्थ के सर्वोत्कृष्ट धर्म का अलङ्कार्य होना ही युक्तिसङ्गत प्रतीत होता है न कि अलङ्कार होना। क्योंकि उत्कृष्टता से हीन धर्म से युक्त वस्तु अलङ्कृत होने पर भी पिशाचादि की भाँति सहृदयों को आनन्दित करने के अभाव के कारण बेकार ही होती है—इस प्रकार इस अति प्रसङ्ग को समाप्त करते हैं।

अथवा यदि वर्ण्यमान वस्तु के औचित्य की महत्ता से मुख्य रूप से वर्णित किया गया पदार्थ का उत्कर्षयुक्त स्वभाव ही अपने माहात्म्य से अन्य अलङ्कार को न सह सकने के कारण खुद ही सौन्दर्यातिशय से युक्त होने के कारण, अलंकार्य होते हुए भी अलङ्कार कहा जाता है तो यह हमारा ही पक्ष है। क्योंकि उससे भिन्न स्थिति वाले दूसरे अलङ्कार को तिरस्कृत करने के अभिप्राय से (यदि स्वभावोक्ति को) अलङ्कार कहा जाता है तो हम विवाद नहीं करते।

एवमेषैव वर्ण्यमानस्य वस्तुनो वक्रतेत्युतान्या काचिदस्तीत्याह—

अपरा सहजाहार्यकविकौशलशालिनी।
निर्मितिर्नूतनोल्लेखलोकातिक्रान्तगोचरा ॥ २ ॥

इस प्रकार वर्णन की जाने वाली वस्तु की यही एक वक्रता है अथवा कोई दूसरी भी—इसे (ग्रन्थकार) बताते हैं—

कवि की स्वाभाविक एवं व्युत्पत्तिजन्य निपुणता से सुशोभित होने वाली एवं अपूर्व वर्णन के कारण लोकोत्तर विषय (का निरूपण करने) वाली (कवि की) सृष्टि (वर्ण्यमान वस्तु की) दूसरी वक्रता होती है ॥ २ ॥

अपरा द्वितीया वर्ण्यमानवृत्तेः पदार्थस्य निर्मितिः सृष्टिः। वक्रतेति संबन्धः। कीदृशी—सहजाहार्यकविकौशलशालिनी। सहजं स्वाभाविकमाहार्यं शिक्षाभ्यासमुल्लासितं च शक्तिव्युत्पत्तिपरिपाकप्रौढं

यत् कविकौशलं निर्मातृनैपुण्यं तेन शालते श्लाघते या सा तथोक्ता। अन्यच्च कीदृशी—नूतनोल्लेखलोकातिक्रान्तगोचरा। नूतनस्तत्प्रथमो योऽसावुल्लिख्यत इत्युल्लेखस्तत्कालसमुल्लिख्यमानोऽतिशयः, तेन लोकातिक्रान्तः प्रसिद्धव्यापारातीतः कोऽपि सर्वातिशायी गोचरो विषयो यस्याःसा तथोक्तेति विग्रहः। तस्मान्निर्मितिस्तेन रूपेण विहितिरित्यर्थः। तदिदमत्र तात्पर्यम्—यन्न वर्ण्यमानस्वरूपाः पदार्थाः कविभिरभूताः सन्तः क्रियन्ते, केवलं सत्तामात्रेण परिस्फुरतां चैषां तथाविधः कोऽप्यतिशयः पुनराधीयते, येन कामपि सहृदयहृदयहारिणीं रमणीयतामधिरोप्यते। तदिदमुक्तम्—

लीनं वस्तुनि इत्यादि ॥ १० ॥

प्रस्तुत वृत्ति वाली वस्तु की निर्मिति अर्थात् निर्माण अपर अर्थात् दूसरी वक्रता होती है। कैसी वक्रता—सहज एवं आहार्य कविकौशल से सुशोभित होने वाली। सहज का अर्थ है स्वाभाविक, एवं आहार्य का अर्थ है—शिक्षा एवं अभ्यास के द्वारा अर्जित अर्थात् प्रतिभा एवं व्युत्पत्ति की परिपक्वता से प्रवृद्ध जो कवि का कौशल अर्थात् (काव्य का) निर्माण करने वाले का चातुर्य उससे शोभित अर्थात् प्रशंसित होने वाली (वक्रता होती है)। और कैसी है (वह वक्रता)—अभिनव उल्लेख के कारण लोकातिक्रान्त विषय वाली है। नवीन अर्थात् उस (वस्तु) का जो पहले-पहल उल्लेख किया जा रहा है ऐसा वर्णन अर्थात् (अभूतपूर्व) उसी समय वर्णन किया जाने वाला जो (पदार्थ का) उत्कर्ष, उसके कारण लोकातिक्रान्त अर्थात् प्रसिद्ध व्यापार का अतिक्रमण करने वाला कोई (अपूर्व) सर्वोत्कृष्ट (व्यापार) जिस (वक्रता) का गोचर अर्थात् विषय होता है (ऐसी वक्रता है)। उस (वक्रता) निर्माण का अर्थ है उस (लोकोत्तर) रूप में (पदार्थ का) वर्णन। तो यहाँ इसका आशय यह है कि—कविजन जिन पदार्थों के स्वरूप का वर्णन प्रस्तुत करते हैं वे उनके द्वारा अविद्यमान रहते हुए उत्पन्न नहीं किए जाते, अपितु केवल सत्तामात्र से परिस्फुरण करने वाले इन पदार्थों में वे उस प्रकार के किसी अपूर्व उत्कर्ष की सृष्टि करते हैं जिससे कि पदार्थ (लोकोत्तर) रसिकों के हृदयों को आकर्षित करने वाली, किसी कमनीयता से युक्त हो जाते हैं। इसीलिए ऐसा कहा गया है—

(उदाहरणसंख्या २।१०७ पर पूर्वोद्धृत) लीनं वस्तुनि ॥ १० ॥ इत्यादि पद्य में।

तदेवं सत्तामात्रेणैव परिस्फुरतः पदार्थस्य कोऽप्यलौकिकः शोभातिशयविधायी विच्छित्तिविशेषोऽभिधीयते, येन नूतनच्छाया-

मनोहारिणा वास्तवस्थितितिरोधानप्रवणेन निजावभासोद्भासित-तत्स्वरूपेण तत्कालोल्लिखित इव वर्णनीयपदार्थपरिस्पन्दमहिमा प्रतिभासते, येन विधातृव्यपदेशपात्रतां प्रतिपद्यन्ते कवयः। तदिद-मुक्तम्।

तो इस प्रकार केवल सत्तामात्र से प्रतीत होने वाले पदार्थ के सौन्दर्याति-शय का प्रतिपादन करने वाले किसी लोकोत्तर वैचित्र्य विशेष का वर्णन किया जाता है, जिससे (पदार्थ की) वास्तविक सत्ता को आच्छादित करने में तत्पर एवं अपूर्व सौन्दर्य के कारण चित्ताकर्षक अपने प्रकाश से देदीप्यमान उसके स्वरूप के द्वारा तत्काल ही निर्मित की गई-सी वर्णन किये जाने वाले पदार्थ के स्वभाव की महत्ता झलकती है जिससे कि कविजन विधाता की सञ्ज्ञा प्राप्त कर लेते हैं। इसी लिए ऐसा कहा गया है कि—

अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते॥ ११॥

(इस) अनादि एवं अनन्त (अपार) काव्यसंसार में (उसका निर्माता) केवल कवि ही विधाता है। जैसी उसकी रुचि होती है उसी प्रकार वह इस जगत् को परिवर्तित कर देता है॥ ११॥

सैषा सहजाहार्यभेदभिन्ना वर्णनीयस्य वस्तुनो द्विप्रकारा वक्रता। तदेवमाहार्या येयं सा प्रस्तुतविच्छित्तिविधाय्यलंकारव्यतिरेकेण नान्या काचिदुपपद्यते। तस्माद् बहुविधतत्प्रकारभेदद्वारेणात्यन्तवितत-व्यवहाराः पदार्थाः परिदृश्यन्ते। यथा—

ऐसी वह वर्णनीय वस्तु की वक्रता स्वाभाविक (अपने प्रतिभाजन्य) एवं आहार्य अर्थात् (अपने व्युत्पत्तिजन्य) दोनों भेदों से युक्त होने के कारण दो प्रकार की होती है तो इस प्रकार (उनमें) जो यह व्युत्पत्तिजन्य (वक्रता) है वह वर्ण्यमान पदार्थ के सौन्दर्य को उत्पन्न करने वाली होकर भी अलङ्कार से भिन्न और कुछ नहीं हो पाती। इसीलिए अनेकों प्रकार के उसके भेद-प्रभेद के द्वारा बहुत ही ज्यादा विस्तृत व्यवहार वाले पदार्थ दिखाई पड़ते हैं। जैसे—

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तद्युतिः
शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः।
वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः॥ १२॥

उर्वशी के स्वरूप का वर्णन करते हुए विक्रमोर्वशीय नाटक में कहता है कि) इस (उर्वशी) की सृष्टि करने में क्या (साक्षात्) कमनीय कान्ति वाला (स्वयं) चन्द्रमा, या कि फिर एकमात्र शृङ्गार में आनन्द लेने वाला स्वयं कामदेव, अथवा फूलों की खान (स्वयं) वसन्त ही प्रजापति बना था, अन्यथा क्या कभी निरन्तर वेदों का अभ्यास करने के कारण मन्दवुद्धि एवं भोगों के प्रति समाप्त कौतूहल वाला बूढ़ा मुनि (नारायण) इस मनोहर रूप के निर्माण करने के लिए समर्थ हो सकता है ॥ १२ ॥

अत्र कान्तायाः कान्तिमत्त्वमसीमविलाससंपदां पदं च रसवत्त्वमसामान्यसौष्ठवं च सौकुमार्यं प्रतिपादयितुं प्रत्येकं तत्परिस्पन्दप्राधान्यसमुचितसंभावनानुमानमाहात्म्यात् पृथक् पृथगपूर्वमेव निर्माणमुत्प्रेक्षितम् । तथा च कारणत्रितयस्याप्येतस्य सर्वेषां विशेषणानां स्वयम् इति संबध्यमानमेतदेव सुतरां समुद्दीपयति । यः किल स्वयमेव कान्तद्युतिस्तस्य सौजन्यसमुचितादरोचकित्वात् कान्तिमत्कार्यकरणकौशलमेवोपपन्नम् । यश्च स्वयमेव शृङ्गारैकरसस्तस्य रसिकत्वादेव रसवद्वस्तुविधानवैदग्ध्यमौचित्यं भजते । यश्च स्वयमेव पुष्पाकरस्तस्याभिजात्यादेव तथाविधः सुकुमार एव सर्गः समुचितः । तथा चोत्तरार्धे व्यतिरेकमुखेन त्रयस्याप्येतस्य कान्तिमत्त्वादेर्विशेषणैरन्यथानुपपत्तिरुपपादिता । यस्माद् वेदाभ्यासजडत्वात् कान्तिमद्वस्तुविधानानभिज्ञत्वम् , व्यावृत्तकौतुकत्वाद् रसवत्पदार्थे विहितवैमुख्यम् पुराणत्वात् सौकुमार्यसरसभावविरचनवैरस्यं प्रजापतेः प्रतीयते । तदेवमुत्प्रेक्षालक्षणोऽयमलंकारः कविना वर्णनीयवस्तुनः कमप्यलौकिकोल्लेखविलक्षणमतिशयमाधातुं निबद्धः । स च स्वभावसौन्दर्यमहिम्ना स्वयमेव तत्सहायसम्पदा सह अर्थमहनीयतामीहमानः सन्देहसंसर्गमङ्गीकरोतीति तेनोपबृंहितः । तस्माल्लोकोत्तरनिर्मातृनिमित्तत्वं नाम नूतनः कोऽप्यतिशयः पदार्थस्य वर्ण्यमानवृत्तेर्नायिकास्वरूपसौन्दर्यलक्षणस्यात्र निर्मितः कविना, ये न तदेव तत्प्रथममुत्पादितमिव प्रतिभाति ।

यत्राप्युत्पाद्यं वस्तु प्रबन्धार्थवदपूर्वतया वाक्यार्थस्तत्कालमुल्लिख्यते कविभिः, तस्मिन् स्वसत्तासमन्वयेन स्वयमेव परिस्फुरतां पदार्थानां तथाविधपरस्परान्वयलक्षणसंबन्धोपनिबन्धनं नाम नवीनमतिशयमात्रमेव निर्मितिविषयतां नीयते, न पुनः स्वरूपम् । यथा—

यहाँ कामिनी की सौन्दर्य सम्पन्नता, एवं अनन्त विलास के सामग्री की भूमि रस सम्पन्नता तथा असाधारण अतिशय से युक्त सुकुमारता का प्रतिपादन करने के लिए उसके हर एक स्वरूप की प्रधानता के अनुरूप उत्प्रेक्षा द्वारा

अनुमान की महत्ता से अलग-अलग अपूर्व सृष्टि की सम्भावना की गई है। और इसीलिए इन तीनों (चन्द्र, काम एवं वसन्त रूप) कारणों का सभी विशेषणों के साथ 'स्वयम्' यह पद सम्बद्ध होता हुआ इसी (अनुमान) को भली भाँति पुष्ट करता है। जैसे कि—जो स्वयं ही कमनीय कान्ति वाला (चन्द्रमा) है उसके लिये सौजन्य के अनुरूप अरोचकी होने के कारण कान्ति से सम्पन्न कार्य करने की निपुणता ही उपयुक्त प्रतीत होती है। तथा जो स्वयं ही एकमात्र शृङ्गार में आनन्द लेने वाला है उसके सहृदय (या रसिक) होने के कारण ही सरस वस्तु के निर्माण की कुशलता उचित प्रतीत होती है। और जो स्वयं ही फूलों की खान है उसके सहज सौकुमार्य के कारण उस प्रकार का सुकुमार ही निर्माण उपयुक्त प्रतीत होता है। इसीलिए (श्लोक के) अपरार्द्ध में प्रयुक्त विशेषणों के द्वारा कान्ति-सम्पन्नता आदि इन तीनों (विशेषणों) की व्यतिरेक के द्वारा अन्य प्रकार से अनुपपन्न बताया है। क्योंकि वेदों के निरन्तर अभ्यास से मन्दबुद्धि हो जाने के कारण ब्रह्मा की कान्तिसम्पन्न वस्तु के निर्माण की अनभिज्ञता, कौतूहल के समाप्त हो जाने के कारण सरस पदार्थों के प्रति उत्पन्न विमुखता, एवं बूढ़े हो जाने के कारण सुकुमारता से सरस पदार्थ की सृष्टि के प्रति विरक्ति द्योतित होती है। तो इस प्रकार कवि ने प्रस्तुत पदार्थ की किसी लोकोत्तर रचना के विलक्षण उत्कर्ष का प्रतिपादन करने के लिए उत्प्रेक्षा रूप अलङ्कार का प्रयोग किया है। और वह (उत्प्रेक्षा अलङ्कार) सहज रमणीयता के माहात्म्य से अपने आप ही उसकी सहायक सम्पत्ति के साथ पदार्थ के उत्कर्ष को चाहता हुआ सन्देहालङ्कार के संसर्ग को स्वीकार करता है इस लिए उस (सन्देहालङ्कार) के द्वारा परिपुष्ट किया गया है। इसलिये कवि ने प्रस्तुत नायिका (उर्वशी) के स्वरूप की सुन्दरता रूप पदार्थ के निर्माण में किसी अलौकिक स्रष्टा की कारणतारूप अतिशय को प्रस्तुत किया है जिसके कारण वह (नायिकास्वरूपसौन्दर्य) ही उस (अलौकिक स्रष्टा) के द्वारा सर्वप्रथम उत्पन्न किया गया-सा लगता है।

(इस प्रकार) जहाँ-कहीं भी कवि लोग पहले पहल उत्पाद्य वस्तु को प्रबन्ध के अर्थ की भाँति अपूर्व ढङ्ग से वाक्यार्थ रूप में वर्णित करते हैं, वहाँ वे केवल अपनी स्थिति के समन्वय के कारण अपने आप ही परिस्फुरित होने वाले पदार्थों के उस प्रकार के परस्पर सम्पर्क को प्रस्तुत करने वाले सम्बन्ध के कारणभूत किसी अपूर्व अतिशय को ही प्रस्तुत करते हैं, न कि (उस पदार्थ) के स्वरूप को। जैसे—

कस्त्वं भो दिवि मालिकोऽहमिह किं पुष्पार्थमभ्यागतः
किं ते सूनमहं क्रयो यदि महच्चित्रं तदाकर्ण्यताम्।

संग्रामेष्वलभाभिधाननृपतौ दिव्याङ्गनाभिः स्रजः
प्रोज्झन्तीभिरविद्यमानकुसुमं यस्मात्कृतं नन्दनम् ॥ १३ ॥

(निम्न श्लोक में कवि किसी अप्रस्तुत राजा के यश का वर्णन इस प्रकार प्रस्तुत करता है—

अरे ! तुम कौन हो ? मैं स्वर्ग में माली हूँ। यहाँ (पृथ्वी पर) कैसे (पधारे) ? फूल लेने आया हूँ। क्या किसी पुष्पोत्सव अथवा (पुष्पयोग) के लिए (फूल) खरीदते हो ? अगर आप को बड़ा अचरज है तो सुनिए। क्यों सङ्ग्राम में (किसी) अज्ञातनामा नरपति के ऊपर पुष्पहारों की वर्षा करती हुई दिव्याङ्गनाओं ने (स्वर्गस्थ) नन्दन (वन) को फूलों से विहीन कर दिया है ॥ १३ ॥

तदेवंविधे विषये वर्णनीयवस्तुविशिष्टातिशयविधायी विभूषणविन्यासो विधेयतां प्रतिपद्यते। तथा च—प्रकृतमिदमुदाहरणमलंकरणकल्पनं विना सम्यक् न कथंचिदपि वाक्यार्थसङ्गति भजते। यस्मात् प्रत्यक्षादिप्रमाणोपपत्तिनिश्चयाभावात् स्वाभाविकं वस्तु धर्मितया व्यवस्थापनां न सहते, तस्माद्विदग्धकविप्रतिभोल्लिखितालंकरणगोचरत्वेनैव सहृदयहृदयाह्लादमादधाति। तथा च, दुःसहसमरसमयसमुचितशौर्यातिशयश्लाघया प्रस्तुतनरनाथविषये वल्लभलाभरभसोल्लसितसुरसुन्दरीसमूहसंगृह्यमाणमन्दारादिकुसुमदामसहस्रसंभावनानुमानान्नन्दनोद्यानपादपप्रसूनसमृद्धिप्रध्वंसभावसिद्धिः समुत्प्रेक्षिता। यस्मादुत्प्रेक्षाविषयं वस्तु कवयस्तदिवेति तदेवेति वा द्विविधमुपनिबध्नन्ती-येतत्तल्लक्षणावसर एव विचारयिष्यामः। तदेवमियमुत्प्रेक्षा पूर्वार्धविहिता प्रस्तुतप्रशंसोपनिबन्धबन्धुरा प्रकृतपार्थिवप्रतापातिशयपरिपोषप्रवणतया सुतरां समुल्लासमाना तद्विदावर्जनं जनयति। सातिशयत्वम्

तो इस प्रकार के प्रसङ्गों में वर्णनीय पदार्थ के विशिष्ट उत्कर्ष को प्रतिपादित करनेवाला अलङ्करणविन्यास अनिवार्य हो जाता है। जैसे कि यही प्रासंगिक ('कस्त्वं भो०' इत्यादि) उदाहरण का वाक्यार्थ विना अलङ्कार विन्यास के किसी भी प्रकार भलीभाँति सङ्गत नहीं होता। क्योंकि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों की युक्ति से निश्चय का अभाव होने के कारण स्वाभाविक वस्तु धर्मी के रूप में व्यवस्थित नहीं हो पाती अतः वह निपुण कवियों की शक्ति से उल्लिखित अलङ्कारों का विषय बन कर ही सहृदयहृदय को आनन्दित करती है। जैसे कि (इसी उदाहरण में) अत्यन्त भीषण संग्रामकाल के अनुरूप शौर्य के उत्कर्ष की प्रशंसा द्वारा प्रकृत नरपति

के विषय में प्रियतम की प्राप्ति को उत्कण्ठा से अत्यन्त हर्षित सुरसुन्दरियों के समुदाय द्वारा संगृहीत किए जाते हुए मन्दार आदि फूलों की हजारों मालाओं की उत्प्रेक्षा के अनुमान से नन्दनवन के वृक्षों की कुसुमसमृद्धि के प्रध्वंस भाव की सिद्धि की सुन्दर उत्प्रेक्षा की गई है। क्योंकि कविजन उत्प्रेक्षा विषयक वस्तु को 'यह उसके समान लगती है' अथवा 'यह वही जान पड़ती है' इन दो रूपों में उपनिबद्ध करते हैं, इसका विवेचन हम उसका लक्षण करते समय करेंगे। इस प्रकार पूर्वार्द्ध में प्रतिपादित अप्रस्तुत-प्रशंसा के संसर्ग से रमणीय यह उत्प्रेक्षा प्रस्तुत नरपति के शौर्यातिशय को परिपुष्ट करने में समर्थ होकर भलीभाँति उल्लसित होती हुई काव्यमर्मज्ञों को आह्लादित करती है।

(इसके अनन्तर कुन्तक सम्भवतः उन लोगों की बात का समाधान करते हैं जो यहाँ अतिशयोक्ति अलङ्कार बताते हैं। कुन्तक इस बात को सिद्ध करते हैं कि अतिशयोक्ति तो सर्वत्र सभी अलङ्कारों में विद्यमान ही रहती है। जैसा कि भामह ने 'कोऽलङ्कारोऽनया विना' के द्वारा प्रतिपादित किया है। वहाँ 'अतिशय' से तात्पर्य 'लोकातिक्रान्तगोचरता' से तो है किन्तु अतिशयोक्ति अलङ्कारविशेष से नहीं क्योंकि अतिशयोक्ति अलङ्कारविशेष का लक्षण है—

निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम्।

मन्यन्तेऽतिशयोक्ति तामलङ्कारतया यथा ॥ का० अ० २।८१ यहाँ निमित्त का होना आवश्यक है। इसीलिये आगे कुन्तक ने भी कहा है—

'यद्वा कारणतो लोकातिक्रान्तगोचरत्वेन वचसः सैवेयमित्यस्तु' इत्यादि।

इसी बात को प्रतिपादित करते हुए कि अतिशय तो सर्वत्र विद्यमान रहता है वे कहते हैं कि—

उत्प्रेक्षातिशयान्विता ॥ १४ ॥

इत्यस्याः, स्वलक्षणानुप्रवेश इत्यतिशयोक्तेश्च

कोऽलंकारोऽनया विना ॥ १५ ॥

इति सकलालकरणानुग्राहकत्वम्। तस्मात् पृथगतिशयोक्तिरेवेयं मुख्यतयेत्युच्यमानेऽपि न किंचिदतिरिच्यते। कविप्रतिभोत्प्रेक्षितत्वेन चात्यन्तमसंभाव्यमप्युपनिबध्यमानमनयैव युक्त्या समञ्जसतां गाहते। न पुनः स्वातन्त्र्येण। यद्वा कारणतो लोकातिक्रान्तगोचरत्वेन वचसः सैवेयमित्यस्तु, तथापि प्रस्तुतातिशयविधानव्यतिरेकेण न किंचिदपूर्वमत्रास्ति।

(और यह) सातिशयता तो 'उत्प्रेक्षातिशयान्विता' इस (भामह की उत्प्रेक्षा) के अपने लक्षण के······में ही (प्रतिपादित किया गया है) तथा अतिशयोक्ति की 'कोऽलङ्कारोऽनया विना' के द्वारा समस्त अलङ्कारों की अनुग्राहकता) प्रतिपादित ही की गई) है। अतः (अगर इसे आप) अलग से प्रधानतया यह अतिशयोक्ति ही है (उत्प्रेक्षा नहीं) ऐसा कहें तो भी कुछ अन्तर नहीं पड़ता । (क्योंकि) कविशक्ति द्वारा उत्प्रेक्षित रूप में बिल्कुल असम्भाव्य वस्तु भी इसी युक्ति से उपनिबद्ध होकर युक्तिसंगत होती है। न कि स्वच्छन्दतापूर्वक उपनिबद्ध किये जाने पर। अथवा निमित्ततः कथन की लोकातिक्रान्तगोचरता के कारण यहाँ वही (अतिशयोक्ति अलङ्कार ही) मान लिया जाय तो भी वर्ण्यमान (पदार्थ) के उत्कर्ष के प्रतिपादन से भिन्न और कोई अपूर्वता यहाँ नहीं आ जायगी। (अतः उत्प्रेक्षा ही मानना समीचीन है)।

तदेवमभिधानस्य पूर्वमभिधेयस्य चेह वक्रतामभिधायेदानीं वाक्यस्य वक्रत्वमभिधातुमुपक्रमते—

मार्गस्थवक्रशब्दार्थगुणालङ्कारसंपदः ।
अन्यद्वाक्यस्य वक्रत्वं तथाभिहितिजीवितम् ॥ ३ ॥
मनोज्ञफलकोल्लेखवर्णच्छायाश्रियः पृथक् ।
चित्रस्येव मनोहारि कर्तुः किमपि कौशलम् ॥ ४ ॥

तो इस प्रकार पहले (द्वितीयोन्मेष में) शब्द की एवं अभी (तृतीयोन्मेष के प्रारम्भ में) अर्थ की वक्रता का प्रतिपादन कर अब वाक्य की वक्रता का प्रतिपादन प्रारम्भ करते हैं—

(सुकुमारादि) मार्गों में विद्यमान वक्र शब्दों, अर्थों, गुणों एवं अलङ्कारों की सम्पत्ति से भिन्न, चित्र के मनोहर चित्रपट, (उस पर अंकित) रेखाचित्र, (उसके) रङ्गों तथा (उसकी) कान्ति से भिन्न चित्रकार की किसी अलौकिक निपुणता के समान, उस प्रकार के (अनिर्वचनीय) ढङ्ग से वर्णन रूप प्राणवाली कवि की कुछ अपूर्व सरलता वाक्य की वक्रता होती है ॥ ३-४ ॥

अन्यद्वाक्यस्य वक्रत्वम्—वाक्यस्य परस्परान्वितवृत्तेः पदसमुदायस्यान्यदपूर्वं व्यतिरिक्तमेव वक्रत्वं वक्रभावः । भवतीति संबन्धः, क्रियान्तराभावात् । कुतः—मार्गस्थवक्रशब्दार्थगुणालंकारसंपदः ।

मार्गाः सुकुमारादयस्तत्रस्थाः केचिदेव वक्राः प्रसिद्धव्यवहारव्यतिरेकिणो ये शब्दार्थगुणालंकारास्तेषां संपत् काप्युपशोभा तस्याः। पृथग्भूतं किमपि वक्रत्वान्तरमेव। कीदृशम्—तथाभिहितिजीवितम्। तया तेन प्रकारेण केनाप्यव्यपदेश्येन याभिहितिः काप्यपूर्वैवाभिधा सैव जीवितं सर्वस्वं यस्य तत्तथोक्तम्। किंस्वरूपमित्याह—कर्तुः किमपि कौशलम्। कर्तुर्निर्मातुः किमप्यलौकिकं यत्कौशलं नैपुण्यं तदेव वाक्यस्य वक्रत्वमित्यर्थः। कथंचिद् चित्रस्येव, आलेख्यस्य यथा, मनोहारि हृदयरञ्जकं प्रकृतोपकरणव्यतिरेकि कर्तुरेव कौशलं किमपि पृथग्भूतं व्यतिरिक्तम्। कुत इत्याह—मनोज्ञफलकोल्लेखवर्णच्छायाश्रियः। मनोज्ञाः काश्चिदेव हृदयहारिण्यो याः फलकोल्लेखवर्णच्छायास्तासां श्रीरुपशोभा तस्याः। पृथग्भूपं किमपि तत्त्वान्तरमेवेत्यर्थः। फलकमालेख्याधारभूता भित्तिः, उल्लेखश्चित्रसूत्रप्रमाणोपपन्नं रेखाविन्यसनमात्रम्, वर्णा रञ्जकद्रव्यविशेषाः, छाया कान्तिः। तदिदमत्र तात्पर्यम्—यथा चित्रस्य किमपि फलकाद्युपकरणकलापव्यतिरेकि सकलप्रकृतपदार्थजीवितायमानं चित्रकरकौशलं पृथक्त्वेन मुख्यतयोद्भासते, तथैव वाक्यस्य मार्गादिप्रकृतपदार्थसार्थव्यतिरेकि कविकौशललक्षणं किमपि सहृदयसंवेद्यं सफलप्रस्तुतपदार्थस्फुरितभूतं वक्रत्वमुज्जम्भते।

वाक्य की वक्रता भिन्न होती है—वाक्य अर्थात् एक दूसरे से (योग्यता, आकांक्षा एवं सन्निधि के कारण) संयुक्त अवस्था वाले पदों के समूह का अन्य ही अर्थात् अपूर्व कोई पृथक् वक्रता अथवा बांकपन होता है। किससे पृथक् (वक्रता होती है) मार्गों में स्थित वक्र शब्दों, अर्थों, गुणों एवं अलङ्कारों की सम्पत्ति से (पृथक्)। मार्ग का अर्थ है सुकुमार (विचित्र एवं मध्यम) आदि (मार्ग) उनमें विद्यमान कुछ ही वक्र अर्थात् लोकप्रसिद्ध व्यवहार से भिन्न जो शब्द, अर्थ गुण तथा अलङ्कार उनकी सम्पत्ति अर्थात् कोई (लोकोत्तर) विच्छित्ति, उससे भिन्न कोई दूसरी ही वक्रता (वाक्य की वक्रता होती है)। (वह वाक्यवक्रता) कैसी होती है—उस ढङ्ग से किया गया कथन जिसका प्राण है। उस प्रकार किसी अनिर्वचनीय ढङ्ग से जो अभिहिति अर्थात् कोई अपूर्व कथन, वह ही जिस वक्रता का प्राण अर्थात् सर्वस्व होता है। (उस वक्रता का) स्वरूप क्या है इसे (ग्रन्थकार) बताते हैं—कर्ता की कोई कुशलता। कर्ता अर्थात् निर्माण करनेवाले का कोई लोकोत्तर जो कौशल अर्थात् निपुणता

होती है वही वाक्य की वक्रता होती है। किस तरह से? चित्र अर्थात् प्रतिमा की तरह मनोहर अर्थात् चित्ताकर्षक, एवं प्रस्तुत (चित्रपट आदि) साधनों से भिन्न चित्रकार की निपुणता की तरह कुछ अलग ही अर्थात् भिन्न। किससे भिन्न—मनोहर चित्रपट (उस पर बनाये गये) रेखाचित्र एवं रङ्ग तथा (उसकी) कान्ति की सम्पत्ति से (भिन्न)। मनोज्ञ का अर्थ है हृदय को आकर्षित करनेवाली कुछ ही जो चित्रपट, रेखाचित्र एवं रङ्ग तथा कान्ति हैं उनकी जो श्री अर्थात् सौन्दर्य उससे भिन्न कोई दूसरा तत्त्व ही (चित्रकार की कुशलता है) फलक का अर्थ है चित्र की आधारभूत दीवाल (चित्रपट)। उल्लेख का अर्थ है चित्र बनाने के सूत की नाप से ठीक किया गया केवल रेखाओं का विन्यास। वर्णों का अर्थ है रंगने वाले विशेष पदार्थ (रंग आदि)। छाया का अभिप्राय है चमक। तो यहाँ आशय यह है कि—जैसे चित्र का (उसके) चित्रपट आदि साधनों के समुदाय से अतिरिक्त एवं समस्त (चित्र में) प्रस्तुत पदार्थों की प्राणभूत चित्रकार की निपुणता अलग से प्रधान रूप में दिखाई पड़ती है उसी प्रकार वाक्य के मार्गादि प्रस्तुत पदार्थ समुदाय से अतिरिक्त एवं समस्त प्रस्तुत पदार्थों की प्राणभूत केवल सहृदयों द्वारा भलीभाँति जानी जा सकनेवाली, कवि की निपुणता रूप कोई लोकोत्तर वक्रता झलकती है।

तथा च, भावस्वभावसौकुमार्यवर्णने शृङ्गारादिरसस्वरूपसमुन्मीलने वा विविधविभूषणविन्यासविच्छित्तिविरचने च परः परिपोषातिशयस्तद्विदाह्लादकारितायाः कारणम्। पदवाक्यैकदेशवृत्तिर्वा यः कश्चिद्वक्रताप्रकारस्तस्य कविकौशलमेव निबन्धनतया व्यवतिष्ठते। यस्मादाकल्पमेवेषां तावन्मात्रस्वरूपनियतनिष्ठतया व्यवस्थितानां स्वभावालंकरणवक्रताप्रकाराणां नवनवोल्लेखविलक्षणं चेतनचमत्कारकारि किमपि स्वरूपान्तरमेतस्मादेव समुज्जृम्भते। तेनेदमभिधीयते—

और इसीलिए—पदार्थों के स्वभाव की सुकुमारता का प्रतिपादन करने में अथवा शृंगारादि रसों के स्वरूप को भलीभाँति व्यक्त करने में एवं अनेकों प्रकार के अलंकारों के प्रयोग से शोभा उत्पन्न करने में उनकी भलीभाँति निष्पत्ति का अत्यधिक उत्कर्ष ही रसिकों को आनन्दित करने का कारण बनता है। पद अथवा वाक्य के एक अंश में रहने वाला जो वक्रता का कोई भेद होता है उसका कारण विशेषतः कवि की निपुणता ही होती है।

क्योंकि इसी (कवि कौशल) से ही सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर आजतक उसी एक ही स्वरूप में निश्चितरूप से स्थित (वस्तुओं के) स्वभाव, (उनके) अलङ्कारों एवं वक्रता प्रकारों का, नये-नये ढङ्ग से वर्णन होने के कारण अद्वितीय एवं सहृदयों को आनन्दित करनेवाला कोई दूसरा ही स्वरूप सामने आता है। इसीलिए ऐसा कहा जाता है—

आसंसारं कइपुंगवेहि पडिदिअहगहिअसारो बि।
अज्जवि अभिन्नमुद्दो व्व जअइ वाआं परिप्फंदो॥ १६॥

(आसंसारं कविपुङ्गवैः प्रतिदिवसगृहीतसारोऽपि।
अद्याप्यभिन्नमुद्र इव जयति वाचां परिस्पन्दः॥)

सृष्टि के प्रारम्भ से ही श्रेष्ठ कवियों द्वारा नित्य प्रति तत्त्व का ग्रहण किए जाने पर भी आज भी अप्रकट रहस्यवाला-सा वाणी का परिस्पन्द सर्वोत्कर्ष से युक्त है॥ १६॥

अत्र सर्गारम्भात् प्रभृति कविप्रधानैः प्रातिस्विकप्रतिभापरिस्पन्दमाहात्म्यात् प्रतिदिवसगृहीतसर्वस्वोऽप्यद्यापि नवनवप्रतिभासानन्त्यविजृम्भणादनुद्घाटितप्राय इव यो वाक्यपरिस्पन्दः स जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते इत्येवमस्मिन् सुसङ्गतेऽपि वाक्यार्थे कविकौशलस्य विलसितं किमप्यलौकिकमेव परिस्फुरति। यस्मात् स्वाभिमानध्वनिप्राधान्येन तेनैतदभिहितम् यथा—आसंसारं कविपुङ्गवैः प्रतिदिवसगृहीतसारोऽप्यद्याप्यभिन्नमुद्र इवायम्। एवमपरिज्ञाततत्त्वतया न केनचित् किमप्येतस्माद् गृहीतमिति सत्प्रतिभोद्घाटितपरमार्थस्येदानीमेव मुद्राबन्धोद्भेदो भविष्यतीति लोकोत्तरस्वपरिस्पन्दसाफल्यापत्तेर्वाक्यपरिस्पन्दो जयतीति संबन्धः।

यहाँ सृष्टि के प्रारम्भ से ही श्रेष्ठ कवियों द्वारा अपनी-अपनी असाधारण प्रतिभा के विलास की प्रभुता से नित्य प्रति जिसके तत्त्व का ग्रहण किया गया है फिर भी नई-नई प्रतिभाओं के असंख्य विलासों से आज भी जिसका निरूपण नहीं किया जा सका है ऐसा जो वाणी का विलास वह विजयी है अर्थात् सर्वोत्कृष्ट रूप में विद्यमान है। इस ढङ्ग से इस वाक्यार्थ का समन्वय हो जाने पर भी कवि की निपुणता का कोई लोकोत्तर ही वैभव झलकता है क्योंकि उस (कवि) ने अपने अभिमान की व्यञ्जना की प्रधानता से इस प्रकार कहा है कि—'सृष्टि के प्रारम्भ से ही श्रेष्ठ कवियों द्वारा प्रतिदिन जिसके तत्त्व का ग्रहण किया गया है किन्तु आज भी जिसका उद्घाटन नहीं हो

सका ऐसा यह वाणी का परिस्पन्द है ; इस तरह इस के तत्त्व को न जानने के कारण कोई भी इससे कुछ भी ग्रहण नहीं कर सका इसलिये मेरी प्रतिभा से अब परम तत्त्व का उद्घाटन किये जाने पर इसका रहस्य प्रकट हो जायगा, इस प्रकार अपने अलौकिक (काव्य) व्यापार की सफलता को प्रतिपादित कर देने के कारण वाणी के परिस्पन्द के विजय की बात (कवि द्वारा) कही गई है।

यद्यपि रसस्वभावालंकाराणां सर्वेषां कविकौशलमेव जीवितम्, तथाप्यलंकारस्य विशेषतस्तदनुग्रहं विना वर्णनाविषयवस्तुनो भूषणाभिधायित्वेनाभिमतस्य स्वरूपमात्रेण परिस्फुरता यथार्थत्वेन निबध्यमानस्य तद्विदाह्लादविधानानुपपत्तेर्मनाङ्मात्रमपि न वैचित्र्यमुत्प्रेक्षामहे, प्रचुरप्रवाहपतितेतरपदार्थसामान्येन प्रतिभासनात्। यथा—

यद्यपि कवि की कुशलता ही रस, स्वभाव एवं अलंकार सभी का प्राण होती है, फिर भी विशेष रूप से वर्णित किए जाने वाले पदार्थ के अलंकार रूप से कहे जाने वाले केवल स्वरूप से ही स्फुरित होते हुए यथार्थता से निरूपित किए जाने वाले अलंकार के उस (कविकौशल) की कृपा के विना सहृदयों के लिये आनन्ददायक न होने से कुछ भी वैचित्र्य नहीं आ सकता क्योंकि प्रचुर प्रवाह में पड़े हुए दूसरे पदार्थों की भाँति सामान्य रूप से ही वह भी प्रतीत होगा। जैसे—

दूर्वाकाण्डमिव श्यामा तन्वी श्यामलता यथा ॥ १७॥

इत्यत्र नूतनोल्लेखमनोहारिणः पुनरेतस्य लोकोत्तरविन्यसनविच्छित्तिविशेषितशोभातिशयस्य किमपि तद्विदाह्लादकारित्वमुद्भिद्यते। यथा—

अस्याः सर्गविधौ इति ॥ १८॥

यथा—

किं तारुण्यतरोः इति ॥ १९॥

दूब के तिनकों की तरह साँवली छरहरी स्त्री सोमलता (अथवा प्रियङ्गुलता) जैसी है ॥ १७॥

यहाँ पर (प्रयुक्त उपमालंकार वैचित्र्यजनक नहीं है) ॥

जब कि नये ढंग से किये गये वर्णन के कारण मनोहर एवं अलौकिक रचना के वैचित्र्य से विशिष्ट बना दिये गये सौन्दर्यातिशय वाला यही (अलंकार) किसी लोकोत्तर सहृदयाह्लादकारिता को व्यक्त करता है। जैसे—(उदाहरण

सं० ३।१२ पर उद्धृत) अस्याः सर्गविधौ। इस श्लोक में ॥१८॥ अथवा जैसे (उदाहरण सं० १।९२ पर उद्धृत) किं तारुण्यतरोः'''इत्यादि इस श्लोक में ॥ १९ ॥

तदेवं पृथग्भावेनापि भवतोऽस्य कविकौशलायत्तवृत्तित्वलक्षणवाक्य-वक्रतान्तर्भाव एव युक्तियुक्ततामवगाहते। तदिदमुक्तम्—

वाक्यस्य वक्रभावोऽन्यो भिद्यते यः सहस्रधा।
यत्रालंकारवर्गोऽसौ सर्वोऽप्यन्तर्भविष्यति ॥ २० ॥

तो इस प्रकार यद्यपि यह अलंकार अलग से भी सम्भव है फिर भी कविकौशल के वशीभूत रहनेवाली वाक्यवक्रता में ही इसका अन्तर्भाव युक्तिसंगत है। इसीलिए (कारिका १।२० में) इस प्रकार कहा गया है कि—

वाक्य की वक्रता (पूर्वोक्त पदादि की वक्रताओं से) भिन्न है जिसके हजारों भेद हो जाते हैं तथा जिसमें यह सारा का सारा अलंकार समूह अन्तर्भूत हो जायगा ॥ २० ॥

स्वभावोदाहरणं यथा—

तेषां गोपवधूविलाससुहृदां राधारहःसाक्षिणां
क्षेमं भद्र कलिन्दशैलतनयातीरे लतावेश्मनाम्।
विच्छिन्ने स्मरतल्पकल्पनमृदुच्छेदोपयोगेऽधुना
ते जाने जरठीभवन्ति विगलन्नीलत्विषः पल्लवाः ॥ २१ ॥

(इस प्रकार अलंकार का उदाहरण तो 'अस्याः सर्गविधौ—' एवं 'किं तारुण्यतरोः–' इत्यादि दे चुके हैं इसलिये अब स्वभाव एवं रस का उदाहरण देना शेष है। उनमें) स्वभाव का उदाहरण जैसे—

हे सोम्य ! गोपियों के विलास के दोस्त, राधा की एकान्त (क्रीडाओं) के गवाह, कलिन्द पर्वत की सुता (जमुना) के किनारे (विद्यमान) वे लतागृह सकुशल तो हैं ? (अथवा मैं तो) समझता हूँ कि अब काम की सेज बनाने के लिये मुलायम (पत्तों के) तोड़ने की आवश्यकता समाप्त हो जाने के कारण विगलित होती हुई श्यामल कान्तिवाले वे किसलय कठोर होते जा रहे होंगे) ॥ २१ ॥

अत्र यद्यपि सहृदयसंवेद्यं वस्तुसंभवि स्वभावमात्रमेव वर्णितम्, तथाप्यनुत्तानतया व्यवस्थितस्यास्य विरलविदग्धहृदयैकगोचरं किमपि नूतनोल्लेखमनोहारि पदार्थान्तरलीनवृत्ति सूक्ष्मसुभगं तादृक् स्वरूप-मुन्मीलितं येन वाक्यवक्रतात्मनः कविकौशलस्य काचिदेव काष्ठाधि-

रूढिरुपपद्यते। यस्मात्तद्व्यतिरिक्तवृत्तिरर्थातिशयो न कश्चिल्लभ्यते। रसोदाहरणं यथा—

यहाँ यद्यपि पदार्थ में सम्भव होने वाले केवल रसिकों के द्वारा जानने योग्य स्वभावमात्र को प्रस्तुत किया गया है फिर भी असामान्य ढंग से व्यवस्थित होने के कारण इस स्वभाव के, कुछ ही निपुणों के अनुभवैकगम्य एवं अपूर्व वर्णन के कारण मनोहर, पदार्थों में अन्तर्भूत, सूक्ष्मता के कारण सुन्दर किसी उस लोकोत्तर स्वरूप को व्यक्त किया गया है जिससे वाक्यवक्रतारूप कविकौशल किसी अपूर्व पद को पहुँच गया है। क्योंकि उससे भिन्न रहनेवाला दूसरा कोई अतिशय नहीं प्राप्त होता है।

लोको यादृशमाह साहसधनं तं क्षत्रियापुत्रकं
स्यात्सत्येन स तादृगेव न भवेद्वार्त्ता विसंवादिनी।
एकां कामपि कालविप्रुषममी शौर्योष्मकण्डूव्यय-
व्यग्राः स्युश्चिरविस्मृतामरचमूडिम्बाहवा बाहवः॥ २२॥

रस का उदाहरण जैसे—(सम्भवतः राम को उद्देश करके रावण कहता है कि–) साहसरूप धन वाले इस क्षत्रिया के बच्चे को लोक जिस प्रकार का (पराक्रमी) कहता है वह भले ही वैसा क्यों न हो लोगों की बातें झूठी न हों फिर भी देवताओं की सेना के वीरों के साथ के युद्ध को भूली हुई मेरी ये भुजायें समय की किसी एक भी बूँद के लिए (अर्थात् क्षणभर के लिए ही) पराक्रम की गर्मी से उत्पन्न खुजलाहट को मिटाने के लिए व्याकुल हो जायँ (तो मैं उस दुष्ट का पराक्रम देख लूँ)॥ २२॥

अत्रोत्साहाभिधानः स्थायिभावः समुचितालम्बनविभावलक्षण-विषयसौन्दर्यातिशयश्लाघाश्रद्धालुतया विजिगीषोर्वैदग्ध्यभङ्गीभणिति-वैचित्र्येण परां परिपोषपदवीमधिरोपितः सन् रसतामानीयमानः किमपि वाक्यवक्रभावस्वभावं कविकौशलमावेदयति। अन्येषां पूर्वप्रकरणोदाहरणानां प्रत्येकं तथाभिहितिजीवितलक्षणं वक्रत्वं स्वयमेव सहृदयैर्विचारणीयम्।

यहाँ पर उत्साह नाम का स्थायीभाव अत्यन्त उपयुक्त आलम्बन विभाव (राम) रूप विषय के सौन्दर्यातिशय की प्रशंसा के प्रति विश्वस्त होकर विजय की इच्छा रखनेवाले (रावण) की चातुर्यपूर्ण ढंग के कथन की विचित्रता के द्वारा परिपोष की चरम सीमा को पहुँचाया जाकर रसरूपता को प्राप्त कराया जाता हुआ वाक्यवक्रतारूप किसी अपूर्व कविकौशल को व्यक्त करता है। अन्य पहले के प्रकरणों में उद्धृत उदाहरणों में से प्रत्येक

के उसी प्रकार के कथन के ही प्राणोंवाली वक्रता का सहृदयों को अपने आप विचार करना चाहिए।

वक्रतायाः प्रकाराणामौचित्यगुणशालिनाम्।
एतदुत्तेजनायालं स्वस्पन्दमहतामपि ॥ २३ ॥
रसस्वभावालंकारा आसंसारमपि स्थिताः।
अनेन नवतां यान्ति तद्विदाह्लाददायिनीम् ॥ २४ ॥

इत्यन्तरश्लोकौ।

औचित्य गुण से सम्पन्न एवं अपने स्वभाव से ही महान् वक्रता के प्रभेदों को अत्यधिक प्रकाशित करने के लिये यह (कविकौशल) समर्थ है। सृष्टि के प्रारम्भ में भी स्थित रस, स्वभाव तथा अलंकार इस (कविकौशल के द्वारा) सहृदयों को आनन्दित करनेवाली नवीनता को प्राप्त कर लेते हैं ॥ २३-२४ ॥

ये दो अन्तरश्लोक हैं।

एवमभिधानाभिधेयाभिधालक्षणस्य काव्योपयोगिनस्त्रितयस्य स्वरूपमुल्लिख्य वर्णनीयस्य वस्तुनो विषयविभागं विदधाति—

इस प्रकार काव्य के उपयोगी शब्द, अर्थ एवं उक्ति (अर्थात् कविकौशल) इन तीनों के स्वरूप का उल्लेख कर (अब) वर्णनीय वस्तु का विषय की दृष्टि से विभाजन करते हैं—

भावानामपरिम्लानस्वभावौचित्यसुन्दरम् ।
चेतनानां जडानां च स्वरूपं द्विविधं स्मृतम् ॥ ५ ॥

चेतन (प्राणवान्) एवं अचेतन पदार्थों का, सरस स्वभाव को उपयुक्त होने से रमणीय दो प्रकार का स्वरूप (विद्वानों द्वारा) स्वीकार किया गया है ॥ ५ ॥

भावानां वर्ण्यमानवृत्तीनां स्वरूपं परिस्पन्दः। कीदृशम्—द्विविधम्। द्वे विधे प्रकारौ यस्य तत्तथोक्तम्। स्मृतं सूरिभिराम्नातम्। केषां भावानाम्—चेतनानां जडानां च। चेतनानां संविद्वतां प्राणिनामिति यावत्; जडानां तद्व्यतिरेकिणां चैतन्यशून्यानाम्। एतदेव च धर्मिद्वैविध्यं धर्मद्वैविध्यस्य निबन्धनम्। कीदृक्स्वरूपम्—अपरिम्लानस्वभावौचित्यसुन्दरम्। अपरिम्लानः प्रत्यग्रपरिपोषपेशलो यः स्वभावः पारमार्थिको धर्मस्तस्य यदौचित्यमुचितभावः प्रस्तावोपयोग्यदोषदुष्टत्वं तेन सुन्दरं सुकुमारं तद्विदाह्लादकमित्यर्थः।

भाव अर्थात् वर्णन किये जाने वाले पदार्थों का स्वरूप अर्थात् स्वभाव। कैसा (स्वरूप) दो प्रकार का। अर्थात् जिसके दो भेद हैं वह इस शब्द से बताया गया है। स्मरण किया गया है अर्थात् विद्वानों ने स्वीकार किया है। किन पदार्थों का (स्वरूप)—चेतनों एवं अचेतनों का। चेतन से अभिप्राय है प्राणियों से जिनके अन्दर ज्ञान होता है। जडों का अर्थ है उनसे भिन्न एवं चेतनतारहित अचेतन पदार्थ। यही दो प्रकार के धर्मियों का होना धर्म के दो प्रकार का होने का कारण है। (पदार्थों का) कैसा स्वरूप (दो प्रकार का होता है) सरस स्वभाव के औचित्य से सुन्दर (स्वरूप)। सरस अर्थात् अपूर्व परिपोष के कारण कोमल जो स्वभाव अर्थात् मुख्य धर्म उसका जो औचित्य अर्थात् उपयुक्तता प्रकरण के लिये उपयुक्त दोषहीनता उसके कारण सुन्दर अर्थात् सुकुमार सहृदयों को आनन्दित करनेवाला स्वरूप (दो प्रकार का होता है)।

एतदेव द्वैविध्यं विभज्य विचारयति—

तत्र पूर्वं प्रकाराभ्यां द्वाभ्यामेव विभिद्यते ।
सुरादिसिंहप्रभृतिप्राधान्येतरयोगतः ॥ ६ ॥

इन्हीं दो प्रकारों का अलग-अलग विवेचन करते हैं—

उनमें से पहला (चेतन पदार्थ) देवादि तथा सिंहादि के प्राधान्य एवं अप्राधान्य के कारण दो ही प्रकार से (पुनः) विभक्त हो जाता है ॥ ६ ॥

तत्र द्वयोः स्वरूपयोर्मध्यात् पूर्वं यत्प्रथमं चेतनपदार्थसंबन्धि तद् द्वाभ्यामेव राश्यन्तराभावात् प्रकाराभ्यां विभिद्यते भेदमासादयति, द्विविधमेव संपद्यते। कस्मात्—सुरादिसिंहप्रभृतिप्राधान्येतरयोगतः। सुरादिः त्रिदशप्रभृतयो ये चेतनाः सुरासुरसिद्धविद्याधरगन्धर्वप्रभृतयः, ये चान्ये सिंहप्रभृतयः केसरिप्रमुखास्तेषां यत्प्राधान्यं मुख्यत्वमितरदप्राधान्यं च ताभ्यां यथासंख्येन प्रत्येकं यो योगः संबन्धस्तस्मात् कारणात्।

उनमें अर्थात् दोनों (चेतन एवं अचेतन पदार्थों) के स्वरूप के मध्य से पूर्व अर्थात् जो पहला चेतन पदार्थों से सम्बन्ध रखनेवाला (स्वरूप) है वह भिन्न-भिन्न समूहों (अथवा वर्गों) के कारण दो ही प्रकारों से विभक्त हो जाता है अर्थात् उसके दो भेद होते हैं और वह दो प्रकार का ही हो जाता है। कैसे (वह दो ही प्रकार का होता है)—देवादि एवं सिंह आदि के प्राधान्य एवं अप्राधान्य रूप सम्बन्ध के कारण। सुरादि अर्थात् देवता

आदि अर्थात् देवता, राक्षस, सिद्ध, विद्याधर एवं गन्धर्व आदि जो चेतन पदार्थ, तथा दूसरे जो सिंह आदि जिनमें शेर प्रधान है ऐसे पदार्थों का जो प्राधान्य अर्थात् मुख्यरूपता एवं उससे भिन्न अर्थात् गौणता उन दोनों से क्रमानुसार प्रत्येक का जो योग अर्थात् सम्बन्ध है उसके कारण (दो प्रकार हो जाते हैं)।

तदेवं सुरादीनां मुख्यचेतनानां स्वरूपमेकं कवीनां वर्णनास्पदम्। सिंहादीनाममुख्यचेतनानां पशुमृगपक्षिसरीसृपाणां स्वरूपं द्वितीयमित्येतदेव विशेषेणोन्मीलयति—

तो इस प्रकार एक तो देवादिप्रधान चेतन पदार्थों का स्वरूप एक कवियों के वर्णन का आधार होता है तथा दूसरा सिंह आदि पशुओं, मृगों, पक्षियों एवं सर्प, विच्छू आदि गौण चेतन पदार्थों का स्वरूप होता है इसी बात को विशेष ढंग से प्रतिपादित करते हैं—

मुख्यमक्लिष्टरत्यादिपरिपोषमनोहरम् ।
स्वजात्युचितहेवाकसमुल्लेखोज्ज्वलं परम्॥ ७ ॥

सुकुमार रति आदि (स्थायीभावों) के परिपोष से हृदयावर्जक प्रधान (चेतन पदार्थों का स्वरूप) तथा अपनी जाति के अनुरूप स्वभाव के सम्यक् निरूपण से सुशोभित होनेवाला दूसरा (गौण अचेतन पदार्थों का स्वरूप कवियों के वर्णन का विषय होता है)॥ ७ ॥

मुख्यं यत्प्रधानं चेतनसुरासुरादिसंबन्धिस्वरूपं तदेवंविधं सत्कवीनां वर्णनास्पदं भवति स्वव्यापारगोचरतां प्रतिपद्यते। कीदृशम्—अक्लिष्टरत्यादिपरिपोषमनोहरम्। अक्लिष्टः कदर्थनाविरहितः प्रत्यग्रतामनोहरो यो रत्यादिः स्थायिभावस्तस्य परिपोषः शृङ्गारप्रभृतिरसत्वापादनम्, स्थाय्येव तु रसो भवेदिति न्यायात्। तेन मनोहरं हृदयहारि। अत्रोदाहरणा न विप्रलम्भशृङ्गारे चतुर्थेऽङ्के विक्रमोर्वश्यामुन्मत्तस्य पुरूरवसः प्रलपितानि। यथा—

मुख्य अर्थात् जो चेतन देवता राक्षस आदि से सम्बन्धित प्रधान स्वरूप है वह इस प्रकार का होने पर श्रेष्ठ कवियों के वर्णन योग्य होता है अर्थात् अपने व्यापार (कविकर्म-काव्य) का विषय होता है। कैसा होने पर— सुकुमार रति आदि के परिपोष से मनोहर। अक्लिष्ट अधर्म कठिनता से रहित अपूर्व होने से मनोहर जो रति आदि स्थायीभाव हैं उनके परिपोष

अर्थात् शृंगारादि रसों में परिणत हो जाना—क्योंकि स्थायी ही तो रस होता है ऐसा नियम है।

तिष्ठेत्कोपवशात्प्रभावपिहिता दीर्घं न सा कुप्यति
स्वर्गायोत्पतिता भवेन्मयि पुनर्भावार्द्रमस्या मनः।
तां हर्तुं विबुधद्विषोऽपि न च मे शक्ताः पुरोवर्तिनीं
सा चात्यन्तमगोचरं नयनयोर्यातेति कोऽयं विधिः ॥ २५ ॥

उसके कारण मनोहर अर्थात् हृदयावर्जक। यहाँ विप्रलम्भ शृङ्गार के विषय में उदाहरण स्वरूप 'विक्रमोर्वशीय' नाटक के चौथे अंक में (उर्वशी के वियोग में) पागल पुरूरवा के प्रलाप (समझे जा सकते) हैं। जैसे—(राजा कुछ सोचकर कहता है कि शायद) क्रोधवश (अपनी अन्तर्धान विद्या के) प्रभाव से छिपकर (कहीं) बैठी हो (पर ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि) वह देर तक क्रुद्ध नहीं रहती। (फिर सोचता है कि कहीं) स्वर्ग को (न) उड़ गई हो (पर ऐसी बात भी नहीं हो सकती क्योंकि) उसका हृदय मेरे प्रति स्नेह से सरस है। और फिर मेरे सामने स्थित उस (प्रियतमा) को हर लेने में दानव भी समर्थ नहीं हैं फिर भी वह आँखों के सामने बिलकुल दिखाई नहीं पड़ती, न जाने भाग्य कैसा है अथवा न जाने क्या बात है ॥ २५ ॥

अत्र राज्ञो वल्लभाविरहवैधुर्यदशावेशविवशवृत्तेस्तदसंप्राप्तिनिमित्तमनधिगच्छतः प्रथमतरमेव स्वभाविकसौकुमार्यसंभाव्यमानम् अनन्तरोचितविचारापसार्यमाणोपपत्ति किमपि तात्कालिकविकल्पोल्लिख्यमानमनवलोकनकारणमुत्प्रेक्षमाणस्य तदासादनसमन्वयासंभवान्नैराश्यनिश्चयविमूढमानसतया रसः परां परिपोषपदवीमधिरोपितः।

तथा चैतदेव वाक्यान्तरैरुद्दीपितं यथा—

यहाँ पर प्रियतमा (उर्वशी) के वियोग की विकलता की अवस्था के अभिनिवेश से व्याकुल हृदय तथा उसकी अनुपलब्धि के कारण को न समझते हुए, न दिखाई पड़ने के कारण का अनुमान करने वाले राजा की सर्वप्रथम ही सहज सुकुमारता से अनुमानित किया गया एवं तुरन्त बाद में उचित विचार के कारण अनुपपन्न हो गया उस समय के विकल्पों से वर्णित किये गये न दिखाई पड़ने के कारण का अनुमान करनेवाले राजा से उसकी प्राप्ति सम्बन्ध के असम्भव होने से निराशा के निश्चित हो जाने से मुग्ध चित्त होने के कारण रस अपने परिपोष की पराकाष्ठा को पहुँच गया है।

पद्भ्यां स्पृशेद्वसुमतीं यदि सा सुगात्री
मेघाभिवृष्टसिकतासु वनस्थलीषु।
पश्चान्नता गुरुनितम्बतया ततोऽस्या
दृश्येत चारुपदपङ्क्तिरलक्तकाङ्का॥ २६॥

और जैसे कि यही (विप्रलम्भ शृङ्गार) अन्य श्लोकों द्वारा भी उद्दीप्त कराया गया है। जैसे—(पुरूरवा ही कहता है कि) यदि वह सुन्दर अङ्गों वाली (प्रियतमा उर्वशी) बादलों से गीली बालुकामय वनभूमि में पृथ्वी का पैरों से स्पर्श करती तो भारी नितम्बों के कारण इसकी, महावर से चिह्नित सुन्दर चरणपंक्ति पीछे की ओर अधिक गहरी दिखाई पड़ती॥ २६॥

अत्र पद्भ्यां वसुमतीं कदाचित् स्पृशेदित्याशंसया तत्प्राप्तिः संभाव्येत। यस्माज्जलधरसलिलसेकसुकुमारसिकतासु वनस्थलीषु गुरुनितम्बतया तस्याः पश्चान्नतत्वेन नितरां मुद्रितसंस्थानां रागोपरक्ततया रमणीयवृत्तिश्चरणविन्यासपरंपरा दृश्येत, तस्मान्नैराश्यनिश्चितरेव सुतरां समुज्जृम्भिता, या तदुत्तरवाक्योन्मत्तविलपितानां निमित्ततामभजत्।

यहाँ 'शायद कहीं पृथ्वी का पैरों से स्पर्श करती' इस आशा से उसकी प्राप्ति सम्भव हो सकती। क्योंकि बादलों के जल से सींची होने के कारण कोमल बालुका वाली वनस्थलियों में भारी नितम्बों से युक्त होने के कारण उसके पीछे झुके होने से अत्यधिक चिह्नित स्थानों वाली एवं महावर से रँगी होने के कारण सुन्दर पदविन्यास की शृंङ्खला दिखाई पड़ती, इस प्रकार निराशा का निश्चय ही अच्छी तरह से व्यक्त किया गया है जो उसके बाद के श्लोकों के उन्मत्त विलाप का कारण बन गया है।

करुणरसोदाहरणानि तापसवत्सराजे द्वितीयेऽङ्के वत्सराजस्य परिदेवितानि। यथा—

धारावेश्म विलोक्य दीनवदनो भ्रान्त्वा च लीलागृह-
न्निश्वस्यायतमाशु केसरलतावीथीषु कृत्वा दृशः।
किं मे पार्श्वमुपैषि पुत्रक कृतैः किं चाटुभिः क्रूरया
मात्रा त्वं परिवर्जितः सह मया यान्त्यातिदीर्घां भुवम्॥ २७॥

करुण रस के उदाहरण 'तापसवत्सराज' के द्वितीय अंक में वत्सराज उदयन के प्रलाप (समझे जा सकते हैं)। जैसे—(वासवदत्ता के पालतू

हरिण को धारागृह आदि स्थानों में ढूँढ़कर वासवदत्ता को न पाने से निराश हो जाने पर राजा हरिण से कहता है—) हे पुत्र ! धारागृह को देखकर (वहाँ अपनी माता वासवदत्ता को न पाकर) मलीन मुख होकर क्रीडागृहों में भ्रमणकर (वहाँ भी न पाने से) बड़ी-बड़ी उसांसें भरकर, शीघ्र ही बकुलवृक्ष की लताओं की गलियों में नजर दौड़ाकर मेरे पास क्यों आ रहा है, प्रियवचनों से क्या लाभ ? (अर्थात् यदि मैं तुमसे झूठे ही प्रियवचनों का प्रयोग करूँ कि तुम्हारी माता कहीं अभी गई है आती होगी तो उससे क्या लाभ क्योंकि) कठोरहृदय (तुम्हारी) माता ने बहुत दूर देश (स्वर्ग) को जाते समय मेरे ही साथ तुम्हें भी त्याग दिया है। (अब उससे मिलना असम्भव है) ॥ २७ ॥

अत्र रसपरिपोषनिबन्धनं विभावादिसंपत्समुदयः कविना सुतरां समुज्जृम्भितः । तथा चास्यैव वाक्यस्यावतारकं विदूषकवाक्यमेवं प्रयुक्तम्—

कवि ने यहाँ पर रस के परिपोष के कारणभूत विभावादि की सामग्री के समुदाय को भलीभाँति प्रस्तुत किया है। और जैसे कि इसी श्लोक को अवतीर्ण करनेवाले विदूषक के वाक्य का इस प्रकार प्रयोग किया है—

पमादो एसो क्खु देवीए पुत्तकिदको हरिणपोदो अत्तभवंतं अणुसरदि ॥ २८ ॥

(प्रमादः एष खलु देव्याः पुत्रकृतको हरिणपोतोऽत्रभवन्तमनुसरति ।)

यह बड़ी लापरवाही है कि देवी का पुत्र सदृश यह मृगशावक आपका अनुगमन कर रहा है ॥ २८ ॥

एतेन करुणरसोद्दीपनविभावता हरिणपोतकधारागृहप्रभृतीनां सुतरां समुत्पद्यते । तथा चायमपरः क्षते क्षारावक्षेप इति रुमण्वद्वचनादनन्तरमेतत्परत्वेनैव वाक्यान्तरमुपनिबद्धम् ।

यथा—

कर्णान्तस्थितपद्मरागकलिकां भूयः समाकर्षता
चञ्च्वा दाडिमबीजमित्यभिहता पादेन गण्डस्थली ।
येनासौ तव तस्य नर्मसुहृदः खेदान्मुहुः क्रन्दतो
निःशङ्कं न शुकस्य किं प्रतिवचो देवि त्वया दीयते ॥ २९ ॥

इस (विदूषक के कथन) से मृगशावक एवं धारागृह आदि भली भाँति करुण रस के उद्दीपन विभाव बन जाते हैं। और जैसे कि रुमण्वान के 'यह

दूसरा घाव पर नमक छिड़का गया' ऐसा कहने के बाद इसी को पुष्ट करने के लिये ही दूसरे श्लोक की रचना की गई है। जैसे—(राजा कहते हैं कि) हे देवि वासवदत्ते! कानों के बगल में लगी हुई पद्मराग मणि की कली को अनार का बीज समझ कर चोंच से खींचते हुए जिस (शुक) ने तुम्हारी इस कपोलस्थली पर पदप्रहार किया था उस अपने नर्मसुहृद के तोते की बातों का निःशङ्क होकर तुम जवाब भी नहीं देती हो जो (तुम्हारे वियोग से उत्पन्न) शोक के कारण बार-बार चिल्ला रहा है ॥ २९ ॥

अत्र शुकस्यैवंविधदुर्ललितयुक्तत्वं वाल्लभ्यप्रतिपादनपरत्वेनोपात्तम्। 'असौ' इति कपोलस्थल्याः स्वानुभवस्वदमानसौकुमार्योत्कर्षपरामर्शः। एवमेवोद्दीपनविभावैकजीवितत्वेन करुणरसः काष्ठाधिरूढिरमणीयतामनीयत।

यहाँ पर तोते का इस प्रकार के दुर्ललितत्व से युक्त होना उसकी अत्यधिक प्रियता का प्रतिपादन करने के लिये प्रयुक्त किया गया है। 'असौ' इस पद के द्वारा कपोलस्थली के अपने अनुभव द्वारा आस्वादित किए जाने वाले सौकुमार्यातिशय का परामर्श किया गया है। इसी प्रकार उद्दीपन विभाव ही जिसका एकमात्र प्राण हो गया है ऐसा करुण रस रमणीयता की पराकाष्ठा को पहुँचाया गया है।

एवं विप्रलम्भशृङ्गारकरुणयोः सौकुमार्यादुदाहरणप्रदर्शनं विहितम्। रसान्तराणामपि स्वयमेवोत्प्रेक्षणीयम्।

इस प्रकार विप्रलम्भ शृंगार एवं करुण रसों के सुकुमार होने के कारण उनका उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। अन्य रसों के भी उदाहरण अपने आप समझ लेना चाहिए।

एवं द्वितीयमप्रधानचेतनसिंहादिसंबन्धि यत्स्वरूपं तदित्थं कवीनां वर्णनास्पदं संपद्यते। कीदृशम्—स्वजात्युचितहेवाकसमुल्लेखोज्ज्वलम्। स्वा प्रत्येकमात्मीया सामान्यलक्षणवस्तुस्वरूपा या जातिस्तस्याः समुचितो यो हेवाकः स्वभावानुसारी परिस्पन्दस्तस्य समुल्लेखः सम्यगुल्लेखनं वास्तवेन रूपेणोपनिबन्धस्तेनोज्ज्वलं भ्राजिष्णु, तद्विदाह्लादकारीति यावत्।

इस तरह जो गौण चेतन सिंह आदि पदार्थों से सम्बन्धित दूसरा स्वरूप है वह इस प्रकार का होने पर कवियों के वर्णन योग्य बनता है। कैसा

(होने पर)—अपनी जाति के अनुरूप स्वभाव के वर्णन मनोहर (होने पर)। स्वकीय अर्थात् हर एक की अपनी जो जाति अर्थात् सामान्य रूप पदार्थ का स्वरूप होता है उसके अनुरूप जो हेवाक अर्थात् (पदार्थ) के स्वभाव का अनुसरण करनेवाला (पदार्थ) का धर्म उसका समुल्लेख अर्थात् भली-भाँति वर्णन, वास्तविक ढङ्ग से प्रतिपादन, उसके कारण उज्ज्वल अर्थात् प्रकाशमान, सहृदयो को आह्लादित करने वाला (गौण चेतन सिंहादि पदार्थों का स्वरूप कवियों के वर्णन का विषय बनता है)।

यथा—

कदाचिदेतेन च पारियात्रगुहागृहे मीलितलोचनेन।
व्यत्यस्तहस्तद्वितयोपविष्टदंष्ट्राङ्कुराञ्चचिबुकं प्रसुप्तम् ॥ ३० ॥

जैसे—

(किसी सिंह की स्वाप्नावस्था का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि—) कभी पारियात्र (पर्वत विशेष) की कन्दरारूपी गृह में (दोनों) आँखें मूँदे हुए इस (सिंह) ने अपने आड़े ढंग से रखे हुए दोनों हाथों पर स्थित दाढ़ की नोक के कारण फैली हुई ढोढ़ी वाला लगते हुए शयन किया था ॥ ३० ॥

अत्र गिरिगुहागेहान्तरे निद्रामनुभवतः केसरिणः स्वजातिसमुचितं स्थानकमुल्लिखितम्। यथा वा—

ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने दत्तदृष्टिः
पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायम्।
शष्पैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रे प्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति ॥ ३१ ॥

यहाँ पर्वत की गुफारूप गृह के भीतर निद्रा का अनुभव करते हुए सिंह की अपनी जाति के अनुरूप स्थिति का वर्णन किया गया है। अथवा जैसे—('अभिज्ञान शाकुन्तल' में राजा दुष्यन्त अपने सारथि से कहते हैं कि हे सारथि !) देखो, अपने पीछे चलते हुए रथ पर बार-बार गर्दन मोड़ने से सुन्दर दृष्टि लगाए हुए, बाण लगने के डर से (अपने शरीर के) पिछले अर्द्ध भाग से आगे के हिस्से में बहुत ज्यादा सिमटा हुआ, एवं परिश्रम के कारण खुले हुए मुख से गिरते हुए अर्द्धचर्वित कुशों को रास्ते में विखेरता हुआ (यह हरिण) ऊँची एवं लम्बी छलांगें मारने के कारण ज्यादातर आकाश में तथा थोड़ा-सा जमीन पर चल रहा है ॥ ३१ ॥

एतदेव प्रकारान्तरेणोन्मीलयति—

रसोद्दीपनसामर्थ्यविनिबन्धनबन्धुरम् ।
चेतनानाममुख्यानां जडानां चापि भूयसा ॥ ८ ॥

इसी (चेतन पदार्थों के द्विविध स्वरूप) को दूसरे ढङ्ग से व्यक्त करते हैं—

गौण चेतन (सिंहादि पदार्थों) का तथा अधिकतर जड़ पदार्थों का भी रस को उदीप्त करने के सामर्थ्य से युक्त रूप में वर्णन के कारण मनोहर (स्वरूप कवियों का वर्णनास्पद होता है ।) ॥ ८ ॥

चेतानानां प्राणिनाममुख्यानामप्रधानभूतानां यत्स्वरूपं तदेवंविधं तद्वर्णनीयतां प्रतिपद्यते प्रस्तुताङ्गतयोपयुज्यमानम् । कीदृशम्—रसोद्दीपनसामर्थ्यविनिबन्धनबन्धुरम् । रसाः शृङ्गारादयस्तेषामुद्दीपनमुल्लासनं परिपोषस्तस्मिन् सामर्थ्यं शक्तिस्तया विनिबन्धनं निवेशस्तेन बन्धुरं हृदयहारि । यथा—

अमुख्य अर्थात् गौणभूत चेतन अर्थात् प्राणियों का जो स्वरूप है वह इस प्रकार का होने पर उन (कवियो) के वर्णन योग्य होता है अर्थात् प्रस्तुत (पदार्थ) के अङ्ग रूप से उपयोगयोग्य होता है । कैसा (होने पर)—रस को उदीप्त करने के सामर्थ्य से युक्त रूप में वर्णित होने से मनोहर (होने पर) रस अर्थात् शृङ्गारादि उनका उद्दीपन अर्थात् उल्लसित होना परिपुष्ट होना उसमें जो सामर्थ्य अर्थात् शक्ति उससे विनिबन्धन अर्थात् वर्णन उसके कारण बन्धुर अर्थात् मनोहर (होने पर वर्णनीय होता है ।)

चूताङ्कुरास्वादकषायकण्ठः पुंस्कोकिलो यन्मधुरं चुकूज ।
मनस्विनीमानविघातदक्षं तदेव जातं वचनं स्मरस्य ॥ ३२ ॥

(वसन्त के प्रारम्भ में) आम के अङ्कुरों के भक्षण से रक्त कण्ठ वाले पुरुष कोयल ने जो मधुर अव्यक्त ध्वनि किया वही मानो मानिनियों के मान को भंग करने में समर्थ कामदेव का वचन (आदेश) हो गया ॥ ३२ ॥

जडानां चापि भूयसा—जडानामचेतनानां सलिलतरुकुसुमसमयप्रभृतीनामेवंविधं स्वरूपं रसोद्दीपनसामर्थ्यविनिबन्धनबन्धुरं वर्णनीयतामवगाहते । यथा—

तथा अधिकतर जड पदार्थों का भी (स्वरूप वर्णन योग्य होता है) । जड अर्थात् अचेतन जल, वृक्ष, वसन्त आदि का इस प्रकार इसको उद्दीप्त

करने के सामर्थ्य से युक्तरूप में वर्णन के कारण मनोहर स्वरूप (श्रेष्ठ कवियों के) वर्णन का विषय बन जाता है। जैसे—

इदमसुलभवस्तुप्रार्थनादुर्निवारं प्रथममपि मनो मे पञ्चबाणः क्षिणोति।
किमुत मलयवातोन्मूलितापाण्डुपत्रैरुपवनसहकारैर्दर्शितेष्वङ्कुरेषु ॥ ३३ ॥

दुर्लभ पदार्थ की कामना से कठिनतापूर्वक रोके जा सकने वाले मेरे चित्त को कामदेव पहले ही क्षीण कर रहा है, तो भला दक्षिण पवन (मलयानिल) के द्वारा गिरा दिए गये पीले पत्तों वाले बगीचे के आम्र वृक्षों के द्वारा अङ्कुरों के दिखाई देने पर (क्या होगा) ॥ ३३ ॥

यथा वा—

उद्भेदाभिमुखाङ्कुराः कुरबकाः शैवालजालाकुल-
प्रान्तं भान्ति सरांसि फेनपटलैः सीमन्तिताः सिन्धवः।
किंचास्मिन् समये कृशाङ्गि विलसत्कन्दर्पकोदण्डक-
क्रीडाभाञ्जि भवन्ति सन्ततलताकीर्णान्यरण्यान्यपि ॥ ३४ ॥

अथवा जैसे—

(शीघ्र ही निकल पड़ने वाले अङ्कुरों वाले कुरवक (वृक्ष), सेवार के जालों से व्याप्त किनारों वाले तालाब, और फेनों के समूहों से विभाजित कर दी गई नदियाँ सुशोभित हो रही हैं। और भी ऐ कृशांगि, इस समय भलीभाँति विस्तीर्ण लताओं से व्याप्त विपिन भी विलसित होते हुए कामदेव के धनुष की क्रीड़ाओं से सम्पन्न हो रहे हैं ॥ ३४ ॥

एवं स्वाभाविकसुन्दरपरिस्पन्दनिबन्धनं पदार्थस्वरूपमभिधाय तदेवोपसंहरति—

शरीरमिदमर्थस्य रामणीयकनिर्भरम्।
उपादेयतया ज्ञेयं कवीनां वर्णनास्पदम् ॥ ९ ॥

इस प्रकार सहज सौन्दर्य के कारणभूत, पदार्थों के स्वरूप का प्रतिपादन कर उसी का उपसंहार करते हैं—

कवियों के वर्णन (काव्य) के आधारभूत, सुन्दरता से परिपूर्ण पदार्थ का यह शरीर उपादेय रूप से समझना चाहिए ॥ ९ ॥

अर्थस्य वर्णनीयस्य वस्तुनः शरीरमिदम् उपादेयतया ज्ञेयं ग्राह्यत्वेन बोद्धव्यम्। कीदृशं सत्—रामणीयकनिर्भरम्, सौन्दर्यपरिपूर्णम्, औपहत्यरहितत्वेन तद्विदावर्जकमिति यावत्। कवीनामेतदेव यस्माद्वर्णन,

स्पदमभिधाव्यापारगोचरम्। एवंविधस्यास्य स्वरूपशोभातिशयभ्राजिष्णोर्विभूषणान्युपशोभान्तरमारभन्ते।

अर्थ अर्थात् वर्णन किये जाने वाले पदार्थ का इस शरीर को उपादेय रूप से जानना चाहिए अर्थात् ग्रहण करने योग्य समझना चाहिए। कैसा होने पर—रमणीयता से निर्भर अर्थात् सुन्दरता से परिपूर्ण, दोषों से हीन होने के कारण सहृदयों को आकृष्ट करनेवाला (होने पर)। क्योंकि यही कवियों का वर्णनास्पद अर्थात् कविवाणी के व्यापार का विषय होता है।

इस प्रकार अपने स्वरूप की शोभा के उत्कर्ष से कान्तियुक्त इस स्वरूप के अलङ्कार उपशोभा मात्र को प्रारम्भ करते हैं।

एतदेव प्रकारान्तरेण विचारयति—

धर्मादिसाधनोपायपरिस्पन्दनिबन्धनम्।
व्यवहारोचितं चान्यल्लभते वर्णनीयताम्॥ १०॥

इसी बात का दूसरे ढंग से विवेचन करते हैं—

और दूसरा भी (चेतनों व अचेतनों का स्वरूप) धर्म आदि (पुरुषार्थ-चतुष्टय) की प्राप्ति के उपायभूत-व्यापार के कारण रूप में, लोक व्यवहार के अनुरूप (हो कवियों के) वर्णन का विषय बनता है॥ १०॥

व्यवहारोचितं चान्यत्। अपरं पदार्थानां चेतनाचेतनानां स्वरूपमेवंविधं वर्णनीयतां लभते कविव्यापारविषयतां प्रतिपद्यते। कीदृशम्—व्यवहारोचितम्, लोकवृत्तयोग्यम्। कीदृशं सत्—धर्मादिसाधनोपायपरिस्पन्दनिबन्धनम्। धर्मादेश्चतुर्वर्गस्य साधने संपादने उपायभूतो यः परिस्पन्दः स्वविलसितं तदेव निबन्धनं यस्य तत्तथोक्तम्। तदिदमुक्तं भवति—यत् काव्ये वर्ण्यमानवृत्तयः प्रधानचेतनप्रभृतयः सर्वे पदार्थाश्चतुर्वर्गसाधनोपायपरिस्पन्दप्राधान्येन वर्णनीयाः, येऽप्यप्रधानचेतनस्वरूपाः पदार्थास्तेपि धर्मार्थाद्युपायभूतस्वविलासप्राधान्येन कवीनां वर्णनीयतामवतरन्ति। तथा च राज्ञां शूद्रकप्रभृतीनां मन्त्रिणां च शुकनासमुख्यानां चतुर्वर्गानुष्ठानोपदेशपरत्वेनैव चरितानि वर्ण्यन्ते। अप्रधानचेतनानां हस्तिहरिणप्रभृतीनां संग्राममृगयाद्यङ्गतया परिस्पन्दसुन्दरं स्वरूपं लक्ष्ये वर्ण्यमानतया परिदृश्यते। तस्मादेव च तथाविधस्वरूपोल्लेखप्राधान्येन काव्यकाव्योपकरणकर्तॄणां चित्रचित्रोपकरणचित्रकरैः साम्यं प्रथममेव प्रतिपादितम्। तदेवंविधं स्वभावप्राधान्येन रसप्राधान्येन

द्विप्रकारं सहजसौकुमार्यसरसं स्वरूपं वर्णनाविषयवस्तुनः शरीरमेवा-लंकार्यतामेवार्हति ।

व्यवहार के योग्य दूसरा (स्वरूप वर्णनीय होता है)। चेतन एवं जड़ पदार्थों का इस प्रकार का दूसरा स्वरूप वर्णनीय होता है अर्थात् कवि-व्यापार का विषय बनता है। कैसा (स्वरूप) व्यवहारोचित अर्थात् लोक-व्यवहार के अनुरूप (स्वरूप)। कैसा होकर—धर्मादि की प्राप्ति के उपाय-भूत व्यापार का कारण होकर, धर्मादि (धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष रूप) चतुर्वर्ग (अथवा पुरुषार्थचतुष्टय) को सिद्ध करने में अर्थात् सम्पादित करने में उपायभूत जो परिस्पन्द अर्थात् अपना विलसित वही जिस (स्वरूप) का कारण होता है (ऐसा स्वरूप)। तो कहने का आशय यह है कि—काव्य में जिन मुख्य चेतन आदि के व्यवहार का वर्णन किया जा रहा है उन सभी पदार्थों का (धर्मादि) चतुर्वर्ग की सिद्धि में उपायभूत अपने विलसितों की प्रधानता से युक्त रूप में वर्णन किया जाना चाहिए, तथा जो गौण चेतन स्वरूप वाले पदार्थ हैं वे भी धर्म, अर्थ आदि के उपायभूत अपने विलासों की प्रधानता से ही कवियों के वर्णन के विषय बनते हैं। जैसे कि शूद्रक इत्यादि राजाओं, शुकनास आदि प्रमुख मन्त्रियों के चरित्रों का वर्णन (धर्मादि) चतुर्वर्ग के अनुष्ठान के उपदेश के लिए ही किया जाता है। तथा लक्ष्य (ग्रन्थ काव्यों में) गौण चेतन हाथी-मृग आदि पदार्थों का, लड़ाई तथा शिकार आदि के अङ्ग रूप में अपने विलास से सुन्दर स्वरूप ही वर्णन का विषय दिखाई पड़ता है। और इसीलिए उस प्रकार के स्वरूप के वर्णन की प्रधानता से काव्य, काव्य की सामग्री एवं कवि का, चित्र, चित्र की सामग्री एवं चित्रकार के साथ साम्य पहले ही दिखाया जा चुका है। तो इस प्रकार स्वभाव की प्रधानता एवं रस की प्रधानता से दो तरह का स्वाभाविक सुकुमारता के कारण सरस वर्णनीय पदार्थ का स्वरूप शरीर ही है तथा उसका अलङ्कार्य होना ही ठीक है।

तत्र स्वाभाविकं पदार्थस्वरूपमलंकरणं यथा न भवति तथा प्रथममेव प्रतिपादितम्। इदानीं रसात्मनः प्रधानचेतनपरिस्पन्दवर्ण्यमानवृत्तेर लंकारकारान्तराभिमतामलंकारतां निराकरोति—

अलंकारो न रसवत् परस्याप्रतिभासनात्।
स्वरूपादतिरिक्तस्य शब्दार्थासङ्गतेरपि ॥ ११ ॥

उनमें पदार्थों का स्वाभाविक स्वरूप जैसे अलङ्कार नहीं होता इसका प्रतिपादन पहले ही किया जा चुका है। अब मुख्य चेतन पदार्थ के विलास

रूप व्यवहार का जिसमें वर्णन किया जाता है ऐसे रस स्वरूप की अन्य आलङ्कारिकों द्वारा स्वीकृत अलंकारता का निराकरण करते हैं—

(पदार्थ के) स्वरूप से भिन्न किसी दूसरे का बोध न कराने के कारण तथा शब्द एवं अर्थ के सङ्गत न होने से 'रसवत्' अलंकार नहीं होता ॥११॥

अलंकारो न रसवत्। रसवदिति योऽयमुत्पादितप्रतीतिर्नामालंकारस्तस्य विभूषणत्वं नोपपद्यते इत्यर्थः। कस्मात् कारणात्—स्वरूपादतिरिक्तस्य परस्याप्रतिभासनात्। वर्ण्यमानस्य वस्तुनो यत् स्वरूपमात्मीयः परिस्पन्दस्तस्मादतिरिक्तस्यात्यधिकस्य परस्याप्रतिभासनाद् अनवबोधनात्। तदिदमत्र तात्पर्यम्—यत् सर्वेषामेवालंकृतीनां * सत्कविवाक्यानामिदमलंकार्यमिदमलंकरणम् इत्यपोद्धारविहितो विविक्तभावः सर्वस्य कस्यचित् प्रमातुश्चेतसि परिस्फुरति। रसवदलंकारवदिति वाक्ये पुनरवहितचेतसोऽपि न किंचिदेतदेव बुध्यामहे।

रसवत् अलंकार नहीं है। इसका अर्थ यह है कि 'रसवत् नाम का अलंकार है' ऐसा जिसका (प्राचीन आलंकारिकों द्वारा) बोध कराया गया है उसका अलंकारत्व उचित नहीं है। किस कारण से—स्वरूप से भिन्न दूसरे का बोध न होने के कारण। वर्णन किये जाने वाले पदार्थ का जो स्वरूप अर्थात् अपना स्वभाव होता है उससे भिन्न अधिक दूसरे किसी का प्रतिभासन अर्थात् ज्ञान न होने के कारण ('रसवत्' अलंकार नहीं होता)। तो यहाँ इसका आशय यह है कि—श्रेष्ठ कवियों के सभी अलंकृत वाक्यों में यह अलंकार्य है, यह अलंकार है ऐसी विभाग-बुद्धि द्वारा उत्पन्न भिन्नता सभी

* यहाँ पर डा० डे के संस्करण में 'सर्वेषामेवालङ्कृतीनाम्' पाठ मुद्रित था। इस पाठ को असंगत बताकर आचार्य विश्वेश्वर जीने अपनी 'विवेकाश्रित सम्पादन-पद्धति' के द्वारा 'सर्वेषामेवालंकाराणां सत्कविवाक्यगतानामिदमलंकार्यमिदमलंकरणम्' इत्यादि पाठ समुचित बताया है। पर विद्वान् हमारे पाठ को देखते हुए स्वयं इस बात का अनुमान कर सकते हैं कि आचार्य जी का विवेक उन्हें धोखा दे गया है। वस्तुतः हमें तो लगता है कि मुद्रण की गलती से 'ता' के स्थान पर 'ती' छप गया है। केवल 'ती' को 'ता' मान लेने पर पंक्ति का अर्थ समञ्जस है। जब कि आचार्य जी के पाठ को मानने पर अर्थ पूर्णतया असमञ्जस ही रहता है। क्योंकि अलंकारों में अलंकार्य और अलंकार का भेद कहाँ से होगा। यह भेद तो अलंकृत वाक्यों में ही सम्भव है। इत्यलम्।

किसी प्रमाता के हृदय में स्फुरित होती है। लेकिन 'रसवत् अलंकार से युक्त है' इस वाक्य से सावधान चित्त वाले व्यक्ति के हृदय में भी कुछ नहीं प्रस्फुरित होता, ऐसा ही मैं समझता हूँ।

तथा च—यदि श्रृङ्गारादिरेव प्राधान्येन वर्ण्यमानोऽलंकार्यस्तदन्येन केनचिदलंकरणेन भवितव्यम्। यदि वा तत्स्वरूपमेव तद्विदाह्लादनिबन्धनत्वादलंकरणमित्युच्यते तथापि तद्व्यतिरिक्तमन्यदलंकार्यतया प्रकाशनीयम्। तदेवंविधो न कश्चिदपि विवेकश्चिरन्तनालंकाराभिमते रसवदलंकारलक्षणोदाहरणमार्गे मनागपि विभाव्यते। यथा च—

रसवद्दर्शितस्पष्टश्रृङ्गारादि ॥ ३५ ॥

और भी—यदि श्रृंगारादि ही मुख्य रूप से वर्णित होने पर अलंकार्य है तो उससे भिन्न कोई अलंकार होना चाहिए। अथवा यदि श्रृंगारादि का स्वरूप ही सहृदयों के आनन्द का जनक होने से अलङ्कार कहा जाता है तो भी उससे भिन्न अलङ्कार्य रूप में किसी को व्यक्त करना चाहिए। तो इस प्रकार का तनिक भी कोई भी विवेचन प्राचीन आलङ्कारिकों द्वारा स्वीकृत 'रसवत्' अलङ्कार के लक्षण अथवा उदाहरण मार्ग में नहीं दिखाई पड़ता। जैसे कि—

रसवद्दर्शितस्पष्टश्रृंगारादि ॥ ३५ ॥

[इति] रसवल्लक्षणम्। अत्र दर्शिताः स्पष्टाः स्पष्टं वा श्रृङ्गारादयो यत्रेति व्याख्याने काव्यव्यतिरिक्तो न कश्चिदन्यः समासार्थभूतः संलक्ष्यते। योऽसावलंकारः काव्यमेवेति चेत्, तदपि न सुस्पष्टसौष्ठवम्। यस्मात् काव्यैकदेशयोः शब्दार्थयोः पृथक् पृथगलंकाराः सन्तीत्युपक्रम्येदानीं काव्यमेवालंकरणमित्युपक्रमोपसंहारवैषम्यदुष्टत्वमायाति।

यह (भामह एवं उद्भट के अनुसार) रसवत् अलङ्कार का लक्षण है। यहाँ पर दिखाये गये जहाँ श्रृंगारादि हों यानी स्पष्ट रूप से परामृष्ट हों-ऐसी व्याख्या करने पर काव्य से भिन्न समास का अर्थभूत कोई दूसरा नहीं दिखाई पड़ता। (और यदि ऐसा कहा जाय कि) जो यह अलङ्कार है वह काव्य ही है, तो भी सुन्दरता स्पष्ट नहीं होती। क्योंकि पहले (ग्रन्थ के आरम्भ में) काव्य के अवयवभूत शब्द और अर्थ के अलग-अलग अलङ्कार होते हैं ऐसा प्रारम्भ कर अब 'काव्य ही अलङ्कार है' ऐसा कथन प्रारम्भ एवं समाप्ति की विषमता से दूषित हो जाता है।

यदि वा दर्शिताः स्पष्टं शृङ्गारादयो येनेति समासः, तथापि वक्तव्यमेव-कोऽसाविति ? प्रतिपादनवैचित्र्यमेवेति चेत्, तदपि न सम्यक् समर्थनार्हम्। यस्मात् प्रतिपाद्यमानादन्यदेव तदुपशोभानिबन्धनं प्रतिपादनवैचित्र्यम् , न पुनः प्रतिपाद्यमेव। स्पष्टतया दर्शितं रसानां प्रतिपादनवैचित्र्यं यद्यभिधीयते, तदपि न सुप्रतिपादनम्। स्पष्टतया दर्शने शृङ्गारादीनां स्वरूपपरिनिष्पत्तिरेव पर्यवस्यति। किंच, रसवतः काव्यस्यालङ्कार इति तथाविधस्य सतस्तस्यासाविति न किंचिदनेन तस्याभिधेयं स्यात्।

अथवा यदि 'जिसके द्वारा स्पष्ट रूप से शृंगारादि दिखाये गये हों' (वह रसवदलंकार है) ऐसा समास स्वीकार किया जाय तो भी बताना ही पड़ेगा कि यह कौन है (जिसके द्वारा स्पष्ट रूप से शृङ्गारादि दिखाये गये हों)। (यदि उत्तर दें कि) प्रतिपादन की विचित्रता ही वह (अलंकार है) तो वह भी भलीभाँति समर्थन करने योग्य नहीं है। क्योंकि जिसका प्रतिपादन किया जा रहा है उसकी गौण सुन्दरता का कारण उससे भिन्न ही प्रतिपादन की विचित्रता होती है। न कि जिसका प्रतिपादन किया जा रहा है, वही (अपनी उपशोभा का कारण होता है)।

यदि कहा जाय कि स्पष्ट रूप से दिखाया गया रसों के प्रतिपादन की विचित्रता ही (रसवद् अलङ्कार है) तो वह भी अच्छा समझाना नहीं होगा। (क्योंकि) शृङ्गारादि के साफ-साफ दिखाई पड़ने पर उनका स्वरूप ही भलीभाँति निष्पन्न होगा। और यदि 'रसवान्' काव्य का अलङ्कार (रसवदलंकार होता है) इस प्रकार (कहा जाय तो) उस प्रकार (रसवान्) होने पर उसका यह (रसवद् अलंकार है) इस कथन से उसका कुछ भी निरूपण नहीं होता। अथवा उसी (रसवत्) अलंकार के कारण वह काव्य रसवान् होता है, (यह कहा जाय) तो इस प्रकार यह रसवान् (काव्य) का अलंकार नहीं है अपितु रसवान् अलंकार है यह अर्थ होने लगेगा, उसी के माहात्म्य से काव्य भी रस से सम्पन्न हो जाता है।

अथवा तेनैवालङ्कारेण रसवत्त्वं तस्याधीयते, तदेवं तर्ह्यसौ न रसवतोऽलङ्कारः प्रत्युत रसवानलङ्कार इत्यायाति, तन्माहात्म्यात् काव्यमपि रसवत् संपद्यते। यदि वा तेनैवाहितरससम्बन्धस्य रसवतः काव्यस्यालङ्कार इति तत्पश्चाद्रसवदलङ्कारव्यपदेशमासादयति-यथाग्निष्टोमयाज्यस्य पुत्रो भवितेत्युच्यते-तदपि न सुप्रतिबद्धसमाधानम्। यस्माद् 'अग्निष्टोमयाजि'-शब्दः प्रथमं भूतलक्षणे विषयान्तरे निष्प्रति-

पदतया समासादितप्रसिद्धिः पश्चाद् भविष्यन्ति वाक्यार्थसंबन्धलक्षण-योग्यतया तमनुभवितुं शक्नोति। न पुनरत्रैवं प्रयुज्यते। यस्माद्रसवतः काव्यस्यालङ्कार इति तत्संबन्धितयैवास्य स्वरूपलब्धिरेव। तत्संबन्धि-निबन्धनं च काव्यस्य रसवत्त्वमित्येवमितरेतराश्रयलक्षणदोषः केना-पसार्यते। यदि वा रसो विद्यते यस्यासौ तद्वानलङ्कार एवास्तु इत्यभि-धीयते तथाप्यलङ्कारः काव्यं वा नान्यत् तृतीयं किंचिदत्रास्ति। तत्पक्षद्वितयमपि प्रत्युक्तम्। उदाहरणं लक्षणैकयोगक्षेमत्वात् पृथङ् न विकल्प्यते।

अथवा यदि उसी (रसवदलंकार) के कारण रस से सम्बन्ध स्थापित होने से (वह) रस से युक्त काव्य का अलङ्कार उसके बाद रसवदलङ्कार कहा जाता है—जैसे इसका लड़का अग्निष्टोम यज्ञ करने वाला होगा—ऐसा कहा जाता है तो यह भी समाधान ठीक नहीं है। क्योंकि 'अग्निष्टोमयाजि' शब्द भूतरूप दूसरे विषय में निष्पन्न होने के कारण प्रसिद्धि को प्राप्त हो जाने के बाद भविष्यवाची वाक्यार्थ के साथ सम्बन्ध रूप योग्यता से उसका अनुभव कर सकता है। लेकिन यहाँ पर ऐसा प्रयोग ठीक नहीं। क्योंकि रस से युक्त काव्य का अलंकार (रसवदलंकार होता है) इस प्रकार इसके स्वरूप की प्राप्ति ही उस (रसवत्काव्य) के सम्बन्धित रूप से होती है तथा वह सम्बन्ध का होना ही काव्य के रसयुक्त होने का कारण है इस प्रकार इस अन्योऽन्याश्रय दोष को कौन दूर कर सकता है। अथवा यदि जिसके रस है वह उस रस से युक्त अलंकार ही है ऐसा कहा जाय तो भी अलंकार अथवा काव्य से भिन्न कोई तीसरा है ही नहीं (जिसे रसवदलंकार कहा जाय) तथा इन दोनों पक्षों का खण्डन किया जा चुका है। लक्षण मात्र के ले आने या समर्थित करने के कारण उदाहरण का अलग से खण्डन नहीं किया जाता है।

मृतेति प्रेत्य सङ्गन्तुं यथा मे मरणं स्मृतम्।
सैवावन्ती मया लब्धा कथमत्रैव जन्मनि ॥ ३६ ॥

जैसे—(दण्डी का रसवदलंकार का निम्न उदाहरण) (प्रियावासवदत्ता) मर गई है ऐसा सोचकर जिसके साथ सम्मिलन के लिए मुझे मृत्यु अभीष्ट थी वही वासवदत्ता मुझे इसी जन्म में कैसे मिल गई ॥ ३६ ॥

अत्र रतिपरिपोषलक्षणवर्णनीयशरीरभूतायाश्चित्तवृत्तेरतिरिक्तमन्यद्वि-भक्तं वस्तु न किंचिद्विभाव्यते। तस्मादलङ्कार्यतैव युक्तिमती। यदपि कैश्चित्—

स्वशब्दस्थायिसंचारिविभावाभिनयास्पदम् ॥ ३७ ॥

यहाँ श्रृंगार रूप वर्णन के योग्य शरीरभूत चित्तवृत्ति से भिन्न कोई अन्य वस्तु नहीं दिखाई पड़ती। इसलिये (इसका) अलंकार्य होना ही युक्तिसंगत है। और जो किसी ने—

स्वशब्द, स्थायिभाव, सञ्चारीभाव, विभाव एवं अभिनय के अधिष्ठानवाला (स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया गया श्रृंगारादि रसवदलंकार होता है)॥ ३७॥

इत्यनेन पूर्वमेव लक्षणं विशेषितम्, तत्र स्वशब्दास्पदत्वं रसानामपरिगतपूर्वमस्माकम्। ततस्त एव रससर्वस्वसमाहितचेतसस्तत्परमार्थविदो विद्वांसः परं प्रष्टव्याः—किं स्वशब्दास्पदत्वं रसानामुत रसवत इति। तत्र पूर्वस्मिन् पक्षे—रस्यन्त इति रसास्ते स्वशब्दास्पदास्तेषु तिष्ठन्तः शृङ्गारादिषु वर्तमानाः सन्तस्तज्ज्ञैरास्वाद्यन्ते। तदिदमुक्तं भवति—यत् स्वशब्दैरभिधीयमानाः श्रुतिपथमवतरन्तश्चेतनानां चर्वणचमत्कारं कुर्वन्तीत्यनेन न्यायेन घृतपूरप्रभृतयः पदार्थाः स्वशब्दैरभिधीयमानास्तदास्वादसंपदं संपादयन्तीत्येवं सर्वस्य कस्यचिदुपभोगसुखार्थिनस्तैरुदारचरितैरयत्नेनैव तदभिधानमात्रादेव त्रैलोक्यराज्यसंपत्सौख्यसमृद्धिः प्रतिपाद्यते इति नमस्तेभ्यः।

इससे पहले वाले लक्षण को ही विशिष्ट किया गया है। उसमें रसों को अपने शब्दों में प्रतिष्ठित होना तो हमने पहले-पहल जाना है। इसलिये जिनका हृदय रससर्वस्व में ही समाधिस्थ है ऐसे परमार्थ को जाननेवाले उन्हीं पण्डितों से पूँछना है कि—अपने शब्दों में रस प्रतिष्ठित रहता है अथवा रसवत् (अलंकार)। उनमें पहले पक्ष में (कि रस अपने शब्दों में प्रतिष्ठित होता है)—जिनका रसन (अर्थात् आस्वादन) किया जाता है वे रस होते हैं वे स्वशब्दास्पद अर्थात् उन (अपने शब्दों) में स्थित अर्थात् शृंगारादि में विद्यमान रहते हुए उनके जानने वालों द्वारा आस्वादित किए जाते हैं।

तो इस कथन का आशय यह हुआ कि—(शृंगारादि रस) अपने शब्दों द्वारा सुनाई पड़ते हुए सहृदयों को रस-चर्वणा का आह्लाद प्रदान करते हैं और इस ढंग से घृतपूर इत्यादि पदार्थ अपने शब्दों द्वारा कहे जाते हुए उसके आस्वाद के आनन्द को उत्पन्न कर देते हैं इसलिए वे उदारचरित्र (महापुरुष) उपभोग सुख की इच्छा वाले किसी भी व्यक्ति के लिये उसका नाम ले लेने से ही तीनों लोकों के राज्य-सम्पत्ति के सुख वाली समृद्धि का प्रतिपादन करते हैं अतः उन्हें नमस्कार है।

रसवतस्तदास्पदत्वं नोपपद्यते, रसस्यैव स्ववाच्यस्यापि तदास्पदत्वाभावात्। किमुतान्यस्येति। तदलङ्कारत्वं च प्रथममेव प्रतिषिद्धम्। शिष्टं स्थाय्यादिलक्षणं पूर्वं व्याख्यातमेवेति न पुनः पर्यालोच्यते।

(अब दूसरे पक्ष में) रसवत् (अलंकार) का उस (शृंगारादि शब्दों) में प्रतिष्ठित होना ठीक नहीं लगता (क्योंकि) अपने वाच्य भी रस का ही जब उसमें प्रतिष्ठित होना असम्भव है तो दूसरे की प्रतिष्ठा उसमें कैसे हो सकती है। तथा उस रस की अलंकारता का प्रतिषेध पहले ही किया जा चुका है। शेष स्थायी आदि के लक्षण की पहले ही व्याख्या की जा चुकी है अतः फिर से उसका विवेचन नहीं किया जा रहा है।

यदपि।

रसवद्रससंश्रयात्॥ ३८॥

इति कैश्चिल्लक्षणमकारि तदपि न सम्यक् समाधेयतामधितिष्ठति। तथा हि—रसः संश्रयो यस्यासौ रससंश्रयः, तस्मात् कारणादयं रसवदलङ्कारः संपद्यते। तथापि वक्तव्यमेव—कोऽसौ रसव्यतिरिक्तवृत्तिः पदार्थः। काव्यमेवेति चेत् तदपि पूर्वमेव प्रत्युक्तम्, तस्य स्वात्मनि क्रियाविरोधादलङ्कारत्वानुपपत्तेः। अथवा रसस्य संश्रयो रसेन संश्रियते यस्तस्माद् रससंश्रयादिति। तथापि कोऽसाविति व्यतिरिक्तत्वेन वक्तव्यतामेवायाति। उदाहरणजातमप्यस्य लक्षणस्य पूर्वेण समानयोगक्षेमप्रायमिति (न) पृथक् पर्यालोच्यते।

और जो भी—

रसवद्रससंश्रयात्॥ ३८॥

ऐसा किसी ने (रसवदलंकार का) लक्षण किया है उसे भी भलीभाँति समाधानयुक्त नहीं कहा जा सकता। क्योंकि—रस जिसका आश्रय है उसे रस के आश्रय वाला कहा जायगा और उसी कारण से यह रसवदलंकार सम्पन्न होता है। फिर भी यह तो बताना ही पड़ेगा कि रस से भिन्न स्थिति वाला यह कौन सा पदार्थ है। (यदि यह कहा जाय कि) काव्य ही है (वह पदार्थ) तो भी उसका पहले ही खण्डन किया जा चुका है अपने में (ही) क्रिया विरोध होने के कारण अलंकारता की सिद्धि न होने से। अथवा रस का जो आश्रय है या जिसका रस आश्रय ग्रहण करता है उसके कारण (रसवदलंकार कहा जाता है ऐसा समास करें) तो भी (रस से) भिन्न वह क्या है।

इसे अलग से व्यक्त करना अपेक्षित ही है। इस लक्षण के सारे के सारे उदाहरण भी पहले की तरह ही ले आये जाने वाले और समर्पित किए जाने वाले से हैं इसी से उनका अलग विवेचन नहीं किया जा रहा है।

रसपेशलम् ॥ ३९ ॥

इति पाठे न किंचिदत्रातिरिच्यते। अथ ... ... प्रतिपादकवाक्योपारूढपदार्थसार्थस्वरूपमलंकार्यरसस्वरूपानुप्रवेशेन (विगलितस्वपरिस्पन्दानां द्रव्यानामिव......) कथमलङ्करणं भवतीत्येतदपि चिन्त्यमेव। किंच तथाभ्युपगमेऽपि प्रधानगुणभावविपर्यासः पर्यवस्यतीति न किंचिदेतत्।

रशपेशलम् ॥ ३९ ॥

ऐसा पाठ कर देने पर भी कोई अन्तर नहीं आ पाता। और फिर प्रतिपादक वाक्य में प्रतिपादित किया गया पदार्थों का स्वरूप, अलंकार्य रस के स्वरूप के अनुप्रवेश से अलंकार कैसे हो जाता है यह भी विचारणीय ही है। और फिर वैसा स्वीकार कर लेने पर प्रधानता एवं गौणता का वैपरीत्य उपस्थित हो जाता है (अर्थात् पदार्थ का स्वरूप जो कि अलंकार्य होने से प्रधान रहता है वही अलंकार होकर गौण बन जायगा) इसलिये यह (रसपेशलम्) कथन भी कुछ नहीं है।

अत्रैव ... ... उपक्रमते—शब्दार्थासङ्गतेरपि। शब्दार्थयोरभिधानाभिधेययोरसमन्वयाच्च रसवदलङ्कारोपपत्तिर्नास्ति। अत्र च रसो विद्यते तिष्ठति यस्येति मत्प्रत्ययविहिते तस्यालङ्कार इति षष्ठीसमासः क्रियते। रसवांश्चासावलङ्कारश्चेति विशेषणसमासो वा। तत्र पूर्वस्मिन् पक्षे-रसव्यतिरिक्तमन्यत् पदार्थान्तरं विद्यते यस्यासावलङ्कारः। काव्यमेवेति चेत्, तत्रापि तद्व्यतिरिक्तः कोऽसौ पदार्थो यत्र रसवदलङ्कारव्यपदेशः सावकाशतां प्रतिपद्यते? विशेषातिरिक्तः पदार्थो न कश्चित् परिदृश्यते यस्तद्वानलङ्कार इति व्यवस्थितिमासादयति। तदेवमुक्तलक्षणे मार्गे रसवदलङ्कारस्य शब्दार्थसङ्गतिर्न कदाचिदस्ति।

इसी विषय में (और भी) आरम्भ करते हैं कि—शब्द एवं अर्थ की संगति न होने से भी (रसवदलंकार नहीं हो सकता) शब्द तथा अर्थ अर्थात् अभिधान एवं अभिधेय का भलीभाँति अन्वय (अथवा सम्बन्ध) न होने से भी रसवदलंकार की सिद्धि नहीं होती है। क्योंकि यहाँ पर, जिसमें

रस विद्यमान है या स्थित है इस प्रकार इससे मतुप् प्रत्यय करने पर (वह रसवन् कहा जायगा और) उसका अलंकार (रसवदलंकार हुआ इस प्रकार) षष्ठी (तत्पुरुष) समास किया जा सकता है। अथवा रसवान् है यह अलंकार अतः (रसवदलंकार हुआ) ऐसा विशेषण समास किया जा सकता है। उनमें पहले (षष्ठी समास वाले) पक्ष में—रस से भिन्न अन्य दूसरा (कोई) पदार्थ है जिसका कि यह अलंकार है। यदि (कहें कि काव्य ही (वह पदार्थ) है तो उसमें भी उस (रस) से भिन्न कौन ऐसा पदार्थ है जिसमें 'रसवदलंकार' इस संज्ञा को अवसर प्राप्त होता है। (तथा विशेषण समास पक्ष में) विशेषण (अर्थात् रस) से भिन्न कोई पदार्थ नहीं दिखाई पड़ता जो 'रसवान् अलंकार' इस व्यवस्था को प्राप्त कर सके। (अर्थात् रस को ही रसवान् अलंकार कहा जा सकता है जिसका कि पहले ही खण्डन कर चुके हैं कि रस अलंकार्य होता है अलंकार नहीं) तो इस प्रकार उक्त स्वरूप वा मार्ग में रसवदलंकार के शब्द एवं अर्थ की सङ्गति भी नहीं होती।

यदि वा निदर्शनान्तरविषयतया समासद्वितयेऽपि शब्दार्थसङ्गति-योजना विधीयते, यथा—

तन्वी मेघजलार्द्रपल्लवतया धौताधरेवाश्रुभिः
शून्येवाभरणैः स्वकालविरहाद् विश्रान्तपुष्पोद्गमा।
चिन्तामौनमिवास्थिता मधुकृतां शब्दैर्विना लक्ष्यते
चण्डी मामवधूय पादपतितं जातानुतापेव सा॥ ४०॥

अथवा यदि दूसरे उदाहरणों के इसका विषय होने से दोनों तरह के समासों में शब्द और अर्थ की संगति की योजना बनाई जाती है। जैसे—

(यह लता) बादलों के जल से भींगे हुए नये किसलयों वाली होने के कारण आँसुओं से धुल गये अधर वाली-सी अपना समय बीत जाने के कारण विकसित पुष्पों से रहित होने के कारण आभूषणों से रहित-सी एवं भ्रमरों के गुञ्जन के अभाव में, चिन्ता के कारण मौन होकर स्थित-सी पैरों पर गिरे हुए मुझे तिरस्कृत कर उत्पन्न पश्चात्ताप वाली उस क्रुद्धा प्रियतमा उर्वशी-सी प्रतीत होती है॥ ४०॥

यथा वा—

तरङ्गभ्रूभङ्गा क्षुभितविहगश्रेणिरशना
विकर्षन्ती फेनं वसनमिव संरम्भशिथिलम्।

यथाविद्धं याति स्खलितमभिसंधाय बहुशो
नवीभावेनेयं ध्रुवमसहना सा परिणता ॥ ४१ ॥

अथवा जैसे—

तरंगरूपी भौहों की वक्रता वाली, क्षुब्ध पक्षियों की पङ्क्ति रूपी करधनी वाली, तथा हड़बड़ी के कारण ढीले हो गए वस्त्र सरीखे फेन को खींचती हुई (यह नदी) जिस प्रकार (शिलादि से) बार बार स्खलित होती हुयी कुटिल गति से बह रही है (तो ऐसा लगता है) मानों अनेकों बार (मेरे) अपराधों को सोचकर वह मानिनी (प्रियतमा उर्वशी) नदी रूप में यह परिवर्तित हो गई है ॥ ४१ ॥

अत्ररसत्वमलङ्कारश्च प्रकटं प्रतिभासेते। तस्मान्न कथंचिदपि तद्विवेकस्य दुरवधानता। तेन रसवतोऽलङ्कार इति षष्ठीसमासपक्षे शब्दार्थयोर्न किंचिदसङ्गतत्वम्, रसपरिपोषपरत्वादलङ्कारस्य तन्निबन्धनमेव रसवत्त्वम्। रसवांश्चासावलङ्कारश्चेति विशेषणसमासपक्षे ......। तथा चैतयोरुदाहरणयोर्लतायाः सरितश्चोद्दीपनविभावत्वेन वल्लभाभावितान्तःकरणतया नायकस्य तन्मयत्वेन (निश्चेतन ?)-मेव पदार्थजातं सकलमवलोकयतः तत्साम्यसमारोपणं तद्धर्माध्यारोपणं चेत्युपमारूपककाव्यालङ्कारयोजनं विना न केनचित् प्रकारेण घटते, तल्लक्षणवाक्यत्वात्। सत्यमेतत्, किन्तु 'अलंकार'-शब्दाभिधानं विना विशेषणसमासपक्षे केवलस्य रसवानित्यस्य प्रयोगः प्राप्नोति। रसवानलङ्कार इति चेत् प्रतीतिरभ्युपगम्यते तदपि युक्तियुक्ततां नार्हति... देरभावात्। रसवतोऽलंकार इति षष्ठीसमासपक्षोऽपि न सुस्पष्टसमन्वयः। यस्य कस्यचित् काव्यत्वं रसवत्त्वमेव। यस्यातिशयत्वनिबन्धनं तथाविधं तद्विदाह्लादकारि काव्यं करणीयमिति तस्यालङ्कार इत्याश्रिते सर्वेषामेव रूपकादीनां रसवदलङ्कारत्वमेव न्यायोपपन्नतां प्रतिपद्यते। अलंकारस्य यस्य कस्यचिद्रसवत्त्वाद्। विशेषणसमासेऽप्येषैव वार्त्ता।

यहाँ रसरूपता एवं अलंकार साफ-साफ दिखाई पड़ते हैं। इसलिए उनके विवेचन में किसी भी प्रकार की कठिनाई नहीं है। इसलिये रसवान् का अलंकार (रसवदलंकार होता है) इस प्रकार षष्ठी समास वाले पक्ष में शब्द तथा अर्थ की कोई असंगति नहीं है; क्योंकि अलंकार के रसपरिपोष रूप होने के कारण रसवत्ता उसका कारण ही है। 'रसवान् अलंकार' इस विशेषण समास के पक्ष में...और फिर इन दोनों उदाहरणों में लता एवं नदी के उद्दीपन विभाव होने से, प्रियतमा के निरन्तर ध्यान से परिपूर्ण हृदय

होने के कारण समस्त अचेतन पदार्थों को (प्रियतमामय) ही देखते हुए नायक का (उन लता आदि जड़ पदार्थों में) उस (प्रियतमा) की समानता का आरोप एवं उसके धर्म का आरोप बिना उपमा एवं रूपक आदि काव्य अलङ्कारों का प्रयोग किए किसी भी प्रकार सम्भव नहीं क्योंकि ये वाक्य ही उन्हीं अलंकारों के चिन्हों को प्रस्तुत करने वाले हैं।

ठीक है यह बात। लेकिन विशेषण समास वाले पक्ष में अलंकार शब्द के कथन के बिना केवल 'रसवान्' है यही प्रयोग प्राप्त होता है। यदि 'रसवान् अलंकार' ऐसी प्रतीति स्वीकार की जाती है तो वह भी युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता······।

रसवान् का अलंकार (रसवदलंकार है) इस प्रकार षष्ठी समास वाला पक्ष भी स्पष्ट रूप से समन्वित नहीं होता। जिस किसी का भी काव्यत्व रसवत्त्व ही होता है। तथा जिस (रसवत्त्व) के उत्कर्ष का कारणभूत, सहृदयों को आह्लादित करनेवाला उस प्रकार का काव्य निर्माण योग्य होता है इसलिए उसका अलंकार (रसवदलंकार होगा) इस आधार पर तो सभी रूपक आदि अलंकारों की रसवदलंकारता ही युक्तिसंगत होगी, जिस किसी भी अलंकार में रसवत्त्व होने के कारण। और यही बात विशेषण समास वाले पक्ष में भी होगी।

किंच, तदभ्युपगमे प्रत्येकमुत्स्खलितलक्षणोल्लेखवि······कृतपरिपोषतया लब्धात्मनामलङ्काराणां प्रातिस्विकलक्षणाभिहितातिशयव्यतिरिक्तमनेन किंचिदाधिक्यमास्थीयते। तस्मात्तल्लक्षणकरणवैचित्र्यं प्रतिवारितप्रसरमेव परापतति। न चैवंविधविषये रसवदलंकारव्यवहारः सावकाशः, तज्ज्ञैस्तथावगमात्, अलङ्काराणां च मुख्यतया व्यवस्थानात्।

और फिर उसे स्वीकार कर लेने पर भी···परिपुष्टि होने के कारण अलङ्कारता को प्राप्त अलंकारों के अलग-अलग लक्षणों में प्रतिपादित किए गये अतिशय से भिन्न कुछ आधिक्य इसके द्वारा स्थापित किया जाता है। अतः उन अलंकारों के लक्षण करने का वैचित्र्य प्रतिवारित प्रसर अर्थात् व्यर्थ ही सिद्ध होने लगता है (क्योंकि सर्वत्र काव्य में रस होगा अतः सभी अलंकार रसवत् ही होंगे तो प्रारम्भ से लेकर आज तक आलंकारिकों ने जो उपमादि अलंकार के वैचित्र्य का बराबर प्रतिपादन किया है वह व्यर्थ हो जायगा क्योंकि सभी (रसवदलंकार तो होगें ही)

और फिर ऐसे विषय में (जहाँ रूपकादि अलंकार मुख्य होते हैं) वहाँ रसवदलंकार के व्यवहार की गुञ्जाइश ही नहीं रहती क्योंकि उसको जानने वालों को वैसी ही प्रतीति होती है तथा अलंकार ही प्रधान रूप मे स्थित रहते हैं।

अथवा, चेतनपदार्थगोचरतया रसवदलंकारस्य निश्चेतनवस्तुविषयत्वेन चोपमादीनां विषयविभागो व्यवस्थाप्यते, तदपि न विद्वज्जनावर्जनं विदधाति। यस्मादचेतनानामपि रसोद्दीपनसामर्थ्यसमुचितसत्कविसमुल्लिखितसौकुमार्यसरसत्वादुपमादीनां प्रविरलविषयता निर्विषयत्वं वा स्यादिति श्रृङ्गारादिनिस्यन्दसुन्दरस्य सत्कविप्रवाहस्य च नीरसत्वं प्रसज्यत इति प्रतिपादितमेव पूर्वसूरिभिः। यदि वा वैचित्र्यान्तरमनोहारितया रसवदलंकारः प्रतिपाद्यते, यथाभियुक्तैस्तैरेवाभ्यधायि—

अथवा (यदि) रसवदलंकार के विषय चेतन पदार्थों के होने के कारण एवं उपमादि अलंकारों के विषय जड पदार्थों के होने के कारण (दोनों का) अलग-अलग विषय निर्धारित किया जाता है, तो वह भी विद्वानों के लिये आकर्षक नहीं होता। क्योंकि जड पदार्थों के भी रस को उद्दीप्त करने की सामर्थ्य के अनुरूप श्रेष्ठ कवि द्वारा वर्णन की गई सकुमारता से सरस होने के कारण उपमादि अलङ्कारों का या तो विषय बहुत थोड़ा रह जायगा अथवा उनका कोई विषय ही न रह जायगा और इस प्रकार शृंगारादि रसों के प्रवाह से रमणीय श्रेष्ठ कवियों के प्रवाह (अर्थात् काव्यादि) नीरस होने लगेंगे, ऐसा पूर्व विद्वानों द्वारा प्रतिपादित ही किया जा चुका है।

प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः।
काव्ये तस्मिन्नलंकारो रसादिरिति मे मतिः॥ ४२॥

अथवा यदि दूसरी विचित्रता के कारण मनोहर होने से रसवदलंकार का प्रतिपादन किया जाता है जैसा कि उन्हीं विद्वानों ने कहा है कि—

जिस काव्य में (रसादि से भिन्न) दूसरे वाक्यार्थ के प्रधान होने पर रस आदि अङ्ग रूप होते हैं उसमें रस आदि अलंकार होते हैं यह मेरा विचार है॥ ४२॥

इति। यत्रान्यो वाक्यार्थः प्राधान्यादलंकार्यतया व्यवस्थितस्तस्मिन् तदङ्गतया विनिबध्यमानः श्रृङ्गारादिरलंकारतां प्रतिपद्यते। यस्माद्

गुणप्राधान्यं भावाभिव्यक्तिपूर्वमेवंविधविषये विभूष्यते । भूषणत्वविवेक-व्यक्तिरुज्जृम्भते, यथा—

क्षिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतोऽप्याददानोऽशुकान्तं
गृह्णन् केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षितः संभ्रमेण ।
आलिङ्गन् योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिः साश्रुनेत्रोत्पलाभिः
कामीवार्द्रापराधः स दहतु दुरितं शाम्भवो वः शराग्निः ॥४३॥

जहाँ दूसरा वाक्यार्थ मुख्य होने के कारण अलङ्कार्यरूप में प्रतिपादित किया जाता है उसमें उसके अङ्गरूप में प्रयुक्त होने के कारण शृंगारादि (रस) अलंकार हो जाते हैं। क्योंकि गौणता एवं प्रधानता ये दोनों इस तरह के विषय में भावों की अभिव्यक्ति के हो जाने पर सुशोभित होते हैं और अलंकारता के विवेक का प्रकाशन जाहिर होता है। जैसे—

(त्रिपुरदाह के समय उत्पन्न) आँसुओं से युक्त कमल के समान नेत्रों वाली त्रिपुर की युवतियों द्वारा तत्काल अपराध करनेवाले कामी (नायक) की तरह हाथ पकड़ने पर झटक दिया गया, बलपूर्वक ताडित किये जाने पर भी आंचल को पकड़ता हुआ; बालों को पकड़ते हुए हटाया गया, हड़बड़ी के कारण पैरों पर पड़ा हुआ भी न देखा गया, तथा आलिङ्गन करते हुए दुत्कारा गया भगवान् शंकर के बाणों का अग्नि आप लोगों के पापों को भस्म करे ॥ ४३ ॥

(यहाँ पर आचार्य आनन्दवर्धन ने रसवदलङ्कार स्वीकार किया है। रसवदलङ्कार उन्होंने दो प्रकार का माना है। एक शुद्ध तथा दूसरा संकीर्ण। प्रस्तुत उदाहरण को उन्होंने संकीर्ण रसवदलंकार के रूप में उद्धृत किया है। इसके विषय में उनका कहना है कि—

'इत्यत्र त्रिपुररिपुप्रभावातिशयस्य वाक्यार्थत्वे ईर्ष्याविप्रलम्भस्य श्लेषसहितस्याङ्गभावः।'' अर्थात् इस श्लोक में भगवान् शंकर का प्रभावातिशय वाक्यार्थ है। उसके अङ्ग रूप में ईर्ष्याविप्रलम्भ उपनिबद्ध है। अतः वह रसवदलंकार हुआ। साथ ही चूंकि श्लेष भी अङ्ग रूप में आया है अतः ईर्ष्याविप्रलम्भ के श्लेष से संकीर्ण होने के कारण यह संकीर्ण रसवदलंकार का उदाहरण है।)

न च शब्दवाच्यत्वं नाम समानं कामिशराग्नितेजसोः सभवतीति न तावत्तैव तयोस्तथाविधविरुद्धधर्माध्यासादिविरुद्धस्वभावयोरैक्यं कथंचिदपि व्यवस्थापयितुं पार्यते, परमेश्वरप्रयत्नेऽपि स्वभावस्या-

न्यथाकर्तुमशक्यत्वात् । न च तथाविधशब्दवाच्यतामात्रादेव तद्विदां तदनुभवप्रतीतिरस्ति । 'गुडखण्ड'-शब्दाभिधानादपि प्रतिविषादेस्तदास्वादप्रसंगात् तदनुभवप्रतीतौ सत्यां रसद्वयसमावेशदोषोऽप्यनिवार्यतामाचरति । यदि वा भगवत्प्रभावस्य मुख्यत्वं द्वयोरप्येतयोरंगत्वाद् भूषणत्वमित्युच्यते तदपि न समोचीनम् । यस्मात् कारणस्य वास्तवत्वातिरेव स्यात् । निर्मूलत्वादेव तयोर्भावाभावयोरिव न कथंचिदपि साम्योपपत्तिरित्यलमनुचितविषयचर्वणचातुर्यचापलेन ।

यहाँ पर कामी और बाणाग्नि के तेज की समानरूप से शब्दवाच्यता सम्भव नहीं है। और न उतने से ही उस प्रकार के विरुद्ध धर्मों की स्थिति आदि के कारण विरुद्ध स्वभाव वाले उन दोनों का ऐक्य ही किसी प्रकार भी स्थापित किया जा सकता है, क्योंकि परमेश्वर के प्रयत्न करने पर भी स्वभाव नहीं बदला जा सकता। और फिर केवल उस प्रकार की शब्द वाच्यता से ही सहृदयों को उसका अनुभव नहीं होने लगता अन्यथा 'गुडखण्ड' शब्द के उच्चारण से भी उसके विपरीत (आस्थावाले) विष आदि भी उसी समय आस्वाद्य होने लगेगें। अथवा यदि यहाँ उस अनुभव की प्रतीति मान ली जाय तो दो (विरुद्ध) रसों के समावेश का दोष अनिवार्यरूप से आ जायगा। अथवा परमेश्वर के प्रभाव को मुख्य स्वीकार कर, इन दोनों की उसके अङ्गरूप में विद्यमान रहने के कारण अलंकारता मान ली जाय, ऐसा समाधान करें तो वह भी युक्तिसंगत नहीं। और क्योंकि कारण के स्तुतिरूप आदि ही हो सकने की सम्भावना है। उन दोनों (कामी और शराग्नि के) निर्मूल होने के कारण ही पदार्थों के अभाव की तरह किसी भी प्रकार समानता की सिद्धि नहीं हो सकती, इस प्रकार अनुचित विषय के विवेचन की चातुरी की चपलता दिखाना बेकार है।

यदि वा निदर्शनेऽस्मिन्ननाश्वस्तः समाम्नातलक्षणोदाहरणसंगतिं सम्यक् समोहमानाः समर्थणा उदाहरणान्तरविन्यास रसवदलंकारस्य व्याचख्युः, यथा—

किं हास्येन मे प्रयास्यसि पुनः प्राप्तश्चिराद्दर्शनं
केयं निष्करुणप्रवासरुचिता केनासि दूरीकृतः।
स्वप्नान्तेष्विति ते वदन् प्रियतमव्यासक्तकण्ठग्रहो
बुद्ध्वा रोदिति रिक्तबाहुवलयस्तारं रिपुस्त्रीजनः ॥ ४४ ॥

अथवा इस उदाहरण में आश्वस्त न होकर स्वीकृत लक्षण की सम्यक् सङ्गति को चाहते हुए रसवदलङ्कार के दूसरे उदाहरण की व्याख्या की है—

(जैसे कोई चाटुकार राजा की प्रशंसा करते हुए कहता है) 'हे निर्दय ! हँसी (प्रणय-परिहास) से क्या ? अब फिर मेरे पास से नहीं जा सकोगे। चिरकाल के बाद तुम्हारा दर्शन हुआ है। यह कौन सी तुम्हारी परदेश में रहने की आदत है ? किसने तुम्हें दूर भेज दिया है' इस प्रकार कहती हुई अपने प्रियतम के गले में लिपटी हुई, शत्रु की स्त्रियाँ, स्वप्न के समाप्त हो जाने पर जग कर खाली भुजमण्डल वाली होकर बड़े जोरों से विलाप करती हैं ॥ ४४ ॥'

अत्र भवद्भिर्निहतवल्लभो वैरिविलासिनीसमूहः शोकावेशादशरणः करुणरसकाष्ठाधिरूढिविहितमेवंविधवैशसमनुभवतीति तात्पर्यप्राधान्ये वाक्यार्थस्तदङ्गतया विनिबध्यमानः प्रवासविप्रलम्भशृङ्गारः (प्रतिभासन ? परत्वमत्र परमार्थः ?) परस्परान्वितपदार्थसमर्प्यमाणवृत्तिर्गुणभावेनावभासनादलङ्करणमित्युच्यते। तस्य च निर्विषयत्वाभावाद्रसवदालम्बनविभावादिस्वकारणसामग्रीविरहविहिता लक्षणानुपपत्तिर्न सम्भवति। रसद्वयसमावेशदुष्टत्वमपि दूरमपास्तमेव। द्वयोरपि वास्तवस्वरूपस्य विद्यमानत्वात्तदनुभवप्रतीतौ सत्यां नात्मविरोधः, स्पर्धित्वाभावात्। तेन तदपि तद्विदाह्लादविधानसामर्थ्यसुन्दरम्, करुणरसस्य निश्चायकप्रमाणाभावात्।

यहाँ पर 'आपके द्वारा निहत पतियों वाली शत्रुओं की अंगनाओं का समूह शोक के आवेश के कारण बेसहारा होकर करुण रस की पराकाष्ठा पर पहुँचा देने वाले विधान वाले इस प्रकार के महान् कष्ट का अनुभव करता है' इस तात्पर्य का प्राधान्य होने पर उसके अंग रूप में उपनिबद्ध किया जाता हुआ प्रवास विप्रलम्भ शृङ्गार (?) परस्पर एक दूसरे के साथ अन्वित पदार्थों के समूह के द्वारा समर्पित किए जाते हुए व्यापार वाला होकर गुणभाव के कारण अलङ्कार कहा गया है। उसके निर्विषय न होने के नाते रसवदलंकार के अनुरूप गुणीभूत होने वाले उस रस के आलम्बन विभावादि निजी कारणों की समग्रता के अभाव से होने वाली लक्षण की असिद्धता भी सम्भव नहीं। साथ ही दो-दो रसों के समावेश का दोष भी बहुत दूर फेंक दिया जाता है। दोनों के ही वास्तविक स्वरूप के विद्यमान होने के नाते उनके अनुभव का बोध होने पर परस्पर प्रतिमल्लता के अभाव में स्वविरोध भी नहीं आता। इसलिए करुणरस का निश्चय कराने वाले प्रमाणों के अभाव के कारण वह

भी रसिकों के आनन्द विधान करने में समर्थ होने के नाते रमणीय प्रतीत होता है।

प्रवासविप्रलम्भस्य स्वकारणभूतवाक्योपारूढालम्बनविभावादि-समर्प्यमाणत्वं स्वप्नान्तरसमग्रे च तथाविधत्वं युक्त्या सम्भवतस्तस्यो-भयमुपपन्नमिति प्रथमतरमेव कथमसौ समुद्भवतीति चे[त्त]दपि न समञ्जसप्रायम्। यस्माच्चाटुविषयमहापुरुषप्रतापाक्रान्तिचकितचेतसा-मितस्ततः स्ववैरिणां तत्प्रेयसीनां च प्रवासनैरपि (प्रकाश० ?) पृथग-वस्थानं न युक्तिप्रयुक्ततामतिवर्तते······तमेव तदपि चतुरस्रम्। करुणरसस्य सत्यपि निश्चये, तथाविधपरिपोषदशाधाराधिरूढेरेकाग्रता-स्तिमितमानसस्य तथाभ्यस्तरसवासनाधिवासितचेतसः सुचिरात्समा-सादितस्वप्नसमागमः पूर्वानुभूतवृत्तान्तसमुचितसमारब्धकान्तसंलापः कथमपि सम्प्रबुद्धः प्रबोधसमनन्तरसमुल्लसितपूर्वपरानुसन्धानविहित-प्रस्तुतवस्तुविसंवादविदारितान्तःकरणो भवद्वैरिविलासिनीसार्थो रोदि-तीति करुणस्यैव परिपोषपदवीमधिरोहः।

अपने कारणस्वरूप वाक्य में साक्षात् कहे गए हुए आलम्बन विभावादि के द्वारा प्रवासविप्रलम्भ की समर्प्यमाणता तथा स्वप्न के बीच के समय वैसा होना युक्तितः सङ्गत है इसलिए उसके दोनों ही (प्रवासविप्रलम्भ और करुण) समीचीन हैं, अतएव वह (विप्रलम्भ पक्ष) उससे पहले कैसे उद्भूत होता है? यदि इस तरह का तर्क प्रस्तुत किया जाय तो वह भी समीचीन नहीं माना जा सकता क्योंकि खुशामद के आश्रयभूत महाराज के प्रताप के आक्रमण के कारण भयभीत हृदय वाले उनके वैरियों के इधर-उधर (चले जाने के कारण) और उनकी प्रेयसियों के प्रोषित हो जाने के कारण अलग-अलग स्थित होना तर्कसङ्गतता के बाहर नहीं जाता है।······वह भी समीचीन है। करुणरस का निश्चय हो जाने पर भी वैसी परिपुष्टि वाली दशाओं की धारा पर आरोहण के कारण एकाग्रता से शान्तचित्तवाले उस तरह अभ्यास की गई हुई रसवासना से सुवासित चित्त वाले के लिए काफी अरसे के बाद स्वप्न में उपलब्ध समागम वाला पहले के अनुभव किए गए हुए वृत्तान्त के उपयुक्त कान्त के साथ आरम्भ किए गए संलाप वाला यथा कथञ्चिद् प्रबुद्ध हुआ, और प्रबुद्ध होने के बाद पौर्वापर्य का विचार उद्भूत होने पर प्रस्तुत वस्तु के अननुरूप होने के कारण विदीर्ण कर दिए गए हुए अन्तःकरण वाला 'आपके शत्रु की विलासिनियों का समुदाय रो रहा है' इस वाक्य से करुण रस का ही परिपोष होता है।

तथाविधव्यभिचार्यौचित्यचारुत्वं तत्स्वरूपानुप्रवेशो वेति कुतः

प्रवासविप्रलम्भस्य पृथग्व्यापारे रसगन्धोऽपि? यदि वा प्रेयसः प्राधान्ये तदङ्गत्वात् करुणरसस्यालङ्करणत्वमित्यभिधीयते तदपि न निरवद्यम्। यस्माद् द्वयोरप्येतयोरुदाहरणयोर्मुख्यभूतो वाक्यार्थः करुणात्मनैव विवर्तमानवृत्तिरूपनिबद्धः। पर्यायोक्तान्यापदेशन्यायेन वाच्यताऽव्यतिरिक्तयोः प्रतीयमानतया न करुणस्य रसत्वाद् व्यङ्ग्यस्य सतो वाच्यत्वमुपपन्नम्। नापि गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य विषयः, व्यङ्ग्यस्य करुणात्मनैव प्रतिभासनात्। न च द्वयोरपि व्यङ्ग्यत्वम्, अङ्गाङ्गिभावस्यानुपपत्तेः। एतच्च यथासम्भवमस्माभिर्विकल्पितम्। न पुनस्तन्मात्र······ण।

वैसे व्यभिचारिभावों के औचित्य की चारुता अथवा उसके स्वरूप का अनुप्रवेश होने के कारण प्रवास विप्रलम्भ के दूसरी तरह के व्यापार के होने पर रस का गन्ध भी कहाँ मिल सकता है? यदि कोई कहे कि प्रेयस् के प्रधान होने के कारण उसके पोषक होने के नाते करुण रस को अलङ्कार कहा जाता है तो वह कथन भी निर्दोष न होगा क्योंकि उन दोनों उदाहरणों में प्रधान हो उठा हुआ वाक्यार्थ करुण के रूप में ही परिणत होने वाले व्यापार वाला प्रस्तुत किया गया है। पर्यायोक्त तथा अन्यापदेश रूप अप्रस्तुत प्रशंसा के न्याय के अनुसार वाच्यता से भिन्न इन दोनों के प्रतीयमान होने के नाते और करुण के रस होने के कारण व्यङ्ग्य होने पर वाच्यता समीचीन नहीं मानी जा सकती। और न गुणीभूत व्यङ्ग्य का ही विषय माना जा सकता है क्योंकि व्यङ्ग्य करुण के रूप में ही प्रतिभासित होता है। दोनों की भी व्यङ्ग्यता नहीं मानी जा सकती क्योंकि अङ्गाङ्गिभाव उपपन्न नहीं होता है। यह विकल्प हमारे द्वारा यथाशक्ति प्रस्तुत किया गया······।

किञ्च, 'काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिः' इति रस एवालङ्कारः केवलः, न तु रसवदिति मत्प्रत्ययस्य जीवितम् न किञ्चिदभिहितं स्यात्। एवं सति शशार्थ······दनस्थैव (शशविषाणवदनवस्थैव?) तिष्ठतीत्येतदपि न किञ्चित्।

और फिर उस काव्य में रसादि अलङ्कार होते हैं' इस कथन से केवल रस ही अलङ्कार होता है, न कि रसवत् और इस तरह मत् प्रत्यय का कोई भी वास्तविक आधार कहा गया हुआ नहीं माना जा सकता।······

[इस प्रकार रसवदलङ्कार का विवेचन कर कुन्तक प्रेयस् अलङ्कार का विवेचन प्रारम्भ करते हैं, जिसका रसवदलङ्कार से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस विषय में वे भामह के सिद्धान्त की आलोचना करते हैं। वे आचार्य दण्डी के प्रेयः अलङ्कार के लक्षण 'प्रेयः प्रियतराख्यानम्' (२. २७५) का सन्दर्भ

प्रस्तुत करते हैं तथा भामह के विषय में कहते हैं कि उन्होंने केवल उदाहरण को ही लक्षण मानते हुए प्रेयः अलङ्कार का लक्षण नहीं किया (उदाहरण-मात्रमेव लक्षणं मन्यमानः)। दण्डी ने भामह के ही उदाहरण में एक दूसरी पङ्क्ति जोड़कर उसी को उद्धृत किया है जो कि वाक्य को पूर्ण कर देता है तथा अलङ्कार को स्पष्ट कर देता है। वह पंक्ति है 'कालेनैषा भवेत्प्रीतिस्त-वैवागमनात्पुनः'। इस लिए कुन्तक ने जो सम्पूर्ण पद्य उद्धृत किया है, वह इस प्रकार है—]

प्रेयो गृहागतं कृष्णमवादीद्विदुरो यथा।
अद्य या मम गोविन्द जाता त्वयि गृहागते।
कालेनैषा भवेत्प्रीतिस्तवैवागमनात्पुनः॥ ४५॥

'प्रेयः' (अलङ्कार का उदाहरण) जैसे घर आए हुए कृष्ण से विदुर ने कहा कि हे गोविन्द! आज आपके घर आने पर मुझे जो प्रसन्नता हुई वह फिर हमें आपके ही आगमन से होवे॥ ४५॥

तदेवं न क्षोदक्षमतामर्हति। तथा च, कालेनेत्युच्यते तदेव वर्ण्यमानविषयतया वस्तुनः स्वभावः, तदेव लक्षणकरणमित्यलङ्कार्यं न किञ्चिदवशिष्यते। तस्यैवोभयमलङ्कार्यमलङ्करणत्वञ्चेत्ययुक्तियुक्तम्। एकक्रियाविषयं युगपदेकस्यैव वस्तुनः कर्मकरणत्वं नोपपद्यते। यदि दृश्यन्ते तथाविधानि वाक्यानि येषामुभयमपि सम्भवति (यथा)—

लेकिन कुन्तक आलोचना करते हैं—

तो इस प्रकार यह क्षोदक्षम नहीं हो सकता। क्योंकि जो 'कालेन' ऐसा कहते हो वही वर्ण्यमान विषय होने के कारण पदार्थ का स्वभाव है और वह (प्रेयोऽलङ्कार के) लक्षण का प्रकृष्टतम हेतु है इस प्रकार कोई अलङ्कार्य बचता ही नहीं। तथा उसी का अलङ्कार्य तथा अलङ्कार दोनों होना युक्तिसङ्गत नहीं होता क्योंकि एक वस्तु की एक ही समय में एक ही क्रिया की कर्मता और करणता संगत नहीं होती। (इस पर पूर्वपक्षी कहता है कि नहीं ऐसे अनेकों वाक्य हैं जहाँ एक ही वस्तु एक ही क्रिया का कर्म और करण दोनों हैं) अगर उस प्रकार के वाक्य, दिखाई पड़ते हैं जिनमें (एक ही क्रिया का कर्म और करण हो) दोनों सम्भव होता है जैसे—

आत्मानमात्मना वेत्सि सृजस्यात्मानमात्मना।
आत्मना कृतिना च त्वमात्मन्येव प्रलीयसे॥ ४६॥

हे भगवन्! आप अपने को (अर्थात् आदि में अपने ब्रह्म स्वरूप को तथा उसके सृष्टि उपाय को) स्वयं ही जानते हैं। अपने आप अपनी सृष्टि

करते हैं तथा अपने सृष्टि विधान के कार्यों से निवृत्त होकर अपने आप अपने में ही लीन हो जाते हैं ॥ ४६ ॥

इत्यभिधीयते, तदपि निःसमन्वयप्रायमेव । यस्मादत्र वास्तवेऽप्यभेदे काल्पनिकमुपचारसत्तानिबन्धनं विभागमाश्रित्य तद्व्यवहारः प्रवर्तते । किञ्च, विश्वमयत्वात् परमेश्वरस्य परमेश्वरमयत्वाद्वा विश्वस्य पारमार्थिकेऽप्यभेदे माहात्म्यप्रतिपादनार्थं प्रातिस्विकपरिस्पन्दविचित्रां जगत्प्रपञ्चरचनां प्रति सकलप्रमातृतास्वसंवेद्यमानो भेदावबोधः स्फुटावकाशतां न कदाचिदप्यतिक्रामति । तस्मादत्र परमेश्वरस्यैव रूपस्य कस्यचित्तदाप्यमानत्वाद्वेदनादेः क्रियायाः कर्मत्वम्, कस्यचित् साधकतमत्वात् करणत्वमिति···। उदाहरणे पुनरपोद्धारबुद्धिरिति कल्पनयापि न कथञ्चिद्विभागो विभाव्यते । तस्मात्—

स्वरूपादतिरिक्तस्य परस्याप्रतिभासनात् ॥ ४७ ॥

इति दूषणमत्रापि सम्बन्धनीयम् ।······पक्षे च यदेवालङ्कार्यं तदेवालङ्करणमिति प्रेयसो रसवतश्च स्वात्मनि क्रियाविरोधात्—

आत्मैव नात्मनः स्कन्धं क्वचिदप्यधिरोहति ॥ ४८ ॥

इति स्थितमेव ।

ऐसा कहा जाता है, तो भी यह समन्वय को नहीं उपस्थित कर पाता । क्योंकि यहाँ पर वास्तविक अभेद के विद्यमान रहने पर भी काल्पनिक औपचारिक सत्ता वाले विभाग का आश्रय ग्रहण कर (उभयरूपता का) व्यवहार किया गया है । और भी, परमेश्वर के विश्वमय होने के कारण अथवा विश्व के परमेश्वरमय होने के कारण वास्तविक अभेद के विद्यमान रहने पर भी (उन परमेश्वर के) माहात्म्य का प्रतिपादन करने के लिए अपने-अपने परिस्पन्द के कारण विचित्र जगत्प्रपञ्च की रचना के प्रति समस्त प्रमाताओं के द्वारा स्वसंवेद्यमान भेदप्रतीति स्पष्ट रूप से कभी भी निरवकाश नहीं होती । अतः यहाँ पर परमेश्वर के ही किसी रूप का उस समय भी प्रमाणाभाव के कारण वेदन (वेत्सि) आदि क्रिया का कर्मत्व, तथा किसी (स्वरूप) का साधकतम होने के कारण करणत्व (वर्णित किया गया) है (यद्यपि वस्तुतः अभेद ही है ।) ।

यदि यह कल्पना कर ली जाय कि उदाहरण में अपोद्धार (अर्थात् अवास्तविक भी विभाग) बुद्धि से काम लिया जाय तो भी (प्रेयस् अलङ्कार के उदाहरण में अलङ्कार और अलङ्कार्य का) किसी भी प्रकार विभाग समझ में नहीं आता । अतः—

अपने स्वरूप से भिन्न किसी दूसरे का ज्ञान न कराने के कारण (प्रेयस् अलङ्कार नहीं हो सकता) यह दोष यहाँ भी सम्बद्ध हो जाता है।...... अन्य पक्ष स्वीकार करने पर जो अलङ्कार्य है वही अलङ्कार है इस तरह प्रेयस् और रसवत् दोनों ही अलङ्कारों में अपने में ही क्रिया-विरोध होने के कारण (अलङ्कारता नहीं हो पायेगी) क्योंकि कोई भी शरीर अपने ही कन्धे पर कभी भी नहीं चढ़ती यह बात सिद्ध ही है।

[इसके अनन्तर प्रेयस् को अलङ्कार मानने के विषय में एक अन्य आपत्ति का विवेचन करने के उपरान्त कुन्तक संकेत करते हैं कि ऐसे स्थलों को संसृष्टि तथा संकर का भी उदाहरण नहीं कहा जा सकता। वे इसी पुष्टि के लिए अधोलिखित श्लोक उद्धृत करते हैं—]

इन्दोर्लक्ष्म त्रिपुरजयिनः कण्ठमूलं मुरारि-
दिङ्नागानां मदजलमसीभाञ्जि गण्डस्थलानि।
अद्याप्युर्वीवलयतिलकश्यामलिम्नानुलिप्ता-
न्याभासन्ते वद धवलितं किं यशोभिस्त्वदीयैः ॥ ४९ ॥

अत्र प्रेयोऽभिहितिरलङ्कार्यः, व्याजस्तुतिरलङ्करणम्। न पुनरुभयोरलङ्कारप्रतिभासो येन तद्व्यपदेशः सङ्करव्यपदेशो वा......, तृतीयस्यालङ्कार्यतया वस्त्वन्तरस्याप्रतिभासनात्।

हे पृथ्वीमण्डल के तिलक (राजन् !) चन्द्रमा का लाञ्छन, भगवान शङ्कर का कण्ठमूल, भगवान् विष्णु, तथा दिग्गजों के मदजल रूप अञ्जन को धारण करने वाले कपोलस्थल आज भी कालिमा से पुते हुए प्रतीत होते हैं, तो फिर बताओ कि तुम्हारी कीर्तियों ने किसे सफेद बनाया है ॥ ४९ ॥

(तथा इसका विश्लेषण करते हैं कि)—यहाँ पर अत्यन्त प्रिय कथन अलङ्कार्य है, एवं व्याजस्तुति (उसका) अलङ्कार है न कि दोनों ही अलङ्कार रूप में प्रतीत होते हैं जिससे (दोनों के लिए) अलङ्कार सञ्ज्ञा या संकर सञ्ज्ञा (दी जाय)......क्योंकि इन दो के अतिरिक्त कोई तीसरा पदार्थ अलङ्कार्य रूप से प्रतीत नहीं होता।

अन्यस्मिन् विषये प्रेयो [प्रायो ?] भणितिविविक्ते वर्णनीयान्तरे प्रेयसो विभूषणत्वादुपमादेरिवोपनिबन्धः प्राप्नोति इति न क्वचिदपि दृश्यते। तस्मादन्यत्रान्यथा [दा ?] प्रेयसो न युक्तियुक्तमलङ्करणत्वम्। रसवतोपि तदेव, योगक्षेमत्वात्।

अन्य उदाहरणों में (जहाँ) वर्णनीय प्रियतर आख्यान से भिन्न दूसरा (पदार्थ) है वहाँ प्रेयस् (अलङ्कार) के विभूषण रूप में होने से (अन्य) उपमा आदि अलङ्कारों की तरह इसका प्रयोग प्राप्त होता है (परन्तु) ऐसा

कोई विषय ही नहीं दिखाई पड़ता (क्योंकि सर्वत्र प्रियतर आख्यान ही वर्णनीय रूप होता है जहाँ कहीं भी उसका प्रतिपादन किया जाता है।) अतः अन्यत्र दूसरे ढङ्ग से भी प्रेयस् का अलंकारत्व युक्तिसङ्गत नहीं होता है। (वह अलंकार्य रूप में ही आता है) रसवदलंकार की भी वही स्थिति है (वह भी अलंकार नहीं हो सकता क्योंकि प्रेयस् के) समान ही वह भी लाया जाने वाला व समर्थित किया जाने वाला है।

एवमलङ्करणतां प्रेयसः प्रत्यादिश्य वर्णनीयशरीरत्वात्तदेकरूपाणामन्येषां प्रत्यादिशति—

इस प्रकार प्रेयोऽलंकार की अलंकारता का खण्डन कर कुन्तक उसी के समान स्वरूप वाले अन्य अलंकारों का वर्णन योग्य शरीर होने के कारण खण्डन करते हैं। प्रेयस् के अनन्तर कुन्तक ऊर्जस्वि तथा उदात्त अलंकारों का विवेचन प्रारम्भ करते हैं।

ऊर्जस्व्युदात्ताभिधयोः पौर्वापर्यप्रणीतयोः।
अलङ्करणयोस्तद्वद्भूषणत्वं न विद्यते ॥ १२ ॥

न विद्यते न सम्भवति। कथम्—तद्वत्। तदित्यनन्तरोक्तरसवदादिपरामर्शः।······रसवदादिवदेव तयोर्विभूषणत्वं नास्ति।

उन्हीं (रसवदादि अलङ्कारों) की तरह (भामह द्वारा) पौर्वापर्य (क्रमशः का० ३।६ तथा ३।१०) द्वारा प्रतिपादित ऊर्जस्वि तथा उदात्त संज्ञा वाले अलङ्कारों का भी अलङ्कारत्व सम्भव नहीं होता है।

नहीं विद्यमान है अर्थात् सम्भव नहीं होता। कैसे—उनकी तरह। यहाँ उन (तद्) से अभी प्रतिपादित किए गये रसवदादि अलङ्कारों का परामर्श होता है।······आशय यह है कि रसवदादि की तरह उनका भी अलङ्कारत्व सम्भव नहीं है।

[इसके बाद कुन्तक भामह तथा उद्भट द्वारा दिए गये ऊर्जस्वि अलङ्कार के लक्षणों तथा उदाहरणों का खण्डन करते हैं। खण्डन करते समय वे उद्भट के ऊर्जस्वि अलङ्कार के लक्षण एवं उदाहरण को उद्धृत करते हैं जो इस प्रकार हैं]—

अनौचित्यप्रवृत्तानां कामक्रोधादिकारणात्।
भावानां च रसानाञ्च बन्ध ऊर्जस्वि कथ्यते ॥ ५० ॥
तथा कामोऽस्य ववृधे यथा हिमगिरेः सुताम्।
सङ्ग्रहीतुं प्रववृते हठेनापास्य सत्पथम् ॥ ५१ ॥

[अर्थात्] काम तथा आदि के कारण अनौचित्य से प्रवृत्त होने वाले भावों और रसों का निबन्ध ऊर्जस्वि (अलङ्कार) कहा जाता है ॥ ५० ॥

(जैसे) इनका काम ऐसा प्रवृद्ध हुआ कि ये (शिव) सन्मार्ग को छोड़ कर हठात् हिमगिरि की सुता (पार्वती) को पकड़ने के लिए प्रवृत्त हुए ॥ ५१ ॥

[यहाँ शिव की हठात् प्रवृत्ति के कारण उद्भट के अनुसार अनौचित्य है अतः ऊर्जस्वि अलङ्कार है।]

[इसके बाद कुन्तक भामह के विषय में यह कहते हुए कि किन्हीं ने उदाहरण को ही वक्तव्य होने के कारण लक्षण समझते हुए उसी का प्रदर्शन किया है। (कैश्चिदुदाहरणमेव वक्तव्याल्लक्षणं मन्यमानैस्तदेव प्रदर्शितम्) उनके ऊर्जस्वि अलङ्कार के उदाहरण को उद्धृत करते हैं जो इस प्रकार है]

ऊर्जस्वि कर्णेन यथा पार्थाय पुनरागतः।
द्विः सन्दधाति किं कर्णः शल्येत्यहिरपाकृतः ॥ ५२ ॥

[इसी विषय में वे एक अन्य अधोलिखित दण्डी का पद्य भी उदाहरण रूप में प्रस्तुत करते हैं]

अपहर्ताऽहमस्मीति हृदि ते मास्म भूद्भयम्।
विमुखेषु न मे खड्गः प्रहर्तुं जातु वाञ्छति ॥ ५३ ॥

(युद्ध में पीठ दिखा कर भागते हुए किसी योद्धा के प्रति किसी योद्धा की यह उक्ति है कि) मैं तुम्हारा अनिष्ट करने वाला हूं इस लिये तुम्हारा हृदय भयभीत न हो क्योंकि मेरा खड्ग कभी भी पीठ दिखाने वालों पर प्रहार नहीं करना चाहता ॥ ५३ ॥

[उद्भट के लक्षण का विवेचन करते हुए वे सङ्केत करते हैं कि यदि भाव अनौचित्यप्रवृत्त है तो वहाँ रसभङ्ग हो जायगा। इसके समर्थन में वे ध्वन्यालोक पृष्ठ ३३० पर उद्धृत कारिका—

अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम् ॥

को उद्धृत करते हैं। लेकिन जैसा कि उदाहरण उद्भट ने प्रस्तुत किया है उसके विषय में वे कहते हैं कि वहाँ—]

समुचितोऽपि रसः परमसौन्दर्यमावहति, तत्र कथमनौचित्यपरिम्लानः कामादिकारणकल्पनोपसंहृतवृत्तिरलङ्कारताप्रतिभासः प्रयास्यति।

समुचित भी रस अत्यधिक सुन्दरता को धारण करता है, वहाँ भला कैसे औचित्य के कारण म्लान कामादि कारणों की कल्पना से नष्टवृत्ति होकर अलङ्कार की प्रतीति होगी।

[इसके अनन्तर कुमारसम्भव से अधोलिखित श्लोक को उद्धृत कर कुन्तक उसमें भरतनयनिपुणमानसों के द्वारा मान्य रसाभास अलङ्कार का खण्डन करते हैं ।]

पशुपतिरपि तान्यहानि कृच्छ्रादगमयदद्रिसुतासमागमोत्कः ।
कमपरमवशं न विप्रकुर्युर्विभुमपि तं यदमी स्पृशन्ति भावाः ॥५४॥

भरतनयनिपुणमानसैः उदाहरणमेवोर्जितम् । तदेवमयं प्रधानचेतनलक्षणोपकृतातिशयविशिष्टचित्तवृत्ति [वि] शेषवस्तुस्वभाव एव मुख्यतया वर्ण्यमानत्वादलङ्कार्यो न पुनरलङ्कारः ।

पार्वती के समागम के लिए उत्सुक भगवान शङ्कर ने भी उन (तीन) दिनों को बड़े कष्ट से बिताया । ये (औत्सुक्यादि) भाव दूसरे किसे न विवश कर विकार युक्त बना दें जब कि ये उन समर्थ शंकर का भी स्पर्श करते हैं (अर्थात् उन्हें भी विकारयुक्त बना देते हैं) ।

(यहाँ) भरत के नय में निपुण चित्तवालों ने उदाहरण को ही ऊर्जित कर दिया है । इस प्रकार यह प्रधान चेतन (शिव के) स्वरूप से उपकृत उत्कर्ष से विशिष्ट चित्तवृत्तिविशेषरूप वस्तु का स्वभाव ही मुख्य रूप से वर्ण्यमान होने के कारण अलङ्कार्य ही है न कि अलङ्कार ।

इस तरह कुन्तक खण्डन का आधार वही रखते हैं जिसके आधार पर कि इन्होंने रसवदादि अलङ्कारों का खण्डन किया है और कहते हैं कि यह (ऊर्जस्वि) अलङ्कार भी रसवदादि को (अलङ्कार मानने में) प्रतिपादित किये गये दोषों की पात्रता का अतिक्रमण नहीं कर पाता (अर्थात् यह भी उन्हीं दोषों से युक्त है) इसलिये (इसे अलङ्कार मानने में) अभी कहे गये (दोषों) की योजना कर लेनी चाहिए ।

इसके बाद उदात्त अलङ्कार की भी उन्हीं समान तर्कों के आधार पर अलङ्कारता का खण्डन करते हैं । सर्वप्रथम उदात्त के प्रथम प्रकार के उद्भट द्वारा किये गये लक्षण—

उदात्तमृद्धिमद्वस्तु ॥ ५५ ॥

की आलोचना करते हुए कहते हैं कि—

अत्र यद्वस्तु यदुदात्तम् अलङ्करणम् । कीदृशमित्याकाङ्क्षायाम् 'ऋद्धिमत्' इत्यनेन यदि विशेष्यते, तद्यदेव सम्पदुपेतं वस्तु वर्ण्यमानमलङ्कार्यं यदेवालङ्करणमिति स्वात्मनि क्रियाविरोधलक्षणस्य दोषस्य दुर्निवारत्वात् स्वरूपातिरिक्तस्य वस्त्वन्तरस्याप्रतिभासनादूर्जस्विवत् ।···

यहाँ जो (वर्णनीय) वस्तु है वह उदात्त अलङ्कार है । कैसी वस्तु

(उदात्त अलङ्कार है) इस आकांक्षा से यदि उस वस्तु को (ऋद्धिमत्) अर्थात् 'ऋद्धि से सम्पन्न' इस विशेषण से विशिष्ट कर दिया जाता है तो जो ही सम्पत्ति से युक्त वस्तु वर्णनीय होने के कारण अलङ्कार्य है, वही अलङ्कार है इस प्रकार अपने में ही क्रियाविरोध रूप दोष के हटाये न जा सकने के कारण तथा अपने अपने स्वरूप से भिन्न अन्य किसी पदार्थ की प्रतीति न कराने के कारण ऊर्जस्वि की तरह ही (अलङ्कार नहीं हो सकता)।

अथवा ऋद्धिमद्वस्तु यस्मिन् यस्य वेत्यपि व्याख्यानं क्रियते, तथापि तदन्यपदार्थलक्षणं वस्तु वक्तव्यमेव यत्समानार्थतामुपनीतं। तदृद्धिमद्वस्तु यस्मिन् तस्य वेति तत्काव्यमेव तथाविधं भविष्यतीति चेत् तदपि न किञ्चिदेव। यस्मात्काव्यस्यालङ्कार इति प्रसिद्धिः, न पुनः काव्यमेवालङ्करणमिति।

अथवा सम्पत्ति-सम्पन्न वस्तु जिसमें हो अथवा जिसकी हो (वह उदात्त अलङ्कार है) इस प्रकार व्याख्या करते हैं। तो भी वह भिन्न पदार्थ रूप वस्तु बताना ही पड़ेगा जिसकी समानार्थकता को प्राप्त कराया गया है।

वह ऋद्धिमत् वस्तु जिसमें अथवा जिसके हो वह काव्य ही उस प्रकार (उदात्त अलंकार) होगा यदि ऐसा कहते हैं तो भी यह कुछ भी नहीं है। क्योंकि काव्य का अलंकार (होता है) यही प्रसिद्ध है न कि फिर काव्य ही अलंकार होता है (ऐसी प्रसिद्धि है)।

यदि वा ऋद्धिमद्वस्तु यस्मिन् यस्य वेत्यसावलंकारः···तथापि वर्णनीयालङ्कारणव्य(म?)तिरिक्तमलङ्करणकल्पमन्यदत्र किञ्चिदेवोपलभ्यत इत्युभयथापि शब्दार्थासङ्गतिलक्षणदोषः सम्प्राप्तावसरः सम्पद्यते।

अथवा यदि सम्पत्ति सम्पन्न वस्तु जिसमें अथवा जिसके हो ऐसा अलंकार (ही उदात्त अलंकार है) तो भी प्रतिपाद्य अलंकार से भिन्न कोई अन्य अलंकार सा यहाँ प्राप्त होता है (ऐसा स्वीकार करना पड़ेगा) इस प्रकार दोनों ही ढंगों से शब्द एवं अर्थ की असंगति रूप दोष का अवसर उपस्थित हो जाता है। (अतः ऋद्धिमद्वस्तु उदात्त अलंकार होता है यह कहना अनुचित है। उदात्त अलंकार नहीं अपितु अलंकार्य ही होता है।)

इसके बाद उद्भट द्वारा प्रतिपादित द्वितीय उदात्त प्रकार का विश्लेषण करते हुए कहते हैं कि—

द्वितीयस्याप्युदात्तप्रकारस्यालङ्कार्यत्वमेवोपपन्नम्, न पुनरलङ्कारभावः। तथा चैतस्य लक्षणम्—

चरितञ्च महात्मनाम्।
उपलक्षणतां प्राप्तं नेतिवृत्तत्वमागतम् ॥ ५६ ॥

इस उदात्तालंकार के दूसरे भी भेद की अलंकार्यता ही उपयुक्त है न कि अलंकारता। क्योंकि इस (दूसरे प्रकार) का लक्षण है कि—

(जहाँ पर) महात्माओं का चरित उपलक्षण होकर आता है, इतिवृत्त के रूप में नहीं प्रयुक्त होता (वहाँ दूसरे प्रकार का उदात्तालंकार होता है।)

इति। तत्र वाक्यार्थपरमार्थविद्भिरेवं पर्यालोच्यताम्—यन्महानुभावानां व्यवहारस्योपलक्षणमात्रवृत्तेरन्वयः प्रस्तुते वाक्यार्थे कश्चिद्विद्यते वा न वेति। तत्र पूर्वस्मिन् पक्षे—तत्र तदलीनत्वात् पृथगभिधेयस्यापि पदार्थान्तरवत्तदवयवत्वेनैव व्यपदेशो न्याय्यः। पाण्यादेरिव शरीरे। न पुनरलङ्कारभावोऽपीति। अन्यस्मिन् पक्षे—तदन्वयाभावादेव वाक्यान्तरवर्तिपदार्थवत्तस्य तत्र सत्तैव न सम्भवति, किं पुनरलङ्करणत्वचर्चा।

इसमें वाक्यार्थ के परमार्थ को जाननेवाले (विद्वानों) को इस प्रकार विचार करना चाहिए—कि इस वाक्यार्थ में महापुरुषों के केवल उपलक्षण रूप ही व्यवहार का कोई संबंध है या नहीं है। उनमें से पहला पक्ष (कि सम्बन्ध है) स्वीकार करने पर—उसमें लीन न होने के कारण अलग से प्रतिपाद्य भी (उस व्यवहार का) अन्य पदार्थों की भाँति उस वाक्यार्थ के अवयव रूप से ही कथन करना उचित है जैसे शरीर में हाथ इत्यादि का (शरीर के अवयव रूप में ही प्रयोग होता है), न कि अलङ्कारता भी उचित होती है। दूसरा पक्ष (कि सम्बन्ध नहीं होता है ऐसा) स्वीकार करने पर—उसका सम्बन्ध ही न होने से दूसरे वाक्यों में रहने वाले पदार्थ की भाँति उसकी वहाँ सत्ता ही नहीं सम्भव होती है, तो भला अलङ्कारता की चर्चा कैसे हो सकती है।

[इसके बाद, जैसा कि डा० डे संकेत करते हैं, कुन्तक ने इस बिषय में किसी श्लोक को उद्‌धृत किया है जो कि पाण्डुलिपि की भ्रष्टता के कारण पढ़ा नहीं जा सका।]

इस प्रकार ऊर्जस्वि एवं उदात्त की अलङ्कारता का खण्डन कर कुन्तक समाहित अलङ्कार का विवेचन करते हैं।

वे कहते हैं—

तथा समाहितस्यापि प्रकारद्वयशोभिनः ॥ १३ ॥

तथा तेनैव पूर्वोक्तेन प्रकारेण समाहिताभिधानस्य चालङ्कारस्य भूषणत्वं न विद्यते नास्तीत्यर्थः ।

उसी प्रकार दो भेदों से शोभित होनेवाले समाहित की (अलङ्कारता नहीं होती) ॥ १३ ॥

वैसे अर्थात् उसी (ऊर्जस्वि आदि में प्रतिपादित किये गये) पहलेवाले ढङ्ग से समाहित नाम के अलङ्कार की अलङ्कारता नहीं होती है। यह आशय है।

इसके अनन्तर कुन्तक कारिका में निर्दिष्ट किए गये दो प्रकारों में से प्रथम प्रकार अर्थात् उद्भट द्वारा दिये गए समाहित अलङ्कार के लक्षण का खण्डन करते हैं। परन्तु जैसा कि डा० डे ने पाठ दे रखा है वह उद्भट के ग्रन्थ में प्राप्त लक्षण से कुछ भिन्न है। उद्‌भट के ग्रन्थ में समाहित का लक्षण इस प्रकार है—

रसभावतदाभासवृत्तेः प्रशमबन्धनम् ।
अन्यानुभावनिःशून्यरूपं यत्तत्समाहितम् ॥ ५७ ॥

जहाँ पर अन्य अनुभावों से निःशून्य रूप में रस, भाव, रसाभास तथा भावाभास के व्यापार की शान्ति उपनिबद्ध की जाती है वहाँ समाहित अलङ्कार होता है ॥ ५७ ॥

किन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ का लक्षण इस प्रकार है—

रसभावतदाभासतत्प्रशान्त्यादिरक्रमः ।
अन्यानुभावनिःशून्यरूपो यस्तत्समाहितम् ॥

परन्तु यह लक्षण समीचीन नहीं हैं।

[इस उद्‌भट के अभिमत लक्षण का खण्डन कुन्तक ने किन तर्कों से किया है उसके विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि न तो डा० डे ने उसका मूल ही प्रकाशित किया है और न उनके विषय में कोई संकेत ही किया है। इस प्रकार का उदाहरण कुन्तक ने इस पद्य को दिया है—]

अक्ष्णोः स्फुटाश्रुकलुषोऽरुणिमा विलीनः
शान्तं च सार्धमधरस्फुरणं भ्रुकुट्या ।
भावान्तरस्य (तत्र) गण्डगतोऽपि कोपो
नोद्गाढवासनतया प्रसरं ददाति ॥ ५८ ॥

स्पष्ट आँसुओं की कलुषता वाली आँखों की रक्तिमा गायब हो गयी और भौहों के साथ-साथ ही अधर का फड़कना भी समाप्त हो गया है।

(आश्चर्य है कि) तुम्हारे कपोलस्थल पर विद्यमान क्रोध प्रगाढ़ वासना के कारण दूसरे भाव को प्रश्रय नहीं देता है।

पर इसका भी विवेचन उन्होंने किस ढङ्ग से किया है और इसमें समाहित के अलङ्कारत्व का कैसे खण्डन किया है। कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

इसके बाद कुन्तक कारिका में निर्दिष्ट दूसरे प्रकार अर्थात् दण्डी के अभिमत लक्षण का खण्डन प्रस्तुत करते हैं।

यदपि कैश्चित् प्रकारान्तरेण समाहिताख्यमलङ्करणमाख्यातं तस्यापि तथैव भूषणत्वं न विद्यते। तदभिधत्ते-प्रकारद्वयशोभिनः पूर्वोक्तेन प्रकारेणानेन चापरेणेति द्वाभ्यां शोभमानस्य समाहितस्यालङ्कारत्वं न सम्भवति।

और भी जो किन्हीं आचार्यों ने दूसरे ढङ्ग से समाहित नामक अलङ्कार प्रतिपादित किया उसकी भी उसी प्रकार अलङ्कारता नहीं है। इसीलिये (कारिका में कहा गया है) दो प्रकारों से सुशोभित होने वाले (समाहित अलङ्कार) का। अर्थात् पहले बताये गये (उद्भट के अभिमत) प्रकार से एवं इस दूसरे (दण्डी द्वारा अभिमत प्रकार) से दोनों प्रकारों द्वारा शोभित होने वाले समाहित अलङ्कार की अलङ्कारता सम्भव नहीं होती है।

इस दूसरे प्रकार का खण्डन करते समय उन्होंने दण्डी के लक्षण एवं उदाहरण को उद्धृत किया है जो इस प्रकार है—

लक्षण है—

किञ्चिदारभमाणस्य कार्यं दैववशात्पुनः।
तत्साधन-समापत्तिर्या तदाहुः समाहितम्॥ ५९॥

किसी कार्य को आरम्भ करने वाले को दैववश पुनः उसके साधन की सम्प्राप्ति हो जाने पर समाहित अलङ्कार होता है॥ ५९॥

एवं उदाहरण है—

मानमस्या निराकर्तुं पादयोर्मे पतिष्यतः।
उपकाराय दिष्ट्यैतदुदीर्णं घनगर्जितम्॥ ६०॥

इसके मान को दूर करने के लिए पैरों पर गिरते हुए मेरे भाग्य से यह मेघ गर्जन उत्पन्न हो गया॥ ६०॥

पर इसका खण्डन उन्होंने किन तर्कों द्वारा किया है यह कुछ कहा

नहीं जा सकता। क्योंकि उसके विषय में कोई भी संकेत डा० डे के संस्करण में स्पष्ट नहीं।*

इसके बाद कुन्तक अपने अभिमत रसवत् अलङ्कार की व्याख्या प्रारम्भ करते हैं। उसकी अवतरणिका रूप में वे कहते हैं—

तदेवं चेतनाचेतनपदार्थभेदभिन्नं स्वाभाविक-सौकुमार्य-मनोहरं वस्तुनः स्वरूपं प्रतिपादितम्। इदानीं तदेव कविप्रतिभोल्लिखितलोकोत्तरातिशयशालितया नवनिर्मितं मनोज्ञतामुपनीयमानमालोच्यते। तथाविधभूषणविन्यासविहितसौन्दर्यातिशयव्यतिरेकेण भूतत्वनिमित्तभूतं न तद्विदाह्लादकारितायाः कारणम्।

तो इस प्रकार चेतन एवं अचेतन पदार्थों का भेद होने के कारण अलग-अलग या भेदयुक्त तथा सहज सुकुमारता से मनोहर वस्तु का स्वरूप प्रतिपादित किया गया। अब कवि की शक्ति द्वारा वर्णित किए गये अलौकिक उत्कर्ष से सुशोभित होने के कारण अपूर्व निर्माण से युक्त एवं रमणीयता को प्राप्त कराये जाने वाले उसी स्वरूप का विवेचन (ग्रन्थकार) प्रस्तुत करता है। उस प्रकार की अलङ्कार रचना द्वारा जनित शोभा के उत्कर्ष के विना केवल पदार्थता का निमित्तभूत (वर्णन) सहृदयों को आह्लादित करने का कारण नहीं बनता है।

[यहाँ पर, जैसा कि डा० डे संकेत करते हैं, कुन्तक दो अन्तरश्लोकों को उद्धृत कर एक अन्य—

'अभिधायाः प्रकारौ स्तः ॥' इत्यादि कारिका की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। पाण्डुलिपि के अत्यन्त भ्रष्ट होने के कारण डा० डे उसे पढ़ नहीं सके। अतः वहाँ क्या विवेचन किया गया है कुछ भी नहीं कहा जा सकता। इसके अनन्तर वे अपने अभिमत रसवदलङ्कार का विवेचन इस प्रकार प्रारंभ करते हैं]—

यथा स रसवन्नाम सर्वालङ्कारजीवितम्।
काव्यैकसारतां याति तथेदानीं विवेच्यते ॥ १४ ॥
रसेन वर्तते तुल्यं रसवत्त्वविधानतः।
योऽलङ्कारः स रसवत् तद्विदाह्लादनिर्मितेः ॥ १५ ॥

---

* एवं समाहितस्याप्यलङ्कार्यत्वमेव न्याय्यम्, न पुनरलङ्कारभावः।
इस प्रकार समाहित की भी अलङ्कार्यता ही समुचित है, अलङ्कारत्व नहीं।

जैसे वह रसवत् नामक (अलङ्कार) समस्त अलङ्कारों का प्राण एवं काव्य का सर्वस्व बन जाता है उसी प्रकार (ग्रन्थकार) अब विवेचन करने जा रहे हैं।

सरसता का सम्पादन करने के कारण, तथा काव्यतत्त्व को समझने वाले (सहृदयों) को आनन्द-प्रदान करने के कारण जो अलङ्कार रस के समान होता है वह रसवत् (अलङ्कार होता है।)

यथेत्यादि। यथा स रसवन्नाम यथा येन प्रकारेण पूर्वप्रत्याख्यातवृत्तिरलङ्कारो रसवदभिधानः काव्यैकसारतां याति काव्यैकसर्वस्वतां प्रतिपद्यते सर्वालङ्कारजीवितं सर्वेषामलङ्काराणामुपमादीनां जीवितं स्फुरितं सम्पद्यते। तथा तेन प्रकारेणेदानीमधुना विविच्यते विचार्यते लक्षणोदाहरणभेदेन वितन्यते।

यथेत्यादि। जैसे वह रसवत् नामक अर्थात् जिस प्रकार से रसवत् नामक अलंकार, जिसकी स्थिति का पहले खण्डन किया जा चुका है, (वह) काव्य की एक मात्र सारता को प्राप्त होता है अर्थात् काव्य का एकमात्र (अकेला ही) सर्वस्व बन जाता है, तथा समस्त अलंकारों का जीवन अर्थात् सभी उपमा आदि अलंकारों का प्राण बन जाता है, वैसे उस प्रकार से अब इस समय विवेचन या विचार किया जा रहा है अर्थात् लक्षण एवं उदाहरण के भेद पूर्वक विस्तार किया जा रहा है।

तमेव रसवदलङ्कारं लक्षयति—रसेनेत्यादि। 'योऽलङ्कारः स रसवत्' इत्यन्वयः। यः किल एवंस्वरूपो रूपकादिः रसवदभिधीयते। किं स्वभावेन—रसेन वर्तते तुल्यम्। शृङ्गारादिना तुल्यं वर्तते, यथा ब्राह्मणवत् क्षत्रियस्तथैव स रसवदलङ्कारः। कस्मात्—रसवत्त्वविधानतः। रसोऽस्यास्तीति रसवत् काव्यम् तस्य भावस्तत्त्वम् ततः, सरसत्वसम्पादनात्। तद्विदाह्लादनिर्मितेश्च। तत् काव्यं विदन्तीति तद्विदः, तज्ज्ञास्तेषामाह्लादनिर्मितेरानन्दनिष्पादनात्। यथा (तथा ?) रसः काव्यस्य रसवत्तां तद्विदाह्लादञ्च विदधाति। एवमुपमादिरप्युभयं निष्पादयन् भिन्नो रसवदलङ्कारः सम्पद्यते। यथा—

उसी रसवदलंकार का लक्षण करते हैं—रसेनेत्यादि (कारिका के द्वारा)। 'जो अलंकार है वह रसवत् होता है' यह कारिका का अन्वय है। अर्थात् जो इस प्रकार के रूपकादि हैं वे रसवत् कहे जाते हैं। जिस प्रकार के (रूपकादि)—(जो) रस के तुल्य होते हैं। रस अर्थात् शृङ्गारादि के समान रहते हैं, जैसे ब्राह्मण के समान क्षत्रिय होता है (ऐसा कहा जाता

है) उसी प्रकार (रस के समान जो अलंकार होता है) वह रसवत् अलंकार कहा जाता है। किस कारण से—रसवत्त्व के विधान के कारण रस है इसके पास अतः यह रसवत् हुआ काव्य, उस (रसवत्) का भाव रसवत्त्व हुआ उसके कारण अर्थात् सरसता का सम्पादन करने के कारण (रस के तुल्य होता है)। तथा काव्यज्ञों के आह्लाद का निर्माण करने के कारण। तत् का अर्थ है काव्य उसे जो जानते हैं वे कहे जायगे तद्विद् अर्थात् काव्य को समझने वाले उनके आह्लाद का निर्माण करने के कारण (रस के तुल्य होता है)। (क्योंकि) जिस प्रकार रस काव्य की रसवत्ता तथा सहृदयों के आह्लाद को उत्पन्न करता है। उसी प्रकार उपमा आदि भी (काव्य की रसवत्ता एवं सहृदयाह्लाद) दोनों को उत्पन्न करते हुए (उपमादि से भिन्न) रसवदलङ्कार हो जाते हैं। जैसे—

उपोढरागेण विलोलतारकं तथा गृहीतं शशिना निशामुखम्।
यथा समस्तं तिमिरांशुकं तथा पुरोऽपि रागाद्गलितं न लक्षितम्॥ ६१॥

(सायंकालिक) अरुणिमा (प्रियाविषयक प्रेम) को धारण करने वाले चन्द्रमा (नायक) के द्वारा चञ्चल तारों (कनीनिकाओं) वाले रात्रि (नायिका) के अग्रभाग (मुख) को उस प्रकार से पकड़ लिया (अर्थात् आभासित किया) (चुम्बन के लिए पकड़ लिया) कि जिससे लालिमा (अनुराग) के कारण सामने से भी गिरता हुआ तिमिरांशुक अर्थात् किरणों द्वारा विचित्र अन्धकार-समूह (नीलजालिका) लोगों द्वारा (या नायिक द्वारा) नहीं देखा गया॥ ६१॥

अत्र स्वावसरसमुचितसुकुमारस्वरूपयोर्निशाशशिनोर्वर्णनायां ⋯ रूपकालङ्कारः समारोपितकान्तवृत्तान्तः कविनोपनिबद्धः। स च श्लेषच्छायामनोज्ञविशेषणवक्रभावाद् विशिष्टलिङ्गसामर्थ्याच्च⋯⋯काव्यस्य सरसतामुल्लासयंस्तद्विदाह्लादमादधानः स्वयमेव रसवदलङ्कारतां समासादितवान्।

यहाँ अपने समय के अनुरूप सुकुमार स्वभाव वाले रात्रि एवं चन्द्रमा का वर्णन करने में⋯⋯⋯⋯⋯⋯कवि ने कान्त (अर्थात् नायक एवं नायिका) के वृत्तान्त का भलीभाँति आरोप कर रूपक अलङ्कार की योजना की है। और वह (रूपकालङ्कार) श्लेष के सौन्दर्य से रमणीय विशेषणों की वक्रता के कारण तथा विशेष लिङ्गों (अथवा चिह्नों) के सामर्थ्य के कारण⋯⋯काव्य की रससम्पन्नता को व्यक्त करते हुए तथा सहृदयों को

चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः।
करौ व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं
वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर ! हतास्त्वं खलु कृती ॥ ६२ ॥

(राजा दुष्यन्त शकुन्तला पर मंडराते हुए भ्रमर को देखकर कहते हैं कि)
हे भ्रमर ! तू चञ्चल नेत्रप्रान्त वाली तथा कम्पित होती हुई दृष्टि का बार-बार स्पर्श कर रहा है। रहस्य की बात बताने वाले के समान कान के पास जाकर मधुर गुञ्जन कर रहा है तथा हाथों को हिलाती हुई (शकुन्तला) के काम के सर्वस्व रूप अधर का पान कर रहा है। निश्चय ही हम तो तथ्य के अनुसन्धान में (अर्थात् मेरे लिए यह ग्राह्य है या नहीं यही पता लगाने में) मारे गये, पर तू (तो सचमुच) कृतार्थ हो गया ॥ ६२ ॥

अर्थ परमार्थः—प्रधानवृत्तेः शृङ्गारस्य भ्रमरसमारोपितकान्तवृत्तान्तो रसवदलङ्कारः शोभातिशयमाहितवान्।

यथा वा—

कपोले पत्राली ॥ ६३ ॥

इत्यादौ।

तदेवमनेन न्यायेन—

क्षिप्तो हस्तावलग्नः ॥ ६४ ॥

इत्यत्र रसवदलङ्कारप्रत्याख्यानमयुक्तम्। सत्यमेतत्, किन्तु विप्रलम्भ-शृङ्गारता तत्र निवार्यते। शेषस्य पुनस्तत्तुल्यवृत्तान्ततया रसवदलङ्कार-त्वमनिवार्यमेव।

न चालङ्कारान्तरे सति रसवदपेक्षानिबन्धनः संसृष्टि-सङ्करव्यपदेश-प्रसङ्गः प्रत्याख्येयतां प्रतिपद्यते। यथा—

इसका विश्लेषण करते हैं कि—यहाँ वास्तविक अर्थ यह है—भ्रमण पर आरोपित किए गए नायक के व्यवहार वाले (रूपक अलङ्कार ने जो कि रस के तुल्य होने के कारण रसवदलंकार हो गया है अतः उसी) रसवदलंकार ने मुख्य रूप से स्थित शृङ्गार रस की शोभा में उत्कर्ष को उत्पन्न कर दिया है। अथवा जैसे—

(उदाहरण संख्या (२।१०१ पर पूर्वोद्धृत) 'कपोले पत्राली'। इत्यादि में रसवदलंकार है)।

(इस पर पूर्वपक्षी प्रश्न करता है कि इस प्रकार यदि आप रसवदलंकार स्वीकार करते हैं) तो इस ढंग से (उदाहरण संख्या ३।४३ पर पूर्वोदाहृत)

'क्षिप्तो हस्तावलग्नः ॥' इस श्लोक में (आपके द्वारा किया गया) रसवदलंकार का खण्डन उचित नहीं है।

ग्रन्थकार (इसका उत्तर देते हैं) कि यह बात सही है (कि वह भी रसवद् अलंकार का उदाहरण है) लेकिन वहाँ पर हम विप्रलम्भ शृंगार का निषेध करते हैं। शेष का तो वहाँ भी उस (कामी एवं शराग्नि के) समान व्यवहार होने के कारण रसदवलङ्कारता अनिवार्य है। और भी अन्य अलङ्कारों के विद्यमान रहने पर रसवद् की अपेक्षा होनेवाली संसृष्टि अथवा सङ्कर अलंकार की संज्ञा का खण्डन नहीं हो जाता है। (अर्थात् रसवद् के साथ अन्य अलङ्कारों की संसृष्टि अथवा सङ्कर हमें स्वीकार है। उनका हम निषेध नहीं करते) जैसे—

अङ्गुलीभिरिव केशसञ्चयं सन्निगृह्य तिमिरं मरीचिभिः।
कुड्मलीकृतसरोजलोचनं चुम्बतीव रजनीमुखं शशी ॥ ६५ ॥

अँगुलियों द्वारा केश समुदाय की तरह किरणों द्वारा अन्धकार को भली भाँति बाँध कर चन्द्रमा (नाटक) बन्द किए हुए नयन रूप कमलोंवाले (नायिका) के मुख को मानो चूम रहा है ॥ ६५ ॥

अत्र रसवदलङ्कारस्य रूपकादीनाञ्च सन्निपातः सुतरां न समुद्भासते। तत्र 'चुम्बतीव रजनीमुखं शशी' इत्युत्प्रेक्षालक्षणस्य रसवदलङ्कारस्य प्राधान्येन निबन्धनम्, तदङ्गत्वेनोपमादीनां केवलस्य प्रस्तुतपरिपोषाय परिनिष्पन्नवृत्तेः।

यहाँ रसवदलंकार की तथा रूपकादि अलंकारों की समान स्थिति भली भाँति व्यक्त नहीं होती है क्योंकि उसमें 'रात्रि के मुख को मानो चन्द्रमा चूम सा रहा है' इस प्रकार के उत्प्रेक्षारूप रसवदलंकार की मुख्य रूप से योजना की गई है, तथा उसके अङ्ग रूप में उपमा आदि अलंकारों की। क्योंकि केवल (उत्प्रेक्षित रूप रसवदलंकार की ही) स्थिति प्रस्तुत (शृङ्गार) के परिपोष के लिए पर्याप्त थी।

ऐन्द्रं धनुः पाण्डुपयोधरेण शरद्धानार्द्रनखक्षताभम्।
प्रसादयन्ती सकलङ्कमिन्दुं तापं रवेरभ्यधिकं चकार ॥ ६६ ॥

पाण्डुवर्ण पयोधर (स्तन या मेघ) से आर्द्रनखक्षत की आभावाले इन्द्रधनुष को धारण करती हुई, कलङ्कयुक्त चन्द्रमा (प्रतिनायक) को प्रसन्न (काशित–खुश) करती हुई शरत् (नायिका) ने सूर्य (नायक) के ताप (गर्मी एवं सन्ताप) को और अधिक कर दिया।

'प्रसादयन्ती रवेरभ्यधिकं तापं शरच्चकार' इति समयसम्भवःपदार्थस्वभावस्तद्वाचक-'वारिद'-शब्दाभिधानं विना प्रतीयमानोत्प्रेक्षालक्षणेन रसवदलङ्कारेण कविना कामपि कमनीयतामधिरोपितः, प्रतीत्यन्तरमनोहारिणां 'सकलङ्का'दीनां वाचकादीनामुपनिबन्धनात्, 'पाण्डुपयोधरेणार्द्रनखक्षताभमैन्द्रं धनुर्दधाना' इति श्लेषोपमयोश्च तदानुगुण्येन विनिवेशनात्। एवं 'सकलङ्कमपि प्रसादयन्ती (शरत्) परस्याभ्यधिकं तापं चकार' इति रूपकालङ्कारनिबन्धनः प्रकटाङ्गनावृत्तान्तसमारोपः सुतरां समन्वयमासादितवान्। अत्रापि प्रतीयमानवृत्ते रसवदलङ्कारस्य प्राधान्यम्, तदङ्गत्वमुपमादीनामिति पूर्ववदेव सङ्गतिः।

यहाँ कवि ने 'प्रसन्न करती हुई शरत् ने सूर्य के ताप को और भी अधिक कर दिया' इस प्रकार के अपने समय (ऋतु) के अनुसार उत्पन्न होनेवाले पदार्थ के स्वभाव को, उसके वाचक 'वारिद' या (बादल) शब्द का कथन किये विना ही गम्यमान उत्प्रेक्षा रूप रसवदलंकार के द्वारा किसी अपूर्व रमणीयता से युक्त कर दिया है। (क्योंकि कवि ने) उसी (उत्प्रेक्षा रूप रसवदलंकार) के अनुरूप अन्य प्रतीति के कारण मनोहर 'सकलंक' आदि शब्दों का प्रयोग किया है तथा 'पाण्डु पयोधर से आर्द्रनखक्षताभ इन्द्रधनुष को धारण किए हुए' ऐस वाक्य में श्लेष एवं उपमा अलंकार की योजना को है। इस प्रकार 'कलंकयुक्त को भी प्रसन्न करती हुई शरत् ने दूसरे (नायक) के ताप को और भी अधिक कर दिया' इस प्रकार रूपकालंकार का हेतुभूत स्पष्ट (वेश्या) अङ्गना के व्यवहार का (शरत् पर) आरोप अत्यधिक समन्वित हो गया है। यहाँ पर भी गम्यमान स्थिति वाला (उत्प्रेक्षारूप रसवदलंकार ही प्रधान है तथा उपमा आदि उसके अङ्ग रूप हैं इस प्रकार पहले की ही भाँति यहाँ भी सङ्गति होती है।

[इसके बाद कुन्तक ने अधोलिखित श्लोक उद्धृत किया है]—

लग्नद्विरेफाञ्जनभक्तिचित्रं मुखे मधुश्रीतिलकं प्रकाश्य।
रागेण बालारुणकोमलेन चूतप्रवालोष्ठमलञ्चकार॥ ६७॥

अयं रसवतां सर्वालङ्काराणां चूडामणिरिवाभाति।

वसन्त शोभा ने भ्रमरूपी अञ्जन की रचना से विचित्र तिलक को मुख पर प्रकट कर प्रातःकाल के सूर्य के समान सुन्दर राग (रक्तिमा) से आम्रपल्लव रूप अधर को अलंकृत किया॥ ६७॥

(इसके बाद रसवदलंकार का उपसंहार करते हुए कुन्तक कहते हैं) कि यह (रसवदलंकार) रसयुक्त (काव्यों के) समस्त अलंकारों का शिरोरत्न सा सुशोभित होता है।

[इसके बाद जैसा कि डा० डे संकेत करते हैं कुन्तक ने उक्त कथन के समर्थन में दो अन्तरश्लोकों को भी उद्धृत किया है जो कि पाण्डुलिपि की भ्रष्टता के कारण पढ़े नहीं जा सके ।]

इस प्रकार रसवदलंकार के प्रकरण का उपसंहार कर कुन्तक दीपक अलंकार एवं उसके प्रभेदों का विवेचन प्रारम्भ करते हैं—

एवं नीरसानां पदार्थानां सरसतां समुल्लासयितुं रसवदलङ्कारं सामासादिवान्। इदानीं स्वरूपमात्रेणैवावस्थितानां वस्तूनां कमप्यतिशयमुद्दीपयितुं दीपकालङ्कारमुपक्रमते। तच्च पूर्वाचार्यैरादिदीपकं मध्यदीपकमन्तदीपकमिति दीप्यमानपदापेक्षया वाक्यस्यादौ मध्ये चान्ते च व्यवस्थितमिति क्रियापदमेव दीपकाख्यमलङ्करणमाख्यातम्।

इस प्रकार नीरस पदार्थों की सरसता को प्रकट करने के लिए रसवदलंकार का विवेचन किया गया। अब केवल स्वरूप से ही स्थित पदार्थों के किसी अपूर्व उत्कर्ष को व्यक्त करने के लिए (ग्रन्थकार कुन्तक) दीपकालङ्कार (का विवेचन) प्रारम्भ करते हैं। तथा उस दीपकलङ्कार की प्राचीन आचार्यों ने आदि दीपक, मध्य दीपक तथा अन्त दीपक इस प्रकार, प्रकाश्यमान पद की अपेक्षा से वाक्य के आदि, मध्य अथवा अन्त में (क्रिया पद ही) व्यवस्थित होता है ऐसा सोचकर क्रियापद को ही दीपक नामक अलङ्कार बताया है। (इसके बाद कुन्तक भामह के दीपक के तीनों भेदों के उदाहरण रूप तीनों श्लोकों को उद्धृत करते हैं जो इस प्रकार हैं :—

मदो जनयति प्रीतिं, सानङ्गं मानभङ्गुरम्।
स प्रियासङ्गमोत्कण्ठां, सासह्यां मनसः शुचम्॥ ६८॥
मालिनीरंशुकभृतः स्त्रियोऽलङ्कुरुते मधुः।
हारीतशुकवाचश्च भूधराणामुपत्यकाः॥ ६९॥
चीरीमतीररण्यानीः सरितः शुष्यदम्भसः।
प्रवासिनाञ्च चेतांसि शुचिरन्तं निनीषति॥ ७०॥

मद प्रीति को उत्पन्न करता है, वह मान को भंग करने वाले मदन को वह प्रियतमा के मिलन की उत्कण्ठा को, और वह हृदय के अगह्य शोक को (उत्पन्न करती है)॥ ६८॥

वसन्त हार पहनने वाली एवं वस्त्रों को धारण करने वाली स्त्रियों को विभूषित करता है तथा हारीत (मैना) एवं तोतों की वाणी को और पर्वतों को (विभूषित करता है)॥ ६९॥

झींगुरों से युक्त बड़े-बड़े जंगलों को, सूखते हुए जलवाली नदियों को तथा (विरही) परदेशियों के हृदयों को आषाढ़ का महीना नष्ट कर देना चाहता है ॥ ७० ॥

(इसके बाद कुन्तक अलग-अलग भामहकृत दीपक अलंकार के लक्षण एवं वर्गीकरण की आलोचना उस प्रकार करते हैं कि)

तत्र क्रियापदानां दीपकत्वं प्रकाशमत्वम्, यस्मात् क्रियापदैरेव प्रकाश्यन्ते स्वसम्बन्धितया स्थाप्यन्ते।

(भामह के अनुसार) उसमें (दीपकालंकार) में क्रियापदों की दीपकता अर्थात् प्रकाशकता होती है क्योंकि क्रियापद ही (अन्य पदों को) प्रकाशित करते हैं अर्थात् अपने से सम्बन्धित रूप में (अन्य पदों को) व्यवस्था करते हैं।

तदेवं सर्वस्य कस्यचिद्दीपकव्यतिरेकिणोऽपि क्रियापदस्यैकरूपत्वात् दीपकाद्द्वैतं प्रसज्यते।

किञ्च शोभाकारित्वस्य युक्तिशून्यत्वादलङ्करणत्वानुपपत्तिः।

(इसका खण्डन कुन्तक करते हैं कि) तो इस प्रकार दीपक से भिन्न भी सभी किसी क्रियापद के (अन्य दो पदों की सम्बन्धित रूप में व्यवस्था करने के कारण)समान होने से दीपकालङ्कार से घालमेल होने लगेगा।

और फिर सौन्दर्योत्पादकता के युक्तियुक्त न होने से अलङ्कारता ही नहीं हो सकेगी।

अन्यच्च आस्तां तावत्क्रिया, एवं यस्यकस्यचिद्वाक्यवर्तिनः पदस्य सम्बन्धितया पदान्तरद्योतनस्वभाव एव, परस्परान्वयसम्बन्धनिबन्धना-द्वाक्यार्थस्वरूपस्येति पुनरपि दीपकद्वैतमायातम्।

और भी, क्रिया को तब तक रहने दीजिये। इस प्रकार तो वाक्य में स्थित जिस किसी भी पद का, वाक्यार्थ के स्वरूप के परस्पर (पदों) के अन्वय-सम्बन्ध-मूलक होने के कारण, (परस्पर) सम्बन्धित होने के कारण दूसरे पद को प्रकाशित करना स्वभाव ही है इस लिये फिर (किसी भी पद का) दीपकालङ्कार के साथ घालमेल हो सकता है (अर्थात् कोई भी पद दीपक हो सकता है।

आदौ मध्ये चान्ते वा व्यवस्थितं क्रियापदमतिशयमासादयति, येनालङ्कारतां प्रतिपद्यते। तेषां वाक्यादीनां परस्परं तथाविधः कः स्वरूपातिरेकः सम्भवति?

(और यदि आप यह कहें कि) आदि, मध्य अथवा अन्त में व्यवस्थित क्रियापद उत्कर्ष युक्त होता है अतः यह अलङ्कार बन जाता है (तो आप यह

बतायें कि) उन क्रियापदों एवं वाक्यादि का परस्पर कौन सा वैसा स्वरूप का अतिशय उत्पन्न हो जाता है (जिससे कि आप उस क्रिया पद को अलंकार कहते है। क्योंकि उसका स्वरूप तो वही रहता है)।

क्रियापदप्रकारभेदनिबन्धनं वाक्यस्य यदादिमध्यान्तं तदेव तदर्थवाचकेष्वपि सम्भवतीत्येवं दीपकप्रकारानन्त्यप्रसङ्गः। दीपकालङ्कार-विहितवाक्यान्तर्वर्तिनः क्रियापदस्य भ्वादिव्यतिरिक्तस्यैव काव्यान्तर-व्यपदेशः। यदि वा समानविभक्ती (क्ता ?) नां बहूनां करका (णा ?) नामेकक्रियापदं प्रकाशकं दीपकमित्युच्यते, तत्रापि काव्यच्छायातिशय-कारितायाः किं निबन्धनमिति वक्तव्यमेव।

(और जैसा कि आप) क्रियापद के प्रकार-भेद का कारण वाक्य के जिस आदि, मध्य एवं अन्त (को स्वीकार करते) हैं (वैसे ही) वही (आदि, मध्य एवं अन्त) उस (वाक्य) के अर्थ का प्रतिपादन करने वाले (अन्य पदों) में भी सम्भव हो सकता है अतः इस प्रकार दीपक के भेद अनन्त होने लगेंगे। दीपकालंकार प्रस्तुत करने के लिए ले आये गये वाक्य के भीतर स्थित भ्वादि से भिन्न क्रियापद की दूसरे प्रकार की काव्यता होगी।

अथवा समान विभक्तियों वाले बहुत से कारकों का प्रकाश अकेला क्रियापद दीपक कहा जाता है, तो भी यह बताना ही पड़ेगा कि काव्यसौन्दर्य में उत्कर्ष लाने का क्या कारण है ?

इस प्रकार भामह के दीपकालंकार के लक्षण का खण्डन कर कुन्तक उद्भट की दीपकालंकार की व्याख्या को भामह की अपेक्षा अधिक उपयुक्त समझते हैं। और इसी लिए शायद वे उद्भट को अभियुक्ततर भी कहते हैं—वे कहते हैं—

प्रस्तुताप्रस्तुतविध्यसामर्थ्यसम्प्राप्तिप्रतीयमानवृत्तिसाम्यमेव नान्य-त्किञ्चिदित्यभियुक्ततरैः प्रतिपादितमेव—

आदिमध्यान्तविषयाः प्राधान्येतरयोगिनः।
अन्तर्गतोपमा धर्मा यत्र तद्दीपकं विदुः॥ ७१॥

प्रस्तुत और अप्रस्तुत के बीच विधि की असमर्थता की प्राप्ति होने के कारण प्रतीयमान व्यापार का साम्य ही आता है और दूसरा कुछ नहीं ऐसा श्रेष्ठ विद्वानों द्वारा ही प्रतिपादित किया जा चुका है—

दीपकालंकार उसे कहते हैं जहाँ प्राधान्य एवं अप्राधान्य से सम्बन्ध रखने वाले (वाक्य के) आदि, मध्य एवं अन्त के विषयभूत धर्म उपनिबद्ध किए जाते हैं जिनमें (परस्पर) उपमानोपमेयभाव विद्यमान रहता है (अन्तर्गतोपमा)।

इसके बाद इस दीपकालंकार के उदाहरण रूप में कुन्तक अधोलिखित प्राकृत श्लोक उद्धृत करते हैं।

चंकमंति करीन्दा दिसागअमअगन्धहारिअहिअआ।
दुक्खं वणे च कइणो भणिइविसमहाकइ मग्गे ॥ ७२ ॥

(चङ्क्रम्यन्ते करीन्द्रा दिग्गजमदगन्धहारितहृदयाः।
दुःखं वने च कवयो भणितिविषमहाकविमार्गे ॥)

दिग्गजों के गण्डजल की महक से विदीर्ण कर दिए गए हृदय वाले गजेन्द्र जङ्गल में तथा उक्तियों के कारण विषम महाकवियों के मार्ग में कविजन दुःखपूर्वक सञ्चरण करते हैं।

यथा दिक्कुञ्जरमदामोदहारितमानसाः करीन्द्राः कानने कथमपि दुःखं चङ्क्रम्यन्ते, तथा भणितिविषमे वक्रोक्तिविचित्रे महाकविमार्गे··· कवय इति 'च'-शब्दार्थः।

"जिस प्रकार से दिग्गजों के गण्डजल की सुगन्धि से खिन्न चित्त वाले गजेन्द्र वन में किसी तरह दुःखपूर्वक विचरण करते हैं उसी प्रकार उक्तियों से विषम अर्थात् वक्रोक्तियों से विचित्र महाकवियों के पथ में···कविजन (विचरण करते हैं) यह (श्लोक में आये हुए) 'च' शब्द का अभिप्राय है। कुन्तक उद्भट के इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं कि यदि प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत में प्रतीयमान वृत्ति द्वारा साम्य नहीं रहेगा तो वहाँ दीपकालङ्कार नहीं होगा। तथा उद्भट द्वारा अन्तर्गतोपमाधर्म की विशेषता के जोड़ देने का अनुमोदन करते हैं।

इसके बाद दीपकालङ्कार के अपने अभिमतलक्षण को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

औचित्यावहमम्लानं तद्विदाह्लाद-कारणम्।
अशक्तं धर्ममर्थानां दीपयद्वस्तु दीपकम् ॥ १७ ॥

वर्णनीय पदार्थों के औचित्य का वहन करने वाले, सहृदयों के आह्लाद-जनक, अभिनव एवं अस्पष्ट धर्म को प्रकाशित करता हुआ पदार्थ दीपक अलङ्कार होता है।

तदिदानीं दीपकमलङ्कारान्तरकारणं कलयन् कामपि काव्यकमनीयतां कल्पयितुं प्रकारान्तरेण प्रक्रमते—औचित्यावहमित्यादि। वस्तु दीपकं वस्तुसिद्धरूपमलङ्करणं भवतीति सम्बन्धः, क्रियान्तराश्रवणात्। तदेवं सर्वस्य कस्यचिद्वस्तुनः तद्भावापत्तिरित्याह-दीपयत् प्रकाशयदलङ्करणं सम्पद्यते। किं कस्येत्यभिधत्ते-धर्मं परिस्पन्दविशेषमर्थानां वर्णनीया-

नाम्। कीदृशम्—अशक्तम् अप्रकटम् तेनैव प्रकाश्यमानत्वात्। किंस्वरूपञ्च—औचित्यावहम्। औचित्यमौदार्यम् आवहति यः स तथोक्तः। अन्यच्च किंविधम् अम्लानम्, प्रत्यग्रम्। अनालीढमिति यावत्। एवं स्वरूपत्वात् तद्विदाह्लादकारणम्, काव्यविदानन्दनिमित्तम्।

इस कारिका की व्याख्या करते हैं—तो अब दीपक को अन्य अलङ्कार का जनक समझते हुए काव्य की किसी अपूर्व रमणीयता को प्रस्तुत करने के लिए उसे दूसरे ढङ्ग से प्रस्तुत करते हैं—औचित्यावहम् इत्यादि (कारिका के द्वारा)। वस्तु दीपक होती है अर्थात् पदार्थ का सिद्ध रूप (कारक पद) अलङ्कार होता है। (इस वाक्य का) अन्य क्रिया के सुनाई न पड़ने से (भवति होती है) के साथ सम्बन्ध है। तो इस प्रकार सभी कोई वस्तु दीपकालङ्कार होने लगेगी अतः (उसका निषेध करने के लिए) कहते हैं कि—दीप्त करती हुई अर्थात् प्रकाशित करती हुई वस्तु अलङ्कार होती है। क्या (प्रकाशित करती हुई वस्तु और) किसका (प्रकाशित करती हुई) इसे बताते हैं—अर्थों अर्थात् वर्णनीय पदार्थों के धर्म अर्थात् स्वभाव विशेष को (प्रकाशित करती हुई वस्तु अलङ्कार होती है)। कैसे धर्म को—अशक्त अर्थात् जो प्रकट नहीं रहता क्योंकि वह उसी (वस्तु) के द्वारा प्रकाशित होने वाला होता है। और किस स्वरूप का है (वह धर्म)—औचित्य का वहन करने वाला। औचित्य अर्थात् उदारता को जो वहन या धारण करता है वह औचित्य की वहन करने वाला होता है। और कैसा (धर्म होता है) अम्लान अर्थात् अभिनव जिसका आस्वाद नहीं किया गया है। ऐसे स्वरूप वाला होने के कारण उसे जानने वालों के आह्लाद का कारण अर्थात् काव्य को समझने वालों के आनन्द का हेतु बनता है।

इसके बाद जैसा कि डा० डे संकेत करते हैं कि पाण्डुलिपि अत्यन्त दोषपूर्ण है अतः कुन्तक ने दीपक अलङ्कार का वर्गीकरण कैसे किया है इसे ठीक-ठीक नहीं प्रतिपादित किया जा सकता, पर जहाँ तक पाण्डुलिपि से विषय को समझा जा सकता है वह इस प्रकार है। कुन्तक निम्न कारिका को प्रस्तुत करते हैं—

> एकं प्रकाशकं सन्ति भूयांसि भूयसां क्वचित्।
> केवलं पङ्क्तिसंस्थं वा द्विविधं परिदृश्यते ॥ १७ ॥

अस्यैव प्रकारान्निरूपयति—द्विविधं परिदृश्यते। द्विप्रकारमवलोक्यते, लक्ष्ये विभाव्यते! कथम् केवलमसहायम्, पङ्क्तिसंस्थं वा पङ्क्तौ व्यवस्थितं तत्तुल्यकक्ष्यायां सहायान्तरोपरचितायां वर्तमानम्। कथम् एकं बहूनां पदार्थानामेकं प्रकाशकं दीपकं केवलमित्युच्यते। यथा—

असारं संसारम् ॥ ७३ ॥

इत्यादि। अत्र 'विधातुं व्यवसितः' कर्ता संसारादीनामसारत्वप्रभृतीन् धर्मानुद्योतयन् दीपकालङ्कारतामाप्तवान्।

(दीपक अलंकार) केवल तथा पंक्तिसंस्थ (भेद से) दो प्रकार का दिखाई पड़ता है। (उनमें जहाँ बहुत से पदार्थों का) एक प्रकाशक होता है (वह केवल दीपक तथा जहाँ) बहुतों के बहुत से (प्रकाशक) हैं (वह पंक्तिसंस्थ दीपक होता है) ॥ १७ ॥

इसी कारिका की व्याख्या करते हैं—इसी (दीपकालंकार) के भेदों का निरूपण करते हैं—दो प्रकार का दिखाई पड़ता है अर्थात् (यह दीपक अलंकार) लक्ष्य (काव्यादि) में दो तरह का दिखाई पड़ता है। कैसे—केवल अर्थात् असहाय (रूप में) अथवा पंक्तिसंस्थ अर्थात् पंक्ति में व्यवस्थित अर्थात् अन्य सहायक द्वारा विरचित उसकी समान स्थिति में विद्यमान। कैसे—एक अर्थात् बहुत से पदार्थों का अकेला प्रकाशक केवल दीपक कहा जाता है। जैसे—

(उदाहरण संख्या १।२१ पर पूर्वोदाहृत) असारं संसारम्। इत्यादि श्लोक।

यहाँ 'विधातुं व्यवसितः' कर्ता संसार आदि के निःसारता आदि धर्मों को प्रकाशित करता हुआ दीपक अलङ्कार वन गया है।

पङ्क्तिसंस्थम्—भूयांसि बहूनि वस्तूनि दीपकानि भूयसां प्रभूतानां वर्णनीयानां सन्ति वा कचिद् भवन्ति वा कस्मिंश्चिद्विषये। यथा—

कइकेसरी वअणाणं मोत्तिअरअणाणं आइवेअटिओ।
ठाणाठाणं जाणइ कुसुमाणं अ जीणमालारो ॥ ७४ ॥

(कविकेसरी वचनानां मौक्तिकरत्नानामादिवैकटिकः।
स्थानास्थानं जानाति कुसुमानाञ्च जीर्णमालाकारः ॥)

चन्दमऊएहिंणिसा णलिनी कमलेहि कुसुमगुच्छेहि लआ।
हंसेहि सारअसोहा कव्वकहा सज्जनेहि करइ गरुई ॥ ७५ ॥

(चन्द्रमयूखैर्निशा नलिनी कमलैः कुसुमगुच्छैर्लता।
हंसैश्शरदशोभा काव्यकथा सज्जनैः क्रियते गुर्वी ॥)

पङ्क्तिसंस्थ—(दीपक वहाँ होता है जहाँ) कहीं किसी विषय में (अथवा स्थल पर बहुत से अर्थात् अनेकों वर्णनीय पदार्थों की बहुत-सी अर्थात् अनेकों वस्तुएं प्रकाशक होती हैं। जैसे—

श्रेष्ठ कवि (कवि केसरी) उक्तियों के, प्राचीन जोहरी मौक्तिकरत्नों के तथा पुराना माली फूलों के औचित्य तथा अनौचित्य को जानता है ॥ ७४ ॥

चन्द्रमा की किरणें रात्रि को, कमल कमलिनी को, फूलों के गुच्छे लता को, हंस शरद् ऋतु के सौन्दर्य को तथा सज्जन काव्य कथा को महत्त्वपूर्ण बना देते हैं ॥७५॥

इसके बाद कुन्तक ने इस पंक्तिसंस्थ दीपक के भी अन्य-अन्य प्रभेद किये हैं। किन्तु पाण्डुलिपि में वह स्थल अधिक स्पष्ट नहीं है। कारिका तो पूर्णतः अस्पष्ट है। उसे डा० डे सम्पादित नहीं कर सके। पर उस स्थल को पढ़ने से ऐसा पता चलता है कि कुन्तक ने इस पंक्तिसंस्थ दीपक के पुनः तीन भेद किए हैं। कारिका तो सर्वथा अस्पष्ट ही है। वृत्ति में से जितना स्थल स्पष्ट हो सका है वह इस प्रकार है—

यदपरं पंक्तिसंस्थं नाम···कारणात् त्रिप्रकारम्। त्रयः प्रकाराः प्रभेदा यस्येति विग्रहः। तत्र प्रथमस्तावदनन्तरोक्तो 'भूयांसि भूयसां क्वचिद्भवन्ति' इति।

द्वितीयो—दीपकं दीपयत्यन्यत्रान्यदिति, अन्यस्यातिशयोत्पादकत्वेन दीपकम्। यद्दीपितं तत्कर्मभूतमन्यत् कर्तृभूतं दीपयति प्रकाशयति तद-प्यन्यद्दीपयतीति।

जो दूसरा 'पंक्तिसंस्थ' नाम का (दीपकालङ्कार का भेद है वह)···[यहाँ डा० डे ने पाठलोप सूचक चिह्न दिए हैं। अतः यह कह सकना, कि किस कारण से वह पंक्तिसंस्थ दीपक तीन प्रकार का होता है, कठिन है।] कारण से तीन प्रकार का है। 'त्रिप्रकारम्' का विग्रह होगा तीन प्रकार हैं जिसके वह। उनमें से पहला प्रकार तो अभी-अभी बताया गया 'कि बहुत से वर्ण्यमान पदार्थों के कहीं बहुत से प्रकाशक होते हैं' यह हैं। (इसका उदाहरण ऊपर दिया ही जा चुका है)

दूसरा प्रकार वह है—दूसरे स्थान पर वह एक दीपक को दूसरा (दीपक) प्रकाशित करता है वह दूसरे के अतिशय को उत्पन्न करने के कारण दीपक (अलङ्कार) होता है। जो प्रकाशित हुआ है वह कर्मभूत है और दूसरा कर्तृभूत है वह दीपित अर्थात् प्रकाशित करता है, वह भी दूसरे को प्रकाशित करता है।

द्वितीयदीपकप्रकारो यथा—

क्षोणीमण्डलमण्डनं नृपतयस्तेषां श्रियो भूषणं
ताः शोभां गमयत्यचापलमिदं प्रागल्भ्यतो राजते।
तद्रूप्यं नयवर्त्मनस्तदपि च क्रौर्यक्रियालङ्कृतं
बिभ्राणं यदियत्तदा त्रिभुवनं छेत्तुं व्यवस्येदपि ॥ ७६ ॥

(पंक्तिसंस्थ दीपक के) दूसरे भेद का उदाहरण जैसे—

भूमण्डल के शोभा हेतु राजा लोग हैं और उनकी शोभा हेतु सम्पत्तियाँ हैं। वे स्थिरता के द्वारा शोभा को प्राप्त कराई जाती है। और यह (स्थिरता) भी

प्रगल्भता से सुशोभित होती है। वह (प्रगल्भता) राजनीति के मार्ग की दोषभाक् है, और वह (राजनीति का मार्ग) भी क्रूरतापूर्ण कर्मों से अर्थात् परराष्ट्र पर आक्रमण आदि से सुशोभित होता है यदि इस क्रूरतापूर्ण कर्म को धारण कर लिया जाय तो (व्यक्तिविशेष) त्रिभुवन का ही उच्छेद करने पर तुल जाय।।७६।।

टिप्पणी:—[यहाँ पर डा० डे ने 'च क्रौर्यक्रियालङ्कृतम्' पाठ मुद्रित किया है, तथा उसके अर्थवैषम्य को देखते हुए पादटिप्पणी में उन्होंने 'चेच्छौर्यक्रिया-लङ्कृतम्' पाठान्तर निर्दिष्ट किया है। स्व० आचार्य विश्वेश्वर जी ने 'च शौर्यक्रिया-लङ्कृतं' पाठ देते समय 'शार्दूलविक्रीडितवृत्तगत' छन्दोभङ्ग की ओर पता नहीं ध्यान क्यों नहीं दिया।

हमने यहाँ पर मातृकागत पाठ को ही श्रेयान् मानकर रूपान्तर प्रस्तुत किया है। इस पक्ष में सात दीपक दृष्टि पथ में आते हैं। पहला है क्षोणीमण्डल और नृपति के बीच। दूसरा नृपति और श्री के बीच। तीसरा श्री और अचापल के बीच। चौथा अचापल और प्रागल्भ्य के बीच। पाँचवाँ प्रागल्भ्य और नयवर्त्म के बीच। छठा नयवर्त्म और क्रौर्यक्रिया के बीच और अन्तिम क्रौर्यक्रिया और त्रिभुवनच्छेद के बीच है। पहले का धर्म मण्डन, दूसरे का भूषण, तीसरे का शोभागमन, चौथे का राजन, पाँचवें का दुष्यत्व, छठे का अलङ्कृतत्व और सातवें का विभ्राणत्व है। डा० डे० की आशंका का हेतु ऊपर से चला आता हुआ मण्डनादि और दूष्यत्व के बीच का वैषम्य प्रतीत होता है। परन्तु चतुर्थ चरण का पाठ करने पर स्पष्ट हो जायगा कि कवि का संरम्भ एक ही प्रकार के धर्म के साथ अभिसम्बन्ध दिखाने में नहीं है। अन्तिम बात यह भी ध्यान देने की है कि यहाँ शौर्यक्रिया की बात करना अनुचित है। क्योंकि त्रिभुवन का उच्छेद शौर्य-क्रिया से नहीं अपितु क्रौर्यक्रिया से ही सम्भव है। यहाँ पर इन सातों दीपकों में प्रत्येक पहले दीपक का अप्रस्तुत दूसरे दीपक का प्रस्तुत बन जाता है। इसीलिए इसे दीपितदीपक कहा जाता है।]

अत्रोत्तरोत्तराणि पूर्वपूर्वपददीपकानि मालायां कविनोपनिबद्धानीति।

यथा वा—

शुचि भूषयति श्रुतं वपुः प्रशमस्तस्य भवत्यलङ्क्रिया।
प्रशमाभरणं पराक्रमः स नयापादितसिद्धिभूषणः।। ७७।।

यथा च—

चारुतावपुरभूषयदासाम्।। ७८।।

इत्यादि।

यहाँ पर उत्तरोत्तर दीपक उसके पूर्ववर्ती प्रत्येक दीपक के साथ कवि के द्वारा एक माला में गुम्फित किए गए हैं।

अथवा जैसे—(दूसरा उदाहरण)

शुद्ध शास्त्र (श्रवण) शरीर को अलङ्कृत करता है तथा (क्रोधादि का) शमन उस (शास्त्र) का आभूषण होता है। शमन का अलङ्कार पराक्रम होता है तथा वह (पराक्रम) नीति के द्वारा सम्पादित सिद्धि रूप अलंकार वाला होता है ॥ ७७ ॥

और जैसे—(उदाहरण संख्या १।२४ पर पूर्वोदाहृत)

चारुतावपुरभूषयदासाम् ॥ ७८ ॥ इत्यादि श्लोक।

तृतीयप्रकारोऽत्रैव श्लोकार्द्धे 'दीपक'-स्थाने 'दीपित'मिति पाठान्तरं विधाय व्याख्येयः। तदयमत्रार्थः—यद्दीपितं यदन्येन केनचिदुत्पादितातिशयं सम्पादितं वस्तुं तत्कर्तृभूतमन्यद्दीपयदुत्तेजयति···। यथा—

मदो जनयति प्रीतिम्। इत्यादि ॥ ७९ ॥

(इस पंक्तिसंस्थ दीपक के) तीसरे भेद के लिए इसी (कारिका) श्लोक के अर्द्धभाग में 'दीपक' के स्थान पर 'दीपित' यह दूसरा पाठ करके व्याख्या करनी चाहिए। तो यहाँ आशय यह है कि—जो दीपित अर्थात् किसी दूसरे के द्वारा उत्पन्न किए गए उत्कर्ष से युक्त रूप में सम्पादित की गई वस्तु है उसके कर्तृभूत दूसरे को प्रकाशित करता हुआ उत्तेजित करता है। जैसे—

'मदो जनयति प्रीतिम्' इत्यादि श्लोक ॥ ७९ ॥

ननु पूर्वाचार्यैश्चैतदेव पूर्वमुदाहृतम्। तदेव प्रथमं प्रत्याख्यायेदानीं समाहितमित्यभिप्रायो व्याख्यातव्यः।

सत्यमुक्तम्। तदयं व्याख्यायते—क्रियापदमेकमेव दीपकमिति तेषां तात्पर्यम्, अस्माकं पुनः कर्तृपदादिनिबन्धनानि दीपकानि बहूनि सम्भवन्तीति।

(भामह के दीपकालंकार का खण्डन करते समय कुन्तक ने भामह के इसी 'मदो जनयति' इत्यादि श्लोक की आलोचना की थी। किन्तु अब उन्होंने उसी उदाहरण को अपने अनुसार 'दीपितदीपक' के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है। अतः पूर्वपक्षी शङ्का करते हैं कि)—

इसी उदाहरण को तो प्राचीन (भामह आदि) आचार्यों ने उद्धृत किया है। उसी का पहले खण्डन कर अब (आपने उसी का) समाधान किया है तो किस आशय से, इसे बताने का कष्ट करें।

कुन्तक इसका उत्तर देते हैं—

ठीक कहा (तुमने) तो यह व्याख्या कर रहा हूँ। उन (प्राचीन) आचार्यों का अभिप्राय है कि केवल (वा एक ही) क्रियापद दीपक होता है, पर हमारा मत है कि कर्तृपदादिकमूलक बहुत से दीपक हो सकते हैं।

[इसके बाद कुन्तक इस प्रकरण का अधोलिखित कारिका के साथ उपसंहार करते हैं। इस कारिका जो जिस ढङ्ग से डा० डे ने मुद्रित किया है उसके अनुसार यह प्रतीत होता है कि कुन्तक यहाँ यह बताना चाहते हैं कि 'कैसा क्रियापद दीपक हो सकता है और कैसी वस्तु दीपक हो सकती है—]

यथायोगि क्रियापदं मनःसंवादि तद्विदाम्।
वर्णनीयस्य विच्छित्तेः कारणं वस्तुदीपकम् ॥ १८ ॥

इदानीमेतदेवोपसंहरति—यथायोगि क्रियापदमित्यादि। यथा येन प्रकारेण युज्यते इति यथायोगि क्रियापदं यस्य तत्तथोक्तम्। येन यथा सम्बन्धमनुभवितुं शक्नोति तथा दीपके क्रिया। [अन्यच्च किं रूपम्? मनःसंवादि तद्विदाम्।] तद्विदां काव्यज्ञानां मनसि संवदति चेतसि प्रतिफलति यत्तत्तथोक्तम्।

जिस प्रकार से (वाक्यार्थ) सम्बद्ध हो सके वैसा और सहृदयों का मनोनुकूल क्रियापद (दीपक होता है) तथा वर्णनीय पदार्थ की सुन्दरता का कारणभूत वस्तु दीपक होती है॥

अब (ग्रन्थकार) इसी (दीपक अलङ्कार) का उपसंहार करते हैं—'यथायोगि क्रियापदम्' इत्यादि कारिका के द्वारा। जैसे अर्थात् जिस तरह युक्त होता है वह यथायोगि हुआ इस प्रकार यथायोगि क्रियापद है जिसके वह यथायोगि क्रियापद वाला हुआ। अतः जिस प्रकार से सम्बन्ध का अनुभव किया जा सकता है वैसी दीपक में क्रिया होती है। उस काव्य को जानने या समझने वालों के चित्त में जो संवाद उत्पन्न करती है अर्थात् हृदय में प्रतिफलित होती है वह क्रिया दीपक होती है।

[तस्मादेव सहृदयहृदयसंवादमाहात्म्यात्—'मुखमिन्दुः' इत्यादौ न केवलं रूपकमिति यावत्। 'किं तारुण्यतरोः' इत्येवमाद्यपि। तस्मादेव च सूक्ष्ममतिरिक्तं वा न किञ्चिदुपमानात् साम्यं तस्य निमित्तमिति सचेतसः प्रमाणम्।]

[इसीलिये सहृदय हृदय के साथ संवाद होने पर 'मुख चन्द्र है' ऐसे कथनो में महाविषय होने के नाते केवल रूपक ही नहीं होता। और इसी से 'किं तारुण्य-

तरोः' इत्यादि भी ऐसे ही हैं। इसीलिए बहुत ही सूक्ष्म और अपमान से अनतिरिक्त साम्य दीपक का निमित्त है इस विषय में सहृदय जन ही प्रमाण हैं।]

अन्यच्च कीदृशम्-वर्णनीयस्य विच्छित्तेः कारणम्। वर्णनीयस्य प्रस्तावाधिकृतस्य पदार्थस्य विच्छित्तेरुपशोभायाः कारणं निमित्तभूतम् [न पुनर्जन्यत्वप्रमेयत्वादिसामान्यम्]। यस्मात् पूर्वोक्तलक्षणेन साम्येन वर्णनीयं सहृदयहारितामावहति।

और कैसा होता है (दीपक अलङ्कार)—वर्णन किए जाने वाले (पदार्थ) के सौन्दर्य का हेतु होता है। वर्णनीय अर्थात् प्रकरण के द्वारा अधिकृत पदार्थ की विच्छित्ति अर्थात् सौन्दर्य का कारण अर्थात् हेतुरूप (होता है)। यह जन्यत्व या प्रमेयत्व आदि के तुल्य नहीं हैं। क्योंकि पहले कहे गए लक्षण वाले साम्य से युक्त वर्ण्यविषय सहृदयों का आवर्जक होता है।

उपचारैकसर्वस्वं यत्र तत् साम्यमुद्वहत्।
यदर्पयति रूपं स्वं वस्तु तद्रूपकं विदुः ॥ १९ ॥

रूपकं विविनक्ति—उपचारेत्यादि। वस्तु तद्रूपकं विदुः तद्वस्तु पदार्थस्वरूपं रूपकाख्यमलंकारं विदुः जना इति शेषः। कीदृशम्—यदर्पयतीत्यादि—यत् कर्तृभूतमर्पयति विन्यस्यति। किम्—स्वमात्मीयं रूपं, वाक्यस्य वाचकात्मकं परिस्पन्दम्, अलंकारप्रस्तावादलंकारस्यैव स्वसंबन्धित्वात्। किं कुर्वत्—साम्यमुद्वहत् समत्वं धारयत् (कीदृशम्) उपचारैकसर्वस्वम्—उपचारस्तत्त्वाध्यारोपस्तस्यैकं सर्वस्वं केवलमेव जीवितं तन्निबन्धनत्वाद्, उपचारैः रूपकस्य प्रवृत्तेः।

जहाँ उपचार की एकमात्र प्राणभूत उस समानता को धारण करता हुआ पदार्थ अपने स्वरूप को समर्पित कर देता है उसे (विद्वानों ने) रूपक (अलङ्कार) कहा है।

रूपक का विवेचन करते हैं—उपचार इत्यादि कारिका के द्वारा। उस वस्तु को रूपक कहा है अर्थात् लोगों ने उस पदार्थ स्वरूप को रूपक नाम का अलङ्कार बताया है। कैसे (पदार्थ स्वरूप) को—(इसे) यदर्पयति इत्यादि (के द्वारा बताते हैं)। कर्ता रूप जो (पदार्थ) अर्पित करता है अर्थात् विन्यस्त करता है। क्या (विन्यस्त) करता है—स्व अर्थात् अपने स्वरूप को, वाक्य के वाचकरूप अपने स्वभाव को। यहाँ अलङ्कार का प्रकरण चलने के कारण अपने स्वरूप से आशय अलङ्कार स्वरूप से ही है क्योंकि वही अपना सम्बन्धी है। क्या करते हुए? साम्य को वहन करते हुए, बराबरी को धारण करते हुए। कैसी

बराबरी को? जिसका एकमात्र प्राण उपचार है। उपचार अर्थात् तत्त्व का अध्यारोप (वह) उसका एकमात्र सर्वस्व अर्थात् उसका कारण होने के कारण केवल प्राणभूत होता है क्योंकि उपचारों से ही रूपक की प्रवृत्ति होती है।

[यहाँ प्रयुक्त साम्य वस्तुतः प्रतीयमानवृत्ति साम्य की ओर संकेत करता है जैसा कि दीपकालङ्कार के विवेचन में किया गया है। इसीलिए शायद कारिका में तत् साम्यमुद्वहत् करके आया है किन्तु वृत्ति में तत् की कोई व्याख्या ही नहीं उपलब्ध है, अतः कोई निश्चित संकेत ज्ञात नहीं होता। पर जैसा कि डा० डे भी कहते हैं कि इस साम्य को प्रतीयमानवृत्तिसाम्यरूप में ही ग्रहण करना चाहिए, वही उचित प्रतीत होता है।]

यस्मादुपचारवक्रताजीवितमेतदलङ्करणं प्रथममेव समाख्यातम्—
यन्मूला रसोल्लेखा रूपकादिरलङ्कृतिः। (इति)

एवं च रूपकादि सामान्यलक्षणमुल्लिख्य प्रकारपर्यालोचनेन तमेवोन्मीलयति

क्योंकि उपचार वक्रता रूप प्राण वाला यह (रूपक) अलङ्कार होता है ऐसा पहले ही (कारिका २।१४) कि—

जिस (उपचार वक्रता) के मूल में होने के कारण रूपक आदि अलङ्कार आस्वादपूर्ण अथवा चमत्कार युक्त हो जाते हैं॥ (प्रतिपादित किया जा चुका है।)

इस प्रकार रूपक आदि के सामान्य लक्षण को बताकर भेदों का विवेचन करते हुए उसी (रूपकालङ्कार) का स्वरूप बताते हैं—

समस्तवस्तुविषयमेकदेशविवर्ति च।

समस्तवस्तुविषयो यस्य तत्तथोक्तम्। तदयमत्रार्थः—यत् सर्वाण्येव प्राधान्येन वाच्यतया सकलवाक्योपारूढान्यभिधेयान्यलङ्कार्यतया सुन्दरस्वरूपपरिस्पन्दसमर्पणेन रूपान्तरापादितानि गोचरो यस्येति। यथा—

(वह रूपक) (१) समस्तवस्तु विषय तथा (२) एकदेशविवर्ति (दो प्रकार का) होता है।

जिसका विषय समस्तबस्तु होती है वह समस्तवस्तु विषय रूपक होता है। तो यहाँ इसका आशय यह है—कि जिस अलङ्कार के विषय समस्त वाक्य के अन्दर सन्निविष्ट सारे के सारे अभिधेय अर्थ अलङ्कार्य के रूप में वाच्यार्थ की प्रधानता के द्वारा उपात्त (विषयी के) अपने रमणीय स्वभाव के आरोपण कर देने के कारण एक दूसरे विषय रूप को प्राप्त करा दिये जाते हैं (वह समस्तवस्तु विषय रूपक होता है।) जैसे—

मृदुतनुलतावसन्तः सुन्दरवदनेन्दुबिम्बसितपक्षः ।
मन्मथमातङ्गमदो जयत्यहो तरुणतारम्भः ॥ ८० ॥

कोमल कलेवर रूपी लता का वसन्त सुन्दर मुख रूपी चन्द्रबिम्ब का शुक्लपक्ष और कामदेव रूपी हाथी का मद, यह तारुण्य का आरम्भ सर्वातिशायी है ॥८०॥

अत्र पूर्वाचार्यैर्व्याख्यातम्—तथा यदेकदेशेन विवर्तते विघटते विशेषेण वा वर्तते (तत्) तथोक्तम् इति । उभयथाप्येतदयुक्तं भवति । यद्वाक्यस्य यत्कस्मिंश्चिदेव स्थाने स्वपरिस्पन्दसमर्पणात्मकरूपणमादधाति क्वचिदिवेति तदेकदेशविवर्तिरूपकम् । यथा—

इस प्रकार समस्तवस्तु विषय रूपक की व्याख्या एवं उदाहरण प्रस्तुत करने के अनन्तर कुन्तक एकदेशविवर्ति रूपक की व्याख्या इस प्रकार प्रारम्भ करते हैं—

इस (एकदेश विवर्ति रूपक) के विषय में प्राचीन आचार्यों ने इस प्रकार व्याख्या की है, जैसे—जो एकदेश के द्वारा विवर्तित अर्थात् विघटित होता है अथवा विशेष रूप से विद्यमान रहता है वह एकदेशविवर्तित रूपक होता है । इस प्रकार दोनों ही ढंगों से की गयी व्याख्या अनुचित है । जो वाक्य के किसी एक ही स्थान पर कहीं ही अपने स्वरूप के समर्पण रूप आरोप को प्रस्तुत करता है वह एकदेश विवर्ति रूपक होता है । जैसे—

तडिद्वलयकक्ष्याणां बलाकामालभारिणाम् ।
पयोमुचां ध्वनिर्धीरो दुनोति मम तां प्रियाम् ॥ ८१ ॥

विद्युन्मण्डल रूपी कक्ष्या (हाथी की कमर में बाँधने वाली रस्सी) वाले, वगुलों की पङ्क्ति रूपी माला का धारण करने वाले बादलों की गम्भीर ध्वनि मेरी उस प्रिया को पीडित करती है ॥ ८१ ॥

अत्र विद्युद्वलयस्य कक्ष्यात्वेन, बलाकानां तन्मालात्वेन रूपणं विद्यते । पयोमुचां पुनर्दन्तिभावो नास्तीत्येकदेशविवर्तिरूपकमलङ्कारः । तदत्यर्थयुक्तियुक्तम्, यस्मादलङ्करणस्यालङ्कार्यशोभातिशयोत्पादनमेव प्रयोजनं नान्यत्किञ्चित् ।

तदुक्तम्—रूपकापेक्षया किञ्चिद् विलक्षणमेतेन यदि सम्पाद्यते तदेतस्य रूपकप्रकारान्तरतोपपत्तिः स्यात्, तदेतदास्तां तावत् । प्रत्युत कक्ष्यादिनिमित्तरूपणोचितमुख्यवस्तुविषये विघटमानत्वादलङ्कारदोषत्वं दुर्निवारतामवलम्बते । तस्मादन्यच्चैवैतदस्मात्समाधीयते ।

यहाँ विद्युन्मण्डल का कक्ष्या रूप से बगुलों की पङ्क्तियों का उसकी माला रूप में निरूपण किया गया है । किन्तु बादलों की हाथी रूपता नहीं है अतः यह एक

देशविवर्ति रूपकालङ्कार हुआ। यह बहुत ही युक्तिसङ्गत है, क्योंकि अलङ्कार का प्रयोजन अलङ्कार्य के सौन्दर्य को उपस्थित करना ही होता है दूसरा कुछ नहीं।''

यदि इसके द्वारा रूपक की अपेक्षा कुछ विलक्षणता लाई जाती है तो उससे इसकी रूपक की ही भेदान्तरता सिद्ध होती है जो इस तरह कहा गया है तो उसे रहने ही दीजिए। साथ ही कक्ष्या आदि निमित्तों के आरोप के लिए समीचीन मुख्यवस्तुविषय के बारे में विघटित हो जाने के कारण यह अलङ्कार-विषयक दोषता कठिनाई से हटाने योग्य हो उठती है। इस लिए इससे भिन्न समाधान दिया जाता है।

रूपकालङ्कारस्य परमार्थस्तावदयम्—यत् प्रसिद्धसौन्दर्यातिशयपदार्थ-सौकुमार्यनिबन्धनं वर्णनीयस्य वस्तुनः साम्यसमुल्लिखितं स्वरूपसंमर्पणग्रहणसामर्थ्यमविसंवादि। तेन 'मुखमिन्दुः' इत्यत्र मुखमिवेन्दुः सम्पाद्यते, तेन रूपणं विवर्तते। तदेवमयमलङ्कारः—

रूपकालङ्कार का वास्तविक रहस्य यह है—वर्णनीय वस्तु का प्रसिद्ध सौन्दर्य की अधिकता वाले पदार्थ की सुकुमारता पर आधारित साम्य के आधार पर समुद्भावित अपने स्वरूप के समर्पण को ग्रहण करने की अविसंवादिनी शक्ति हुआ करती है। इस लिए 'मुख चन्द्र है' इस कथन में मुख के तुल्य चन्द्र को बनाया जाता है और फिर उसी से आरोप निष्पन्न होता है। तो इस प्रकार इस अलङ्कार की व्यवस्था है।

हिमाचलसुतावल्लिगाढालिङ्गितमूर्तये।
संसारमरुमार्गैककल्पवृक्षाय ते नमः॥ ८२॥

(यथा वा)

उपोढरागेण विलोलतारकम्॥ ८३॥ इत्यादि।

हिमालय की पुत्री रूपी लता के द्वारा प्रगाढ़ रूप से आलिङ्गित शरीर वाले संसार रूपी मरुस्थल के मार्ग के लिए अद्वितीय कल्पवृक्ष रूप तुम्हें प्रणाम है।

अथवा जैसे—उपोढरागेण विलोलतारकम्॥ इत्यादि॥

प्रतीयमानरूपकं यथा—

लावण्यकान्तिपरिपूरितदिङ्मुखेऽस्मिन्
स्मेरेऽधुना तव मुखे तरलायताक्षि।
क्षोभं यदेति न मनागपि तेन मन्ये
सुव्यक्तमेव जलराशिरयं पयोधिः॥ ८४॥

प्रतीयमान रूपक (का उदाहरण) जैसे—

हे चञ्चल एवं विशाल नेत्रों वाली (सुन्दरि) ! इस समय (क्रोध के कालुष्य के दूर हो जाने के अनन्तर) आकृतिसौष्ठव एवं कान्ति से दिशाओं के मुखों को परिपूर्ण कर देने वाले तुम्हारे इस मुख के मुस्कुराहट युक्त होने पर भी यह समुद्र जो थोड़ा भी क्षोभ (चाञ्चल्य) को नहीं प्राप्त होता है, उससे मैं समझता हूँ कि स्पष्ट रूप से यह जल (जड़) समूह ही है।

नयन्ति कवयः काञ्चिद्वक्रभावरहस्यताम् ।
अलङ्कारान्तरोल्लेखसहायं प्रतिभावशात् ॥ २० ॥

कविजन अपनी शक्ति के सामर्थ्य से अन्य अलङ्कारों की रचना की सहायता वाले (इस रूपकालङ्कार) को वक्रता के किसी लोकोत्तर रहस्य से युक्त कर देते हैं ॥ २० ॥

तदेव विच्छित्त्यन्तरेण विशिनष्टि—एतदेवरूपकाख्यमलङ्करणं काञ्चिदलौकिकवक्रभावरहस्यतां वक्रत्वपरमार्थतां नयन्ति प्रापयन्ति। तथोपनिबध्नन्ति यथा वक्रताविच्छित्तिवैचित्र्यादिरूढिरमणीयतया तदेव तत्त्वं परं प्रतिभासते। कीदृशम्—अलङ्कारान्तरोल्लेखसहायम्। अलङ्कारान्तरस्यान्यस्य ससन्देहोत्प्रेक्षाप्रभृतेः उल्लेखः समुद्भेदः सहायः काव्यशोभातिशयोत्पादने सहकारी यस्य तत्तथोक्तम्। कस्मान्नयन्ति—प्रतिभावशात्। स्वशक्तेरायत्तत्वात्। तथाविधे लोककान्तिक्रान्तिगोचरे विषये तस्योपनिबन्धो विधीयते। यत्र तथाप्रसिद्धाभावात् सिद्धव्यवहारावतरणं साहसिकमिवावभासते विभूषणान्तरसहायस्य पुनरुल्लेखत्वेन विधीयमानत्वात् सहृदयहृदयसंवादसुन्दरी परा प्रौढिरुत्पद्यते।

(यथा)—

कि तारुण्यतरोः······इत्यादि ॥ ८५ ॥

उसी (रूपक अलङ्कार) को दूसरी शोभा से विशिष्ट करते हैं—इसी रूपक नाम के अलङ्कार को (कविजन) किसी लोकोत्तर वक्रभाव की रहस्यता के पास ले जाते हैं अर्थात् वक्रता की परमार्थता को प्राप्त करा देते हैं। वैसे ढङ्ग से प्रस्तुत किए गए हुए होते हैं जिससे कि वक्रता की रमणीतता के वैचित्र्य आदि की रूढिसुन्दरता के कारण वही तत्त्व उत्कृष्ट रूप में प्रतिभासित होता है।

कैसे (रूपकालङ्कार) को ? अन्य अलङ्कारों की रचना की सहायता वाले। अलङ्कारान्तर अर्थात् दूसरे ससन्देह उत्प्रेक्षा आदि (अलङ्कारों) का उल्लेख अर्थात् सृष्टि या रचना जिसकी सहाय अर्थात् काव्य में सौन्दर्यातिशय की सृष्टि करने में

सहयोगी होती है उसे (रूपकालङ्कार को वक्रता की परमार्थता को प्राप्त करा देते हैं) किससे प्राप्त करा देते हैं—प्रतिभावश अर्थात् अपनी शक्ति की सामर्थ्य से। उस तरह के लौकिक कान्ति के अतिक्रमण कर जाने वाले विषय के गोचर होने पर उसका वर्णन किया जाता है। जहाँ उतना प्रसिद्ध होने के अभाववश प्रसिद्ध व्यवहार का प्रयोग अनुचित सा प्रतीत होता है वहाँ दूसरे अलङ्कार को साथ लेकर आने वाले (रूपक) के पुनरुल्लेख के द्वारा प्रस्तुत किए जाने के नाते सहृदयों के हृदय के साथ संवादी होने के नाते सुन्दर एक उत्कृष्ट परिपाक उत्पन्न हो जाता है। जैसे—

'किं तारुण्यतरोः' इत्यादि।

इसके बाद कुन्तक ने किसी अन्य श्लोकार्द्ध को भी उदाहरण रूप में उद्धृत किया है जिसे कि डा० डे पढ़ नहीं सके। इस प्रकार रूपक का विवेचन समाप्त कर कुन्तक 'अप्रस्तुतप्रशंसा' अलङ्कार का विवेचन प्रारम्भ करते हैं।

अप्रस्तुतोऽपि विच्छित्तिं प्रस्तुतस्यावतारयन्।
यत्र तत्साम्यमाश्रित्य सम्बन्धान्तरमेव वा ॥ २१ ॥
वाक्यार्थोऽसत्यभूतो वा प्राप्यते वर्णनीयताम्।
अप्रस्तुतप्रशंसेति कथितासावलङ्कृतिः ॥ २२ ॥

जहाँ उस (रूपक के लिए उपयोगी) समानता के अथवा दूसरे (निमित्त-भावादि) सम्बन्धों के आधार पर प्रस्तुत (अर्थात् वर्णन के लिए अभिप्रेत पदार्थ) की शोभा को उत्पन्न करता हुआ अप्रस्तुत अथवा असत्यभूत भी वाक्यार्थ वर्णन के योग्य बनाया जाता है उसे (आलङ्कारिकों ने) अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार कहा है ॥ २१–२२ ॥

एवं रूपकं विचार्य तद्दर्शनसम्पन्निबन्धनामप्रस्तुतप्रशंसां प्रस्तौति—अप्रस्तुतोऽपीत्यादि। अप्रस्तुतप्रशंसेति कथितासावलङ्कृतिः—अप्रस्तुत-प्रशंसेति नाम्ना सा कथिता-अलङ्कारविद्भिरलङ्कृतिः। कीदृशी—यत्र यस्यामप्रस्तुतोऽप्यविवक्षितः पदार्थो वर्णनीयतां प्रति प्राप्यते वर्णना-विषयः सम्पाद्यते। किं कुर्वन्—प्रस्तुतस्य विवक्षितार्थस्य विच्छित्तिमुप-शोभामवतारयन् समुल्लासयन्।

इस प्रकार रूपक (अलङ्कार) का विवेचन कर उसके दर्शन की सम्पत्ति के मूल वाले (अर्थात् जिसके मूल में रूपक की दर्शनसम्पत्ति अर्थात् तदुपयोगी समता रहती है उस) अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार को प्रस्तुत करते हैं—अप्रस्तुतोऽ-पीत्यादि—कारिका के द्वारा। अप्रस्तुतप्रशंसा यह अलङ्कार कहा गया है

अर्थात् अलङ्कारवेत्ताओं ने उसे अप्रस्तुतप्रशंसा इस नाम का अलङ्कार कहा है। किस प्रकार की (यह अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कृति है)—जहाँ अर्थात् जिस (अलङ्कार) में अप्रस्तुत अर्थात् कहने के लिए नहीं भी अभिप्रेत पदार्थ वर्णनीयता को प्राप्त हो जाता है अर्थात् वर्णन का विषय बनाया है। क्या करता हुआ—प्रस्तुत अर्थात् कहने के लिये अभिप्रेत पदार्थ की विच्छित्ति अर्थात् सौन्दर्य को अवतीर्ण करता हुआ समुल्लसित करता हुआ (अप्रस्तुत पदार्थ वर्णन का विषय बनाया जाता है)।

द्विविधो हि प्रस्तुतः पदार्थः सम्भवति—वाक्यान्तर्भूतपदमात्रसिद्धः सकलवाक्यव्यापककार्यो विविधस्वपरिस्पन्दातिशयविशिष्टप्राधान्येन वर्तमानश्च। तदुभयरूपमपि प्रस्तुतं प्रतीयमानतया चेतसि विधाय पदार्थान्तरमप्रस्तुतं तद्विच्छित्तिसम्पत्तये वर्णनीयतामस्यामलङ्कृतौ कवयः प्रापयन्ति। किं कृत्वा—तत्साम्यमाश्रित्य। तदनन्तरोक्तरूपकालङ्कारोपकारि साम्यं समत्वं निमित्तीकृत्य। सम्बन्धान्तरमेव वा निमित्तभावादि संश्रित्य। वाक्यार्थोऽसत्यभूतो वा—परस्परान्वयपदसमुदायलक्षणवाक्यकार्यभूतः। साम्यं सम्बन्धान्तरं वा समाश्रित्याप्रस्तुतं प्रस्तुतशोभायै वर्णनीयतां यत्र नयन्तीति।

प्रस्तुत पदार्थ दो प्रकार का सम्भव होता है—(एक तो) वाक्य में अन्तर्भूत (विद्यमान) केवल एक पद से ही सिद्ध हो जाने वाला होता है (तथा दूसरा वह है) जिसका कार्य सम्पूर्ण वाक्य में व्यापक रहता है तथा अपने नाना प्रकार के स्वभावोत्कर्ष से विशिष्ट प्रधानता के साथ विद्यमान रहता है। इस प्रकार इस अलङ्कार में कविजन दोनों प्रकार के उस प्रस्तुत पदार्थ को गम्यमान रूप में अपने हृदय में रख कर, उसके सौन्दर्य की समृद्धि के लिए दूसरे अप्रस्तुत पदार्थ को वर्णन का विषय बनाते हैं। क्या करके (कविजन अप्रस्तुत को वर्णन का विषय बनाते हैं) उस साम्य का आश्रय ग्रहण कर। उस से तात्पर्य है अभी प्रतिपादित किए गये रूपक अलङ्कार का उपकार करने वाले साम्य अर्थात् समानता से, उसको निमित्त बनाकर अथवा दूसरे सम्बन्ध अर्थात् निमित्त (नैमित्तिक) भाव आदि का आश्रयण कर (अप्रस्तुत पदार्थ को कविजन वर्णन का विषय बनाते हैं)। अथवा असत्य भूत, वाक्यार्थ अर्थात् परस्पर अन्वय वाले पदों के समुदाय स्वरूप वाक्य का कार्यभूत (वर्णन का विषय बनाया जाता है)। साम्य अथवा दूसरे सम्बन्ध का आश्रयण करके अप्रस्तुत को प्रस्तुत की शोभा के लिए जहाँ पर वर्णन का विषय बनाते हैं।

साम्यसमाश्रयणाद्वाक्यान्तर्भूतप्रस्तुतपदार्थप्रशंसा (यथा)—

लावण्यसिन्धुरपरैव हि केयमत्र
यत्रोत्पलानि शशिना सह सम्प्लवन्ते ।
उन्मज्जति द्विरदकुम्भतटी च यत्र
यत्रापरे कदलिकाण्डमृणालदण्डाः ॥ ८६ ॥

साम्य के आधार पर वाक्य में अन्तर्भूत प्रस्तुत पदार्थ की प्रशंसा का उदाहरण जैसे—(कोई युवक किसी तरुणी को नदी में स्नान करते हुए देख कर कहता है कि) यहाँ यह कौन सी दूसरी (सौन्दर्य) लावण्य की सरिता (प्रवाहित हो रही है) जिसमें चन्द्रमा के साथ कमल तैर रहे हैं, एवं जिसमें हाथी की कपोलस्थली उभर रही है तथा जहाँ दूसरे कदलीस्तम्भ एवं मृणालदण्ड (दिखाई पड़ते हैं) ।

साम्याश्रयणात्सकलवाक्यव्यापकप्रस्तुतपदार्थप्रशंसा (यथा)—

छाया नात्मन एव या कथमसावन्यस्य निष्प्रग्रहा
ग्रीष्मोष्मापदि शीतलस्तलभुवि स्पर्शोऽनिलादेः कुतः ।
वार्ता वर्षशते गते किल फलं भावीति वार्तैव सा
द्राघिम्णा मुषिताः कियच्चिरमहो तालेन बाला वयम् ॥ ८७ ॥

साम्य के आधार पर सम्पूर्ण वाक्य में व्यापक प्रस्तुत पदार्थ की प्रशंसा का उदाहरण जैसे—

हम कम समझ लोग तालवृक्ष की ऊंचाई से कितने ही समय तक ठगे गए जिसकी छाया अपने ही लिए भलीभाँति ग्रहण करने के योग्य नहीं है वह दूसरे के ग्रहण करने योग्य कैसे हो सकती है। ग्रीष्म की गर्मी की बिपत्ति के आने पर जिसके नीचे की ही धरती पर शीतलता नहीं दिखाई देती तो उसकी बायु आदि से शीतल स्पर्श कैसे मिल सकता है। यह कहना कि सौ सालों के बाद इसमें फल लगेगा यह एक कोरी बात ही रह जाती है।

यहाँ मैंने सुभाषितावली (श्लो० ८२१) का पाठ ग्रहण किया है क्योंकि 'वार्तावर्षशतैरनेकलवलं' इस प्राचीन पाठ में 'अनेकलवलम्' यह बहुव्रीहिपद किस विशेष्य का विशेषण होगा यह समझ में नहीं आता। पता नहीं डा० डे इसे कैसे संगत मानते हैं।

सम्बन्धान्तराश्रयणाद्वाक्यन्तर्भूतप्रस्तुतपदार्थप्रशंसा (यथा)—

इन्दुर्लिप्त इवाञ्जनेन जडिता दृष्टिर्मृगीणामिव
प्रम्लानारुणिमेव विद्रुमलता श्यामेव हेमप्रभा ।

कार्कश्यं कलया च कोकिलवधूकण्ठेष्विव प्रस्तुतं
सीतायाः पुरतश्च हन्त शिखिनां बर्हाः सगर्हा इव ।। ८८ ।।

दूसरे सम्बन्ध के आधार पर वाक्य में अन्तर्भूत प्रस्तुत पदार्थ की प्रशंसा जैसे—आश्चर्य है ! सीता के सामने चन्द्रमा मानों काजल से पोत दिया गया है, हरिणियों की आँखें मानों जड हो गई हैं, मूंगे की लता मानों मुरझाई हुई (अर्थात् धीमी पड़ गई) लालिमा वाली हो गई है, स्वर्णप्रभा मानों श्याम वर्ण हो गई है, एवं कठोरता मानो कपटपूर्वक कोकिलबधुओं के कण्ठ में उपस्थित हो गई है तथा मयूरों की पूँछें मानो निन्दनीय हो गई हैं ।

सम्बन्धान्तराश्रयणाद् सकलवाक्यव्यापकप्रस्तुतप्रशंसा (यथा)—

परामृशति सायकं क्षिपति लोचनं कार्मुके
विलोकयति वल्लभां स्मितसुधार्द्रवक्त्रं स्मरः ।
मधोः किमपि भाषते भुवननिर्जयाग्र्यावनि
गतोऽहमिति हर्षितः स्पृशति गोत्रलेखामहो[1] ।। ८९ ।।

अन्य सम्बन्ध के आधार पर समस्त वाक्य में व्यापक प्रस्तुत पदार्थ की प्रशंसा जैसे—

अहो ! कामदेव बाणों का परामर्श करता है, धनुष पर निगाह फेंकता है, मुस्कुराहट रूपी अमृत से मुख को आर्द्र कर प्रियतमा को देखता है, मधु से कुछ बातें करता है, 'लोकों की विजय के लिए रणक्षेत्र के अग्रभाग में पहुँच गया हूँ' (ऐसा सोचकर) अतः हर्षित होकर छत्ररूपी चन्द्रलेखा का स्पर्श कर रहा है। (अगर 'गात्रलेखां स्पृशति' यह पाठ किया जाय तो ताल ठोंकता है यह अर्थ अधिक संगत होगा) ।

इसके वाद 'असत्यभूतवाक्यार्थतात्पर्याप्रस्तुतप्रशंसा' के उदाहरण-स्वरूप कुन्तक ने एक प्राकृत श्लोक को उद्धृत किया है जो कि पाण्डुलिपि के

---

१. आचार्यविश्वेश्वर जी ने यहाँ 'गोत्रलेखाम्' पाठ देकर के 'कामदेव (उस नवयौवना के) अङ्गों का स्पर्श करता है ।' यह अर्थ दिया है । गोत्र का कोश है—

"गोत्रं क्षेत्रेऽन्वये छत्रे सम्भाव्ये बोधवर्त्मनोः ।
वने नाम्नि च, गोत्रोऽद्रौ, गोत्रा भुवि गवांगणे ॥" (अनेकार्थसङ्ग्रह)

इन पर्यायों में से किसी का भी ग्रहण करने पर विश्वेश्वर जी का अर्थ नहीं निकल पाता ।

यहाँ कुन्तक के अनुसार कामदेव का चेष्टातिशय अप्रस्तुत है जब कि प्रस्तुत युवती के यौवन के प्रारम्भ का निर्देश करता है ।

अत्यन्त भ्रष्ट होने के कारण डा० डे द्वारा नहीं पढ़ा जा सका। इसके अनन्तर इस प्रकरण का उपसंहार करते हुए कुन्तक कहते हैं कि—

तदेवमयमप्रस्तुतप्रशंसाव्यवहारः कवीनामतिविततप्रपञ्चः परिदृश्यते। तस्मात्सहृदयैश्च स्वयमेवोत्प्रेक्षणीयः। प्रशंसाशब्दोऽत्र अर्थप्रकाशादिवद्विपरीतलक्षणया वर्तते।

तो इस प्रकार यह अप्रस्तुतप्रशंसा का व्यवहार कवियों में अत्यधिक विस्तृत क्षेत्र वाला दिखाई पड़ता है, अतः सहृदयजन स्वयं इसको समझें। यहाँ पर प्रशंसा शब्द अर्थप्रकाश आदि पदों के व्यवहार में पायी जाने वाली विपरीत लक्षणा से अर्थ प्रस्तुत करता है।

शैवाद्वैत में प्रकाशस्वरूप केवल शिव हैं अर्थ नहीं। वाच्यवाचकरूप जगत् तो शक्तिपरिस्पन्दमात्र है, अतः अर्थप्रकाश में मुख्यार्थ बाधित माना जायगा। वस्तुतः अर्थ प्रकाशरूप शिव के विमर्श से आभासित होता है न कि अर्थ का कोई प्रकाश हो सकता है। अतएव विपरीत लक्षणा के द्वारा प्रकाशविमृष्ट अर्थ रूप अर्थ ही गृहीत होगा।

इस प्रकार अप्रस्तुतप्रशंसा का व्याख्यान समाप्त कर कुन्तक पर्यायोक्त अलङ्कार का विवेचन प्रारम्भ करते हैं। पर्यायोक्त अलङ्कार का लक्षण इस प्रकार है—

यद्वाक्यान्तरवक्तव्यं तदन्येप समर्थ्यते।
येनोपशोभानिष्पत्त्यै पर्यायोक्तं तदुच्यते ॥ २३ ॥

दूसरे वाक्य द्वारा प्रतिपादित करने योग्य वस्तु सौन्दर्य की सृष्टि के लिए, उससे भिन्न जिस (वाक्य के) द्वारा प्रतिपादित की जाती है उसे पर्यायोक्त (अलङ्कार) कहा जाता है ॥ २३ ॥

एवमप्रस्तुतप्रशंसां विचार्य विवक्षितार्थप्रतिपादनाय प्रकारान्तराभिधानत्वादनयैव समानप्रायं पर्यायोक्तं विचारयति—यद्वाक्यान्तरेत्यादि। पर्यायोक्तं तदुच्यते—पर्यायोक्ताभिधानमलङ्करणं तदभिधीयते। कीदृशम्—यद्वाक्यान्तरवक्तव्यं वस्तु वाक्यार्थलक्षणं पदसमुदायान्तराभिधेयं तदन्येन वाक्यान्तरेण येन समर्थ्यते प्रतिपाद्यते। किमर्थम्—उपशोभानिष्पत्त्यै विच्छित्तिसम्पत्तये। तत्पर्यायोक्तमित्यर्थः।

तदेवं पर्यायवक्रत्वात् किमत्रातिरिच्यते ? पर्यायवक्रत्वस्य पदार्थमात्रं वाच्यतया विषयः पर्यायोक्तस्य वाक्यार्थोऽप्यङ्गतयेति तस्मात्पृथगभिधीयते। उदाहरणं यथा—

इस प्रकार अप्रस्तुतप्रशंसा का विवेचन कर विवक्षित अर्थ की प्रतीति कराने के लिए दूसरे ढङ्ग से प्रतिपादन किये जाने के कारण लगभग इसी (अप्रस्तुतप्रशंसा) के सदृश पर्यायोक्त (अलङ्कार) का विवेचन करते हैं— यद्वाक्यान्तर इत्यादि कारिका के द्वारा। पर्यायोक्त उसे कहा जाता है अर्थात् उसको पर्यायोक्त नाम का अलङ्कार कहा जाता है। कैसे (उसको)—जो दूसरे वाक्य के द्वारा कही जाने वाली अर्थात् अन्य पदसमूह के द्वारा प्रतिपादित की जाने वाली वाक्यार्थरूप वस्तु उससे भिन्न जिस दूसरे वाक्य से समर्थित अर्थात् प्रतिपादित की जाती है। किस लिए—उपशोभा की निष्पत्ति के लिए अर्थात् सौन्दर्य की प्रतीति कराने के लिए। वह पर्यायोक्त (अलङ्कार) होती है यह अभिप्राय हुआ।

इस पर पूर्वपक्षी प्रश्न करता है कि इस प्रकार यहाँ पर्यायवक्रता से अधिक क्या उत्कर्ष आता है (यह तो पर्यायवक्रता ही हुई)? इसका ग्रन्थकार उत्तर देता है कि 'पर्यायवक्रता का वाच्यरूप से केवल पदार्थ ही विषय होता है जब कि पर्यायोक्त अलङ्कार का वाक्यार्थ भी अङ्ग रूप में विषय होता है इसी लिए इसका अलग से प्रतिपादन किया गया है। इसका उदाहरण जैसे—

चक्राभिघातप्रसभाज्ञयैव चकार यो राहुवधूजनस्य।
आलिङ्गनोद्दामविलासबन्धं रतोत्सवं चुम्बनमात्रशेषम्॥ ६०॥

जिस (विष्णु भगवान्) ने सुदर्शन चक्र के प्रहाररूप अनुल्लङ्घनीय आदेश से ही राहु की स्त्रियों के सम्भोग के आनन्द को आलिङ्गन की प्रधानता वाले विलासों से शून्य केवल अवशिष्ट चुम्बन वाला कर दिया था।

इसके बाद ग्रन्थ की पाण्डुलिपि में 'अत्र ग्रन्थपातः' लिख कर कुछ ग्रन्थभाग के लुप्त होने की सूचना दी गई है। वस्तुतः यह 'ग्रन्थपात' का सङ्केत पाण्डुलिपि में रूपकालङ्कार के विवेचन के प्रारम्भ में एवं पर्यायोक्त के अन्त में दिया गया था। किन्तु रूपकालङ्कार के विवेचन के अनन्तर पुनः कुछ अंश का लुप्त होना द्योतित होता है क्योंकि उसके बाद विवेचित किए गए व्याजस्तुति अलङ्कार के केवल उदाहरण ही प्राप्त होते हैं लक्षण नहीं है। अतः डा० डे ने पाण्डुलिपि के कुछ पन्नों के क्रम की गड़बड़ी बताई है और उन्होंने दीपकालङ्कार के अनन्तर रूपकालङ्कार का विवेचन प्रस्तुत किया है क्योंकि वृत्ति में स्वयं ग्रन्थकार ने भी इस प्रकार सङ्केत किया है कि—

'एकदेशवृत्तित्वमनेकदेशवृत्तित्वञ्च रूपकस्य दीपकेन समालक्ष्यमिति तदनन्तर-मस्योपनिबन्धनम्।'

इस लिये दीपक के अन्दर रूपक का तदनन्तर अप्रस्तुतप्रशंसा का विवेचन कर पर्यायोक्त का विवेचन किया गया है। अब पर्यायोक्त के अनन्तर 'ग्रन्थपात' इस सङ्केत के बाद जो श्लोक उद्धृत किए गये हैं वे रूपकालङ्कार के उदाहरण न होकर व्याजस्तुति के उदाहरण हैं। इससे स्पष्ट है कि लुप्त ग्रन्थभाग में व्याजस्तुति का लक्षण भी सम्मिलित है। उसके उदाहरण इस प्रकार हैं—

भूभारोद्वहनाय शेषशिरसां सार्थेन सन्नह्यते
विश्वस्य स्थितये स्वयं स भगवान् जागर्ति देवो हरिः।
अद्याप्यत्र च नाभिमानमसमं राजंस्त्वया तन्वता
विश्रान्तिः क्षणमेकमेव न तयोर्जातेति कोऽयं क्रमः ॥६१॥

पृथ्वी के भार को वहन करने के लिए शेषनाग के फणों के समूह ही सन्नद्ध होते हैं और विश्व के पालन के लिए उन भगवान् विष्णु को ही जागरूक रहना पड़ता है। ऐ महाराज अप्रतिम अभिमान को धारण करते हुए तुम्हारे द्वारा एक क्षण भर के लिए आज भी उन दोनों को विश्राम न दिया जा सका यह बातों का कैसा सिलसिला रहा।

(यथा च)—

इन्दोर्लक्ष्मत्रिपुरजयिनः ॥ इति ॥ ६२ ॥

(यथा वा)—

हे हेलाजित···। इति ॥ ६३ ॥

(यथा च)—

नामाप्यन्यतरो···। इति ॥ ६४ ॥

और जैसे (उदाहरण सं० ३।४९ पर पूर्वोदाहृत)

इन्दोर्लक्ष्म त्रिपुरजयिनः ॥ यह श्लोक।

(या जैसे)—ऊदाहरण सं० ११९० पर पहले उदाहृत)

हे हेलाजित बोधिसत्त्व। इत्यादि श्लोक।

तथा जैसे—(उदाहरण सं० ११९१ पर पहले उद्धृत)

नामाप्यन्यतरोर्निमीलितमभूत् ॥ इत्यादि श्लोक।

इसके अनन्तर उत्प्रेक्षा अलङ्कार का विवेचन प्रारम्भ किया गया है। उत्प्रेक्षा का लक्षण इस प्रकार है—

सम्भावनानुमानेन सादृश्येनोभयेन वा।
निर्वर्ण्यातिशयोद्रेकप्रतिपादनवाञ्छया ॥ २४ ॥

वाच्यवाचकसामर्थ्याक्षिप्तस्वार्थैरिवादिभिः ।
तदिवेति तदेवेति वादिभिर्वाचकं विना ॥ २५ ॥
समुल्लिखितवाक्यार्थव्यतिरिक्तार्थयोजनम् ।
उत्प्रेक्षा.. ॥ २६ ॥

सम्भावना द्वारा लाये गए अनुमान के द्वारा अथवा सादृश्य के द्वारा या दोनों के द्वारा जहाँ पर वर्णनीय के आतिशय्य की उल्वणता को प्रतिपादित करने की इच्छा से 'वा' इत्यादि वाचक के बिना 'उसके से' या 'वह ही' इत्यादि प्रकारों से वाच्य वाचक के सामर्थ्य से लाए गए अपने अर्थ वाले इस आदि सम्भावना के वाचकों के द्वारा उल्लिखित वाक्यार्थ से भिन्न अर्थयोजन होता है उसे उत्प्रेक्षा कहते हैं ॥ २४–२६ ॥

सम्भावनेत्यादि । समुल्लिखितवाक्यार्थव्यतिरिक्तार्थयोजनम् उत्प्रेक्षा । समुल्लिखितः सम्यगुल्लिखितः स्वाभाविकत्वेन समर्पयितुं प्रस्तावितो वाक्यार्थः पदसमुदायोऽभिधेयवस्तु तस्माद् व्यतिरिक्तस्यार्थस्य वाक्यान्तरतात्पर्यलक्षणस्य योजनमुपपादनमुत्प्रेक्षाभिधानमलङ्करणम् । उत्प्रेक्षणमुत्प्रेक्षेति विगृह्यते । किंसाधनेनेत्याह सम्भावनानुमानेन । सम्भावनया यदनुमानं सम्भाव्यमानस्य···तेन ।

सम्भावनेत्यादि । भलीभाँति वर्णित वाक्यार्थ से भिन्न अर्थ की योजना उत्प्रेक्षा (होती है) । समुल्लिखित अर्थात् भलीभाँति वर्णित स्वाभाविक ढङ्ग से (अभिप्रेत वस्तु की) प्रतीति कराने के लिए प्रस्तुत किया गया वाक्यार्थ अर्थात् पदों का समूह रूप अभिधेय वस्तु उससे भिन्न अर्थ अर्थात् दूसरे वाक्य के तात्पर्यभूत (अर्थ) की योजना अर्थात् उपपादन उत्प्रेक्षा नाम का अलङ्कार होता है । उत्प्रेक्षणम् उत्प्रेक्षा यह उत्प्रेक्षा का विग्रह होता है । किस साधन से (योजना की जाती है) सम्भावना द्वारा लाये गए अनुमान के द्वारा । सम्भावना से जो सम्भाव्यमान का अनुमान किया जाता है उससे ।

प्रकारान्तरेणाप्येषा सम्भवतीत्याह—सादृश्येनेति । सादृश्येन साम्येनापि हेतुना समुल्लिखितवाक्यार्थव्यतिरिक्तार्थयोजनमुत्प्रेक्षैव । द्विविधं सादृश्यं सम्भवति—वास्तवं काल्पनिकञ्च । तत्र वास्तवमुपमादिविषयम् । काल्पनिकमिहाश्रियते ।

(सम्भावनानुमान से भिन्न) दूसरे ढङ्ग से भी यह (उत्प्रेक्षा) हो सकती है इसी बात को बताते हैं—सादृश्येन के द्वारा । सादृश्य अर्थात् समता के कारण भी सम्यक् वर्णित वाक्यार्थ से भिन्न अर्थ की योजना उत्प्रेक्षा ही होती है । सादृश्य

दो प्रकार का हो सकता है—(एक) वास्तविक (सादृश्य) तथा (दूसरा) काल्पनिक (सादृश्य)। उनमें वास्तविक (सादृश्य) उपमा आदि का विषय होता है। तथा काल्पनिक सादृश्य का आश्रय यहाँ (उत्प्रेक्षालङ्कार में) ग्रहण किया जाता है।

इसके बाद कुछ पङ्क्तियाँ लुप्त हैं। उन लुप्त पङ्क्तियों के अनन्तर विवेचन इस प्रकार प्रारम्भ होता है—

प्रकारान्तरमस्याः प्रतिपादयति–उभयेन वा। सादृश्यलक्षणेनोभयेन वा कारणद्वितयेन संवलितवृत्तिना प्रस्तुतव्यतिरिक्तार्थान्तरयोजनम्। उत्प्रेक्षा—प्रकारस्य तृतीयस्याप्यस्य केनाभिप्रायेणोपनिबन्धनमित्याह–निर्वर्ण्यातिशयोद्रेकप्रतिपादनवाञ्छया, वर्णनीयोत्कर्षोन्मेषसमर्पणाकाङ्क्षया। कथम्–तदिवेति तदेवेति वा द्वाभ्यां प्रकाराभ्याम्। तदिव अप्रस्तुतमिव, तदतिशयप्रतिपादनाय प्रस्तुतसादृश्योपनिबन्धः। तदेवेत्यप्रस्तुतमेवेति तत्स्वरूपप्रसारणपूर्वकं प्रस्तुतस्वरूपसमारोपः। प्रस्तुतोत्कर्षधाराधिरोहप्रतिपत्तये तात्पर्यान्तरयोजनम्। कैर्वाक्यैरुत्प्रेक्षा प्रकाश्यते इत्याह—इवादिभिः। इवप्रभृतिभिः शब्दैर्यथायोगं प्रयुज्यमानैरित्यर्थः। न चेदिति पक्षान्तरमभिधत्ते—वाच्यवाचकसामर्थ्याक्षिप्तस्वार्थैः। तैरेव प्रयुज्यमानैः, प्रतीयमानवृत्तिभिर्वा।

इन उत्प्रेक्षा के अन्य (तीसरे) प्रकार का प्रतिपादन करते हैं—अथवा दोनों के द्वारा। सादृश्य स्वरूप वाले दोनों के द्वारा अथवा दोनों ही कारणों से मिली हुई अवस्था द्वारा प्रस्तुत से भिन्न दूसरे अर्थ की योजना (उत्प्रेक्षा ही होती है)। उत्प्रेक्षा के इस तीसरे प्रकार का भी किस आशय से प्रयोग किया जाता है इसे बताते हैं—वर्ण्यमान के अतिशय के बाहुल्य का प्रतिपादन करने की इच्छा से अर्थात् जिसका वर्णन किया जा रहा है उसके उत्कर्ष की अधिकता को सम्पादित करने की अभिलाषा से। कैसे—'उसके सदृश' अथवा 'वह ही' इन दोनों प्रकारों से। 'उसके सदृश' का अर्थ है अप्रस्तुत के सदृश। अर्थात् उस प्रस्तुत के उत्कर्ष का प्रतिपादन करने के लिए प्रस्तुत के (अप्रस्तुत के साथ) सादृश्य का वर्णन किया जाता है। 'वह ही' का अर्थ है अप्रस्तुत ही अर्थात् उस (अप्रस्तुत) के स्वरूप को विस्तृत कर प्रस्तुत के स्वरूप का समारोप। प्रस्तुत के उत्कर्ष को चरमसीमा पर पहुँचाने के लिए अन्य तात्पर्य की योजना उत्प्रेक्षा होती है। किन वाक्यों के द्वारा उत्प्रेक्षा प्रकाशित की जाती है—इव आदि के द्वारा। यथासम्भव प्रयुक्त किए जाने वाले इव इत्यादि शब्दों के द्वारा (उत्प्रेक्षा प्रकाशित की जाती है)। यदि (इवादि) न प्रयुक्त हुए तो दूसरा पक्ष

प्रतिपादित करते हैं—अर्थ एवं शब्द की सामर्थ्य से आक्षिप्त हो गये अपने अर्थ वाले उन्हीं प्रयुक्त किए जाने वाले (इवादि के द्वारा) अथवा गम्यवृत्ति वाले इवादि के द्वारा।

सम्भावनानुमानोत्प्रेक्षोदाहरणं (यथा)—

आपीडलोभादुपकर्णमेत्य प्रत्याहितः पांशुयुतैर्द्विरेफैः।
अमृष्यमाणेन महीपतीनां सम्मोहमन्त्रो मकरध्वजेन ॥ ६५ ॥

सम्भावना के द्वारा किए गए अनुमान से उत्प्रेक्षा का उदाहरण जैसे—

शिरोदाम के लोभ से कानों के पास आकर मकरन्दसंवलित भ्रमरों के माध्यम से क्षमा न करते हुए कामदेव के द्वारा राजाओं के (कानों में) वशीकरण मन्त्र निक्षिप्त कर दिया गया है।

काल्पनिकसादृश्योदाहरणं (यथा)—

राशीभूतः प्रतिदिनमिव त्र्यम्बकस्याट्टहासः ॥ ६६ ॥

यथा वा—

निर्मोकमुक्तिरिव गगनोरगस्य इत्यादि ॥ ६७ ॥

काल्पनिक सादृश्य (से की गई उत्प्रेक्षा) का उदाहरण जैसे—

मानों शिव जी का दैनंदिन अट्टहास पुंजीभूत हो उठा हो।

अथवा जैसे—

आकाश रूपी सर्प के केंचुलपरित्याग सा। इत्यादि।

इसके बाद वास्तवसादृश्योत्प्रेक्षा के उदाहरण रूप में ग्रन्थकार ने एक प्राकृत श्लोक को उद्धृत किया है जो कि पाण्डुलिपि के अत्यन्त भ्रष्ट होने के कारण पढ़ा नहीं जा सका। उसका दूसरा उदाहरण इस प्रकार हैं—

वास्तवसादृश्योदाहरणं (यथा)—

उत्फुल्लचारुकुसुमस्तबकेन नम्रा
येयं धुता रुचिरचूतलता मृगाक्ष्या।
शङ्के न वा विरहिणीमृदुमर्दनस्य
मारस्य तर्जितमिदं प्रति पुष्पचापम् ॥ ६८ ॥

वास्तविक सादृश्य (से की गई उत्प्रेक्षा) का उदाहरण जैसे—

मृगनयनी ने जो विकसित सुन्दर फूलों के गुच्छे से झुकी हुई इस सुन्दर आम्रलता को हिला दिया है, मैं ऐसा सोचता हूँ कहीं वियोगिनियों का मृदु मर्दन करने वाले कामदेव की प्रत्येक पुष्प के धनुष की तर्जना तो नहीं हैं।

इसके बाद ग्रन्थकार ने 'उभयोदाहरण' के रूप में भी एक प्राकृतश्लोक को उद्धृत किया है जो कि पाण्डुलिपि की अस्पष्टता के कारण पढ़ा नहीं जा सका।

तदेवेत्यत्र वादिभिर्विनोदाहरणम्, यथा—

चन्दनासक्तभुजगनिःश्वासानिलमूर्च्छितः।
मूर्च्छयत्येष पथिकान् मधौ मलयमारुतः ॥ ६६ ॥

'वह (अप्रस्तुत) ही' इस अर्थ में वा आदि के विना उत्प्रेक्षा का उदाहरण जैसे—

(मानो) चन्दन (के पेड़) में लिपटे हुए सर्पों की निःश्वासवायु से मूर्च्छित हुआ (ही) यह मलयपवन वसन्त ऋतु में राहियों को मूर्च्छित कर रहा है ॥

यथा वा—

देवि त्वन्मुखपङ्कजेन इत्यादि ॥ १०० ॥

यथा वा—

त्वं रक्षसा भीरु इत्यादि ॥ १०१ ॥

अथवा जैसे (उदाहरण संख्या २।४४ पर पूर्वोदाहृत)—

देवि त्वन्मुखपङ्कजेन । इत्यादि श्लोक ।

अथवा जैसे (उदाहरण संख्या २।८० पर पूर्वोद्धृत)

त्वं रक्षसा भीरु ॥ इत्यादि श्लोक ।

तदेवेत्यत्र वाचकं विनोदाहरणम् यथा—

एकैकं दलमुन्नमय्य इत्यादि ॥ १०२ ॥

'वह (अप्रस्तुत ही) इस अर्थ में वाचक के विना उत्प्रेक्षा का उदाहरण जैसे—

(उदाहरण संख्या १।१०२ पर पूर्वोद्धृत 'यत्सेनारजसामुदञ्चति···इत्यादि' श्लोक का उत्तरार्द्ध)

एकैकं दलमुन्नमय्य । इत्यादि श्लोक ।

इसके बाद ग्रन्थकार उत्प्रेक्षा के एक अन्य प्रकार को प्रस्तुत करता है जो इस प्रकार है

प्रतिभासात्तथा बोद्धुः स्वस्पन्दमहिमोचितम् ।
वस्तुनो निष्क्रियस्यापि क्रियायां कर्तृतार्पणम् ॥ २६ ॥

क्रियाहीन भी पदार्थों की क्रिया के प्रति अनुभव करने वाले को उस प्रकार की प्रतीति होने से अपने स्वभाव के उत्कर्ष के अनुरूप कर्तृत्व का आरोप (उत्प्रेक्षा अलङ्कार होता है) ॥ २६ ॥

तदिदमपरमुत्प्रेक्षायाः प्रकारं परिदृश्यते—प्रतिभासादित्यादि । क्रियायां साध्यस्वरूपायां कर्तृतारोपण स्वतन्त्रत्वसमारोपणम् । कस्य—वस्तुनः पदार्थस्य निष्क्रियस्य क्रियाविरहितस्यापि । कीदृशम्—स्वस्पन्द-

महिमोचितम्। तस्य पदार्थस्य यः स्वस्पन्दमहिमा स्वभावोत्कर्षस्तस्योचितमनुरूपम्। कस्मात्—बोद्धुरनुभवितुस्तथा तेन प्रकारेण प्रतिभासादवबोधात्। 'निर्वर्ण्यातिशयोद्रेकप्रतिपादनवाञ्छया' 'तदिवेति तदेवेति वादिभिर्वाचकं विना' इति पूर्ववदिहापि सम्बन्धनीये। उदाहरणं यथा—

तो यह उत्प्रेक्षा का दूसरा भेद दिखाई पड़ता है—'प्रतिभासात्' इत्यादि (कारिका के द्वारा उसका स्वरूपनिरूपण करते हैं। साध्य रूप क्रिया के प्रति कर्तृत्व का आरोप अर्थात् स्वतन्त्रता का समारोपण (उत्प्रेक्षा होती है)। किसकी (कर्तृता का आरोप) निष्क्रिय वस्तु अर्थात् क्रिया से हीन पदार्थ की (कर्तृता का आरोप)। कैसा (कर्तृता का आरोप)—अपने स्वभाव की महिमा के अनुरूप। उस पदार्थ की जो अपने स्पन्द की महिमा अर्थात् स्वभाव का अतिशय उसके प्रति उचित अर्थात् योग्य (कर्तृता का आरोप)। किस कारण से (ऐसा आरोप किया जाता है) बोद्धा अर्थात् अनुभव करने वाले की उसी प्रकार से प्रतीति अर्थात् ज्ञान होने के कारण (आरोप किया जाता है, और यह आरोप) 'वर्ण्यमान पदार्थ के अतिशय के बाहुल्य का प्रतिपादन करने की इच्छा से' एवं उस (अप्रस्तुत) के समान, इस अर्थ में या 'वह (अप्रस्तुत) ही' इस अर्थ में वा आदि तथा वाचक के विना (किया जाता है)—ऐसा पहले की ही भाँति यहाँ भी सम्बन्ध जोड़ लेना चाहिए। उदाहरण जैसे—

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः ॥ १०३ ॥

यथा वा—

तरन्तीवाङ्गानि स्खलदमललावण्यजलधौ ॥ १०४ ॥

अत्र दण्डिना विहितमिति न पुनर्विधीयते।

अन्धार अङ्गों को लीप सा रहा है तथा आकाश कज्जल सा बरसा रहा है।

अथवा जैसे—(उदाहरण संख्या २।९१ पर पूर्वोदाहृत)

तरन्तीवाङ्गानि स्खलदमललावण्यजलधौ ॥ आदि श्लोक)

यहाँ पर (अर्थात् ऐसे स्थलों पर) दण्डी ने (उत्प्रेक्षा का विधान) कर दिया है अतः पुनः विधान नहीं किया जा रहा है।

इसके अनन्तर कुन्तक एक तीसरा भी उदाहरण प्रस्तुत करते हैं जो पाण्डुलिपि के अत्यन्त भ्रष्ट होने के कारण पढ़ा नहीं जा सका। उसके बाद उत्प्रेक्षा के इस प्रकार के विषय में कुन्तक इस बात का निरूपण करते हैं कि—

अपहृत्यान्यालङ्कारलावण्यातिशयश्रियः ।
उत्प्रेक्षा प्रथमोल्लेखजीवितत्त्वेम जम्भते ॥ १०५ ॥

इत्यन्तरश्लोकः ।

दूसरे अलङ्कारों के सौन्दर्य एवं उत्कर्ष की शोभा का अपहरण कर उत्प्रेक्षा (अलङ्कार) प्रथम उल्लेख पाने वाले प्राण के रूप में स्फुरित होता है । यह अन्तर श्लोक है ।

इस प्रकार उत्प्रेक्षा अलङ्कार का निरूपण करने के अनन्तर कुन्तक अतिशयोक्ति अलङ्कार का विवेचन प्रारम्भ करते हैं—

यस्यामतिशयः कोऽपि विच्छित्त्या प्रतिपाद्यते ।
वर्णनीयस्य धर्माणां तद्विदाह्लाददायिनाम् ॥ २७ ॥

जिसमें वर्णन किए जाने वाले पदार्थ के सहृदयों को आनन्दित करने वाले धर्मों का कोई लोकोत्तर उत्कर्ष वैदग्ध्यपूर्ण ढङ्ग से प्रतिपादित किया जाता है । (उसे अतिशयोक्ति अलङ्कार कहते हैं) ॥ २७ ॥

एवमुत्प्रेक्षां व्याख्याय सातिशयत्वसादृश्यसमुल्लसितावसरामतिशयोक्तिं प्रस्तौति—यस्यामित्यादि । सातिशयोक्तिरलङ्कृतिरभिधीयते । कीदृशी—यस्यामतिशयः प्रकर्षकाष्ठाधिरोहः कोऽप्यतिक्रान्तप्रसिद्धव्यवहारसरणिः विच्छित्त्या प्रतिपाद्यते वैदग्ध्यभङ्ग्या समर्प्यते । कस्य—वर्णनीयस्य धर्माणाम्, प्रस्तावाधिकृतस्य वस्तुनः स्वभावानुसम्बन्धिनां परिस्पन्दानाम् । कीदृशानाम्—तद्विदाह्लाददायिनाम्, काव्यविदानन्दकारिणाम् । यस्मात्सहृदयहृदयाह्लादकारि स्वस्पन्दसुन्दरत्वमेव काव्यार्थः, ततस्तदतिशयपरिपोषिकायामतिशयोक्तावलङ्कारकृतः कृतादराः ।

इस प्रकार उत्प्रेक्षा का विवेचन कर अतिशययुक्तता रूप साम्य के कारण (उत्प्रेक्षा के अनन्तर) अवसरप्राप्त अतिशयोक्ति (अलङ्कार) का निरूपण करते हैं—अस्याम्—इत्यादि (कारिका के द्वारा) । उसे अतिशयोक्ति अलङ्कार कहा जाता है । कैसी होती है (वह अतिशयोक्ति)—जिसमें (लोक—) विख्यात व्यवहारपद्धति का उल्लङ्घन करने वाला कोई (लोकोत्तर) अतिशय अर्थात् उत्कर्ष का चरमसीमा पर पहुँच जाना विच्छित्ति के द्वारा प्रतिपादित किया जाता है अर्थात् वैदग्ध्यपूर्ण भङ्गी के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है (उसे अतिशयोक्ति कहते हैं) । किसके (अतिशय को इस ढङ्ग से प्रस्तुत किया जाता है ?)—वर्णनीय के धर्मों के (अतिशय को) अर्थात् प्रकरण के द्वारा अधिकृत पदार्थ के स्वभाव से सम्बन्धित व्यापारों के (अतिशय को प्रस्तुत किया जाता है) । किस प्रकार के धर्मों का (अतिशय) । उसे जानने वालों को आह्लाद प्रदान करने वाले अर्थात् काव्य (—तत्व) को समझने वाले (सहृदयों) का आनन्द उत्पन्न करने वाले

(धर्मों का अतिशय)। क्योंकि सहृदयों को आनन्दित करने वाले अपने स्वभाव से सुन्दर होना ही तो काव्य का अर्थ होता है। इसी लिए उस अतिशय को परिपुष्ट करने वाली अतिशयोक्ति के प्रति आलङ्कारिकों ने समादर प्रदान किया है।

इसके बाद कुन्तक ने अत्तिशयोक्ति के पांच उदाहरण देकर उनकी व्याख्या प्रस्तुत की है। पर पाण्डुलिपि के भ्रष्ट होने के कारण व्याख्या तो पढ़ी ही नहीं जा सकी। श्लोक भी केवल तीन ही पढ़े जा सके हैं जो इस प्रकार हैं—

स्वपुष्पच्छविहारिण्या चन्द्रभासा[1] तिरोहिताः।
अन्वमीयन्त भृङ्गालिवाचा[2] सप्तच्छदद्रुमाः॥ १०६॥

अपने ही फूलों की कान्ति का अपहरण कर लेने वाली चन्द्रमा की प्रभा से छिप गए हुए सप्तपर्ण के वृक्षों का भ्रमरों की ध्वनि से अनुमान किया गया।

(यथा वा)—

शक्यमोषधिपतेर्नवोदयाः कर्णपूररचनाकृते तव।
अप्रगल्भयवसूचिकोमलाश्छेत्तुमग्रनखसम्पुटैः कराः॥ १०७॥

अथवा जैसे—

नये-नये उदयवाली, अकठोर जौ के अङ्कुर की तरह सुकुमार, ओषधिपति (चन्द्रमा) की किरणें तुम्हारे कर्णावतंस की निर्माणक्रिया के लिए नाखूनों के अग्रभाग से काटी जा सकने योग्य है।

(यथा वा)—

यस्य प्रोच्छ्रयति प्रतापतपने तेजस्विनामित्यलं
लोकालोकधराधरावति यशःशीतांशुबिम्बे प्रथा।
त्रैलोक्यप्रथितावदानमहिमक्षोणीशवंशोद्भवौ
सूर्याचन्द्रमसौ स्वयं तु कुशलच्छायां समारोहतः॥ १०८॥

---

१. डा० डे ने वक्रोक्ति जीवित में 'स्वपुष्पच्छविहारिण्यश्चन्द्रद्दासा' पाठ दे रखा है जो असमीचीन है। जैसा पाठ मैंने दिया है वही पाठ भामह के काव्यालङ्कार (२।८२) बालमनोरमा सीरीज न० ५४ में दिया हुआ है।

२. डा० डे के तृतीय संस्करण में 'भृङ्गालीवाचा' पाठ छपा है। सम्भवतः वह क में दीर्घ ईकार छापने वालों के प्रमादवश छप गया है, उसे मैंने भृङ्गालिवाचा कर दिया है।

अथवा जैसे—

जिसके प्रतापरूपी सूर्य के ऊपर चढ़ जाने पर अन्य तेजस्वियों की चर्चा ही व्यर्थ है और जिसके यश रूपी चन्द्रबिम्ब के समुच्छ्रित होने पर लोक में प्रकाश धारण करने वालों के निम्नवर्ती होने के विषय में अत्यधिक चर्चा होने लगती है। त्रैलोक्य में विख्यात बल की महिमा वाले राजाओं के वंश के मूल भूत सूर्य और चन्द्रमा स्वयं कुशलता के लिए (जिसकी) छाया का आश्रयण कर लेते हैं।

इसके अनन्तर कुन्तक विस्तारपूर्वक उपमा अलङ्कार का विवेचन प्रारम्भ करते हैं। परन्तु जैसा कि डा० डे ने लिखा है इस स्थल पर पाण्डुलिपि अत्यन्त भ्रष्ट है। अतः इसके विवेचन को पूर्ण रूप से सही सही प्रस्तुत कर सकना कठिन हो गया है। प्रयास करके जैसा डा० डे ने मूल दे रखा है उसे ही उद्धृत कर उसका अर्थ यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। उपमा का लक्षण है—

विवक्षितपरिस्पन्दमनोहारित्वसिद्धये ।
वस्तुनः केनचित्साम्यं तदुत्कर्षवतोपमा ॥ २८ ॥

पदार्थ के वर्णन के लिए अभिप्रेत, किसी धर्म की हृदयावर्जकता की निष्पत्ति के लिए उसके अतिशय से सम्पन्न किसी पदार्थ के साथ (उसका) सादृश्य उपमा होता है॥ २८ ॥

तां साधारणधर्मोक्तौ वाक्यार्थे वा तदन्वयात् ।
इवादिरपि विच्छित्या यत्र वक्ति क्रियापदम्[1] ॥ २९ ॥

उस उपमा को साधारण धर्म का कथन होने पर इव आदि शब्द अथवा वाक्यार्थ में उन (पदार्थों) का सम्बन्ध होने के कारण क्रियापद भी वैदग्ध्यपूर्ण ढङ्ग से प्रतिपादित करते हैं॥ २९ ॥

इदानीं साम्यसमुल्लासिनो विभूषणवर्गस्य विन्यासविच्छित्तिं विचारयति--विवक्षितेत्यादि। यत्र यस्यां वस्तुनः प्रस्तावाधिकृतस्य केनचिदप्रस्तुतेन पदार्थान्तरेण साम्यं सादृश्यं सोपमा उपमालङ्कृति-

---

१. यदि इस कारिका को इस रूप में रखा जाय तो शायद अधिकसमीचीन होगा—

क्रियापदं विच्छित्त्या यत्र वक्ति इवादिरपि ।
तां साधारणधर्मोक्तौ वाक्यार्थे वा तदन्वयात् ॥

क्योंकि वृत्ति में जैसा कि डा० डे ने दे रखा है—एवंविधामुपमां कः प्रतिपादयतीत्याह—क्रियापदमित्यादि। इससे स्पष्ट है कि द्वितीय कारिका का प्रारम्भ 'क्रियापदम्' से ही होता है।

रूपमित्युच्यते। किमर्थमप्रस्तुतेन साम्यमित्याह—विवक्षितपरिस्पन्द-मनोहारित्वसिद्धये। विवक्षितो वक्तुमभिप्रेतो योऽसौ परिस्पन्दः कश्चिदेव धर्मविशेषस्तस्य मनोहारित्वं हृदयरञ्जकत्वं तस्य सिद्धिर्निष्पत्तिस्तदर्थम्। कीदृशेन पदार्थान्तरेण—तदुत्कर्षवता। तदिति मनोहारित्वं परामृश्यते। तस्योत्कर्षं सातिशयत्वं नाम तदुत्कर्षः, स विद्यते यस्य स तथोक्तस्तेन तदुत्कर्षवता।

तदिदमत्र तात्पर्यम्—वर्णनीयस्य विवक्षितधर्मसौन्दर्यसिद्ध्यर्थं प्रस्तुतपदार्थस्य धर्मिणो वा साम्यं युक्तियुक्ततामर्हति। धर्मेणेति नोक्तं केवलस्य तस्यासम्भवात्। तदेवमयं धर्मद्वारको धर्मिणोरुपमानोपमेय-लक्षणयोः फलतः साम्यसमुच्चयः पर्यवस्यति।...

अब सादृश्य के कारण प्रकाशित होने वाले अलङ्कारसमुदाय के वर्णन-सौन्दर्य का (ग्रन्थकार) विवेचन करता है—विवक्षित—इत्यादि कारिका के द्वारा। जहाँ अर्थात् जिसमें प्रकरण द्वारा अधिकृत वस्तु का किसी दूसरे अप्रस्तुत पदार्थ से साम्य अर्थात् सादृश्य होता है वह उपमा होती है, (विद्वान्) उसे उपमा रूप अलङ्कार कहते हैं। अप्रस्तुत के साथ सादृश्य किस लिए प्रतिपादित किया जाता है, इसे बताते हैं—कि विवक्षित धर्म की मनोहारिता की सिद्धि के लिए। विवक्षित अर्थात् वर्णन के लिये अभिप्रेत जो यह परिस्पन्द अर्थात् कोई धर्मविशेष उसका जो मनोहारित्व अर्थात् हृदय को आनन्दित करने का भाव उसकी सिद्धि अर्थात् निष्पत्ति (अथवा प्रतीति) के लिए (अप्रस्तुत के साथ साम्य प्रतिपादित किया जाता है)। कैसे दूसरे पदार्थ के साथ—उसके उत्कर्ष से युक्त (पदार्थ के साथ)। 'उस' से यहाँ मनोहारिता का परामर्श होता है। उस (मनोहारिता) का उत्कर्ष अर्थात् सातिशयता उसका उत्कर्ष है, वह (उत्कर्ष) जिसमें विद्यमान हो उसे उस उत्कर्ष से युक्त कहा जायगा। उसी उत्कर्ष युक्त अन्य पदार्थ के द्वारा (साम्य प्रतिपादित किया जाता है)।

तो यहाँ इसका आशय यह है कि—वर्णनीय (पदार्थ) के विवक्षित धर्म के सौन्दर्य की सिद्धि के लिये वर्णनीय पदार्थ का अथवा धर्मी का सादृश्य युक्तिसङ्गत होता है। धर्म के साथ (साम्य) नहीं कहा गया है क्योंकि (विना धर्मी) के अकेले धर्म की स्थिति असम्भव होती है। तो इस प्रकार परिणामरूप में यह (सादृश्य का समाहार) धर्म के द्वारा उपमान एवं उपमेय रूप धर्मियों में पर्यवसित होता है।

एवंविधामुपमां कः प्रतिपादयतीत्याह—क्रियापदमित्यादि। क्रियापदं धात्वर्थः। वाच्यवाचकसामान्यमात्रमत्राभिप्रेतम् न पुनराख्यातपदमेव। यस्मादमुख्यभावेनापि यत्र क्रिया वर्तते तदप्युपमावाचकमेव।...

तदेवमुभयरूपोऽ(पम)पि क्रियापरिस्पन्दः''' तामुपमां वक्त्यभिधत्ते। कथम्—विच्छित्त्या, वैदग्ध्यभङ्ग्या। विच्छित्तिविरहेणाभिधानेन तद्विदाह्लादकत्वं न सम्भवतीति भावः।

इस प्रकार की उपमा का प्रतिपादन कौन करता है इसे बताते हैं—क्रियापदम् इत्यादि (कारिका के द्वारा)। क्रिया पद अर्थात् धात्वर्थ। यहाँ केवल वाच्यवाचक सामान्य अर्थ ही अभीष्ट है केवल आख्यात पद अर्थ नहीं। क्योंकि जहाँ क्रिया गौण रूप से भी रहती है वह (क्रिया पद) भी उपमा का वाचक ही होता है।

इस प्रकार यह उभयरूप भी क्रिया का परिस्पन्द उस उपमा को प्रतिपादित करता है। (क्रिया पद) कैसे (प्रदिपादित करता है) विच्छित्ति के द्वारा अर्थात् वैदग्ध्यपूर्ण भङ्गिमा के द्वारा। इसका आशय यह है कि विच्छित्ति से हीन प्रतिपादन के द्वारा सहृदयों की आह्लादकता सम्भव नहीं।

तावत् क्रियापदं न केवलं तां वक्ति यावद् इवादिः इवप्रभृतिरपि। तत्समर्पणसामर्थ्यसमन्वितो यः कश्चिदेव शब्दविशेषः प्रत्ययोऽपि, समासो बहुव्रीह्यादिः विच्छित्त्या तां वक्तीत्यपिः समुच्चये। कस्मिन् सति—साधारणधर्मोक्तौ। साधारणः समानो यो साध्योपमानोपमेययोरुभयोरनुयायिनोः धर्मः''' । कुत्र—वाक्यार्थे वा। परस्परान्वयसम्बन्धेन पदसमूहो वाक्यम्। तदभिधेयं वस्तु विभूष्यत्वेन विषयगोचरं तस्याः। कथम्—यदन्वयात्। तदिति पदार्थपरामर्शः। तेषां पदार्थानां समन्वयाद् अन्योऽन्यमभिसम्बद्धत्वात्। वाक्ये बहवः पदार्थाः सम्भवन्ति, तत्र परस्पराभिसम्बन्धमाहात्म्यात्।

और यहाँ तक कि केवल क्रिया पद ही उस समता का प्रतिपादन नहीं करता बल्कि इव आदि भी (करते हैं)। उस (साम्य) को प्रतिपादित करने की सामर्थ्य से युक्त जो कोई भी शब्दविशेष, प्रत्यय या बहुव्रीहि आदि समास होते हैं सभी विच्छित्तिपूर्वक उस उपमा का प्रतिपादन करते हैं। इस प्रकार अपि शब्द का प्रयोग यहाँ समुच्चय अर्थ में हुआ है। किसके उपस्थित होने पर (साम्य का प्रतिपादन करते हैं) साधारण धर्म का कथन होने पर। साधारण अर्थात् साध्य उपमान एवं उपमेय दोनों ही अनुयायियों का जो समान धर्म'''(उसका कथन होने पर?) कहाँ—वाक्यार्थ में। परस्पर अन्वय रूप सम्बन्ध वाला होने के कारण पदों का समूह वाक्य होता है। उसके द्वारा प्रतिपाद्य पदार्थ अलङ्कार्य रूप से उस (उपमा) का बिषय होता है। कैसे—उनका सम्बन्ध होने से। तत् के द्वारा पदार्थ का परामर्श होता है। उन पदार्थों का

समन्वय होने से अर्थात् एक दूसरे से सम्बन्धित होने के कारण वाक्य में बहुत से पदार्थ सम्भव होते हैं, उनमें परस्पर सम्बन्ध के प्रभाव से (इवादि अथवा क्रियापद उपमा का प्रतिपादन करते हैं।)

तदेवं तुल्येऽस्मिन् वस्तुसाम्ये सत्युपमोत्प्रेक्षावस्तुनोः पृथक्त्वमित्याह—

तो इस प्रकार इस वस्तुसाम्य के समान होने पर (भी) उपमा एवं उत्प्रेक्षा की वस्तुएँ अलग अलग होती हैं इसे बताते हैं—

उत्प्रेक्षावस्तुसाम्येऽपि तात्पर्यगोचरो मतः ॥ ३० ॥

तात्पर्यं पदार्थव्यतिरिक्तवृत्ति वाक्यार्थजीवितभूतं वस्त्वन्तरमेव गोचरो विषयस्तद्विदामन्तःप्रतिभासः यस्य।

उत्प्रेक्षा की वस्तु अर्थात् अप्रस्तुत और वाचक आदि की समानता होते हुए भी उपमा के प्रसङ्ग में धर्म ही प्राधान्य प्राप्त करता है अर्थात् धर्मोपन्यास के द्वारा ही उपमा उत्प्रेक्षा से विविक्त विषय हो जाती है। उत्प्रेक्षा में समान धर्म को नहीं प्रस्तुत किया जाता। तात्पर्य अर्थात् पदों के अर्थों से भिन्न व्यापार वाला वाक्यार्थ का प्राणभूत दूसरा तत्त्व ही गोचर अर्थात् विषय याने उसे जानने वाले सहृदयों के हृदय में प्रतिभास होता है जिस धर्म का (वहीं धर्म उपमा को उत्प्रेक्षा से पृथक् कर देता है)। [पाण्डुलिपि की भ्रष्टता के कारण इन पंक्तियों का आशय सुस्पष्ट नहीं हो पाता]

अमुख्यक्रियापदपदार्थोपमोदाहरणं यथा—

पूर्णेन्दोस्तव संवादि वदनं वनजेक्षणे।
पुष्णाति पुष्पचापस्य जगत्त्रयजिगीषुताम् ॥ १०९ ॥

गौण क्रियापद पदार्थ की उपमा का उदाहरण जैसे—

हे कमलो के सदृश नेत्रों वाली (प्रियतमे!) पूर्ण चन्द्रमा के साथ साम्य रखने वाला तुम्हारा मुख पुष्पचाप (कामदेव) की तीनों लोकों में जीतने की इच्छा को परिपुष्ट करता है ॥ १०९ ॥

इवादिप्रतिपाद्यपदार्थोपमोदाहरणं यथा—

निपीयमानस्तवका शिलीमुखैः ॥ इत्यादि ॥ ११० ॥

इव आदि के द्वारा प्रतिपादित किये जाने वाले पदार्थ की उपमा का उदाहरण जैसे—

(उदाहरणसंख्या १।११९ पर पूर्वोद्धृत)

निपीयमानस्तवका शिलीमुखैः ॥ इत्यादि श्लोक ॥ ११० ॥

आख्यातपदप्रतिपाद्यपदार्थोपमोदाहरणं यथा—

ततोऽरुणपरिस्पन्द ।। इत्यादि ।। १११ ।।

आख्यात पद के द्वारा प्रतिपाद्य पदार्थ की उपमा का उदाहरण जैसे—(उदाहरण संख्या १।१९ पर पूर्वोद्धृत)

ततोऽरुण परिस्पन्द ॥ इत्यादि श्लोक ।। १११ ।।

तथाविधत्वाद्वाक्योपमोदाहरणं यथा—

मुखेन सा केतकपत्रपाण्डुना
कृशाङ्गयष्टिः परिमेयभूषणा ।
स्थिताल्पतारां तरुणीन्दुमण्डलां
विभातकल्पां रजनीं व्यडम्बयत् ।। ११२ ।।

इत्यादि ।

उस प्रकार का होने से वाक्योपमा का उदाहरण जैसे—

उस कृशाङ्गलता वाली और सीमित भूषणों वाली तरुणी ने अपने केवड़े की पंखुड़ियों की तरह पीले मुख के द्वारा थोड़े से बचे हुए तारों वाली, चन्द्रमण्डल वाली, प्रातःप्राया रात्रि की तुलना प्रस्तुत कर रही है ।। ११२ ।।

इत्यादि ।

अप्रतिपाद्यपदार्थोदाहरणं यथा—

चुम्बन्कपोलतलमुत्पुलकं प्रियायाः
स्पर्शोल्लसन्नयनमामुकुलीचकार ।
आविर्भवन्मधुरनिद्रमिवारविन्द-
'मिन्दुस्पृशास्तिमितमुत्पलमुत्पलिन्याः ।। ११३ ।।

अप्रतिपाद्य पदार्थोपमा का उदाहरण जैसे—

जिस तरह से चन्द्रमा के स्पर्श के कारण कमलिनी का ऊपर उठा हुआ और आती हुई मधुर नींद वाला अरविंद अस्तमित या स्तिमित हो उठता है उसी

---

१. डा० डे के द्वारा पादटिप्पणियों में उपन्यस्त मातृका में पाठ 'मिन्दस्पस्त' है। उन्होंने उसका रूप 'मित्रस्पृशास्त०' कर दिया है परन्तु 'अस्तमितता' या 'स्तिमितता' कमलिनी में केवल चन्द्र के ही स्पर्श से आ सकती है सूर्य के स्पर्श से तो वह प्रफुल्ल हो उठेगी न तो वह 'अस्तमित' होगी और न 'स्तिमित'। अतः मैंने यहाँ पर 'इन्दुस्पृशा' पाठ ग्रहण किया है। इसमें यहाँ पर केवल उकार की मात्रा डाल देने से मातृका का पाठ शुद्ध हो जायगा, पूरा का पूरा पद नहीं बदलना पड़ेगा।

तरह प्रियतमा के रोमाञ्चिक कपोल का चुम्बन लेते हुए नायक के चुम्बन स्पर्श के कारण उल्लसित होते हुए उसके नेत्र को आनन्द निमीलित चर दिया ॥ ११३ ॥

तथाविधवाक्योपमोदाहरणं यथा—

पाण्ड्योऽयमंसार्पितलम्बहारः
क्लृप्ताङ्गरागो हरिचन्दनेन।
आभाति बालातपरक्तसानुः
सनिर्झरोद्गार इवाद्रिराजः ॥ ११४ ॥

उस प्रकार की वाक्योपमा का उदाहरण जैसे—

कन्धों पर धारण किए गये लम्बे हार वाला एवं हरिचन्दन से शरीर पर किए गए लेप वाला यह पाण्डुजनपद का राजा प्रातःकालिक धूप से लाल शिखरों वाले, एवं झरनों के प्रवाह से युक्त पर्वतराज (हिमालय) की तरह सुशोभित हो रहा है ॥ ११४ ॥

इन सभी उदाहरणों का विश्लेषण करने के अनन्तर ग्रन्थकार कहता है कि—

आदिग्रहणाद् इवादिर्व्यतिरिक्तैरपि तथादिशब्दोत्तरेणोपमाप्रतीतिरिति।

'आदि' शब्द का ग्रहण करने के कारण इवादि से भिन्न भी 'तथा' आदि शब्दों के द्वारा उपमा की प्रतीति होती है।

पूर्णेन्दुकान्तिवदना नीलोत्पलविलोचना ॥ ११५ ॥

पूर्ण चन्द्र की कान्ति के सदृश कान्ति वाले मुख वाली एवं नील कमल के सदृश नयनों वाली (सुन्दरी स्त्री है) ॥ ११५ ॥

डा० डे कहते हैं कि सम्भवतः यह श्लोक समासोपमा का उदाहरण है।

यान्त्या मुहुर्वलितकन्धरमाननं त-
दावृत्तवृन्तशतपत्रनिभं वहन्त्या।
दिग्धोऽमृतेन च विषेण च पक्ष्मलाक्ष्या
गाढं निखात इव मे हृदये कटाक्षः ॥ ११६ ॥

मुड़े हुए डण्ठल वाले कमल के सदृश, बार बार मुड़ी हुई गर्दन वाले उस मुख को धारण करते हुए जाती हुई, घनी बरौनियों वाली आँखों वाली उस (नायिका) ने बिष तथा अमृत से उपलिप्त कटाक्ष को मेरे हृदय में मानो सुदृढ रूप से गाड़ दिया है ॥ ११ ॥

माञ्जिष्ठीकृतपट्टसूत्रसदृशः पादानयं पुञ्जयन्
यात्यस्ताचलचुम्बिनीं परिणतिं स्वैरं ग्रहग्रामणीः।
वात्यावेगविवर्तिताम्बुजरजश्छत्रायमाणः क्षणं
क्षीणज्योतिरितोऽप्ययं स भगवानर्णोनिधौ मज्जति ॥ ११७ ॥

मंजीठ के रंग के बना दिए गए हुए पट्ट सूत्र के सदृश अपनी किरणों को बटोरता हुआ ग्रहों के समूह का नायक (सूर्य) अस्तगिरि का स्पर्श करने वाली परिवृत्ति को स्वेच्छया प्राप्त कर रहा है। ववण्डर के वेग से घुमाए गए कमल के पराग के द्वारा क्षण भर को छत्र सा धारण करते हुए क्षीणज्योति होकर यह वे भगवान सूर्य सागर में डूबे जा रहे हैं ॥ ११७ ॥

रामेण मुग्धमनसा वृषलाञ्छनस्य
यज्जर्जरं धनुरभाजि मृणालभङ्गम्।
तेनाऽमुना त्रिजगदर्पितकीर्तिभारो
रक्षःपतिर्ननु मनाङ् न विडम्बितोऽभूत् ॥ ११- ॥

भोले चित्त वाले राम ने वृषभकेतन शिव के जर्जर धनुष को जो मृणाल तोड़ने के तुल्य (अनायास) तोड़ डाला उसकी वजह से तीनों लोकों में अपनी कीर्ति के बोझ को सर्मपित करने वाला राक्षसराज रावण इन राम के द्वारा क्या थोड़ा भी कदर्थित नहीं हुआ ? ॥ ११८ ॥

महीभृतः पुत्रवतोऽपि दृष्टिस्तस्मिन्नपत्ये न जगाम तृप्तीम्।
अनन्तपुष्पस्य मधोर्हि चूते द्विरेफमाला सविशेषसङ्गा ॥ ११९ ॥

अनेक पुत्रों तथा पुत्रियों वाले उस पर्वत (हिमालय) की भी दृष्टि उस सन्तान (पार्वती) में तृप्त नहीं हुई (अर्थात् हिमालय की दृष्टि हमेशा उसी पर लगी रहती थी) जैसे कि असङ्ख्य फूलों वाले वसन्त की भ्रमरपङ्क्ति आम्र-मञ्जरियों में विशेष रूप से आसक्त रहती है ॥ ११९ ॥

ऊपर के उद्धरणों में अन्तिम उद्धरण 'महीभृतः इत्यादि' में कुन्तक अर्थान्तरन्यास की भ्रान्ति को स्वीकार करते हैं। इसके बाद दो अन्य श्लोक —

इत्याकर्णितकालनेमिवचनो'''आदि ॥

तथा इतीदमाकर्ण्य तपस्विकन्या''''''आदि ॥ को भी कुन्तक उद्धृत करते हैं परन्तु पाण्डुलिपि के भ्रष्ट होने के कारण इन्हें पूर्णरूपेण उद्धृत कर पाना कठिन था। इसी लिए इन श्लोकों को मैंने नहीं उद्धृत किया।

इसके बाद कुन्तक इस प्रश्न पर विचार करते हैं कि क्या 'प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार' को अलग से एक अलङ्कार स्वीकार करना आवश्यक है अथवा उपमा में ही उसका अन्तर्भाव हो जायगा। कहते हैं—

समानवस्तुन्यासोपनिबन्धना प्रतिवस्तूपमापि न पृथग् वक्तव्यतामर्हति, पूर्वोदाहरणेनैव समानयोगक्षेमत्वात् ।

[भामह के अनुसार] समान वस्तु विन्यास के हेतु वाली प्रतिवस्तूपमा भी अलग (स्वतन्त्र अलङ्कार रूप से) कही जाने योग्य नहीं है । पूर्व उदाहरण के समान ही योगक्षेम वाली होने के कारण ।

समानवस्तुन्यासेन प्रतिवस्तूपमोच्यते ।
यथेवानभिधानेऽपि गुणसाम्यप्रतीतितः ।। १२० ।।

समान वस्तु के विन्यास के द्वारा गुणों के सादृश्य की प्रतीति होने के कारण, 'यथा' तथा 'इव' का कथन न होने पर भी प्रतिवस्तूपमा (अलङ्कार) कहा जाता है ।। १२० ।।

साधु साधारणत्वादिर्गुणोऽत्र व्यतिरिच्यते ।
स साम्यमापादयति विरोधेऽपि तयोर्यथा ।। १२१ ।।

यहाँ (उपमान तथा उपमेय के) साधुत्व एवं साधारणत्वादि गुण भिन्न होते हैं, तथा उन दोनों का विरोध होने पर भी वह (प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार) समानता की प्रतीति कराता है । जैसे—

कियन्तः सन्ति गुणिनः साधुसाधारणश्रियः ।
स्वादुपाकफलानम्राः कियन्ता वाध्वशाखिनः ।। १२२ ।।

साधुओं में सामान्य रूप से पाई जाने वाली श्री वाले कितने गुणी लोग हैं ? अथवा स्वादिष्ट पके हुए फलों से झुके हुए मार्ग में स्थित वृक्ष कितने हैं ?— अर्थात् बहुत कम हैं ।। १२२ ।।

अत्र समानविलसितानामुभयेषामपि कविविवक्षितविरलत्वलक्षणसाम्यव्यतिरेकि न किञ्चिदन्यन्मनोहारि जीवितमतिरच्यमानमुपलभ्यते ।

[इसके विषय में कुन्तक का कहना है कि] यहाँ समान सौन्दर्य वाले (गुणियों तथा वृक्षों) दोनों का ही, कवि के वर्णन के लिये अभिप्रेत 'विरलता' रूप सादृश्य से भिन्न कोई दूसरा मनोहर एवं उत्कर्षयुक्त तत्त्व नहीं दिखाई पड़ता है ।

इसके अनन्तर कुन्तक उसी प्रकार 'उपमेयोपमा' तथा 'तुल्ययोगिता' के भी अलग अङ्कार नहीं स्वीकार करते । अपि तु उनका भी अन्तर्भाव उपमा में ही कर देते हैं । वे कहते हैं—

तदेवं प्रतिवस्तूपमायाः प्रतीयमानोपमायामन्तर्भावोपपत्तौ सत्यामिदानीमुपमेयोपमादेरुपमायामन्तर्भावो विचार्यते—

तो इस प्रकार प्रतिवस्तूपमा (अलङ्कार) का प्रतीयमानोपमा में अन्तर्भाव सङ्गत हो जानेपर अब (ग्रन्थकार) उपमेयोपमा आदि का उपमा में अन्तर्भाव करने का विवेचन करते हैं—

सामान्या, न व्यतिरिक्ता, लक्षणानन्यथास्थितेः ॥ ३१ ॥

(उपमेयोपमा) सामान्य (उपमा ही) है, उससे भिन्न नहीं, लक्षण की अतिरिक्त रूप में स्थिति (सम्भव) न होने के कारण ॥ ३१ ॥

तत्स्वरूपाभिधानं लक्षणं, तस्यानन्यथास्थितेः अतिरिक्तभावेन नावस्थानात् ।

उसके स्वरूप का प्रतिपादन लक्षण होता है । उस लक्षण की अन्यथा स्थिति न होने से अर्थात् अतिरिक्त रूप से स्थिति न होने के कारण (उपमेयोपमा सामान्य उपमा ही है उससे भिन्न नहीं) (क्योंकि यहाँ केवल उपमान उपमेय बन जाता है और उपमेय उपमान ।)

इसके अनन्तर कुन्तक तुल्ययोगिता अलङ्कार को भी उपमा में ही अन्तर्भूत करते हैं । वे कहते हैं कि तुल्ययोगिता भी स्पष्ट रूप से उपमा हो जाती है—

सा भवत्युपमितिः स्फुटम् ।

क्यों कि दो पदार्थों में समानता का आधिक्य ही तो रहता है जिनमें से हर एक मुख्य रूप से वर्णनीय पदार्थ होता है । अतः उपमा का लक्षण इसमें पूर्णतया घटित हो जाता है । इसलिए इसे उससे अलग अलङ्कार स्वीकार करना उचित नहीं । तुल्ययोगिता के उदाहरण रूप में कुन्तक अधोलिखित श्लोकों को उद्धृत करते हैं—

(तुल्ययोगिताया उदाहरणे)

जनस्य साकेतनिवासिनस्तौ द्वावप्यभूतामभिनन्द्यसत्त्वौ ।
गुरुप्रदेयाधिकनिस्पृहोऽर्थी नृपोऽर्थिकामादधिकप्रदश्च ॥१२३॥

गुरु के दातव्य से अतिरिक्त (धन) के प्रति अनिच्छुक याचक (कौत्स) तथा याचक के मनोरथ से अधिक प्रदान करने वाले राजा (रघु) वे दोनों ही अयोध्यावासी लोगों के लिए प्रशंसनीय प्राणी हो गए (अथवा स्तुत्य व्यापार वाले सिद्ध हुये) ॥ १२३ ॥

(यथा च)

उभौ यदि व्योम्नि पृथक्प्रवाहावाकाशगङ्गा पयसः पतेताम् ।
तेनोपमीयेत तमालनीलमामुक्तमुक्तालतमस्य वक्षः ॥१२४॥

अथवा जैसे—

यदि आकाशगंगा के जल की दोनों धारायें अलग अलग आकाश से गिरें तो उससे तमाल के सदृश नीला एवं लटकते हुए मुक्ताहार वाले इन (कृष्ण) के वक्षस्थल के तुलना की जा सकेगी ॥ १२४ ॥

इसी प्रसङ्ग में कुन्तक भामह के तुल्ययोगिता अलङ्कार के लक्षण तथा उदाहरण को उद्धृत करते हैं जो इस प्रकार है—

न्यूनस्यापि विशिष्टेन गुणसाम्यविवक्षया ।
तुल्यकार्यक्रियायोगादित्युक्ता तुल्ययोगिता ॥ १२५ ॥

गुण की समता को प्रस्तुत करने की इच्छा से तुल्य कार्य और क्रिया के योगवश न्यून का विशिष्ट के साथ जहाँ तुल्यत्व दिखाया जाता है उसे तुल्ययोगिता कहते हैं ॥ १२५ ॥

शेषो हिमगिरिस्त्वं च महान्तो गुरवः स्थिराः !
यदलङ्घितमर्यादाश्चलन्तीं बिभृथ क्षितिम् ॥ १२६ ॥

जैसे—

(कोई किसी राजा की प्रशंसा करते हुए कहता है कि हे राजन् ।)

शेषनाग, हिमवान पर्वत तथा तुम, महान् गुरु एवं स्थिर हो जो कि बिना मर्यादा का अतिक्रमण किए इस चलती हुई (अस्थिर) पृथ्वी को धारण कर रहे हो ॥ १२६ ॥

उक्तलक्षणे तावदुपमान्तर्भावस्तुल्ययोगितायाः ।

[कुन्तक का कथन है कि] उक्त लक्षण के आधार पर तो तुल्ययोगिता का उपमा में ही अन्तर्भाव हो जाता है ।

इसी प्रकार कुन्तक 'अनन्वय' अलङ्कार को भी अलग मानने के लिये तैयार नहीं । उनका कथन है कि अनन्वय में केवल उपमान ही तो काल्पनिक होता है । किन्तु सारी बातें तो उपमा की ही होती हैं । अतः कथन के विभिन्न प्रकार हो सकते हैं, पर लक्षण के विभिन्न प्रकार करना ठीक नहीं । इस लिए अनन्वय में भी उपमा का ही लक्षण घटित होने से उसे उपमा ही समझना चाहिए । अनन्वय का उदाहरण जो कुन्तक ने दिया है वह इस प्रकार है—

(अनन्वयोदाहरणं यथा)

तत्पूर्वानुभवे भवन्ति लघवो भावा शशाङ्कादय-
स्तद्वक्त्रोपमितेः परं परिणमेच्चेतो रसायाम्बुजात् ।

एवं निश्चिनुते मनस्तव मुखं सौन्दर्यसारावधि।
बध्नाति व्यवसायमेतुमुपमोत्कर्षं स्वकान्त्या स्वयम्॥ १२७॥

(अनन्वय का उदाहरण जैसे—)

उसका पहले अनुभव हो जाने पर चन्द्र आदि बहुत ही छोटी-छोटी चीजें मालूम पड़ती हैं। उसके मुख के उपमान कमल से (भी) आनन्दग्रहण करने के लिए गया हुआ चित्त एकदम लौट आता है। इस तरह मेरा मन यह निश्चय करता है कि तुम्हारा रमणीयता के सार की सीमा रूप मुख अपनी उपमा के उत्कर्ष को अपनी ही कान्ति से सन्तुलनीय निश्चित करने के लिए स्वयं सिद्ध हो जाता है॥ १२७॥

तदेवमभिधावैचित्र्यप्रकाराणामेवंविधं वैश्वरूप्यम्, न पुनर्लक्षण-भेदानाम्।

[इसके विषय में कुन्तक कहते हैं कि] तो इस प्रकार उक्तिवैचित्र्य के प्रकारों की असंख्यरूपता की यह (वैश्वरूप्यता) है न कि लक्षण के प्रकारों की।

इसके बाद कुन्तक भामह के अनन्वय के लक्षण और उदाहरण को प्रस्तुत करते हैं जो इस प्रकार हैं—

यत्र तेनैव तस्य स्यादुपमानोपमेयता।
असादृश्यविवक्षातस्तमित्याहुरनन्वयम्॥ १२८॥

जहाँ (किसी के) सादृश्य के अभाव का प्रतिपादन करने की इच्छा से उसकी उसी के साथ उपमानता एवं उपमेयता (दोनों) होती है उसे विद्वानों ने अनन्वय (अलङ्कार) कहा है॥ १२८॥

ताम्बूलरागवलयं स्फुरद्दशनदीधिति।
इन्दीवराभनयनं तदेव वदनं तव॥ १२९॥

जैसे—

पान की ललाई के मण्डल वाला, एवं चमकते हुए दाँतों की किरणों वाला तथा कमल के समान नयनों वाला तुम्हारा मुख तुम्हारे (मुख) के ही सदृश है॥

इस प्रकार भामह के अनन्वय के लक्षण और उदाहरण को उद्धृत कर कुन्तक ने उसकी क्या आलोचना की है। उसका क्या खण्डन प्रस्तुत कर उसे उपमा में अन्तर्भूत किया है। पाण्डुलिपि के अत्यन्त भ्रष्ट होने के कारण पढ़े न जा सकने से उसके विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता॥ १२९॥

टिप्पणी—यहाँ पाण्डुलिपि की भ्रष्टता के कारण डा० डे ने अपनी Resume में भी पाठको इस प्रकार प्रस्तुत किया है जो कि अत्यन्त भ्रामक प्रतीत होता है। पहले

उन्होंने तुल्ययोगिता का लक्षण उदाहरण दिया फिर उसके बाद अनन्वय का उदाहरण देकर फिर आगे भामह के तुल्ययोगिता के उदाहरण और लक्षण को प्रस्तुत कर उसके खण्डन का प्रसङ्ग चला दिया। तथा उसके बाद तुरन्त निदर्शन अलङ्कार की चर्चा कर दो श्लोकों को उदाहरण रूप में उद्धृत किया फिर आगे भामह के अनन्वय अलंकार के लक्षण एवं उदाहरण को प्रस्तुत करने लगे। उसके बाद पुनः परिवृत्ति अलङ्कार को बीच में डाल कर आगे फिर भामह के निदर्शना अलङ्कार के लक्षण और उदाहरण को प्रस्तुत किया। इस प्रकार पाठक्रम कुछ इतना भ्रामक एवं जटिल हो गया है जिससे कि ग्रन्थ को समझने में और भी कठिनाई उपस्थित हो जाती है। अत मैंने जहाँ तक सम्भव हो सका है एक अलंकार विषयक चर्चा को एक ही स्थान पर रखने का प्रयास किया है।

इस प्रकार अनन्वय को भी उपमा से अलग अलंकार न स्वीकार कर कुन्तक निदर्शन को भी इसी तरह उपमा में ही अन्तर्भूत करते हैं वे कहते हैं कि 'निदर्शना भी लगभग इसी प्रकार होती है।'

निदर्शनमप्येवंप्रायमेव।

इसके बाद वे उसके उदाहरण रूप में निम्न श्लोकों को उद्धृत कर उनका विवेचन करते हैं। वे श्लोक हैं—

यैर्वा दृष्टा न वा दृष्टा मुषिताः सममेव ते।
हृतं हृदयमेतेषामन्येषां चक्षुषः फलम्॥ १३०॥

जिन्होंने (उस सुन्दरी को) देखा अथवा (जिन्होंने) नहीं देखा, वे सब साथ ही ठगे गए (क्योंकि) इन (देखनेवालों) का हृदय चुरा लिया गया एवं दूसरों के नयनों का फल (चुरा लिया गया अर्थात् न देखने से उनकी आँखों का होना ही निष्फल रहा)॥ १३०॥

(यथा वा)

यत्काव्यार्थनिरूपणं प्रियकथालापा रहोऽवस्थितिः।
कण्ठान्तं मृदुगीतमादृतसुहृद्दुःखान्तरावेदनम्॥
... ...॥ १३१॥

अथवा जैसे—काव्यार्थ का प्रतिपादन, प्रिय की कथा वार्ता, एकान्त निवास, कण्ठ तक ही सीमित रहनेवाला मनोहर गीत, प्रिय मित्र के सुख का कथन ...॥१३१॥

(यथा वा)

तद्वल्गुना युगपदुन्मिषितेन तावत्
सद्यः परस्परतुलामधिरोहतां द्वे।

प्रस्पन्दमानपरुषेतरतारमन्त-
श्चक्षुस्तव प्रचलितभ्रमरं च पद्मम् ॥ १३२ ॥

अथवा जैसे—उस (लक्ष्मी के परिग्रहण) से मनोहर तथा साथ ही उन्मीलित होने के कारण, भीतर स्फुरित होती हुई स्निग्ध कनीनिका वाले तुम्हारे नेत्र तथा चञ्चल भ्रमरों वाले कमल दोनों ही एक दूसरे के सादृश्य को प्राप्त करें। (अतः आँखें खोले) ॥ १३२ ॥

इसके बाद एक अन्य श्लोक भी उद्धृत है जो कि पढ़ा नहीं जा सका उसकी आदि की पङ्क्तियाँ हैं—

हेलावभग्नहरकार्मुक एष सोऽपि ॥ इत्यादि

इसके बाद जैसा कि मैंने ऊपर संकेत किया है डा० डे ने बीच में परिवृत्ति अलंकार का विवेचन देकर आगे पुनः भामहकृत निदर्शन के लक्षण एवं उदाहरण को प्रस्तुत किया है। उस उदाहरण एवं लक्षण के प्रसङ्ग को हम इसी अवसर पर उद्धृत कर देते हैं। वह इस प्रकार है—

क्रिययैव विशिष्टस्य तदर्थस्योपदर्शनात्।
ज्ञेया निदर्शना नाम यथेववतिभिर्विना ॥ १३३ ॥

यथा, इव और वति आदि के बिना जहाँ पर क्रिया के द्वारा ही उस विशिष्ट अर्थ का निदर्शन कराया जाता है उसे निदर्शना कहते हैं ॥ १३३ ॥

अयं मन्दद्युतिर्भास्वानस्तं प्रति यियासति।
उदयः पतनायेति श्रीमतो बोधयन्नरान् ॥ १३४ ॥

समृद्धिशाली लोगों को यह समझाता हुआ कि उदय पतन की ओर ले जाता है, फीकी आभा वाला यह सूर्य, अस्ताचल की ओर जा रहा है ॥ १३४ ॥

इसी प्रसंग में कुन्तक ने 'रघुवंश' के दो श्लोक उद्धृत किए हैं जो इस प्रकार हैं।

ततः प्रतस्थे कौबेरीं भास्वानिव रघुर्दिशम्।
शरैरुस्रैरिवोदीच्यानुद्धरिष्यन् रसानिव ॥ १३५ ॥

इसके अनन्तर राजा रघु ने किरणों के समान बाणों से जलों के सदृश उदीच्य राजाओं को उन्मूलित (या शोषित) करने की इच्छा से सूर्य की भाँति कुबेर सम्बन्धी (उत्तर) दिशा की ओर प्रस्थान किया ॥ १३५ ॥

निर्याय विद्याथ दिनादिरम्याद्बिम्बादिवार्कस्य मुखान्महर्षेः।
पार्थाननं वह्निकणावदाता दीप्तिः स्फुरत्पद्ममिवाभिपेदे ॥१३६॥

इसके बाद प्रातःकालिक सुन्दर सूर्यमण्डल के समान महर्षि (व्यास) के मुख से निकलकर आग के स्फुलिङ्गों के सदृश उज्ज्वल (ऐन्द्रमन्त्ररूप) विद्या सूर्य किरण की भाँति विकसित होते हुए कमल के सदृश अर्जुन के मुख में प्रविष्ट हो गई ॥ १३६ ॥

इस प्रकार निदर्शन अलंकार का विवेचन समाप्त कर कुन्तक परिवृत्ति अलंकार का विवेचन करते हैं। वे परिवृत्ति अलंकार को भी उपमा का ही एक प्रकार समझते हैं। क्योंकि इस अलंकार में दो पदार्थों में से प्रत्येक का प्रधान रूप से बर्णन किया जाता है तथा सादृश्य प्रतीति स्पष्ट रहती है। अतः उपमा ही स्वीकार करना उचित होगा वे विवेचन प्रारम्भ करते हैं—

परिवृत्तिरप्यनेन न्यायेन पृथङ्नास्तीति निरूप्यते।

परिवृत्ति (अलङ्कार) भी इसी प्रकार अलग (स्वतन्त्र) नहीं हो सकती इसका निरूपण करते हैं—

विनिवर्तनमेकस्य यत्तदन्यस्य वर्तनम्।
न परिवर्तमानत्वादुभयोरत्र पूर्ववत् ॥ ३२ ॥

जो एक का हटाना तथा उससे भिन्न का प्रयोग करना (रूप परिवृत्ति) है दोनों के ही परिवर्तमान होने के कारण (मुख्य रूप से प्रतिपादित होने के कारण) यहाँ भी पहले की ही भाँति (अलङ्कारत्व नहीं हो सकता) ॥ ३२ ॥

तदेवं परिवृत्तेरलङ्करणत्वमयुक्तमित्याह—विनिवर्तनमित्यादि। यदेकस्य पदार्थस्य विनिवर्तनम् अपसारणं तदन्यस्य तद्व्यतिरिक्तस्य परस्य वर्तनं तदुपनिबन्धनम्। तदलङ्करणं न भवति। कस्मात्—उभयोः परिवर्तमानत्वात् मुख्येनाभिधीयमानत्वात्। कथम—पूर्ववत्, यथापूर्वम्। प्रत्येकं प्राधान्यान्नियमानिश्चितेश्च न कचित्कस्यचिदलङ्करणम्। तद्वदिहापि न च तावन्मात्ररूपतया तयोः परस्परविभूषणभावः प्राधान्ये निर्वर्तनप्रसङ्गात्। रूपान्तरनिरोधेषु पुनः साम्यसद्भावे भवत्युपमितिरेषा चालङ्कृतिः समुचिता। उपमा पूर्ववदेव।

तो इस प्रकार 'परिवृत्ति' की अलङ्कारता भी उचित नहीं है इसी बात को ग्रन्थकार कहता है—विनिवर्तनमित्यादि (कारिका के द्वारा)। जो एक पदार्थ का विनिवर्तन अर्थात् हटाना (अपसारण) तथा उससे भिन्न दूसरे का वर्तन अर्थात् उसका प्रयोग है। वह अलङ्कार नहीं होता। किस कारण से—दोनों के परिवर्तमान होने के कारण मुख्य रूप से प्रतिपाद्य होने के कारण। कैसे—पहले की

भाँति, जैसे पहले (उपमेयोपमा अनन्वय आदि का अलङ्कारत्व नहीं हुआ) प्रत्येक के प्रधान होने के कारण तथा नियम का निश्चय न होने से (कोई) कहीं किसी का अलङ्कार नहीं होता । उसी प्रकार यहाँ पर भी उन दोनों का उतने ही स्वरूप के कारण परस्पर अलङ्कारभाव नहीं होगा । क्योंकि निर्वृति प्राधान्य में ही प्रयुक्त होती है । रूपान्तर के निरूद्ध हो जाने पर फिर भी साम्य का सद्भाव होने पर यह उपमिति ही उपयुक्त अलंकार होगी । उपमा पहले की तरह ही रहेगी ।

यथा—

सदयं बुभुजे महाभुजः सहसोद्वेगमियं व्रजेदिति ।
अचिरोपनतां स मेदिनी नवपाणिग्रहणां वधूमिव ।। १३७ ।।

बलात्कार से (कहीं) यह डर न जाय इसलिए दीर्घ बाहुओं वाले (राजा अज) ने तत्काल (नवीन रूप से) प्राप्त हुई पृथिवी का नवविवाहिता वधू के समान कृपापूर्वक भोग किया था ।। १३७ ।।

इसके बाद कुन्तक परिवृत्ति के कुछ प्रकारों का भी भेद निरूपण करते हैं जैसे एक प्रकार की परिवृत्ति वहाँ होती है जहाँ 'विषयान्तरपरिवर्तन' होता है तथा दूसरी परिवृत्ति वहाँ होती है जहाँ धर्मान्तरपरिर्तन' होता है । उनमें—

विषयान्तरपरिवर्तनोदाहरणं यथा—,

स्वल्पं जल्प बृहस्पते ! सुरगुरो ! नैषा सभा वज्रिणः ।।१३८।।

(विषयान्तर परिवर्तन का उदाहरण जैसे)—

हे देवगुरु बृहस्पति थोड़ा बोलो, यह इन्द्र की सभा नहीं है ।। १३८ ।।

(धर्मान्तरपरिवर्तनोदाहरणं यथा—)

विसृष्टरागादधरान्निवर्तितः स्तनाङ्गरागारुणिताच्च कन्दुकात् ।
कुशाङ्कुरादानपरिक्षताङ्गुलिः कृतोऽक्षसूत्रप्रणयी तया करः ।।१३९।।

(धर्मान्तर-परिवर्तन का उदाहरण जैसे)—

उस (पार्वती) ने रक्तिमा का परित्याग कर देने वाले अधर से तथा स्तनों के अङ्गराग (लेपन द्रव्य) से लाल हो गये गेंद से हटाये गये हाथ को दर्भाङ्कुरों के उखाड़ने के कारण परिक्षत हो गई अङ्गुलियों वाला तथा अक्षमाला का सहचर बना दिया ।। १३९ ।।

अत्र गौर्याः करकमललक्षणो धर्मः परिवर्तितः ।

यहाँ पार्वती का करकमल रूप धर्म परिवर्तित कर दिया है ।

क्वचिदेकस्यैव धर्मिणः समुचितस्वसंवेदिधर्मावकाशे धर्मान्तरं परिवर्तते। यथा—

कहीं एक ही धर्मी के अनुरूप एवं अपने द्वारा अनुभव किए जाने वाले धर्म के हट जाने पर दूसरा धर्म परिवर्तित हो जाता है। जैसे—

धृतं त्वया वार्द्धकशोभि वल्कलम् ॥ १४० ॥

(युवावस्था में ही क्यों) तुमने वृद्धावस्था में सुन्दर लगने वाले वल्कल को धारण कर लिया है ॥ १४० ॥

क्वचिद् बहूनामपि धर्मिणां परस्परस्पर्धिनां पूर्वोक्ताः सर्वे विपरिवर्तन्ते। तथा च लक्षणकारेणात्रैवोदाहरणं दर्शितम् यथा—

कही परिस्पर्धा करने वाले बहुत से भी धर्मियों पूर्वोक्त (धर्म बिषय आदि) सभी परिवर्तित हो जाते हैं। जैसा कि लक्षणकार (दण्डी) ने इस विषय में उदाहरण प्रदर्शित किया है, जैसे—

शस्त्रप्रहारं ददता भुजेन तव भूभुजाम्।
चिरार्जितं हृतं तेषां यशः कुमुदपाण्डुरम् ॥ १४१ ॥

(कोई राजा की प्रशंसा करते हुए कहता है कि हे राजन्) शस्त्र प्रहार देने वाली (करने वाली) तुम्हारी बाहु ने उन राजाओं के चिरकाल से अर्जित उज्ज्वल कमल के समान उज्ज्वल कीर्ति का अपहरण कर लिया ॥ १४१ ॥
इस प्रसङ्ग में कुन्तक 'रघुवंश' से अधोलिखित श्लोक को उद्धृत करते हैं—

निर्दिष्टां कुलपतिना स पर्णशालामध्यास्य प्रयतपरिग्रहद्वितीयः।
तच्छिष्याध्ययननिवेदितावसानां संविष्टः कुशशयने निशां निनाय ॥

कुलपति वशिष्ट द्वारा निर्दिष्ट की गई पर्णशाला में स्थित होकर केवल अपनी पत्नी के साथ कुशों की शय्या पर सोते हुए उस (राजा दिलीप) ने उन (वशिष्ठ) के शिष्यों के अध्ययन से सूचित की गई समाप्ति वाली रात्रि को व्यतीत किया ॥ १४२ ॥

इसका विवेचन करते हुए कुन्तक कहते हैं कि यहाँ परिवर्तनीय पदार्थान्तर प्रतीयमान है।

इसके अनन्तर कुन्तक ने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण श्लेष अलङ्कार का विवेचन प्रस्तुत किया है किन्तु पाण्डुलिपि इस स्थल पर बहुत ही भ्रष्ट, अपूर्ण एवं पूर्णतया अस्पष्ट है जिससे कि न तो उसे उद्धृत ही किया जा सकता है और न उसका अधूरा दुर्बोध ही वर्णन प्रस्तुत किया जा सकता है। जैसा डा० डे ने सङ्केत किया है

कुन्तक ने श्लेष अलङ्कार को तीन प्रकारों में विभक्त किया है, यद्यपि उन तीनों प्रकारों का सही सही नामकरण या उनकी विशेषताओं को बता सकना असम्भव है। डा० डे के अनुसार कुन्तक ने सम्भवतः उद्भट का अनुसरण किया है तथा श्लेषालङ्कार को अर्थ, शब्द एवं शब्दार्थ से सम्बन्धित कर तीन भेद किए हैं। उनमें से पहले भेद (अर्थश्लेष) का उदाहरण है—

स्वाभिप्रायसमर्पणप्रवणया माधुर्यमुद्राङ्कया
विच्छित्त्या हृदयेऽभिजातमनसामन्तः किमप्युल्लिखत्।
आरूढं रसवासनापरिणते काष्ठां कवीनां परं
कान्तानाञ्च विलोकितं विजयते वैदग्ध्यवक्रं वचः ॥ १४३ ॥

कवियों की अपने आकूत को अभिव्यक्त कर देने में निपुण माधुर्य की आनन्ददायिनी रचना वाली रमणीयता के कारण रस की वासना से परिपक्व सुकुमारमति सहृदयों के हृदय के भीतर एक अनिर्वचनीय छाप छोड़ देने वाली. मर्यादा पर स्थित विदग्धता के कारण वक्रतासम्पन्न वाणी और रमणियों की अपने मनोवाञ्छित को व्यक्त कर देने में सक्षम मिठास भरे निमीलन के चिह्न वाली भंगिमा से रसिकचित्त लोगों के अभिलाष और वासना के कारण परिपक्व हृदय में जाने क्या अंकित कर देती हुई ऊपर की ओर उठी हुई और चतुराई के कारण बाँकी लाजवाब चितवन सर्वातिशायिनी है ॥ १४३ ॥

श्लेष के दूसरे प्रकार (शब्दश्लेष) का उदाहरण इस प्रकार है—

येन ध्वस्तमनोभवेन बलिजित्कायः पुरास्त्रीकृतो
यश्चोद्वृत्तभुजङ्गहारवलयोगङ्गाञ्च यो धारयत्।
यस्याहुः शशिमच्छिरोहर इति स्तुत्यञ्च नामामराः
पायात्स स्वयमन्धकक्षयकरस्त्वां सर्वदोमाधवः ॥ १४४ ॥

(शिवपक्ष में) कामदेव को ध्वस्त (भस्म) कर देने वाले जिन्होंने बलि को जीतने वाले (वामनावतार भगवान्) विष्णु के शरीर को पहले (त्रिपुरदाह के समय) अस्त्र (बाण) बनाया था और जो भुजङ्गों के ही हार एवं कङ्कण को धारण किये हुए हैं और जिन्होंने गङ्गा को (अपनी जटाओं में धारण किया था तथा देवताओं ने जिनका स्तुत्य नाम 'हर' और 'शशिमच्छिर' (चन्द्रमा से युक्त शिरवाला) बताया है, ऐसे वे अन्धकासुर का विनाश करने वाले उमापति भगवान् शङ्कर हमेशा स्वयं ही तुम्हारी रक्षा करें।

(विष्णुपक्ष में) जिन अजन्मा ने शकटासुर को ध्वस्त किया था। तथा बलि को जीतने वाले अपने शरीर को पहले (सागरमन्थन के समय) स्त्री (मोहिनीरूप) बना दिया था, और जो दुष्ट (कालिय) नाग का वध करने

वाले हैं तथा जो रव अर्थात् शब्दों के लयस्थान हैं और जिन्होंने (गोवर्धन) पर्वत और पृथ्वी को (वराहावताररूप में) धारण किया था, तथा देवताओं ने जिनका स्तुत्य नाम 'शशिमच्छिरोहर' (अर्थात् राहु का शिरश्छेद करने वाला) बताया है ऐसे सब कुछ प्रदान करने वाले, एवं स्वयं यादवों का निवास (द्वारका) बनाने वाले अथवा विनाश करने वाले लक्ष्मीपति भगवान् विष्णु स्वयं तुम्हारी रक्षा करें ॥ १४४ ॥

श्लेष के तीसरे प्रकार (उभयश्लेष) का उदाहरण है—

मालामुत्पलकन्दलैः प्रतिकचं स्वायोजितां बिभ्रती
नेत्रेणासमदृष्टिपातसुभगेनोद्दीपयन्ती स्मरम् ।
काञ्चीदामनिबद्धभङ्गि दधती व्यालम्बिना वाससा
मूर्तिः कामरिपोः सिताम्बरधरा पायाच्च कामस्त्रियः ॥ १४५ ॥

निकल गए हुए मांसवाले मुण्डदलों के द्वारा बालों की ओर से अपने द्वारा गुम्फित माला को धारण करती हुई, विषम दृष्टि के डालने के कारण सुन्दर सूर्य के समान तीसरी आँख के द्वारा कामदेव को जलाती हुई वस्त्र के बिना सर्प को घुमचियों की माला से कस कर बंधी हुई कुटिलता वाले ढङ्ग से धारण करती हुई भस्म और अम्बर को धारण करने वाली कामारि भगवान् शिव की मूर्ति नीलकमल के मृणालों से बालों के जूडे की ओर सुन्दर ढङ्ग से आयोजित माला को धारण करती हुई और अपने कटाक्षों के निपात के कारण सुन्दर नेत्र से काम को उद्दीप्त करती हुई, लटकते हुए अधोवस्त्र से रशना की जंजीर से बनी हुई विच्छित्ति को धारण करती हुई श्वेतवस्त्रधारिणी रति देवी की रक्षा करे ॥१४५॥

इसके अनन्तर कुन्तक ने अधोलिखित श्लोक को 'असत्यभूतश्लेष' के उदाहरण रूप में उद्धृत किया है—

दृष्ट्या केशव ! गोपरागहृतया किञ्चिन्न दृष्टं मया
तेनात्र स्खलितास्मि नाथ ! पतितां किन्नाम नालम्बसे ।
एकस्त्वं विषमेषुखिन्नमनसां सर्वाबलानां गति-
र्गोप्येवं गदितः सलेशमवताद् गोष्ठे हरिर्वश्चिरम् ॥ २४६ ॥

ऐ केशव ! गोपेश्वर कृष्ण के प्रेम के कारण अपहृत कर ली गई हुई दृष्टि के द्वारा मैं कुछ न देख सकी, इसी वजह से मैं स्खलित हो उठी हूँ। ऐ स्वामी भगवान कृष्ण मुझ पतित को क्यों नहीं सहारा देते, अकेले तुम्हीं तो खिन्न-हृदय सारे निर्बलों की विषमावस्था में गति हो, गोपी के द्वारा आकूतभरे ढङ्ग से इस प्रकार कहे गए हुए भगवान् विष्णु अनन्तकाल तक तुम्हारी रक्षा करें (श्लेष पक्ष में—गोपरागहृतया का अर्थ गोधूलि से छीन ली गई हुई दृष्टि से है

और स्खलिता का विछल पड़ी हुई, पतिता का गिर पड़ी हुई और, सर्वाबलानां का सारी स्त्रियों के लिए, अर्थ लिया जायगा ।) ॥ १४६ ॥

डा० डे के अनुसार सम्भवतः 'असत्यभूत श्लेष' यहाँ गोपराग शब्द में है क्योंकि 'गोः परागः' एक वास्तविक पदार्थ नहीं है अपितु काल्पनिक है ।

इस प्रकार श्लेष अलङ्कार का विवेचन करने के अनन्तर कुन्तक व्यतिरेक अलङ्कार का विवेचन प्रस्तुत करते हैं—

सति तच्छब्दवाच्यत्वे धर्मसाम्येऽन्यथास्थितेः ।
व्यतिरेचनमन्यस्मात् प्रस्तुतोत्कर्षसिद्धये ॥ ३२ ॥
शाब्दः प्रतीयमानो वा व्यतिरेकोऽभिधीयते ॥ ३३ ॥

श्लेषहेतुक शब्दवाच्य होने पर और धर्म साम्य के होने पर उपमान से प्रस्तुत के उत्कर्ष की सिद्धि के लिए अथवा उपमेय अर्थात् प्रस्तुत से उपमान के उत्कर्ष की सिद्धि के लिए और तरह से स्थिति प्राप्त करने वाले (उपमान या उपमेय) से अतिशायी दिखाना व्यतिरेक कहलाता है । यह शाब्द और प्रतीयमान दो प्रकार का होता है ॥ ३२ ॥

एवं श्लेषमभिधाय साम्यैकनिबन्धनत्वादुक्तरूपश्लेषकारणं व्यतिरेकमभिधत्ते—सतीत्यादि । तच्छब्दवाच्यत्वे, स चासौ शब्दश्चेति विगृह्य, तच्छब्दशक्त्या श्लेषनिमित्तभूतः शब्दः परामृश्यते । तस्य वाच्यत्वेऽभिधेयत्वे सति विद्यमाने । धर्मसाम्ये सत्यपि परस्परस्पन्दसादृश्ये विद्यमाने…। तथाविधशब्दवाच्यत्वस्य धर्मसाम्यस्य चोभयनिष्ठत्वादुभयोः प्रकृतत्वात् प्रस्तुताप्रस्तुतयोरेव तयोर्धर्मादेकस्य यथारुचि केनापि विवक्षितपदार्थान्तरेण अन्यथास्थितेरतथाभावेनावस्थितेः व्यतिरेचनं पृथक्करणम् । (कस्मात्) अन्यस्माद् उपमेयस्योपमानादुपमानस्य वा तस्मात् । स व्यतिरेकनामालङ्कारोऽभिधीयते कथ्यते । किमर्थम्—प्रस्तुतोत्कर्षसिद्धये । प्रस्तुतस्य वर्ण्यमानस्य वृत्तेश्छायातिशयनिष्पत्तये । स च द्विविधः सम्भवति शाब्दः प्रतीयमानो वा । शाब्दः कविप्रवाहप्रसिद्धः तत्समर्पणसमर्थाभिधानेनाभिधियमानः । प्रतीयमानो वाक्यार्थसामर्थ्यमात्रावबोध्यः ।

इस प्रकार श्लेष को बताकर सादृश्यमात्रमूलक होने के नाते उक्त स्वरूप श्लेष के कारण वाले व्यतिरेक को बताते हैं—सतीत्यादि (कारिका के द्वारा) तच्छब्दवाच्यत्वे इस पद में 'वही तद् पद वाच्य है और वही शब्द है' इस प्रकार कर्मधारय विग्रह करके अर्थ ग्रहण किया जायगा । तच्छब्द शक्ति के

द्वारा श्लेष के आधारभूत शब्द का परामर्श कर रहे हैं। उसके वाच्यत्व अर्थात् अभिधा के द्वारा समर्पणीय होने पर अर्थात् परस्पर स्वभाव के सादृश्य के वर्तमान होने पर भी...। इस प्रकार के शब्दवाच्यत्व और धर्मसाम्य के दोनों में स्थित होने के कारण दोनों के प्रस्तुत होने के नाते प्रस्तुत और अप्रस्तुत के बीच भी इन दोनों के धर्म से एक का रुचि के अनुसार किसी अनिर्वचनीय विवक्षित अन्य पदार्थ के द्वारा और तरह से स्थित अर्थात् उस तरह से न स्थित रखने वाले से व्यतिरेक अर्थात् अलग करना (इसका आशय) है। दूसरे से अर्थात् उपमेय का उपमान से अथवा उपमान का उपमेय से। वह व्यतिरेक नाम का अलङ्कार अभिहित होता है अर्थात् कहा जाता है। किस लिए—प्रस्तुत के उत्कर्ष की सिद्धि के लिये। प्रस्तुत अर्थात् वर्ण्य विषय के सौन्दर्यातिशय को प्रस्तुत करने के लिए। वह दो प्रकार का हो सकता है—शब्द अथवा प्रतीयमान। शब्द अर्थात् कविपरम्परा प्रसिद्ध उसको व्यक्त कर सकने में समर्थ पद के द्वारा प्रकाशित किया जाता हुआ। प्रतीयमान अर्थात् केवल वाक्यार्थ के सामर्थ्य से ही बोधित किये जाने योग्य।

इसके अनन्तर कुन्तक ने व्यतिरेक के उदाहरणस्वरूप एक प्राकृत श्लोक तथा दो संस्कृत श्लोकों को उद्धृत किया है। जिनमें से प्राकृत श्लोक तथा दूसरा संस्कृत श्लोक पाण्डुलिपि में अत्यन्त भ्रष्ट एवं अपूर्ण था। जिसे उद्धृत नहीं किया जा सका। तीसरा श्लोक इस प्रकार है—

प्राप्तश्रीरेष कस्मात्पुनरपि मयि तं मन्थखेदं विदध्या-
न्निद्रामप्यस्य पूर्वामनलसमनसो नैव सम्भावयामि।
सेतुं बध्नाति भूयः किमिति च सकलद्वीपनाथानुयात-
स्त्वय्यायाते वितर्कानिति दधत इवाभाति कम्पः पयोधेः॥

यह महाराज तो श्री अर्थात् रमा या सम्पत्ति को प्राप्त कर चुके हैं तो फिर किस लिए मेरे अन्दर उस मथने के कष्ट को फिर से उत्पन्न करेंगे, इन महाराज की पहले वाली निद्रा को भी आलस्यरहित चित्त होने के नाते नहीं सम्भावित कर पाता हूँ, क्या ये सारे द्वीपों के स्वामियों से अनुगत होते हुए भी फिर से सेतुबन्ध करेंगे। इस तरह के संशयों को, तुम्हारे आने पर, मन में धारण करता हुआ सागर का ज्वार-भाटा सुशोभित हो रहा है। (विष्णु ने अप्राप्तश्री होने पर ही सागर का मन्थन किया था प्रस्तुत महाराज क्या प्राप्तश्री होकर मंथन करना चाहते हैं यह व्यतिरेक है। भगवान् विष्णु सालस्यचित्त होकर ही निद्रा को अतिवाहित करने के लिए सागर की गोद में आते है परन्तु ये महाराज अनलसमन होते हुए भी सागर के अवगाहनार्थ आये हुए है यह व्यतिरेक है।

रामावतारधारी विष्णु ने लंका नामक एक द्वीप के अधिपति विभीषण के द्वारा अनुगत होकर ही सागर पर सेतुबन्ध किया था। इन महाराज के सेतुबन्ध की सम्भावना के समय अनेकों द्वीपों के स्वामियों का अनुगमन प्राप्त है यह व्यतिरेक है) ॥ १४७ ॥

इसके विषय में कुन्तक कहते हैं कि--

(अत्र) तत्त्वाध्यारोपणात् प्रतीयमानतया रूपकमेव पूर्वसूरिभिराम्नातम्।

अर्थात् प्राचीन आचार्यों ने यहाँ तत्त्व का आरोप होने के कारण प्रतीयमान रूपक ही स्वीकार किया है।

इसी प्रसङ्ग में कुन्तक (आनन्दवर्धनाचार्य) की ध्वनि की परिभाषा 'यत्रार्थः शब्दो वा' आदि को उद्धृत करते हैं एवं प्रतीयमानता के अर्थ का विवेचन करते हैं। (ध्वन्यालोक की कारिका इस प्रकार है)--

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥ १४८ ॥

जहाँ पर अर्थ अपने स्वरूप को और शब्द अपने अर्थ को गौण बना कर (प्रतीयमान) अर्थ को व्यक्त करते हैं वह काव्यविशेष विद्वानों द्वारा 'ध्वनि' कहा गया है ॥ १४८ ॥

परन्तु यहाँ प्रतीयमानता आदि के अर्थ का विवेचन आचार्य कुन्तक ने क्या और कैसे किया है यह कुछ भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि आगे पाण्डुलिपि पढ़ी नहीं जा सकी। इसीलिए डा० डे ने केवल उसका संकेतमात्र कर दिया है।

इसके अनन्तर कुन्तक श्लेषव्यतिरेक के उदाहरणस्वरूप अधोलिखित श्लोक प्रस्तुत करते हैं--

(श्लेषव्यतिरेको यथा)—

श्लाघ्याशेषतनुं सुदर्शनकरः सर्वाङ्गलीलाजित-
त्रैलोक्यां चरणारविन्दललितेनाक्रान्तलोको हरिः।
बिभ्राणां मुखमिन्दुरूपमखिलं चन्द्रात्मचक्षुर्दधत्-
स्थाने यां स्वतनोरपश्यदधिकां सा रुक्मिणी वोऽवतात्॥१४९॥

श्लेषव्यतिरेक का उदाहरण जैसे—

सुदर्शनकर अर्थात् सुदर्शन को हाथ में धारण करने वाले (या जिनके हाथ ही दर्शनीय हैं) अरविन्द सुन्दर (एक) चरण से लोक भर पर अधिष्ठित हो जाने वाले और चन्द्रस्वरूप नेत्र को धारण करने वाले हरि ने जिस रुक्मिणी

को अपने शरीर से प्रशंसनीय समस्त शरीर वाली, प्रत्येक अङ्गों की लीला से त्रिलोकी को जीत लेनेवाले और चन्द्रतुल्य रूप वाले सम्पूर्ण मुख को धारण करने वाली होने के नाते अतिशायिन. पाया वह रुक्मिणी तुम लोगों की रक्षा करें ॥१४९॥

इसके बाद ग्रन्थकार व्यतिरेक के तीसरे प्रकार का विवेचन प्रारम्भ करते हैं—

लोकप्रसिद्धसामान्यपरिस्पन्दाद्विशेषतः ।
व्यतिरेको यदेकस्य स परस्तद्विवक्षया ॥ ३५ ॥

सर्वप्रसिद्ध साधारण व्यापार से विशिष्ट होने के नाते जो एक वस्तु का औपम्यविवक्षा से पृथक्करण किया जाता है वह दूसरा व्यतिरेक है।

अस्यैव प्रकारान्तरमाह—लोकप्रसिद्धेत्यादि। परोऽन्यः स व्यतिरेकालङ्कारः। कीदृशः—यदेकस्य वस्तुनः कस्यापि व्यतिरेकः पृथक्करणम्। कस्मात्—लोकप्रसिद्धसामान्यपरिस्पन्दात्। लोकप्रसिद्धो जगत्प्रतीतः सामान्यभूतः सर्वसाधारणो यः परिस्पन्दो व्यापारस्तस्मात्। कुतो हेतोः—विशेषतः, कुतश्चिदतिशयात्। कथम्? तद्विक्षया। 'तद्' इत्युपमादीनां परमार्थस्तेषां विवक्षया। तद्विवक्षितत्वेन विहितः। (यथा)—

इसी (व्यतिरेक) के दूसरे भेद को बताते हैं--लोकप्रसिद्ध इत्यादि (कारिका के द्वारा)। पर अर्थात् दूसरा वह व्यतिरेक अलङ्कार होता है। किस तरह का। किसी एक वस्तु का व्यतिरेक अर्थात् जो पृथक् करना है उस तरह का। किससे? लोक में प्रसिद्ध साधारण स्वभाव से। लोक में प्रसिद्ध सारी दुनिया में विख्यात। सामान्यभूत अर्थात् सर्वसाधारण जो परिस्पन्द याने व्यापार है उससे। किस कारण से? विशेषता के कारण अर्थात् किसी अनिर्वचनीय अतिशयवश। क्यों? उसे कहने की इच्छा से। 'तद्' इस पद से उपमा आदि का वास्तविक तत्त्व ग्रहण किया गया है। उसके कहने की कामना से। उसके विवक्षित होने के नाते किया गया हुआ। जैसे--

चापं पुष्पितभूतलं सुरचिता मौर्वी द्विरेफावलिः
पूर्णेन्दोरुदयोऽभियोगसमयः पुष्पकरोऽप्यासरः।
शस्त्राण्युत्पलकेतकीसुमनसो योग्यात्मनः कामिनां
त्रैलोक्ये मदनस्य सोऽपि ललितोल्लेखो जिगीषाग्रहः॥ १५० ॥

योग्य स्वरूप वाले कामदेव का फूलों से युक्त पृथ्वीतल धनुष है, भ्रमरों की पंक्ति ही सुन्दर ढंग से बनी हुई प्रत्यंचा है पूर्णमासी के चन्द्रमा का उदय ही आक्रमणकाल है, वसन्त ही आगे आगे चलने वाला (चोबदार है) कमल और केवड़ा के पुष्प ही शास्त्र हैं, तीनों लोकों में कामियों के जीत लेने की इच्छा का वह आग्रह भी ललित उल्लेख वाला है॥ १५० ॥

अत्र सकललोकप्रसिद्धशस्त्राद्युपकरणकलापाच्च जिगीषाव्यवहारान्मन्मथः सुकुमारोपकरणत्वाज्जिगीषा......। ननु च भूतलादीनां चापादिरूपणाद्रूपकव्यतिरेक एवायम्। नैतदस्ति। रूपकव्यतिरेके हि रूपणं विधाय तस्मादेव व्यतिरेचनं विधीयते। एतस्मिन् पुनः सकललोकप्रसिद्धात्सामान्यव्यवहारतात्पर्याद् व्यतिरेचनम्। भूतलादीनां चापादिरूपणं विशेषान्तरनिमित्तमात्रमवधार्यताम्।

यहां पर समस्त जगती में प्रसिद्ध शस्त्रादिक उपकरणसमूह के कारण जीतने की इच्छा के व्यवहार से कामदेव सुकुमार उपकरणों वाला होने के नाते जिगीषा के प्रति आग्रह करता है। यह शङ्का उठाई जा सकती है कि भूतलादि पर चापादि का आरोप करने के कारण यह रूपकव्यतिरेक ही है। परन्तु ऐसा नहीं है। क्योंकि रूपकव्यतिरेक में आरोप करके उसी से पृथक्करण किया जाता है। इसमें तो सारे विश्व में प्रसिद्ध सर्वसाधारण व्यवहार रूप तात्पर्य से व्यतिरेक दिखाया जाता है। भूतलादि के ऊपर चापादि का आरोप दूसरे वैशिष्ट्य का निमित्तमात्र माना जाना चाहिए।

इस प्रकार व्यतिरेकालङ्कार का विवेचन समाप्त कर कुन्तक विरोधालङ्कार का विवेचन करते हैं। उनके अनुसार विरोध श्लेष को ही उद्भावित (involve) करता है। अतः उससे भिन्न उसे स्वीकार करना उचित नहीं है। श्लेषेणाभिसम्भिन्नत्वात्) इस अलङ्कार के विषय में ग्रन्थकार ने जो कारिका और वृत्ति दी है उसे पाण्डुलिपि की भ्रष्टता के कारण डा० डे उद्धृत नहीं कर सके।

इसके अनन्तर कुन्तक ने समासोक्ति अलङ्कार का विवेचन प्रस्तुत किया है। कुन्तक समासोक्ति को स्वतन्त्र अलङ्कार मानने के लिए तैयार नहीं हैं। क्योंकि उनके अनुसार इसमें अन्य अलङ्कार की हैसियत से सुन्दरता की कमी होती है।

(अलङ्कारान्तरत्वेन शोभाशून्यतया)

इस प्रसङ्ग में वे भामह के समासोक्ति के लक्षण तथा उदाहरण को उद्धृत कर उसका विश्लेषण करते हैं जो इस प्रकार है—

यत्रोक्ते गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समानविशेषणः।
सा समासोक्तिरुद्दिष्टा सङ्क्षिप्तार्थतया यथा॥ १५१॥
स्कन्धवानृजुरव्यालः स्थिरोऽनेकमहाफलः।
जातस्तरुरयञ्चोच्चैः पातितश्च नभस्वता॥ १५२॥

जहाँ (एक वस्तु का) वर्णन किए जाने पर, उसके समान विशेषणों वाला दूसरा पदार्थ प्रतीत होता है उसे (विद्वानों ने) संक्षिप्तअर्थरूप होने के कारण— समासोक्ति नाम दिया है। जैसे॥ १५१॥

स्कन्ध (तने) वाला, सीधा, सर्पों से रहित स्थिर एवं तमाम बड़े बड़े फलों वाला एवं उन्नत यह वृक्ष उत्पन्न हुआ और हवा के द्वारा गिरा दिया गया ॥

(यहाँ वृक्ष के अतिरिक्त महापुरुषपरक यह अर्थ भी प्रतीत होता है कि— विशाल कन्धे वाला, सीधा सादा, भुजङ्गता से रहित, धैर्यशाली, अनेकों आश्रितों को लाभ पहुँचाने वाला, समाज में सम्मान्य महापुरुष, उत्पन्न हुआ पर दुर्भाग्य से नीचे गिरा दिया गया। इसका कुन्तक खण्डन करते हैं कि)

अत्र तरोर्महापुरुषस्य च द्वयोरपि मुख्यत्वे महापुरुषपक्षे विशेषणानि सन्तीति विशेष्यविधायकं पदान्तरमभिधातव्यम्। यदि वा विशेषणेऽन्यथानुपपत्त्या प्रतीयमानतया विशेष्यं परिकल्प्यते तदेवंविधस्य कल्पनस्य स्फुरितं न किञ्चिदिति स्फुटमेव शोभाशून्यता।

यहाँ पर वृक्ष तथा महापुरुष दोनों के प्रधान होने पर महापुरुष पक्ष में विशेषण तो है इस लिए विशेष्य विधायक दूसरा पद भी कहना चाहिए क्योंकि विशेष्य महापुरुष रूप पद का बोध कराने वाला कोई पद उपात्त नहीं है।) अथवा यदि (यह कहो कि) विशेषण के अन्यथा सङ्गत न होने के कारण प्रतीयमान रूप से विशेष्य की कल्पना कर ली जाती है इस प्रकार की कल्पना में कोई तत्त्व नहीं है अतः यहाँ सौन्दर्यहीनता स्पष्ट ही है।

इस प्रकार भामहप्रदत्त समासोक्ति के उद्धरण का विवेचन कर उसकी अलङ्कारान्तररूप से शोभाशून्यता का प्रतिपादन कर कुन्तक 'अनुरागवती-सन्ध्या' आदि श्लोक को उद्धृत कर उसका विवेचन प्रस्तुत करते हैं, जिसमें भामह के अनुसार समासोक्ति है। पर इसमें इन्होंने किस प्रकार से इसकी शोभाशून्यता का प्रतिपादन किया है वृत्ति की अस्पष्टता के कारण कह सकना कठिन है। श्लोक इस प्रकार है—

अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत्पुरःसरः।
अहो दैवगतिः कीदृक् न तथापि समागमः॥ १५३॥

सन्ध्या (नायिका) अनुरागवती है और दिवस (नायक) उसके आगे-आगे चल रहा है, अहो दैव की गति कैसी है? कि फिर भी दोनों का समागम नहीं हो रहा है॥ १५३॥

इस प्रकार समासोक्ति का प्रकरण समाप्त कर कुन्तक सहोक्ति अलङ्कार का विवेचन प्रस्तुत करते हैं। वे पहले भामहकृत सहोक्ति के लक्षण एवं उदाहरण को उद्धृत करते हैं तथा उसका विवेचन कर उसका खण्डन कर देते हैं। वे कहते हैं कि जिस प्रकार भामह ने सहोक्ति का उदाहरण प्रस्तुत किया है उसमें परस्पर

समता के ही मनोहारिता का कारण होने से उपमा ही होगी। उनका पूर्ण विवेचन तो उपलब्ध नहीं है जो है वह इस प्रकार है—

तुल्यकाले क्रिये यत्र वस्तुद्वयसमाश्रये।
पदेनैकेन कथ्येते सहोक्तिः सा मता यथा ॥ १५४ ॥
हिमपाताविलदिशो गाढालिङ्गनहेतवः।
वृद्धिमायान्ति यामिन्यः कामिनां प्रीतिभिः सह ॥ १५५ ॥

जहाँ समानकाल में ही दो पदार्थों के आश्रय वाले (भिन्न-भिन्न) दो कार्यों का एक पद से ही कथन किया जाता है उसे (विद्वानों ने) सहोक्ति (अलङ्कार) स्वीकार किया है। जैसे—

पाला पड़ने के कारण कलुषित दिशाओं वाली तथा (प्रेमी एवं प्रेमिकाओं के) गाढ आलिङ्गन की हेतुभूत रातें (जाड़े में) कामियों के प्रेम के साथ-साथ बढ़ती हैं ॥ १५४–५५ ॥

अत्र परस्परसाम्यसमन्वयो मनोहारि(त्व)निबन्धनमित्युपमैव।

यहाँ एक दूसरे से सादृश्य का सम्बन्ध ही सौन्दर्य का कारण है अतः उपमा ही है।

इस प्रकार भामहकृत सहोक्ति के लक्षण तथा उदाहरण का खण्डन कर कुन्तक अपने अभिमत सहोक्ति अलङ्कार के लक्षण को प्रस्तुत करते हैं। जो इस प्रकार है—

यत्रैकेनैव वाक्येन वर्णनीयार्थसिद्धये।
उक्तिर्युगपदर्थानां सा सहोक्तिः सतां मता ॥ ३६ ॥

जहाँ प्रस्तुत पदार्थ की निष्पत्ति के लिए एक ही वाक्य से एकसाथ ही (अनेकों) पदार्थों का कथन किया जाता है उसे सहृदयों ने सहोक्ति (अलङ्कार) स्वीकार किया है।

प्रमाणोपपन्नमभिधत्ते तत्र सहोक्तेस्तावत्—यत्रेत्यादि। सा सहोक्तिरलङ्कृतिर्मता प्रतिभाता सतां तद्विदां समाम्नातेत्यर्थः। कीदृशी—यत्र यस्याम् एकेनैव वाक्येनाभिन्नेनैव पदसमूहेन अर्थानां वाक्यार्थतात्पर्यभूतानां वस्तूनां युगपत्तुल्यकालमुक्तिरभिहितिः। किमर्थम्—वर्णनीयार्थसिद्धये। वर्णनीयस्य प्रधानत्वेन विवक्षितस्यार्थस्य वस्तुनः सम्पत्तये। तदिदमुक्तम्भवति—यत्र वाक्यान्तरवक्तव्यमपि वस्तु प्रस्तुतार्थनिष्पत्तये विच्छित्त्या तेनैव वाक्येनाभिधीयते। यथा—

तो अब सहोक्ति के प्रमाणयुक्त (स्वरूप का) निरूपण (ग्रन्थकार) करते हैं—यत्रेत्यादि (कारिका के द्वारा)। उसे श्रेष्ठजनों ने सहोक्ति अलङ्कार माना है अर्थात् सहृदयों ने उसे स्वीकार किया है। कैसी (है वह सहोक्ति)—जहाँ अर्थात् जिस में एक ही वाक्य के द्वारा अर्थात् अभिन्न पदसमूह के द्वारा अर्थों अर्थात् वाक्यार्थ के तात्पर्यभूत पदार्थों का एकसाथ ही समान काल में ही उक्ति अर्थात् कथन होता है वहाँ (सहोक्ति होती है)। किस लिये (ऐसी उक्ति होती है)—वर्णनीय अर्थ की सिद्धि के लिए। वर्णनीय अर्थ अर्थात् प्रधान रूप से कहने के लिए अभिप्रेत पदार्थ की निष्पत्ति के लिए। तो कहने का तात्पर्य यह कि—जहाँ पर प्रस्तुत पदार्थ की सिद्धि के लिए दूसरे वाक्य के द्वारा भी कही जाने वाली वस्तु सुन्दरता के साथ उसी वाक्य के द्वारा कही जाती है। जैसे—

हे हस्त दक्षिण मृतस्य शिशोर्द्विजस्य
जीवातवे विसृज शूद्रमुनौ कृपाणम्।
रामस्य पाणिरसि निर्भरगर्भखिन्न-
देवीविवासनपटोः करुणा कुतस्ते ॥ १५६ ॥

ऐ रे दाहिने हाथ, ब्राह्मण के मरे हुए बच्चे के प्राणों के लिए तू (इस) शूद्र तपस्वी के ऊपर कृपाण का वार कर। आखिर तू है तो एकदम भारी पड़ गए हुए गर्भ के कारण परेशान देवी (सीता) को निकाल देने में चालाक राम की भुजा न ! तुझे दया कहाँ ?॥ १५६ ॥

(यथा च)—

उच्यतां स वचनीयमशेषं नेश्वरे परुषता सखि साध्वी।
आनयैनमनुनीय कथं वा विप्रियाणि जनयन्ननुनेयः ॥ १५७ ॥

(और जैसे)

(नायिका कहती है) उस शठ नायक के प्रति सारे उसके दोष कह डालो, (सखी कहती है) स्वामी के विषय में ऐ सखी, कठोर वचन उचित नहीं होता (फिर नायिका कहती है) किसी भी तरह से उन्हें मना कर ले आओ। (सखी कहती है) अप्रिय कार्य करने वाला व्यक्ति मनाने योग्य कैसे हो सकता है ॥१५७॥

(यथा वा)

किं गतेन न हि युक्तमुपैतुं कः प्रिये सुभगमानिनि मानः।
योषितामिति कथासु समेतैः कामिभिर्बहुरसा धृतिरूहे ॥१५८॥

(अथवा जैसे वहीं पर)

(फिर नायिका कहती है) तो जाने से ही क्या अतः उसके पास जाना ठीक नहीं। (सखी कहती है) अपने को बड़ी सुन्दर मानने वाली, प्रियतम के विषय में मान कैसा ? नायिकाओं की इस प्रकार की कथाओं के विषय में पास आकर सुनने वाले कामी लोगों ने विविध रस वाले सन्तोष को प्राप्त किया ॥१५८॥

(यथा वा)—

सर्वक्षितिभृतान्नाथ दृष्टा सर्वाङ्गसुन्दरी।
रामा रम्ये वनोद्देशे मया विरहिता त्वया ॥ १५९ ॥

उर्वशी से वियुक्त पुरूरवा पर्वतराज से पूछते हैं। कालिदास ने यहाँ ऐसी वाक्ययोजना प्रस्तुत की है कि पर्वत की प्रतिध्वनि से प्रश्न का उत्तर भी राजा को प्राप्त प्रतीत होता है। राजा का प्रश्न है—हे समस्त पर्वतों के स्वामी ! क्या तुमने मुझसे वियुक्त सर्वाङ्गसुन्दरी रमणी (उर्वशी) को इस रमणीय वनप्रदेश में देखा है ?

पर्वतराज का उत्तर है—हे समस्त राजाओं के स्वामी ! मैंने आपसे वियुक्त सर्वाङ्गसुन्दरी रमणी (उर्वशी) को इस रमणीय वनप्रदेश में देखा है ॥ १५९ ॥

अत्र प्रधानभूतविप्रलम्भशृङ्गाररसपरिपोषणसिद्धये वाक्यार्थद्वयमुपनिबद्धम्।

यहाँ प्रधान रूप से उपनिबद्ध विप्रलम्भशृङ्गार रस के परिपोष की सिद्धिहेतु दो वाक्यार्थों को उपनिबद्ध किया गया है।

ननु चानेकार्थसम्भवेऽत्र श्लेषानुप्रवेशः कथं न सम्भवतीत्यभिधीयते—तत्र यस्माद् द्वयोरेकतरस्य वा मुख्यभावे श्लेष (ः)…तस्मिन् पुनस्तथाविधाभावात्। बहूनां द्वयोर्वा सर्वेषामेव गणभावः प्रधानार्थपरत्वेनावसानात्। अन्यच्च, तस्मिन्नेकेनैव शब्देन युगपत्प्रदीपप्रकाशवदर्थद्वयप्रकाशनं शब्दार्थद्वयप्रकाशनं वेति शब्दस्तत्र सामान्याय विजृम्भते। सहोक्तेः पुनस्तथाविधस्वाङ्गाभावादेकेनैव वाक्येन पुनः पुनरावर्तमानतया वस्त्वन्तरप्रकाशनं विधीयते। तस्मादावृत्तिरत्र शब्दन्यायतां प्रतिपद्यते।

(इस पर पूर्वपक्षी प्रश्न करता है) कि यहाँ तो अनेक अर्थों के सम्भव होने पर श्लेष का अनुप्रवेश क्यों नहीं सम्भव हो जाता—इसका उत्तर देते हुए कहते हैं—क्यों वहाँ दोनों अथवा उनमें से एक के प्रधान रूप से स्थित होने पर श्लेष अलङ्कार होता है……पर उस (सहोक्ति) में उस प्रकार का अभाव

होने से (श्लेष नहीं होगा) क्योंकि इसमें बहुतों की अथवा दो की सभी अर्थों की गौणता होती है प्रधान अर्थपरक रूप में उनका पर्यवसान होने के कारण।

और भी, श्लेष में एक ही शब्द के द्वारा एक साथ ही दीपक से प्रकाश की तरह दो पदार्थों का प्रकाशन अथवा दो शब्दों एवं अर्थों का प्रकाशन होता है इस प्रकार वहाँ पर शब्द सर्वसाधारण की प्रतीति कराने के लिए ही आता है। सहोक्ति के उस प्रकार के अपने अङ्ग के न होने पर एक ही वाक्य से बार-बार आवर्तन होने के नाते दूसरी वस्तु का प्रकाशकत्व विहित किया जाता है। इसीलिये यहाँ पर आवृत्ति शब्द के औचित्य को प्राप्त करता है।

'सर्वक्षितिभृतां नाथ' इत्यत्र वाक्यैकदेशे श्लेषानुप्रवेशः सम्भवतीत्युच्यते···। अत्र वाक्यैकदेशे श्लेषस्याङ्गत्वम्, मुख्यभावः पुनः सहोक्तेरेव।

(यदि पूर्वपक्षी यह कहे कि) 'सर्वक्षितिभृतां नाथ' इस वाक्य के एक अंश में श्लेष का अनुप्रवेश तो सम्भव हो जाता है। तो ग्रन्थकार इसका उत्तर देते हैं कि—(ठीक है यहाँ श्लेष अलङ्कार है परन्तु) यहाँ वाक्य के एक अंश में श्लेष अङ्ग रूप में ही आया है, प्रधानता तो सहोक्ति की ही है। (अतः 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इस न्याय से यहाँ सहोक्ति ही कही जायगी—श्लेष नहीं)

तदेवमावृत्य वस्त्वन्तरावगतौ सहोक्तेः सहभावाभावादर्थान्वय परिहाणिः प्रसज्येत। नैतदस्तीति-यस्मात्सहोक्तिरित्युक्तम्, न पुनः सहप्रतिपत्तिरिति। तेनात्यन्तसहाभिधानमेत्र प्रतिपन्नोत्कर्षोत्रगतिरिति न किञ्चिदसम्बद्धम्।

(इस प्रकार पूर्वपक्षी पुनः प्रश्न करता है कि जब आप आवृत्ति के द्वारा भिन्न-भिन्न वाक्यार्थों की प्रतीति होने से सहोक्ति अलङ्कार मानते हैं) तो इस प्रकार आवृत्ति के द्वारा अन्य पदार्थ का ज्ञान होने पर सहभाव के अभाव के कारण सहोक्ति के अर्थान्वय में हानि होने लगेगी (अतः उसे सहोक्ति कैसे कहा जा सकता है।) ग्रन्थकार उत्तर देते हैं कि यह बात नहीं क्यों कि मैंने सहोक्ति (साथ कथन) यह कहा है सह प्रतिपत्ति (साथ ज्ञान) नहीं कहा। अतः आत्यन्तिक सहाभिधान ही उत्कृष्ट बोध को प्राप्त है, अतः कुछ भी असम्बद्ध नहीं।

कैश्चिदेषा समासोक्तिः सहोक्तिः कैश्चिदुच्यते।
अर्थान्वयाच्च विद्वद्भिरन्यैरन्यत्वमेतयोः ॥ १६० ॥

कुछ लोग इसे समासोक्ति कहते हैं कुछ लोग सहोक्ति कहते हैं। अन्य विद्वान् इन दोनों में अर्थसम्बन्ध के कारण भिन्नता स्वीकार करते हैं ॥ १६० ॥

इस प्रकार सहोक्ति के अपने अभिमत लक्षण का सम्यक् प्रतिपादन कर कुन्तक दृष्टान्त अलङ्कार का विवेचन प्रस्तुत करते हैं। पाण्डुलिपि में दृष्टान्त की कारिका लुप्त हो गई है। वृत्ति के आधार पर उसका पूर्वार्द्ध डा० डे ने इस प्रकार उद्धृत किया है—

वस्तुसाम्यं समाश्रित्य यदन्यस्य प्रदर्शनम् ॥ ३७ ॥

पदार्थों के सादृश्य का आश्रयण कर जो दूसरे (वर्णनीय से भिन्न पदार्थ) का प्रदर्शन किया जाता है (उसे दृष्टान्त अलङ्कार कहते हैं)।

दृष्टान्तं तावदभिधत्ते—वस्तुसाम्येत्यादि। यदन्यस्य वर्ण्यमानप्रस्तुताद्व्यतिरिक्तवृत्तेः पदार्थान्तरस्य प्रदर्शनमुपनिबन्धनं स दृष्टान्तनामालङ्कारोऽभिधीयते। कथं—वस्तु-साम्यं समाश्रित्य। वस्तुनः (नोः?) पदार्थयोर्दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः साम्यं सादृश्यं समाश्रित्य निमित्तीकृत्य। लिङ्ग सङ्ख्या-विभक्तिस्वरूपसाम्यवर्जितमिति वस्तुग्रहणम्। (यथा)—

तब तक (ग्रन्थकार) दृष्टान्त (अलङ्कार) का प्रतिपादन करते हैं—वस्तुसाम्येत्यादि (कारिका के द्वारा)। जो दूसरे का अर्थात् वर्ण्यमान प्रस्तुत (पदार्थ) से भिन्न वृत्ति वाले दूसरे पदार्थ का प्रदर्शन अर्थात् वर्णन (होता है) वह 'दृष्टान्त' नाम का अलङ्कार कहा जाता है। (दूसरे पदार्थ का वर्णन) कैसे (किया जाता है?)—वस्तुओं के साम्य का आश्रय ग्रहण कर। वस्तुओं अर्थात् दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्तिक भूत पदार्थों के साम्य अर्थात् सादृश्य को आश्रित करके अर्थात् निमित्त बना कर (अन्य पदार्थ का वर्णन किया जाता है)। लिङ्ग, संख्या, विभक्ति एवं स्वरूप के साम्य से अतिरिक्त साम्य (के कारण पदार्थान्तर का वर्णन होने पर ही दृष्टान्त अलङ्कार) होता है इसीलिये लक्षण में वस्तु (साम्य) का ग्रहण किया गया है। जैसे—

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ॥ १६१ ॥

कमल सेवार से भी संगत होकर रमणीय लगता है। चन्द्रमा का कलङ्क गन्दा होते हुए भी सौन्दर्य को बढ़ाता है। यह कृशाङ्गी वल्कल से भी अधिक सुन्दर ही लग रही है। सुन्दर आकृतियों का कौन सा ऐसा पदार्थ है जो अलङ्कार नहीं बन जाता॥

पादत्रयमेवोदाहरणम्, चतुर्थे भूषणान्तरसम्भवात् ।

इस श्लोक के तीन चरण ही (दृष्टान्त के) उदाहरण हैं (सम्पूर्ण नहीं) क्योंकि चतुर्थ चरण में दूसरा (अर्थान्तरन्यास नामक) अलङ्कार सम्भव होता है ।

वाक्यार्थान्तरविन्यासो मुख्यतात्पर्यसाम्यतः ।
ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासः यः समर्पकतयाहितः ।। ३८ ।।

प्रधान वस्तु के तात्पर्य का सादृश्य होने के कारण (अभीष्ट अर्थ) के समर्पक रूप से उपनिबद्ध किया गया दूसरे वाक्यार्थ का जो वर्णन होता है उसे अर्थान्तर-न्यास (अलङ्कार) समझना चाहिए ।

अर्थान्तरन्यासमभिधत्ते—वाक्यार्थेत्यापि । ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासः । अर्थान्तरन्यासनामालङ्कारो ज्ञेयः परिज्ञातः (व्यः) । कः—यः वाक्यार्थान्तरविन्यासः । परस्परान्वितपदसमुदायाभिधेयवस्तु वाक्यार्थः तस्मादन्यत् । प्रकृतत्वात् प्रस्तुतव्यतिरेकि वाक्यार्थान्तरम् । तस्य विन्यासो विशिष्टं न्यसनं तद्विदाह्लादकारितयोपनिबन्धः । कस्मात्कारणात्—मुख्यतात्पर्यसाम्यतः । मुख्यं प्रस्तावाधिकृतत्वात्प्रधानभूतं वस्तु, तस्य तात्पर्यं यत्परत्वेन……तस्य साम्यतः सादृश्यात् । कथम्—समर्पकतयाहितः । समर्पकत्वेनोपनिबद्धः, तत्तदुपपत्तियोजनेनेति यावत् । यथा—

किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ।। १६२ ।।

अर्थान्तरन्यास अलङ्कार का निरूपण करते हैं—वाक्यार्थ इत्यादि (कारिका के द्वारा) । उसे अर्थान्तरन्यास समझना चाहिए अर्थात् अर्थान्तरन्यास नाम का अलङ्कार जानना चाहिए । किसे—जो दूसरे वाक्यार्थ का विन्यास होता है । एक दूसरे से सम्बन्धित पद के समूह के द्वारा प्रतिपाद्य वस्तु वाक्यार्थ होती है उससे भिन्न (वाक्यार्थ) । यहाँ प्रकरण प्राप्त होने के कारण प्रस्तुत (वर्ण्यमान) से अतिरिक्त (वाक्यार्थ) दूसरा वाक्यार्थ हुआ, उसके विन्यास, विशिष्ट ढङ्ग से संयोजन अर्थात् सहृदयों को आह्लादित करने वाले ढङ्ग से वर्णन (अर्थान्तरन्यास होता है) । किस कारण से—मुख्य के तात्पर्य से साम्य के कारण । मुख्य अर्थात् प्रस्ताव के द्वारा अधिकृत होने से प्रधानभूत वस्तु, उसका तात्पर्य अर्थात् जिसका प्रतिपादन करने के लिए (उसको उपनिबद्ध किया गया है) उसका साम्य अर्थात् सादृश्य होने के कारण । कैसे—सम्पर्क रूप से स्थापित अर्थात् (अभिप्रेत अर्थ) को प्रदान करने वाले के रूप में उपनिबद्ध किया गया अर्थात् उन-उन युक्तियों को प्रस्तुत करने के द्वारा ।

जैसे—(इसके पहले उदाहरण की चतुर्थ पंक्ति)

किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् । यह पंक्ति ॥ १६२ ॥

यथा वा—

असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः ।
सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ॥१६३॥

अथवा जैसे—

(शकुन्तला को देख कर राजा दुष्यन्त की यह उक्ति कि—

निश्चय ही (यह शकुन्तला) क्षत्रिय द्वारा ग्रहण करने (अथवा क्षत्रिय की पत्नी बनने) योग्य है क्योंकि मेरा श्रेष्ठ हृदय इसके विषय में अभिलाषयुक्त हो गया है क्योंकि सन्देह की स्थलभूत वस्तुओं के विषय में श्रेष्ठ जनों के हृदय की प्रवृत्तियाँ ही प्रमाण होती हैं ॥ १६३ ॥

निषेधच्छाययाक्षेपः कान्तिं प्रथयितुं पराम् ।
आक्षेप इति स ज्ञेयः प्रस्तुतस्यैव वस्तुनः ॥ ३९ ॥

वर्ण्यमान पदार्थ के ही परम सौन्दर्य को व्यक्त करने के लिए जो प्रतिषेध की शोभा से (प्रस्तुत का) अपवाद किया जाता है उसे आक्षेप (अलङ्कार) समझना चाहिए ॥ ३९ ॥

आक्षेपमभिधत्ते—निषेधच्छाययेत्यादि । आक्षेप इति स ज्ञेयः सोऽयमाक्षेपालङ्कारो ज्ञातव्यः । स कीदृशः—प्रस्तुतस्यैव वस्तुनः प्रकृतस्यैवार्थस्य आक्षेपः क्षेपकृत् । अभिप्रेतस्यापि निवर्तनमिति । कथम्—निषेधच्छायया प्रतिषेधविच्छित्त्या । किमर्थम्—कान्तिं प्रथयितुं पराम् । उपशोभां प्रकटयितुं प्रकृष्टाम् ।

आक्षेप (अलङ्कार) का प्रतिपादन करते हैं—निषेधच्छायया इत्यादि (कारिका के द्वारा) उसे आक्षेप ऐसा समझना चाहिए अर्थात् वह यह आक्षेप नामक अलङ्कार है ऐसा जानना चाहिए। वह कैसा है—प्रस्तुत ही वस्तु का अर्थात् वर्ण्यमान ही पदार्थ का आक्षेप अर्थात् निन्दा करने वाला है। अभिप्रेत का भी निषेध करना। कैसे—निषेध की छाया से अर्थात् प्रतिषेध के सौन्दर्य से। किस लिए—परम कान्ति को प्रस्तुत करने के लिए। अर्थात् उत्कृष्ट सौन्दर्य को व्यक्त करने के लिए (प्रस्तुत का आक्षेप, आक्षेपालङ्कार होता है)।

इस आक्षेपालङ्कार के उदाहरण रूप में कुन्तक ने एक प्राकृत का श्लोक उद्धृत किया है, जो कि पाण्डुलिपि के अत्यन्त भ्रष्ट होने के कारण नहीं पढ़ा जा सका। अतः उदाहरण यहाँ प्रस्तुत कर सकना कठिन है।

वर्णनीयस्य केनापि विशेषेण विभावना।
स्वकारणपरित्यागपूर्वकं कान्तिसिद्धये ॥ ४० ॥

प्रस्तुतपदार्थ के सौन्दर्य की निष्पत्ति के लिए, अपने कारण का परित्याग करके किसी विशेष (रूपान्तर) के कारण विभावना अलङ्कार होता है।

एवं स्वरूपप्रतिषेधवैचित्र्यच्छायातिशयमलङ्करणमभिधाय कारणप्रतिषेधोत्तेजितातिशयमभिधत्ते—स्वकारणेत्यादि। वर्णनीयस्य प्रस्तुतस्यार्थस्य विशेषेण केनाप्यलौकिकेन रूपान्तरेण विभावनेत्यलङ्कृतिरभिधीयते।...कथम्—स्वकारणपरित्यागपूर्वकम्। तस्य विशेषस्य स्वमात्मीयं कारणं यन्निमित्तं तस्य परित्यागः प्रहाणं पूर्वं प्रथमं यत्र। तत्कृत्वेत्यर्थः। किमर्थम्—कान्तिसिद्धये शोभानिष्पत्तये। तदिदमुक्तम्भवति—यया लोकोत्तरविशेषविशिष्टता वर्णनीयतां नीयते। यथा—

इस प्रकार स्वरूप के निषेध की विचित्रता के सौन्दर्य के कारण उत्कर्ष वाले (आक्षेप) अलङ्कार का प्रतिपादन कर, कारण के निषेध से उन्मीलित उत्कर्ष वाले (विभावना अलङ्कार) का प्रतिपादन करते हैं—स्वकारणेत्यादि (कारिका के द्वारा) वर्णनीय अर्थात् प्रस्तुत पदार्थ के विशेष अर्थात् किसी अलौकिक रूपान्तर के कारण 'विभावना' यह अलङ्कार कहा जाता है।...... कैसे?—अपने कारण के परित्यागपूर्वक। उस विशेष का जो अपना कारण अर्थात् हेतु है उसका परित्याग अर्थात् उत्सर्ग पूर्व अर्थात् पहला होता है अर्थात् उस कारण का परित्याग करके। किस लिए? कान्ति की सिद्धि अर्थात् सौन्दर्य की निष्पत्ति के लिए। तो कहने का आशय यह होता है कि—जिसके द्वारा अलौकिक विशेष की विशेषता वर्णन का विषय बनाई जाती है। जैसे—

असम्भृतं मण्डनमङ्गयष्टेरनासवाख्यं करणं मदस्य।
कामस्य पुष्पव्यतिरिक्तमस्त्रंबाल्यात्परं साऽथ वयः प्रपेदे ॥१६४॥

इसके अनन्तर उस (पार्वती) ने बाल्यावस्था के बाद की यौवनावस्था को प्राप्त किया जो कि अङ्गयष्टि का अनाहार्य अलङ्कार हुआ करता है, जो बिना

---

१. यद्यपि डॉ० डे के ही अनुसार मैंने कारिका को मूल में उद्धृत किया है। परन्तु जैसा कि वृत्ति से स्पष्ट है कारिका का प्रारम्भ 'स्वकारण' इत्यादि से होता है। अतः कारिका की पूर्वापर पङ्क्तियों का क्रम परिवर्तन कर यदि इस प्रकार रखा जाय तो अधिक उचित होगा। कि—

स्वकारणपरित्यागपूर्वकं कान्तिसिद्धये।
वर्णनीयस्य केनापि विशेषेण विभावना॥

चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः।
करौ व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं
वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर ! हतास्त्वं खलु कृती ॥ ६२ ॥

(राजा दुष्यन्त शकुन्तला पर मंडराते हुए भ्रमर को देखकर कहते हैं कि) हे भ्रमर ! तू चञ्चल नेत्रप्रान्त वाली तथा कम्पित होती हुई दृष्टि का बार-बार स्पर्श कर रहा है। रहस्य की बात बताने वाले के समान कान के पास जाकर मधुर गुञ्जन कर रहा है तथा हाथों को हिलाती हुई (शकुन्तला) के काम के सर्वस्व रूप अधर का पान कर रहा है। निश्चय ही हम तो तथ्य के अनुसन्धान में (अर्थात् मेरे लिए यह ग्राह्य है या नहीं यही पता लगाने में) मारे गये, पर तू (तो सचमुच) कृतार्थ हो गया ॥ ६२ ॥

अर्थ परमार्थः—प्रधानवृत्तेः शृङ्गारस्य भ्रमरसमारोपितकान्तवृत्तान्तो रसवदलङ्कारः शोभातिशयमाहितवान्।

यथा वा—

कपोले पत्राली ॥ ६३ ॥

इत्यादौ।

तदेवमनेन न्यायेन—

क्षिप्तो हस्तावलग्नः ॥ ६४ ॥

इत्यत्र रसवदलङ्कारप्रत्याख्यानमयुक्तम्। सत्यमेतत्, किन्तु विप्रलम्भशृङ्गारता तत्र निवार्यते। शेषस्य पुनस्तत्तुल्यवृत्तान्ततया रसवदलङ्कारत्वमनिवार्यमेव।

न चालङ्कारान्तरे सति रसवदपेक्षानिबन्धनः संसृष्टि-सङ्करव्यपदेशप्रसङ्गः प्रत्याख्येयतां प्रतिपद्यते। यथा—

इसका विश्लेषण करते हैं कि—यहाँ वास्तविक अर्थ यह है—भ्रमण पर आरोपित किए गए नायक के व्यवहार वाले (रूपक अलङ्कार ने जो कि रस के तुल्य होने के कारण रसवदलंकार हो गया है अतः उसी) रसवदलंकार ने मुख्य रूप से स्थित शृङ्गार रस की शोभा में उत्कर्ष को उत्पन्न कर दिया है। अथवा जैसे—

(उदाहरण संख्या (२।१०१ पर पूर्वोद्धृत) 'कपोले पत्राली'। इत्यादि में रसवदलंकार है)।

(इस पर पूर्वपक्षी प्रश्न करता है कि इस प्रकार यदि आप रसवदलंकार स्वीकार करते हैं) तो इस ढंग से (उदाहरण संख्या ३।४३ पर पूर्वोदाहृत)

'क्षिप्तो हस्तावलग्नः ॥' इस श्लोक में (आपके द्वारा किया गया) रसवदलंकार का खण्डन उचित नहीं है।

ग्रन्थकार (इसका उत्तर देते हैं) कि यह बात सही है (कि वह भी रसवद् अलंकार का उदाहरण है) लेकिन वहाँ पर हम विप्रलम्भ शृंगार का निषेध करते हैं। शेष का तो वहाँ भी उस (कामी एवं शराग्नि के) समान व्यवहार होने के कारण रसदवलङ्कारता अनिवार्य है। और भी अन्य अलङ्कारों के विद्यमान रहने पर रसवद् की अपेक्षा होनेवाली संसृष्टि अथवा सङ्कर अलंकार की संज्ञा का खण्डन नहीं हो जाता है। (अर्थात् रसवद् के साथ अन्य अलङ्कारों की संसृष्टि अथवा सङ्कर हमें स्वीकार है। उनका हम निषेध नहीं करते) जैसे—

अङ्गुलीभिरिव केशसञ्चयं सन्निगृह्य तिमिरं मरीचिभिः।
कुड्मलीकृतसरोजलोचनं चुम्बतीव रजनीमुखं शशी ॥ ६५ ॥

अँगुलियों द्वारा केश समुदाय की तरह किरणों द्वारा अन्धकार को भली भाँति बाँध कर चन्द्रमा (नाटक) बन्द किए हुए नयन रूप कमलोंवाले (नायिका) के मुख को मानो चूम रहा है ॥ ६५ ॥

अत्र रसवदलङ्कारस्य रूपकादीनाञ्च सन्निपातः सुतरां न समुद्भासते। तत्र 'चुम्बतीव रजनीमुखं शशी' इत्युत्प्रेक्षालक्षणस्य रसवदलङ्कारस्य प्राधान्येन निबन्धनम्, तदङ्गत्वेनोपमादीनां केवलस्य प्रस्तुतपरिपोषाय परिनिष्पन्नवृत्तेः।

यहाँ रसवदलंकार की तथा रूपकादि अलंकारों की समान स्थिति भली भाँति व्यक्त नहीं होती है क्योंकि उसमें 'रात्रि के मुख को मानो चन्द्रमा चूम सा रहा है' इस प्रकार के उत्प्रेक्षारूप रसवदलंकार की मुख्य रूप से योजना की गई है, तथा उसके अङ्ग रूप में उपमा आदि अलंकारों की। क्योंकि केवल (उत्प्रेक्षित रूप रसवदलंकार की ही) स्थिति प्रस्तुत (शृङ्गार) के परिपोष के लिए पर्याप्त थी।

ऐन्द्रं धनुः पाण्डुपयोधरेण शरद्दधानार्द्रनखक्षताभम्।
प्रसादयन्ती सकलङ्कमिन्दुं तापं रवेरभ्यधिकं चकार ॥ ६६ ॥

पाण्डुवर्ण पयोधर (स्तन या मेघ) से आर्द्रनखक्षत की आभावाले इन्द्रधनुष को धारण करती हुई, कलङ्कयुक्त चन्द्रमा (प्रतिनायक) को प्रसन्न (काशित–खुश) करती हुई शरत् (नायिका) ने सूर्य (नायक) के ताप (गर्मी एवं सन्ताप) को और अधिक कर दिया।

'प्रसादयन्ती रवेरभ्यधिकं तापं शरच्चकार' इति समयसम्भवःपदार्थस्वभावस्तद्वाचक-'वारिद'-शब्दाभिधानं विना प्रतीयमानोत्प्रेक्षालक्षणेन रसवदलङ्कारेण कविना कामपि कमनीयतामधिरोपितः, प्रतीत्यन्तरमनोहारिणां 'सकलङ्का'दीनां वाचकादीनामुपनिबन्धनात्, 'पाण्डुपयोधरेणार्द्रनखक्षताभमैन्द्रं धनुर्दधाना' इति श्लेषोपमयोश्च तदानुगुण्येन विनिवेशनात्। एवं 'सकलङ्कमपि प्रसादयन्ती (शरत्) परस्याभ्यधिकं तापं चकार' इति रूपकालङ्कारनिबन्धनः प्रकटाङ्गनावृत्तान्तसमारोपः सुतरां समन्वयमासादितवान्। अत्रापि प्रतीयमानवृत्ते रसवदलङ्कारस्य प्राधान्यम्, तदङ्गत्वमुपमादीनामिति पूर्ववदेव सङ्गतिः।

यहाँ कवि ने 'प्रसन्न करती हुई शरत् ने सूर्य के ताप को और भी अधिक कर दिया' इस प्रकार के अपने समय (ऋतु) के अनुसार उत्पन्न होनेवाले पदार्थ के स्वभाव को, उसके वाचक 'वारिद' या (बादल) शब्द का कथन किये विना ही गम्यमान उत्प्रेक्षा रूप रसवदलंकार के द्वारा किसी अपूर्व रमणीयता से युक्त कर दिया है। (क्योंकि कवि ने) उसी (उत्प्रेक्षा रूप रसवदलंकार) के अनुरूप अन्य प्रतीति के कारण मनोहर 'सकलंक' आदि शब्दों का प्रयोग किया है तथा 'पाण्डु पयोधर से आर्द्रनखक्षताभ इन्द्रधनुष को धारण किए हुए' ऐस वाक्य में श्लेष एवं उपमा अलंकार की योजना की है। इस प्रकार 'कलंकयुक्त को भी प्रसन्न करती हुई शरत् ने दूसरे (नायक) के ताप को और भी अधिक कर दिया' इस प्रकार रूपकालंकार का हेतुभूत स्पष्ट (वेश्या) अङ्गना के व्यवहार का (शरत् पर) आरोप अत्यधिक समन्वित हो गया है। यहाँ पर भी गम्यमान स्थिति वाला (उत्प्रेक्षारूप रसवदलंकार ही प्रधान है तथा उपमा आदि उसके अङ्ग रूप हैं इस प्रकार पहले की ही भाँति यहाँ भी सङ्गति होती है।

[इसके बाद कुन्तक ने अधोलिखित श्लोक उद्धृत किया है]—

लग्नाद्विरेफाञ्जनभक्तिचित्रं मुखे मधुश्रीतिलकं प्रकाश्य।
रागेण बालारुणकोमलेन चूतप्रवालोष्ठमलञ्चकार ॥ ६७॥

अयं रसवतां सर्वालङ्काराणां चूडामणिरिवाभाति।

वसन्त शोभा ने भ्रमरूपी अञ्जन की रचना से विचित्र तिलक को मुख पर प्रकट कर प्रातःकाल के सूर्य के समान सुन्दर राग (रक्तिमा) से आम्रपल्लव रूप अधर को अलंकृत किया ॥ ६७॥

(एसके बाद रसवदलंकार का उपसंहार करते हुए कुन्तक कहते हैं) कि यह (रसवदलंकार) रसयुक्त (काव्यों के) समस्त अलंकारों का शिरोरत्न सा सुशोभित होता है।

[इसके बाद जैसा कि डा० डे संकेत करते हैं कुन्तक ने उक्त कथन के समर्थन में दो अन्तरश्लोकों को भी उद्धृत किया है जो कि पाण्डुलिपि की भ्रष्टता के कारण पढ़े नहीं जा सके ।]

इस प्रकार रसवदलंकार के प्रकरण का उपसंहार कर कुन्तक दीपक अलंकार एवं उसके प्रभेदों का विवेचन प्रारम्भ करते हैं—

एवं नीरसानां पदार्थानां सरसतां समुल्लासयितुं रसवदलङ्कारं सामासादिवान्। इदानीं स्वरूपमात्रेणैवावस्थितानां वस्तूनां कमप्यतिशयमुद्दीपयितुं दीपकालङ्कारमुपक्रमते। तच्च पूर्वाचार्यैरादिदीपकं मध्यदीपकमन्तदीपकमिति दीप्यमानपदापेक्षया वाक्यस्यादौ मध्ये चान्ते च व्यवस्थितमिति क्रियापदमेव दीपकाख्यमलङ्करणमाख्यातम् ।

इस प्रकार नीरस पदार्थों की सरसता को प्रकट करने के लिए रसवदलंकार का विवेचन किया गया। अब केवल स्वरूप से ही स्थित पदार्थों के किसी अपूर्व उत्कर्ष को व्यक्त करने के लिए (ग्रन्थकार कुन्तक) दीपकालङ्कार (का विवेचन) प्रारम्भ करते हैं। तथा उस दीपकलङ्कार की प्राचीन आचार्यों ने आदि दीपक, मध्य दीपक तथा अन्त दीपक इस प्रकार, प्रकाश्यमान पद की अपेक्षा से वाक्य के आदि, मध्य अथवा अन्त में (क्रिया पद ही) व्यवस्थित होता है ऐसा सोचकर क्रियापद को ही दीपक नामक अलङ्कार बताया है। (इसके बाद कुन्तक भामह के दीपक के तीनों भेदों के उदाहरण रूप तीनों श्लोकों को उद्धृत करते हैं जो इस प्रकार है :—

मदो जनयति प्रीतिं, सानङ्गं मानभङ्गुरम् ।
स प्रियासङ्गमोत्कण्ठां, सासह्यां मनसः शुचम् ॥ ६८ ॥
मालिनीरंशुकभृतः स्त्रियोऽलङ्कुरुते मधुः ।
हारीतशुकवाचश्च भूधराणामुपत्यकाः ॥ ६९ ॥
चीरीमतीररण्यानीः सरितः शुष्यदम्भसः ।
प्रवासिनाञ्च चेतांसि शुचिरन्तं निनीषति ॥ ७० ॥

मद प्रीति को उत्पन्न करता है, वह मान को भंग करने वाले मदन को वह प्रियतमा के मिलन की उत्कण्ठा को, और वह हृदय के अगह्य शोक को (उत्पन्न करती है) ॥ ६८ ॥

वसन्त हार पहनने वाली एवं वस्त्रों को धारण करने वाली स्त्रियों को विभूषित करता है तथा हारीत (मैना) एवं तोतों की वाणी को और पर्वतों को (विभूषित करता है) ॥ ६९ ॥

झींगुरों से युक्त बड़े-बड़े जंगलों को, सूखते हुए जलवाली नदियों को तथा (विरही) परदेशियों के हृदयों को आषाढ़ का महीना नष्ट कर देना चाहता है ॥ ७० ॥

(इसके बाद कुन्तक अलग-अलग भामहकृत दीपक अलंकार के लक्षण एवं वर्गीकरण की आलोचना उस प्रकार करते हैं कि)

तत्र क्रियापदानां दीपकत्वं प्रकाशमत्वम्, यस्मात् क्रियापदैरेव प्रकाश्यन्ते स्वसम्बन्धितया स्थाप्यन्ते।

(भामह के अनुसार) उसमें (दीपकालंकार) में क्रियापदों की दीपकता अर्थात् प्रकाशकता होती है क्योंकि क्रियापद ही (अन्य पदों को) प्रकाशित करते हैं अर्थात् अपने से सम्बन्धित रूप में (अन्य पदों को) व्यवस्था करते हैं।

तदेवं सर्वस्य कस्यचिद्दीपकव्यतिरेकिणोऽपि क्रियापदस्यैकरूपत्वात् दीपकाद् द्वैतं प्रसज्यते।

किञ्च शोभाकारित्वस्य युक्तिशून्यत्वादलङ्करणत्वानुपपत्तिः।

(इसका खण्डन कुन्तक करते हैं कि) तो इस प्रकार दीपक से भिन्न भी सभी किसी क्रियापद के (अन्य दो पदों की सम्बन्धित रूप में व्यवस्था करने के कारण)समान होने से दीपकालङ्कार से घालमेल होने लगेगा।

और फिर सौन्दर्योत्पादकता के युक्तियुक्त न होने से अलङ्कारता ही नहीं हो सकेगी।

अन्यच्च आस्तां तावत्क्रिया, एवं यस्यकस्यचिद्वाक्यवर्तिनः पदस्य सम्बन्धितया पदान्तरद्योतनस्वभाव एव, परस्परान्वयसम्बन्धनिबन्धना-द्वाक्यार्थस्वरूपस्येति पुनरपि दीपकद्वैतमायातम्।

और भी, क्रिया को तब तक रहने दीजिये। इस प्रकार तो वाक्य में स्थित जिस किसी भी पद का, वाक्यार्थ के स्वरूप के परस्पर (पदों) के अन्वय-सम्बन्ध-मूलक होने के कारण, (परस्पर) सम्बन्धित होने के कारण दूसरे पद को प्रकाशित करना स्वभाव ही है इस लिये फिर (किसी भी पद का) दीपकालङ्कार के साथ घालमेल हो सकता है (अर्थात् कोई भी पद दीपक हो सकता है।

आदौ मध्ये चान्ते वा व्यवस्थितं क्रियापदमतिशयमासादयति, येनालङ्कारतां प्रतिपद्यते। तेषां वाक्यादीनां परस्परं तथाविधः कः स्वरूपातिरेकः सम्भवति ?

(और यदि आप यह कहें कि) आदि, मध्य अथवा अन्त में व्यवस्थित क्रियापद उत्कर्ष युक्त होता है अतः यह अलङ्कार बन जाता है (तो आप यह

बतायें कि) उन क्रियापदों एवं वाक्यादि का परस्पर कौन सा वैसा स्वरूप का अतिशय उत्पन्न हो जाता है (जिससे कि आप उस क्रिया पद को अलंकार कहते हैं। क्योंकि उसका स्वरूप तो वही रहता है)।

क्रियापदप्रकारभेदनिबन्धनं वाक्यस्य यदादिमध्यान्तं तदेव तदर्थवाचकेष्वपि सम्भवतीत्येवं दीपकप्रकारानन्त्यप्रसङ्गः। दीपकालङ्कार-विहितवाक्यान्तर्वर्तिनः क्रियापदस्य भ्वादिव्यतिरिक्तस्यैव काव्यान्तर-व्यपदेशः। यदि वा समानविभक्ती (क्ता ?) नां बहूनां करका (णा ?) नामेकक्रियापदं प्रकाशकं दीपकमित्युच्यते, तत्रापि काव्यच्छायातिशय-कारितायाः किं निबन्धनमिति वक्तव्यमेव।

(और जैसा कि आप) क्रियापद के प्रकार-भेद का कारण वाक्य के जिस आदि, मध्य एवं अन्त (को स्वीकार करते) हैं (वैसे ही) वही (आदि, मध्य एवं अन्त) उस (वाक्य) के अर्थ का प्रतिपादन करने वाले (अन्य पदों) में भी सम्भव हो सकता है अतः इस प्रकार दीपक के भेद अनन्त होने लगेंगे। दीपकालंकार प्रस्तुत करने के लिए ले आये गये वाक्य के भीतर स्थित भ्वादि से भिन्न क्रियापद की दूसरे प्रकार की काव्यता होगी।

अथवा समान विभक्तियों वाले बहुत से कारकों का प्रकाश अकेला क्रियापद दीपक कहा जाता है, तो भी यह बताना ही पड़ेगा कि काव्यसौन्दर्य में उत्कर्ष लाने का क्या कारण है ?

इस प्रकार भामह के दीपकालंकार के लक्षण का खण्डन कर कुन्तक उद्भट की दीपकालंकार की व्याख्या को भामह की अपेक्षा अधिक उपयुक्त समझते हैं। और इसी लिए शायद वे उद्भट को अभियुक्ततर भी कहते हैं—वे कहते हैं—

प्रस्तुताप्रस्तुतविध्यसामर्थ्यसम्प्राप्तिप्रतीयमानवृत्तिसाम्यमेव नान्य-त्किञ्चिदित्यभियुक्ततरैः प्रतिपादितमेव—

आदिमध्यान्तविषयाः प्राधान्येतरयोगिनः।
अन्तर्गतोपमा धर्मा यत्र तद्दीपकं विदुः॥ ७१॥

प्रस्तुत और अप्रस्तुत के बीच विधि की असमर्थता की प्राप्ति होने के कारण प्रतीयमान व्यापार का साम्य ही आता है और दूसरा कुछ नहीं ऐसा श्रेष्ठ विद्वानों द्वारा ही प्रतिपादित किया जा चुका है—

दीपकालंकार उसे कहते हैं जहाँ प्राधान्य एवं अप्राधान्य से सम्बन्ध रखने वाले (वाक्य के) आदि, मध्य एवं अन्त के विषयभूत धर्म उपनिबद्ध किए जाते हैं जिनमें (परस्पर) उपमानोपमेयभाव विद्यमान रहता है (अन्तर्गतोपमा)।

इसके बाद इस दीपकालंकार के उदाहरण रूप में कुन्तक अधोलिखित प्राकृत श्लोक उद्धृत करते हैं।

चंकमंति करीन्दा दिसागअमअगन्धहारिअहिअआ।
दुक्खं वणे च कइणो भणिइविसममहाकइ मग्गे ॥ ७२ ॥

(चङ्क्रम्यन्ते करीन्द्रा दिग्गजमदगन्धहारितहृदयाः।
दुःखं वने च कवयो भणितिविषमहाकविमार्गे ॥)

दिग्गजों के गण्डजल की महक से विदीर्ण कर दिए गए हृदय वाले गजेन्द्र जङ्गल में तथा उक्तियों के कारण विषम महाकवियों के मार्ग में कविजन दुःखपूर्वक सञ्चरण करते हैं।

यथा दिक्कुञ्जरमदामोदहारितमानसाः करीन्द्राः कानने कथमपि दुःखं चङ्क्रम्यन्ते, तथा भणितिविषमे वक्रोक्तिविचित्रे महाकविमार्गे··· कवय इति 'च'-शब्दार्थः।

"जिस प्रकार से दिग्गजों के गण्डजल की सुगन्धि से खिन्न चित्त वाले गजेन्द्र बन में किसी तरह दुःखपूर्वक विचरण करते हैं उसी प्रकार उक्तियों से विषम अर्थात् वक्रोक्तियों से विचित्र महाकवियों के पथ में···कविजन (विचरण करते हैं) यह (श्लोक में आये हुए) 'च' शब्द का अभिप्राय है। कुन्तक उद्भट के इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं कि यदि प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत में प्रतीयमान वृत्ति द्वारा साम्य नहीं रहेगा तो वहाँ दीपकालङ्कार नहीं होगा। तथा उद्भट द्वारा अन्तर्गतोपमाधर्म की विशेषता के जोड़ देने का अनुमोदन करते हैं।

इसके बाद दीपकालङ्कार के अपने अभिमतलक्षण को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

औचित्यावहमम्लानं तद्विदाह्लाद-कारणम्।
अशक्तं धर्ममर्थानां दीपयद्वस्तु दीपकम् ॥ १ ॥ ॥

वर्णनीय पदार्थों के औचित्य का वहन करने वाले, सहृदयों के आह्लाद-जनक, अभिनव एवं अस्पष्ट धर्म को प्रकाशित करता हुआ पदार्थ दीपक अलङ्कार होता है।

तदिदानीं दीपकमलङ्कारान्तरकारणं कलयन् कामपि काव्यकमनीयतां कल्पयितुं प्रकारान्तरेण प्रक्रमते—औचित्यावहमित्यादि। वस्तु दीपकं वस्तुसिद्धरूपमलङ्करणं भवतीति सम्बन्धः, क्रियान्तराश्रवणात्। तदेवं सर्वस्य कस्यचिद्वस्तुनः तद्भावापत्तिरित्याह-दीपयत् प्रकाशयदलङ्करणं सम्पद्यते। किं कस्येत्यभिधत्ते-धर्मं परिस्पन्दविशेषमर्थानां वर्णनीया-

नाम्। कीदृशम्—अशक्तम् अप्रकटम् तेनैव प्रकाश्यमानत्वात्। किंस्वरूपञ्च—औचित्यावहम्। औचित्यमौदार्यम् आवहति यः स तथोक्तः। अन्यच्च किंविधम् अम्लानम्, प्रत्यग्रम्। अनालीढमिति यावत्। एवं स्वरूपत्वात् तद्विदाह्लादकारणम्, काव्यविदानन्दनिमित्तम्।

इस कारिका की व्याख्या करते हैं—तो अब दीपक को अन्य अलङ्कार का जनक समझते हुए काव्य की किसी अपूर्व रमणीयता को प्रस्तुत करने के लिए उसे दूसरे ढङ्ग से प्रस्तुत करते हैं—औचित्यावहम् इत्यादि (कारिका के द्वारा)। वस्तु दीपक होती है अर्थात् पदार्थ का सिद्ध रूप (कारक पद) अलङ्कार होता है। (इस वाक्य का) अन्य क्रिया के सुनाई न पड़ने से (भवति होती है) के साथ सम्बन्ध है। तो इस प्रकार सभी कोई वस्तु दीपकालङ्कार होने लगेगी अतः (उसका निषेध करने के लिए) कहते हैं कि—दीप्त करती हुई अर्थात् प्रकाशित करती हुई वस्तु अलङ्कार होती है। क्या (प्रकाशित करती हुई वस्तु और) किसका (प्रकाशित करती हुई) इसे बताते हैं—अर्थों अर्थात् वर्णनीय पदार्थों के धर्म अर्थात् स्वभाव विशेष को (प्रकाशित करती हुई वस्तु अलङ्कार होती है)। कैसे धर्म को—अशक्त अर्थात् जो प्रकट नहीं रहता क्योंकि वह उसी (वस्तु) के द्वारा प्रकाशित होने वाला होता है। और किस स्वरूप का है (वह धर्म)—औचित्य का वहन करने वाला। औचित्य अर्थात् उदारता को जो वहन या धारण करता है वह औचित्य की वहन करने वाला होता है। और कैसा (धर्म होता है) अम्लान अर्थात् अभिनव जिसका आस्वाद नहीं किया गया है। ऐसे स्वरूप वाला होने के कारण उसे जानने वालों के आह्लाद का कारण अर्थात् काव्य को समझने वालों के आनन्द का हेतु बनता है।

इसके बाद जैसा कि डा० डे संकेत करते हैं कि पाण्डुलिपि अत्यन्त दोषपूर्ण है अतः कुन्तक ने दीपक अलङ्कार का वर्गीकरण कैसे किया है इसे ठीक-ठीक नहीं प्रतिपादित किया जा सकता, पर जहाँ तक पाण्डुलिपि से विषय को समझा जा सकता है वह इस प्रकार है। कुन्तक निम्न कारिका को प्रस्तुत करते हैं—

एकं प्रकाशकं सन्ति भूयांसि भूयसां क्वचित्।
केवलं पङ्क्तिसंस्थं वा द्विविधं परिदृश्यते ॥ १७ ॥

अस्यैव प्रकारान्निरूपयति—द्विविधं परिदृश्यते। द्विप्रकारमवलोक्यते, लक्ष्ये विभाव्यते! कथम् केवलमसहायम्, पङ्क्तिसंस्थं वा पङ्क्तौ व्यवस्थितं तत्तुल्यकक्षायां सहायान्तरोपरचितायां वर्तमानम्। कथम् एकं बहूनां पदार्थानामेकं प्रकाशकं दीपकं केवलमित्युच्यते। यथा—

असारं संसारम् ॥ ७३ ॥

इत्यादि। अत्र 'विधातुं व्यवसितः' कर्ता संसारादीनामसारत्वप्रभृतीन् धर्मानुद्योतयन् दीपकालङ्कारतामाप्तवान्।

(दीपक अलंकार) केवल तथा पंक्तिसंस्थ (भेद से) दो प्रकार का दिखाई पड़ता है। (उनमें जहाँ बहुत से पदार्थों का) एक प्रकाशक होता है (वह केवल दीपक तथा जहाँ) बहुतों के बहुत से (प्रकाशक) हैं (वह पंक्तिसंस्थ दीपक होता है) ॥ १७ ॥

इसी कारिका की व्याख्या करते हैं—इसी (दीपकालंकार) के भेदों का निरूपण करते हैं—दो प्रकार का दिखाई पड़ता है अर्थात् (यह दीपक अलंकार) लक्ष्य (काव्यादि) में दो तरह का दिखाई पड़ता है। कैसे—केवल अर्थात् असहाय (रूप में) अथवा पंक्तिसंस्थ अर्थात् पंक्ति में व्यवस्थित अर्थात् अन्य सहायक द्वारा विरचित उसकी समान स्थिति में विद्यमान। कैसे—एक अर्थात् बहुत से पदार्थों का अकेला प्रकाशक केवल दीपक कहा जाता है। जैसे—

(उदाहरण संख्या १।२१ पर पूर्वोदाहृत) असारं संसारम्। इत्यादि श्लोक।

यहाँ 'विधातुं व्यवसितः' कर्ता संसार आदि के निःसारता आदि धर्मों को प्रकाशित करता हुआ दीपक अलङ्कार वन गया है।

पङ्क्तिसंस्थम्—भूयांसि बहूनि वस्तूनि दीपकानि भूयसां प्रभूतानां वर्णनीयानां सन्ति वा क्वचिद् भवन्ति वा कस्मिंश्चिद्विषये। यथा—

कइकेसरी वअणाणं मोत्तिअरअणाणं आइवेअटिओ।
ठाणाठाणं जाणइ कुसुमाणं अ जीणमालारो ॥ ७४ ॥

(कविकेसरी वचनानां मौक्तिकरत्नानामादिवैकटिकः।
स्थानास्थानं जानाति कुसुमानाञ्च जीर्णमालाकारः ॥)

चन्दमऊएहिंणिसा णलिनी कमलेहि कुसुमगुच्छेहि लआ।
हंसेहि सारअसोहा कव्वकहा सज्जनेहि करइ गरुई ॥ ७५ ॥

(चन्द्रमयूखैर्निशा नलिनी कमलैः कुसुमगुच्छैर्लता।
हंसैश्शरदशोभा काव्यकथा सज्जनैः क्रियते गुर्वी ॥)

पङ्क्तिसंस्थ—(दीपक वहाँ होता है जहाँ) कहीं किसी विषय में (अथवा स्थल पर बहुत से अर्थात् अनेकों वर्णनीय पदार्थों की बहुत-सी अर्थात् अनेकों वस्तुएं प्रकाशक होती हैं। जैसे—

श्रेष्ठ कवि (कवि केसरी) उक्तियों के, प्राचीन जोहरी मौक्तिकरत्नों के तथा पुराना माली फूलों के औचित्य तथा अनौचित्य को जानता है ॥ ७४ ॥

चन्द्रमा की किरणें रात्रि को, कमल कमलिनी को, फूलों के गुच्छे लता को, हंस शरद् ऋतु के सौन्दर्य को तथा सज्जन काव्य कथा को महत्त्वपूर्ण बना देते हैं ।।७५।।

इसके बाद कुन्तक ने इस पंक्तिसंस्थ दीपक के भी अन्य-अन्य प्रभेद किये हैं। किन्तु पाण्डुलिपि में वह स्थल अधिक स्पष्ट नहीं है। कारिका तो पूर्णतः अस्पष्ट है। उसे डा० डे सम्पादित नहीं कर सके। पर उस स्थल को पढ़ने से ऐसा पता चलता है कि कुन्तक ने इस पंक्तिसंस्थ दीपक के पुनः तीन भेद किए हैं। कारिका तो सर्वथा अस्पष्ट ही है। वृत्ति में से जितना स्थल स्पष्ट हो सका है वह इस प्रकार है—

यदपरं पंक्तिसंस्थं नाम···कारणात् त्रिप्रकारम्। त्रयः प्रकाराः प्रभेदा यस्येति विग्रहः। तत्र प्रथमस्तावदनन्तरोक्तो 'भूयांसि भूयसां क्वचिद्भवन्ति' इति।

द्वितीयो—दीपकं दीपयत्यन्यत्रान्यदिति, अन्यस्यातिशयोत्पादकत्वेन दीपकम्। यद्दीपितं तत्कर्मभूतमन्यत् कर्तृभूतं दीपयति प्रकाशयति तदप्यन्यद्दीपयतीति।

जो दूसरा 'पंक्तिसंस्थ' नाम का (दीपकालङ्कार का भेद है वह)···[यहाँ डा० डे ने पाठलोप सूचक चिह्न दिए हैं। अतः यह कह सकना, कि किस कारण से वह पंक्तिसंस्थ दीपक तीन प्रकार का होता है, कठिन है।] कारण से तीन प्रकार का है। 'त्रिप्रकारम्' का विग्रह होगा तीन प्रकार हैं जिसके वह। उनमें से पहला प्रकार तो अभी-अभी बताया गया 'कि बहुत से वर्ण्यमान पदार्थों के कहीं बहुत से प्रकाशक होते है' यह हैं। (इसका उदाहरण ऊपर दिया ही जा चुका है)

दूसरा प्रकार वह है—दूसरे स्थान पर वह एक दीपक को दूसरा (दीपक) प्रकाशित करता है वह दूसरे के अतिशय को उत्पन्न करने के कारण दीपक (अलङ्कार) होता है। जो प्रकाशित हुआ है वह कर्मभूत है और दूसरा कर्तृभूत है वह दीपित अर्थात् प्रकाशित करता है, वह भी दूसरे को प्रकाशित करता है।

द्वितीयदीपकप्रकारो यथा—

क्षोणीमण्डलमण्डनं नृपतयस्तेषां श्रियो भूषणं
ताः शोभां गमयत्यचापलमिदं प्रागल्भ्यतो राजते।
तद्रूप्यं नयवर्त्मनस्तदपि च क्रौर्यक्रियालङ्कृतं
बिभ्राणं यदियत्तदा त्रिभुवनं छेत्तुं व्यवस्येदपि ।। ७६ ।।

(पंक्तिसंस्थ दीपक के) दूसरे भेद का उदाहरण जैसे—

भूमण्डल के शोभा हेतु राजा लोग हैं और उनकी शोभा हेतु सम्पत्तियाँ हैं। वे स्थिरता के द्वारा शोभा को प्राप्त कराई जाती है। और यह (स्थिरता) भी

प्रगल्भता से सुशोभित होती है। वह (प्रगल्भता) राजनीति के मार्ग की दोषभाक् है, और वह (राजनीति का मार्ग) भी क्रूरतापूर्ण कर्मों से अर्थात् परराष्ट्र पर आक्रमण आदि से सुशोभित होता है यदि इस क्रूरतापूर्ण कर्म को धारण कर लिया जाय तो (व्यक्तिविशेष) त्रिभुवन का ही उच्छेद करने पर तुल जाय॥७६॥

टिप्पणी:—[यहाँ पर डा० डे ने 'च क्रौर्यक्रियालङ्कृतम्' पाठ मुद्रित किया है, तथा उसके अर्थवैषम्य को देखते हुए पादटिप्पणी में उन्होंने 'चेच्छौर्यक्रियालङ्कृतम्' पाठान्तर निर्दिष्ट किया है। स्व० आचार्य विश्वेश्वर जी ने 'च शौर्यक्रियालङ्कृतं' पाठ देते समय 'शार्दूलविक्रीडितवृत्तगत' छन्दोभङ्ग की ओर पता नहीं ध्यान क्यों नहीं दिया।

हमने यहाँ पर मातृकागत पाठ को ही श्रेयान् मानकर रूपान्तर प्रस्तुत किया है। इस पक्ष में सात दीपक दृष्टि पथ में आते हैं। पहला है क्षोणीमण्डल और नृपति के बीच। दूसरा नृपति और श्री के बीच। तीसरा श्री और अचापल के बीच। चौथा अचापल और प्रागल्भ्य के बीच। पाँचवाँ प्रागल्भ्य और नयवर्त्म के बीच। छठा नयवर्त्म और क्रौर्यक्रिया के बीच और अन्तिम क्रौर्यक्रिया और त्रिभुवनच्छेद के बीच है। पहले का धर्म मण्डन, दूसरे का भूषण, तीसरे का शोभागमन, चौथे का राजन, पाँचवें का दुष्यत्व, छठे का अलङ्कृतत्व और सातवें का विश्राणत्व है। डा० डे० की आशंका का हेतु ऊपर से चला आता हुआ मण्डनादि और दूष्यत्व के बीच का वैषम्य प्रतीत होता है। परन्तु चतुर्थ चरण का पाठ करने पर स्पष्ट हो जायगा कि कवि का संरम्भ एक ही प्रकार के धर्म के साथ अभिसम्बन्ध दिखाने में नहीं है। अन्तिम बात यह भी ध्यान देने की है कि यहाँ शौर्यक्रिया की बात करना अनुचित है। क्योंकि त्रिभुवन का उच्छेद शौर्यक्रिया से नहीं अपितु क्रौर्यक्रिया से ही सम्भव है। यहाँ पर इन सातों दीपकों में प्रत्येक पहले दीपक का अप्रस्तुत दूसरे दीपक का प्रस्तुत बन जाता है। इसीलिए इसे दीपितदीपक कहा जाता है।]

अत्रोत्तरोत्तराणि पूर्वपूर्वपददीपकानि मालायां कविनोपनिबद्धानीति।

यथा वा—

शुचि भूषयति श्रुतं वपुः प्रशमस्तस्य भवत्यलङ्क्रिया।
प्रशमाभरणं पराक्रमः स नयापादितसिद्धिभूषणः॥७७॥

यथा च—

चारुतावपुरभूषयदासाम्॥७८॥

इत्यादि।

यहाँ पर उत्तरोत्तर दीपक उसके पूर्ववर्ती प्रत्येक दीपक के साथ कवि के द्वारा एक माला में गुम्फित किए गए हैं।

अथवा जैसे—(दूसरा उदाहरण)

शुद्ध शास्त्र (श्रवण) शरीर को अलङ्कृत करता है तथा (क्रोधादि का) शमन उस (शास्त्र) का आभूषण होता है। शमन का अलङ्कार पराक्रम होता है तथा वह (पराक्रम) नीति के द्वारा सम्पादित सिद्धि रूप अलंकार वाला होता है ॥ ७७ ॥

और जैसे—(उदाहरण संख्या १।२४ पर पूर्वोदाहृत)

चारुतावपुरभूषयदासाम् ॥ ७८ ॥ इत्यादि श्लोक।

तृतीयप्रकारोऽत्रैव श्लोकार्द्धे 'दीपक'-स्थाने 'दीपित'मिति पाठान्तरं विधाय व्याख्येयः। तदयमत्रार्थः—यद्दीपितं यदन्येन केनचिदुत्पादितातिशयं सम्पादितं वस्तुं तत्कर्तृभूतमन्यद्दीपयदुत्तेजयति …। यथा—

मदो जनयति प्रीतिम्। इत्यादि ॥ ७९ ॥

(इस पंक्तिसंस्थ दीपक के) तीसरे भेद के लिए इसी (कारिका) श्लोक के अर्द्धभाग में 'दीपक' के स्थान पर 'दीपित' यह दूसरा पाठ करके व्याख्या करनी चाहिए। तो यहाँ आशय यह है कि—जो दीपित अर्थात् किसी दूसरे के द्वारा उत्पन्न किए गए उत्कर्ष से युक्त रूप में सम्पादित की गई वस्तु है उसके कर्तृभूत दूसरे को प्रकाशित करता हुआ उत्तेजित करता है। जैसे—

'मदो जनयति प्रीतिम्' इत्यादि श्लोक ॥ ७९ ॥

ननु पूर्वाचार्यैश्चैतदेव पूर्वमुदाहृतम्। तदेव प्रथमं प्रत्याख्यायेदानीं समाहितमित्यभिप्रायो व्याख्यातव्यः।

सत्यमुक्तम्। तदयं व्याख्यायते—क्रियापदमेकमेव दीपकमिति तेषां तात्पर्यम्, अस्माकं पुनः कर्तृपदादिनिबन्धनानि दीपकानि बहूनि सम्भवन्तीति।

(भामह के दीपकालंकार का खण्डन करते समय कुन्तक ने भामह के इसी 'मदो जनयति' इत्यादि श्लोक की आलोचना की थी। किन्तु अब उन्होंने उसी उदाहरण को अपने अनुसार 'दीपितदीपक' के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है। अतः पूर्वपक्षी शङ्का करते हैं कि)—

इसी उदाहरण को तो प्राचीन (भामह आदि) आचार्यों ने उद्धृत किया है। उसी का पहले खण्डन कर अब (आपने उसी का) समाधान किया है तो किस आशय से, इसे बताने का कष्ट करें।

कुन्तक इसका उत्तर देते हैं—

ठीक कहा (तुमने) तो यह व्याख्या कर रहा हूँ। उन (प्राचीन) आचार्यों का अभिप्राय है कि केवल (वा एक ही) क्रियापद दीपक होता है, पर हमारा मत है कि कर्तृपदादिकमूलक बहुत से दीपक हो सकते हैं।

[इसके बाद कुन्तक इस प्रकरण का अधोलिखित कारिका के साथ उपसंहार करते हैं। इस कारिका जो जिस ढङ्ग से डा० डे ने मुद्रित किया है उसके अनुसार यह प्रतीत होता है कि कुन्तक यहाँ यह बताना चाहते हैं कि 'कैसा क्रियापद दीपक हो सकता है और कैसी वस्तु दीपक हो सकती है—]

यथायोगि क्रियापदं मनःसंवादि तद्विदाम्।
वर्णनीयस्य विच्छित्तेः कारणं वस्तुदीपकम्॥ १८॥

इदानीमेतदेवोपसंहरति—यथायोगि क्रियापदमित्यादि। यथा येन प्रकारेण युज्यते इति यथायोगि क्रियापदं यस्य तत्तथोक्तम्। येन यथा सम्बन्धमनुभवितुं शक्नोति तथा दीपके क्रिया। [अन्यच्च किं रूपम्? मनःसंवादि तद्विदाम्।] तद्विदां काव्यज्ञानां मनसि संवदति चेतसि प्रतिफलति यत्तत्तथोक्तम्।

जिस प्रकार से (वाक्यार्थ) सम्बद्ध हो सके वैसा और सहृदयों का मनोनुकूल क्रियापद (दीपक होता है) तथा वर्णनीय पदार्थ की सुन्दरता का कारणभूत वस्तु दीपक होती है॥

अब (ग्रन्थकार) इसी (दीपक अलङ्कार) का उपसंहार करते हैं—'यथायोगि क्रियापदम्' इत्यादि कारिका के द्वारा। जैसे अर्थात् जिस तरह युक्त होता है वह यथायोगि हुआ इस प्रकार यथायोगि क्रियापद है जिसके वह यथायोगि क्रियापद वाला हुआ। अतः जिस प्रकार से सम्बन्ध का अनुभव किया जा सकता है वैसी दीपक में क्रिया होती है। उस काव्य को जानने या समझने वालों के चित्त में जो संवाद उत्पन्न करती है अर्थात् हृदय में प्रतिफलित होती है वह क्रिया दीपक होती है।

[तस्मादेव सहृदयहृदयसंवादमाहात्म्यात्—'मुखमिन्दुः' इत्यादौ न केवलं रूपकमिति यावत्। 'किं तारुण्यतरोः' इत्येवमाद्यपि। तस्मादेव च सूक्ष्ममतिरिक्तं वा न किञ्चिदुपमानात् साम्यं तस्य निमित्तमिति सचेतसः प्रमाणम्।]

[इसीलिये सहृदय हृदय के साथ संवाद होने पर 'मुख चन्द्र है' ऐसे कथनों में महाविषय होने के नाते केवल रूपक ही नहीं होता। और इसी से 'किं तारुण्य-

तरोः' इत्यादि भी ऐसे ही हैं। इसीलिए बहुत ही सूक्ष्म और अपमान से अनतिरिक्त साम्य दीपक का निमित्त है इस विषय में सहृदय जन ही प्रमाण हैं।]

अन्यच्च कीदृशम्-वर्णनीयस्य विच्छित्तेः कारणम्। वर्णनीयस्य प्रस्तावाधिकृतस्य पदार्थस्य विच्छित्तेरुपशोभायाः कारणं निमित्तभूतम् [न पुनर्जन्यत्वप्रमेयत्वादिसामान्यम्]। यस्मात् पूर्वोक्तलक्षणेन साम्येन वर्णनीयं सहृदयहारितामावहति।

और कैसा होता है (दीपक अलङ्कार)—वर्णन किए जाने वाले (पदार्थ) के सौन्दर्य का हेतु होता है। वर्णनीय अर्थात् प्रकरण के द्वारा अधिकृत पदार्थ की विच्छित्ति अर्थात् सौन्दर्य का कारण अर्थात् हेतुरूप (होता है)। यह जन्यत्व या प्रमेयत्व आदि के तुल्य नहीं हैं। क्योंकि पहले कहे गए लक्षण वाले साम्य से युक्त वर्ण्यविषय सहृदयों का आवर्जक होता है।

उपचारैकसर्वस्वं यत्र तत् साम्यमुद्वहत्।
यदर्पयति रूपं स्वं वस्तु तद्रूपकं विदुः॥ १९॥

रूपकं विविनक्ति—उपचारेत्यादि। वस्तु तद्रूपकं विदुः तद्वस्तु पदार्थस्वरूपं रूपकाख्यमलंकारं विदुः जना इति शेषः। कीदृशम्—यदर्पयतीत्यादि—यत् कर्तृभूतमर्पयति विन्यस्यति। किम्—स्वमात्मीयं रूपं, वाक्यस्य वाचकात्मकं परिस्पन्दम्, अलंकारप्रस्तावादलंकारस्यैव स्वसंबन्धित्वात्। किं कुर्वत्—साम्यमुद्वहत् समत्वं धारयत् (कीदृशम्) उपचारैकसर्वस्वम्—उपचारस्तत्त्वाध्यारोपस्तस्यैकं सर्वस्वं केवलमेव जीवितं तन्निबन्धनत्वाद्, उपचारैः रूपकस्य प्रवृत्तेः।

जहाँ उपचार की एकमात्र प्राणभूत उस समानता को धारण करता हुआ पदार्थ अपने स्वरूप को समर्पित कर देता है उसे (विद्वानों ने) रूपक (अलङ्कार) कहा है।

रूपक का विवेचन करते हैं—उपचार इत्यादि कारिका के द्वारा। उस वस्तु को रूपक कहा है अर्थात् लोगों ने उस पदार्थ स्वरूप को रूपक नाम का अलङ्कार बताया है। कैसे (पदार्थ स्वरूप) को—(इसे) यदर्पयति इत्यादि (के द्वारा बताते हैं)। कर्ता रूप जो (पदार्थ) अर्पित करता है अर्थात् विन्यस्त करता है। क्या (विन्यस्त) करता है—स्व अर्थात् अपने स्वरूप को, वाक्य के वाचकरूप अपने स्वभाव को। यहाँ अलङ्कार का प्रकरण चलने के कारण अपने स्वरूप से आशय अलङ्कार स्वरूप से ही है क्योंकि वही अपना सम्बन्धी है। क्या करते हुए ? साम्य को वहन करते हुए, बराबरी को धारण करते हुए। कैसी

बराबरी को ? जिसका एकमात्र प्राण उपचार है। उपचार अर्थात् तत्त्व का अध्यारोप (वह) उसका एकमात्र सर्वस्व अर्थात् उसका कारण होने के कारण केवल प्राणभूत होता है क्योंकि उपचारों से ही रूपक की प्रवृत्ति होती है।

[यहाँ प्रयुक्त साम्य वस्तुतः प्रतीयमानवृत्ति साम्य की ओर संकेत करता है जैसा कि दीपकालङ्कार के विवेचन में किया गया है। इसीलिए शायद कारिका में तत् साम्यमुद्वहत् करके आया है किन्तु वृत्ति में तत् की कोई व्याख्या ही नहीं उपलब्ध है, अतः कोई निश्चित संकेत ज्ञात नहीं होता। पर जैसा कि डा० डे भी कहते हैं कि इस साम्य को प्रतीयमानवृत्तिसाम्यरूप में ही ग्रहण करना चाहिए, वही उचित प्रतीत होता है।]

यस्मादुपचारवक्रताजीवितमेतदलङ्करणं प्रथममेव समाख्यातम्—
यन्मूला रसोल्लेखा रूपकादिरलङ्कृतिः। (इति)

एवं च रूपकादि सामान्यलक्षणमुल्लिख्य प्रकारपर्यालोचनेन तमेवोन्मीलयति

क्योंकि उपचार वक्रता रूप प्राण वाला यह (रूपक) अलङ्कार होता है ऐसा पहले ही (कारिका २।१४) कि—

जिस (उपचार वक्रता) के मूल में होने के कारण रूपक आदि अलङ्कार आस्वादपूर्ण अथवा चमत्कार युक्त हो जाते हैं ॥ (प्रतिपादित किया जा चुका है।)

इस प्रकार रूपक आदि के सामान्य लक्षण को बताकर भेदों का विवेचन करते हुए उसी (रूपकालङ्कार) का स्वरूप बताते हैं—

समस्तवस्तुविषयमेकदेशविवर्ति च।

समस्तवस्तुविषयो यस्य तत्तथोक्तम्। तदयमत्रार्थः—यत् सर्वाण्येव प्राधान्येन वाच्यतया सकलवाक्योपारूढान्यभिधेयान्यलङ्कार्यतया सुन्दरस्वरूपपरिस्पन्दसमर्पणेन रूपान्तरापादितानि गोचरो यस्येति। यथा—

(वह रूपक) (१) समस्तवस्तु विषय तथा (२) एकदेशविवर्ति (दो प्रकार का) होता है।

जिसका विषय समस्तवस्तु होती है वह समस्तवस्तु विषय रूपक होता है। तो यहाँ इसका आशय यह है—कि जिस अलङ्कार के विषय समस्त वाक्य के अन्दर सन्निविष्ट सारे के सारे अभिधेय अर्थ अलङ्कार्य के रूप में वाच्यार्थ की प्रधानता के द्वारा उपात्त (विषयी के) अपने रमणीय स्वभाव के आरोपण कर देने के कारण एक दूसरे विषय रूप को प्राप्त करा दिये जाते हैं (वह समस्तवस्तु विषय रूपक होता है।) जैसे—

मृदुतनुलतावसन्तः सुन्दरवदनेन्दुबिम्बसितपक्षः ।
मन्मथमातङ्गमदो जयत्यहो तरुणतारम्भः ॥ ८० ॥

कोमल कलेवर रूपी लता का वसन्त सुन्दर मुख रूपी चन्द्रबिम्ब का शुक्लपक्ष और कामदेव रूपी हाथी का मद, यह तारुण्य का आरम्भ सर्वातिशायी है ॥८०॥

अत्र पूर्वाचार्यैर्व्याख्यातम्—तथा यदेकदेशेन विवर्तते विघटते विशेषेण वा वर्तते (तत्) तथोक्तम् इति । उभयथाप्येतदयुक्तं भवति । यद्वाक्यस्य यत्कस्मिंश्चिदेव स्थाने स्वपरिस्पन्दसमर्पणात्मकरूपणमादधाति क्वचिदिवेति तदेकदेशविवर्तिरूपकम् । यथा—

इस प्रकार समस्तवस्तु विषय रूपक की व्याख्या एवं उदाहरण प्रस्तुत करने के अनन्तर कुन्तक एकदेशविवर्ति रूपक की व्याख्या इस प्रकार प्रारम्भ करते हैं—

इस (एकदेश विवर्ति रूपक) के विषय में प्राचीन आचार्यों ने इस प्रकार व्याख्या की है, जैसे—जो एकदेश के द्वारा विवर्तित अर्थात् विघटित होता है अथवा विशेष रूप से विद्यमान रहता है वह एकदेशविवर्तित रूपक होता है। इस प्रकार दोनों ही ढंगों से की गयी व्याख्या अनुचित है। जो वाक्य के किसी एक ही स्थान पर कहीं ही अपने स्वरूप के समर्पण रूप आरोप को प्रस्तुत करता है वह एकदेश विवर्ति रूपक होता है। जैसे—

तडिद्वलयकक्ष्याणां बलाकामालभारिणाम् ।
पयोमुचां ध्वनिर्धीरो दुनोति मम तां प्रियाम् ॥ ८१ ॥

विद्युन्मण्डल रूपी कक्ष्या (हाथी की कमर में बाँधने वाली रस्सी) वाले, बगुलों की पङ्क्ति रूपी माला का धारण करने वाले बादलों की गम्भीर ध्वनि मेरी उस प्रिया को पीडित करती है ॥ ८१ ॥

अत्र विद्युद्वलयस्य कक्ष्यात्वेन, बलाकानां तन्मालात्वेन रूपणं विद्यते। पयोमुचां पुनर्दन्तिभावो नास्तीत्येकदेशविवर्तिरूपकमलङ्कारः। तदत्यर्थयुक्तियुक्तम्, यस्मादलङ्करणस्यालङ्कार्यशोभातिशयोत्पादनमेव प्रयोजनं नान्यत्किञ्चित् ।

तदुक्तम्—रूपकापेक्षया किञ्चिद् विलक्षणमेतेन यदि सम्पाद्यते तदेतस्य रूपकप्रकारान्तरतोपपत्तिः स्यात्, तदेतदास्तां तावत्। प्रत्युत कक्ष्यादिनिमित्तरूपणोचितमुख्यवस्तुविषये विघटमानत्वादलङ्कारदोषत्वं दुर्निवारतामवलम्बते। तस्मादन्यच्चैवैतदस्मात्समाधीयते।

यहाँ विद्युन्मण्डल का कक्ष्या रूप से बगुलों की पङ्क्तियों का उसकी माला रूप में निरूपण किया गया है। किन्तु बादलों की हाथी रूपता नहीं है अतः यह एक

उत्पाद्यलवलावण्यादिति द्विधा व्याख्येयम्। क्वचिदसदेवोत्पाद्यमथवा आहृतम्, क्वचिदौचित्यत्यक्तं सदप्यन्यथा सम्पाद्यं सहृदयहृदयाह्लादनाय। यथोदात्तराघवे मारीचवधः। तच्च प्रागेव व्याख्यातम्। एवमन्यदप्यस्या वक्रताविच्छित्तेरुदाहरणं महाकविप्रबन्धेषु स्वयमेवोत्प्रेक्षणीयम्।

(कारिका में प्रयुक्त) 'उत्पाद्यलवलावण्याद्' इस पद की दो प्रकार से व्याख्या करनी चाहिए। कहीं तो (इतिवृत्त में) न विद्यमान रहने वाला ही (प्रकरण) उत्पाद्य या काल्पनिक (प्रकरण होता है और) कहीं अनौचित्यपूर्ण (ढङ्ग से) विद्यमान भी (प्रकरण) सहृदयों के हृदयों को आनन्दित करने के लिए दूसरे ढङ्ग से प्रस्तुत करने योग्य (बनाये जाने पर, उत्पाद्य होता है) जैसे उदात्तराघव में मारीचवध। उसकी व्याख्या पहले ही (प्रथम उन्मेष में) की जा चुकी है। इस प्रकार (प्रकरण) वक्रता के इस सौन्दर्य के दूसरे भी उदाहरण (सहृदयों को) महाकवियों के काव्यों में स्वयं ही समझ लेना चाहिए।

निरन्तररसोद्गारगर्भसन्दर्भनिर्भराः।
गिरः कवीनां जीवन्ति न कथामात्रमाश्रिताः॥ १२॥

कवियों की वाणी केवल कथा पर ही आश्रित होकर नहीं, अपितु निरन्तर रस का आस्वादन कराने वाले प्रसङ्गों के अतिशय से युक्त होकर जीवित रहती है॥ १२॥

इत्यन्तरश्लोकः।

यह अन्तरश्लोक है।

अपरमपि प्रकरणवक्रताप्रकारमाविर्भावयति—

प्रबन्धस्यैकदेशानां फलबन्धानुबन्धवान्।
उपकार्योपकर्तृत्वपरिस्पन्दः परिस्फुरन्॥ ५॥
असामान्यसमुल्लेखप्रतिभाप्रतिभासिनः।
सूते नूतनवक्रत्वरहस्यं कस्यचित्कवेः॥ ६॥

प्रकरणवक्रता के अन्य (तृतीय) प्रकार को भी प्रकाशित करते हैं—

किसी (प्रतिभासम्पन्न ही) कवि की लोकोत्तर वर्णन करने वाली शक्ति से देदीप्यमान प्रबन्ध के प्रकरणों का, फलबन्ध (अर्थात् मुख्य कार्य) का अनुवर्तन करने वाला उपकार्य एवं उपकारक भाव का माहात्म्य समुल्लसित होता हुआ अभिनव वक्रता के रहस्य को उत्पन्न करता है॥ ५-६॥

सूते समुन्मीलयति। किम्—नूतनवक्रत्वरहस्यम् अभिनववक्र-

भावोपनिषदम्। कस्यचित्, न सर्वस्य कवेः......। प्रस्तुतौचित्यचारु-रचनाविचक्षणस्येति यावत्। कः—उपकार्योपकर्तृत्वपरिस्पन्दः, अनुग्राह्यानुग्राहकत्वमहिमा। किं कुर्वन्—परिस्फुरन् (समान...(उ)न्मीलन्)। किंविशिष्टः फलबन्धानुबन्धवान् प्रधानकार्यानुसन्धानवान्, कार्यानुसन्धाननिपुणः। कस्यैवंविध इत्याह—असामान्यसमुल्लेखप्रतिभाप्रतिभासिनः निरुपमोन्मीलितशक्तिविभावभ्राजिष्णोः। केषाम्—प्रबन्धस्यैकदेशानाम् प्रकरणानाम्। तदिदमुक्तम्भवति—[1]सार्वत्रिकसन्निवेशशोभिनां प्रबन्धावयवानां प्रधानकार्यसम्बन्धनिबन्धनानुग्राह्यग्राहकभावः स्वभावसुभगप्रतिभाप्रकाश्यमानः कस्यचिद्विचक्षणस्य वक्रताचमत्कारिणः कवेरलौकिकं वक्रतोल्लेखलावण्यं समुल्लासयति।

उत्पन्न करता है अर्थात् प्रकाशित करता है। किसे नवीन वक्रता के रहस्य को, नये बांकपन के गूढ़ तत्त्व को। किसी के, (यानी) सभी कवियों के नहीं...। अर्थात् वर्ण्यमान के अनुरूप सुन्दर रचना करने में निपुण कवि के ही। कौन (प्रकाशित करता है) उपकार्य एवं उपकारक भाव का परिस्पन्द अर्थात् अनुग्राह्य तथा अनुग्राहक भाव का माहात्म्य। क्या करता हुआ—परिस्फुरित होता हुआ......। कैसा (माहात्म्य) फलबन्ध के अनुबन्ध वाला अर्थात् मुख्य कार्य का अनुवर्तन करने वाला। किसका इस प्रकार का (माहात्म्य) इसे बताते हैं—असामान्य समुल्लेख वाली प्रतिभा से प्रतिभासित होने वाले का अर्थात् अनुपम वर्णन की शक्ति सामग्री से देदीप्यमान (प्रबन्ध का)। किनका (माहात्म्य)—प्रबन्ध के एक अंशों का अर्थात् प्रकरणों का (माहात्म्य अभिनव वक्रता के रहस्य को उन्मीलित करता है।) तो कहने का आशय यह हुआ कि हर जगह प्राप्त होने वाले सम्यक् प्रयोग से सुशोभित होने वाले प्रबन्ध के अवयवों (प्रकरणों) के प्रधान कार्य से सम्बन्ध का कारणभूत अनुग्राह्य अनुग्राहक भाव, सहज सुन्दर प्रतिभा से प्रकाशित होता हुआ, वक्रता के चमत्कार को उत्पन्न करने वाले किसी दूरदर्शी कवि के वक्रता प्रतिपादन के लोकोत्तर सौन्दर्य को प्रकट करता है।

यथा—पुष्पदूषितके द्वितीयेऽङ्के प्रस्थानात्प्रतिनिवृत्य निविडानुकारतः नवरायात्रिभावाद्[2] अमन्दमदनोन्मादमुद्रेण समुद्रदत्तेन निजमहिमकेतनं

---

१. यहाँ डा० डे ने रिक्त स्थान छोड़ दिया था और पादटिप्पणी में मूल के इस पाठ को प्रश्नसूचक चिह्न लगाकर दिया था। वह अर्थ संगत लगा अतः मैंने उसे यहाँ रख दिया है।

२. यहाँ डा० डे ने रिक्तस्थान छोड़ दिया था। तथा पादटिप्पणी में '०बिभावादर्या' पाठ दिया था। मैंने अर्या ? का कोई मतलब न लगने से उसे छोड़ दिया है।

तुल्यदिवसमानन्दयन्तीसमाननाय मलिम्लुचेनेव[1] प्रविशता प्रकम्पावेग-विकलालसकायनिपातनिहितनिद्रस्य द्वारदेशशायिनः कलहायमानस्य[2] कुवलयस्योत्कोचकारणं स्वकरादङ्गुलीयकदानं यत्कृतं तच्चतुर्थेऽङ्के मथुरा-प्रतिनिवृत्तेन तेनैवाशमदमस्य निष्क्रम्य समावेदितसमुद्रदत्तवृत्तान्तेन कुलकलङ्कातङ्ककदर्थ्यमानस्य सार्थवाहसागरदत्तस्य स्वतनयस्पर्शमान-समाविदूरस्नुषा शीलशुद्धिमुन्मीलयत्तदुपकाराय कल्प्यते।......

जैसे—'पुष्पदूषितक' में द्वितीय अङ्क में, यात्रा से लौट कर पूर्ण अनुकृतिवश नई सम्पत्ति के सम्यक् सम्भावना के कारण कामदेव के प्रबल उन्माद की मुद्रा वाले समुद्रदत्त ने दिवसतुल्य अपने वैभवगृह में आनन्दयन्ती को ले आने के लिए चोर की तरह प्रवेश करते हुए कंपकंपी के आवेग से विह्वल एवं अलसाये हुए शरीर के गिराने से समाप्त निद्रा वाले, दरवाजे पर सोने वाले (झगड़ा करने के लिए उतारू कुवलय के घूंस की निमित्तभूत जो अंगूठी अपने हाथ से दिवा था वही चौथे अङ्क में मथुरा से लौटे हुए उसी (कुवलय) द्वारा निष्क्रमण कर के बताये गये समुद्रदत्त के वृत्तान्त से, अद्वितीय इन्द्रियनिग्रह वाले परिवार के कलङ्क के भय से कातर होने वाले व्यापारी सागरदत्त के अपने पुत्र के द्वारा स्पर्शमान निकटस्थ पुत्रवधू की (अर्थात् उसीके संसर्ग से गर्भवती उसकी वधू की)—आचरण शुद्धि को उन्मीलित करती हुई उपकारक सिद्ध होती है।

यथा चोत्तररामचरिते पृथुगर्भभरखेदितदेहाया विदेहराजदुहितु-र्विनोदाय दाशरथिना चिरन्तनराजचरितचित्ररुचिं दर्शयता निर्व्याज-विजयिविजृम्भमाणजृम्भकास्त्राण्युद्दिश्य 'सर्वथेदानीं त्वत्प्रसूतिमुपस्था-स्यन्ति' इति यदभिहितं तत्पञ्चमेऽङ्के प्रवीरचर्याचतुरेण चन्द्रकेतुना क्षणं समरकेलिमाकाङ्क्षता[:]तदन्तरायकलितकलकलाडम्बराणां वरूथिनीनां सहजजयोत्कण्ठाभ्राजिष्णोर्जानकीनन्दनस्य जम्भकास्त्रव्यापारेण कमप्यु-पकारमुत्पादयति। तथा च तत्र—

---

१. यहाँ पर डा० डे ने स्थान छोड़ दिया था और पाद-टिप्पणी में उन्होंने 'मलिम्लुचेनेव' के आगे (?) लगाकर 'मणिसुचेनेव' पाठ सुधारा है। परन्तु क्या सोचकर ऐसा किया कह सकना कठिन है, जब कि 'मलिम्लुच' का अर्थ चोर होता है और पाण्डुलिपि में पाया जाने वाला पाठ सही है। 'विश्वकोश' का कथन है—"मलिम्लुचो मांसभेदे चौरज्वलनयोः पुमान्"।

२. यहाँ भी डा० डे ने रिक्तस्थान छोड़ दिया था। पादटिप्पणी में 'कदाहाय-मानस्य' पाठ दिया था।

और जैसे—

उत्तररामचरित में—विशाल गर्भ के अतिशय से पीडित देहवाली विदेहराज सुता सीता के विनोद हेतु प्राचीन राजचरित वाले चित्रों के प्रति इच्छा प्रदर्शित करते हुए राम ने निर्व्याज विजयी के विजृम्भित होते हुए जृम्भकास्त्रों को लक्ष्य करके 'अब सब प्रकार से (ये जृम्भकास्त्र) तुम्हारी सन्तान के पास रहेंगे' ऐसा जो कहा था वह पञ्चम अङ्क में वीरव्यवहार में निपुण चन्द्रकेतु के साथ क्षणभर के लिए समरक्रीडा की आकांक्षा करने वाले तथा उसमें विघ्न डालने के लिए कलकल शोर मचाने वाली सेनाओं को स्वाभाविक रूप से जीतने की उत्कण्ठा वाले जानकीनन्दन लव के जृम्भकास्त्रव्यापार के द्वारा किसी अपूर्व उपकार को उत्पन्न करता है जैसे कि वहाँ (उत्तररामचरित पंचम अङ्क में)।

लवः—भवतु जृम्भकास्त्रेण तावत्सैन्यानि स्तम्भयामि। इति।

सुमन्त्रः (ससम्भ्रमम्)—वत्स, कुमारेणानेन जृम्भकास्त्रमभिमन्त्रितम्।

लव —होगा। तब तक जृम्भकास्त्र के द्वारा सेनाओं को स्तब्ध किए देता हूँ।

सुमन्त्र—(घबराहट के साथ) बेटा, इस कुमार के द्वारा जृम्भकास्त्र का आवाहन किया गया है।

चन्द्रकेतुः—आर्य, कः सन्देहः।

व्यतिकर इव भीमो वैद्युतस्तामसश्च
प्रणिहितमपि चक्षुर्ग्रस्तमुक्तं हिनस्ति।
अभिलिखितमिवैतत्सैन्यमस्पन्दमास्ते.
नियतमजितवीर्यं जृम्भते जृम्भकास्त्रम्॥ १३॥

चन्द्रकेतु—श्रीमान् जी, इसमें क्या सन्देह है—

उसी ओर पूरी तरह लगी हुई और काबू में आकर छूट गई हुई आँख को अन्धकार और बिजुली के भयङ्कर सम्पर्क-सा दुःख दे रहा है। और फिर यह सेना उत्कीर्ण सी निश्चेष्ट हो उठी है। यह निश्चित है कि (यह) अजेय शक्ति वाला जृम्भकास्त्र ही उद्दीप्त हो रहा है॥ १३॥

आश्चर्यम्—

पातालोदरकुञ्जपुञ्जिततमःश्यामैर्नभोजृम्भकै-
रन्तःप्रस्फुरदारकूटकपिलज्योतिर्ज्वलद्दीप्तिभिः।
कल्पाक्षेपकठोरभैरवमरुद्व्यस्तैरवस्तीर्यते
नीलाम्भोदतडित्कडारकुहरैर्विन्ध्याद्रिकूटैरिव॥ १४॥

आश्चर्य है !!!

पाताल के भीतरी झुरमुटों में एकत्र अन्धकार की तरह काले और खूब तपा दिए गए हुए व चमकते हुए पीतल की कपिल ज्योति की तरह जलती शिखाओं

वाले जृम्भकास्त्र के द्वारा आकाश आच्छादित होता जा रहा है। मानों कल्प के अवसान के समय प्रचण्ड और अत्यन्त-भयङ्कर तूफानों से उलट-पुलट दिए गए हुए और नीले बादलों तथा बिजुलियोंके कारण पिङ्गल हो उठी हुई कन्दराओं वाले विन्ध्यगिरि के शिखरों से व्याप्त हो उठा हो ॥ १४ ॥

इत्यादि। तत एक एवायम्। 'एकदेशानाम्' इपि बहुवचनम् अत्र द्वयोरपि बहूनामुपकार्योपकारकत्वं स्वयमुत्प्रेक्षणीयम्।

(यहाँ पर) यही एकवलित किया गया है। (इस प्रसंग में) 'एकदेशानाम्' इस पद में बहुवचन को दोनों ही के प्रति बहुतों का उपकार्योपकारक भाव रूप स्वयं जान लेना चाहिए।

अस्या एव प्रकारान्तरं प्रकाशयति—

> प्रतिप्रकरणं प्रौढप्रतिभाभोगयोजितः।
> एक एवाभिधेयात्मा बध्यमानः पुनः पुनः ॥ ७ ॥
> अन्यूननूतनोल्लेखरसालङ्करणोज्ज्वलः।
> बध्नाति वक्रतोद्भेदभङ्गीमुत्पादिताद्भुताम् ॥ ८ ॥

इसी (प्रकरणवक्रता) के अन्य (चतुर्थ) भेद का निरूपण करते हैं—

प्रत्येक प्रकरण में (कवि की) प्रवृद्ध प्रतिभा की परिपूर्णता से सम्पादित, पूर्णतया नवीन ढङ्ग से उल्लिखित रसों एवम् अलङ्कारों से सुशोभित एक ही पदार्थ का स्वरूप बार-बार उपनिबद्ध होकर आश्चर्य को उत्पन्न करने वाले, वक्रता की सृष्टि से उत्पन्न सौन्दर्य को पुष्ट करता है ॥ ७-८ ॥

बध्नातीति अत्र निबिडयतीति यावत्। काम्—वक्रतोद्भेदभङ्गीम्, वक्रभावाविर्भावात् शोभाम्। किंविशिष्टाम्—उत्पादिताद्भुताम् कन्दलितकुतूहलाम्। कः—एक एवाभिधेयात्मा, तदेव वस्तुस्वरूपम्। किं क्रियमाणम्—बध्यमानम् प्रस्तुतौचित्यचारुरचनागोचरतामापद्यमानम्। कथम्—पुनः पुनः वारं वारम्। क्व—प्रतिप्रकरणम्, प्रकरणे प्रकरणे स्थाने स्थान इति यावत्।

यहाँ 'बाँधता है' का अर्थ है दृढ़ या पुष्ट करता है। किसे—वक्रता के उद्भेद के कारण भङ्गिमा को अर्थात् बाँकपन की सृष्टि से जन्य सौन्दर्य को (पुष्ट करता है) कैसी (भङ्गिमा) को? आश्चर्य को उत्पन्न करने वाली अर्थात् कौतूहल को जन्म देनेवाली। (भङ्गिमा को पुष्ट करता है।) कौन (पुष्ट करता है) एक ही अभिधेय की आत्मा अर्थात् वही पदार्थ का स्वरूप। क्या किया जाता हुआ? वर्णित किया

जाता हुआ, वर्ण्यमान के औचित्य के कारण सुन्दर रचना का विषय वनता हुआ। कैसे—पुनः पुनः बार बार (उपनिबद्ध होकर)। कहाँ—प्रत्येक प्रकरण में, प्रकरण प्रकरण में अर्थात् स्थान स्थान पर (उपनिबद्ध होकर सौन्दर्य की पुष्टि करता है)।

नन्वेवं पुनरुक्तपात्रतामसौ समासादयतीत्याह— अन्यूननूतनोल्लेख-रसालङ्करणोज्ज्वलः, अविकलाभिनयोल्लासश्रृङ्गाररूपकादिपरिस्पन्दभ्राजिष्णुः। यस्मात्प्रौढप्रतिभाभोगयोजितः, प्रगल्भतरप्रज्ञाप्रकरप्रकाशितः। अयमस्य परमार्थः—तदेवं सकलचन्द्रोदयादिप्रकरणप्रकारेषु वस्तु प्रस्तुतकथासंविधानकानुरोधान्मुहुर्मुहुरुपनिबध्यमानं यदि परिपूर्णपूर्वविलक्षणरूपकाद्यलङ्काररामणीयकनिर्भरं भवति तदा कामपि रामणीयकमर्यादां वक्रतामवतारयति।

(इस पर पूर्वपक्षी प्रश्न करता है कि इस प्रकार (बार बार एक ही स्वरूप का वर्णन होने से तो) यह पुनरुक्त (दोष) का भाजन वन जायगा ? इस (का उत्तर देने के) लिए (ग्रन्थकार) कहता हैं कि—पूर्ण रूप से नूतन उल्लेख वाले रसों एवं अलङ्कारों से उज्ज्वल अर्थात् अविकल ढङ्ग से नवीन रूप से उपनिबद्ध किये गये शृङ्गार आदि तथा रूपक आदि के विलसित से सुशोभित होने वाला (स्वरूप)। क्योंकि वह प्रौढ प्रतिभा की पूर्णता से सम्पादित अर्थात् अत्यन्त प्रवृद्ध (कवि की) बुद्धि वैभव से प्रकाशित हुआ (स्वरूप सौन्दर्य को उत्पन्न करता है) इसका सार यह है कि—इस प्रकार प्रकरण प्रकारों में प्रस्तुत कथा की संघटना के अनुरोधवश बार-बार वर्णन किये जाने वाले चन्द्रोदय आदि पदार्थ यदि भलीभांति पहले से विलक्षण रूपकादि अलङ्कारों की रमणीयता से ओतप्रोत होते हैं तो वे रमणीयता के पराकाष्ठाभूत किसी लोकोत्तर बांकपन को प्रस्तुत करते हैं।

(इस प्रकरण वक्रता के उदाहरण रूप में कुन्तक 'हर्षचरित' को उद्धृत करते हैं। पर यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि किस प्रसङ्ग को विशेष रूप से निर्देश करते हैं। उसके बाद कुन्तक विस्तृत रूप में 'तापसवत्सराज चरित' नाटक के प्रकरण वक्रता के इस भेद से सम्बन्धित कुछ रमणीय उदाहरण श्लोकों को उद्धृत करते हैं। वे हृदय को प्रभावित करनेवाली द्वितीय अङ्क के प्रारम्भ की राजा की उक्तियों को उद्धृत कर उनका विवेचन करते हैं।

कुरवकतरुर्गाढाश्लेषं मुखासवलालनाम्।
वकुलविटपी रक्ताशोकस्तथा चरणाहतिम्॥ १५॥

डा० डे ने उक्त श्लोक की केवल दो ही पंक्तियां उद्धृत की हैं। इसके

बाद पाण्डुलिपि के अत्यन्त भ्रष्ट होने के कारण वे उसे पढ़ नहीं सके। श्रीयदुगिरयतिराजसम्पत्कुमाररामानुजमुनि द्वारा प्रत्यवेक्षित अनङ्गहर्षापरनाम श्रीमात्रराजप्रणीत 'तापसवत्सराजनाटकम्' के द्वितीय अङ्क का यह तेईसवाँ श्लोक है। इसका उत्तरार्द्ध इस प्रकार है—

तच्च सुकृतिनः सम्भाव्यैते प्रसादमहोत्सवा-
ननुगतदशाः सर्वैः (सर्वे) सर्वश्शठो न वयं यथा ॥

अतः पूरे श्लोक का अर्थ इस प्रकार होगा)—

(ऐ देवि वासवदत्ते !) कुरवकवृक्ष तुम्हारे गाढालिङ्गन को, वकुलवृक्ष तुम्हारे मुख की मदिरा से लालना को और रक्ताशोक तुम्हारे चरणप्रहार को प्राप्त कर ये सभी पुण्यात्मा तुम्हारे प्रसादरूप महोत्सव को प्राप्त होकर अनुकूल स्थिति वाले हैं। (ठीक ही है) सभी हमारी तरह शठ नहीं हैं। (अर्थात् मैंने शठता की है अतः तुम्हारा प्रसाद मुझे नहीं प्राप्त हुआ ये सभी शठ न होने के कारण तुम्हारे प्रसाद भाजन बन गए हैं) ॥ १५ ॥

धारावेश्म विलोक्य दीनवदनो भ्रान्त्वा च लीलागृहा-
न्निश्वस्यायतमाशु केशरलतावीथीषु कृत्वा दृशः।
किं मे पार्श्वमुपैषि पुत्रककृतैः किं चाटुभिः क्रूरया
मात्रा त्वं परिवर्जितः सह मया यान्त्यातिदीर्घां भुवम् ॥ १६ ॥

(राजा वासवदत्ता के पालतू हरिण को सम्बोधित कर कहते हैं कि)—हे पुत्र ! धारागृह को देखकर (वासवदत्ता को न पाने से) मलीन मुख वाला होकर, क्रीडागृहों में घूमकर (वहाँ भी न पाने से , बड़ी बड़ी उसांसें भर कर, शीघ्र ही वकुलवृक्ष की लताओं की गलियों में नजर दौड़ा कर मेरे पास क्यों आ रहा है ? (झूठे) प्रियवचनों से क्या लाभ ? (क्योंकि) कठोर हृदय (तुम्हारी) माता ने बहुत दूर देश (स्वर्ग) को जाते हुए मेरे ही साथ तुम्हें भी त्याग दिया है। (अब उससे मिलना असम्भव है) ॥ १६ ॥

कर्णान्तस्थितपद्मरागकलिकां भूयः समाकर्षता
चञ्च्वा दाडिमबीजमित्यभिहता पादेन गण्डस्थली।
येनासौ तव तस्य नर्मसुहृदः खेदान्मुहुः क्रन्दतो
निःशङ्कं न शुकस्य किं प्रतिवचो देवि त्वया दीयते ॥ १७ ॥

हे देवि (वासवदत्ते) ! कानों के बगल में लगी हुई पद्मराग मणि की कली को अनार का बीज समझ कर चोंच से खींचते हुए जिसने तुम्हारी इस कपोलस्थली पर प्रहार किया था, उस अपने नर्म सुहृद (अपने वियोग से उत्पन्न) शोक के कारण बार बार चिल्लाते हुए तोते की बातों का निःशङ्क होकर तुम जवाब भी नहीं देती ॥ १७ ॥

राजा (सास्रम्)—

सर्वत्र ज्वलितेषु वेश्मसु भयादालीजने विद्रुते
त्रासोत्कम्पविहस्तया प्रतिपदं देव्या पतन्त्या तदा ।
हा नाथेति मुहुः प्रलापपरया दग्धं वराक्या तथा
शान्तेनापि वयं तु तेन दहनेनाद्यापि दह्यामहे ॥ १८ ॥

राजा (रोते हुये)—सब ओर घरों में आग लग जाने पर, डर कर सहेलियो के भाग जाने पर उस समय भय के आवेग से बेसहारा पग पग पर गिरती हुई एवं बार-बार हा स्वामिन् ! हा स्वामिन् ! ऐसा चिल्लाती हुई, वह बेचारी देवी उसी प्रकार जलीं कि शान्त हो गई भी उस आग से हम आज भी जले जा रहे हैं ॥ १८ ॥

उक्त उद्धरण की अन्तिम पंक्ति 'शान्तेनापि वयं तु तेन दहनेनाद्यापि दह्यामहे' में प्रयुक्त विरोधालङ्कार' को कुन्तक करुण रस का सहायक प्रतिपादित करते हैं।

इसके बाद चतुर्थ अङ्क का यह श्लोक उद्धृत करते हैं—

चतुर्थेऽङ्के राजा (सकरुणमात्मगतम्)—

चतुर्थ अङ्क में राजा (करुणापूर्वक अपने मन में)—

चक्षुर्यस्य तवाननादपगतं नाभूत् क्वचिन्निर्वृतं
येनैषा सततं त्वदेकशयनं वक्षःस्थली कल्पिता ।
येनोक्तासि त्वया विना वत जगच्छून्यं क्षणाज्जायते
सोऽयं दम्भधृतव्रतः प्रियतमे कर्तुं किमप्युद्यतः ॥ १९ ॥

हे प्रियतमे ! जिसकी आँख कभी भी तुम्हारे मुख पर से हट कर सुखी नहीं हुई, जिसने हमेशा इस वक्षःस्थली को केवल तुम्हारी शय्या बनाया था, जिसने तुमसे कहा था कि 'तुम्हारे बिना सारा संसार क्षण भर में शून्य हो जाता है, वही यह झूठ ही (एक पत्नी) व्रत को धारण करने वाला (राजा उदयन) कुछ (द्वितीय विवाह रूप निर्घृण कार्य) करने के लिए तैयार हो गया है ॥ १९ ॥

(इस उद्धरण के बाद पञ्चम अङ्क से निम्न श्लोक को उद्धृत करते हैं। वस्तुतः मुद्रित तापसवत्सराज में भी चतुर्थ अङ्क २१ वें श्लोक के बाद समाप्त होता है। पाँचवें अङ्क के प्रारम्भ की कुछ पंक्तियों को उद्धृत कर सम्पादक ने संकेत किया है कि बीच में ग्रन्थपात के कारण बहुत सा पाठ अप्राप्य रहा है। उसके बाद वे 'तथाभूते तस्मिन् मुनिवचसि' इत्यादि पद्य को उद्धृत कर इस 'भ्रूभङ्गे रुचिरे' इत्यादि पद्य को उद्धृत करते हैं जिसका पाठ इससे कुछ भिन्न है जो इस प्रकार है—

भ्रूभङ्गं रुचिरे ललाटफलके दूरं समारोपयेत्

... ...

व्यावृत्यैव समागते मयि सखीमालोक्य लज्जानता

तिष्ठेत्किं कृतकोपचारकरणैरायासयेन्मां प्रिया ॥)

भ्रूभङ्गं रुचिरे ललाटफलके तारं समारोपयन्
बाष्पाम्बुप्लुतपीतपत्ररचनां कुर्यात्कपोलस्थलीम् ।
व्यावृत्तैर्विनिबन्धचाटुमहिमामालोक्य लज्जानतां
तिष्ठेत्किं कृतकोपभारकरुणैराश्वासयैनां प्रियाम् ॥ २० ॥

काश ! सुन्दर भालपटल पर काफी बड़ी भ्रूभङ्गिमा को प्रस्तुत कर देती और गण्डस्थल को अश्रुजल की धारा से चाट ली गई हुई (धो दी गई हुई) पत्र-रचना वाली बना देती । (साथ ही) मेरे पहुँच जाने पर अपनी सहेली को देख कर मुड़ कर लाज के मारे झुक कर खड़ी हो जाती तथा क्या ऐसा हो सकता है कि मेरी प्रियतमा बनावटी उपचार को कर कर के मुझे परेशान करती ॥ २० ॥

इसके बाद पञ्चम अङ्क के 'किं प्राणा न' आदि श्लोक को कुन्तक उद्धृत कर व्याख्या करते हैं कि इस श्लोक में वर्णित राजा की उन्मादावस्था करुण रस को अत्यधिक उद्दीप्त करती है ।—यह श्लोक तापसवत्सराज ५.२५ के रूप में उद्धृत है वहाँ कुछ पाठभेद इस प्रकार है—A. प्रतितरु B. विलोभितेन C. पुनरप्यूढं न पापेन किं ।

किं प्राणा न मया तवानुगमनं कर्तुं समुत्साहिता
बद्धा किन्न जटा न वा प्ररुदितं[A] भ्रान्तं वने निर्जने ।
त्वत्सम्प्राप्तिविलोभनेन[B] पुनरप्यूनेन[C] पापेन किं
किं कृत्वा कुपिता यदद्य न वचस्त्वं मे ददासि प्रिये ॥ २१ ॥

हे प्रियतमे ! क्या मैंने तुम्हें पाने की लालच से तुम्हारा अनुगमन करने के लिये (अपने) प्राणों को समुत्साहित नहीं किया, क्या मैंने जटायें नहीं बांधी अथवा रोया नहीं या कि सुनसान जङ्गल में भटका नहीं फिर भी थोड़े से अपराध के कारण क्या क्या सोचकर तुम नाराज हो जो आज मुझे (मेरी बातों का) जवाब भी नहीं दे रही हो ॥ २१ ॥

इति । 'रोदिति' इत्यन्तेन मनागुन्मादमुद्राप्युन्मीलिता तमेव [करुणरसमेव] प्रोद्दीपयति ।

इस प्रकार 'रोता है' यहाँ तक थोड़ी उन्मीलित की गई उन्माद की अवस्था भी उसी (करुण रस को ही) भलीभाँति उद्दीप्त करती है ।

षष्ठेऽङ्के राजा हा देवि !

छठवें अङ्क में राजा—हा देवि !

त्वत्सम्प्राप्तिविलोभनेन सचिवैः प्राणा मया धारिता-
स्तन्मत्वा त्यजतः शरीरकमिदं नैवास्ति निःस्नेहता ।
आसन्नोऽवसरस्तथानुगमने जाता धृतिः किन्त्वयं
खेदो यच्छतधा गतं न हृदयं तद्वत् क्षणे दारुणे ॥ २२ ॥

तुम्हारे सम्मिलन की लालच द्वारा अमात्यों ने मुझसे प्राण धारण करवाया (अन्यथा मैं मर गया होता) (किन्तु तुम्हारे न मिलने से केवल प्रलोभन ही) उसको जानकर इस शरीर का परित्याग करते हुए भी तुमसे स्नेह नहीं है ऐसी बात नहीं। समय आ गया है तथा तुम्हारा अनुगमन करने के लिए धैर्य भी उत्पन्न हो गया है लेकिन कष्ट तो इसी बात का है कि जो यह मेरा हृदय उस प्रकार के दारुण समय में सो टुकड़े नहीं हो गया ॥ २२ ॥

इस प्रकार प्रकरणवक्रता के इस भेद के उदाहरण रूप में तापसवत्सराज से उद्धरणों को प्रस्तुत कर कुन्तक रघुवंश के नवम सर्ग में वर्णित राजा दशरथ के मृगयाप्रकरण का निर्देश करते हुए विवेचन करते हैं कि—

प्रमाद्यता दशरथेन राज्ञा स्थविरान्धतपस्विबालवधो व्यधीयतेति एकवाक्यशक्यप्रतिपादनः पुनरप्ययमर्थः परमार्थसरससरस्वतीसर्वस्वायमानप्रतिभाविधानकलेशेन तादृश्या विच्छित्त्या विस्फुरितश्चेतनचमत्कारकरणतामधितिष्ठति ।

'प्रमादयुक्त राजा दशरथ ने वृद्ध अन्धे तपस्वी के बालक का बध किया' यह (अर्थ) एक वाक्य के द्वारा भी प्रतिपादित किया जा सकता था फिर भी यह अर्थ वस्तुतः सरस वाणी के सर्वस्वभूत (महाकवि कालिदास) की शक्ति के निर्माण के लेशमात्र से उस प्रकार के (लोकोत्तर) सौन्दर्य से प्रकाशित होकर सहृदयों के लिए चमत्कारजनक हो गया है।

इसके बाद कुन्तक इस मृगया प्रसङ्ग के कवि द्वारा किये गये निरूपण का विस्तारपूर्वक विवेचन प्रस्तुत करते हैं—

व्याघ्रानभीरभिमुखोत्पतितान्गुहाभ्यः
फुल्लासनाग्रविटपानिव वायुरुग्णान् ।
शिक्षाविशेषलघुहस्ततया निमेषा-
त्तूणीचकार शरपूरितवक्त्ररन्ध्रान् ॥ २३ ॥

निर्भीक (धनुर्धर राजा दशरथ) ने कन्दराओं से सामने की ओर उछल कर आते हुए, हवा से भग्न खिले हुए बन्धूक (पुष्प के वृक्षों) की आगे की डालों के समान (स्थित), अभ्यास के आधिक्य से सिद्धहस्त होने के कारण पल भर में बाणों से भर दिए गये मुखविवर वाले उन व्याघ्रों को निषङ्ग बना दिया ॥

अपि तुरगसमीपादुत्पतन्तं मयूरं
न स रुचिरकलापं बाणलक्ष्यीचकार ।
सपदि गतमनस्कश्चित्रमाल्यानुकीर्णे
रतिविगलितबन्धे केशपाशे प्रियायाः ॥ २४ ॥

उस (राजा दशरथ) ने (अपने) घोड़े के अत्यन्त पास से उड़े हुए (सुप्रहार योग्य) भी मनोहर पूंछ वाले मयूर पर (उसकी पूंछ से साम्य होने के कारण) विविध वर्णों वाले पुष्पों की माला से गूँथे गए एवं सम्भोग के समय खुल गई गाँठ वाले प्रिया के केशपाश में प्रवृत्त चित्त वाले होकर बाण का निशाना नहीं बनाया ॥ २४ ॥

लक्ष्यीकृतस्य हरिणस्य हरिप्रभावः
प्रेक्ष्य स्थितां सहचरीं व्यवधाय देहम् ।
आकर्णकृष्टमपि कामितया स धन्वी
बाणं कृपामृदुमनाः प्रतिसञ्जहार ॥ २५ ॥

(विष्णु या) इन्द्र के समान पराक्रम वाले धनुर्धर उस (राजा दशरथ) ने (अपने बाण के) लक्ष्य बनाये गये मृग की देह को (प्रेमवश) छिपाने के लिए (उसके सामने) खड़ी हो गई (उसकी) सहचरी को देख कर (स्वयं) कामुक होने के कारण करुणा से आर्द्र हृदय होकर श्रवणपर्यन्त खींच लिए गए बाण को भी (धनुष पर से) उतार लिया ॥ २५ ॥

स ललितकुसुमप्रवालशय्यां
ज्वलितमहौषधिदीपिकासनाथाम् ।
नरपतिरतिवाहयाम्बभूव
क्वचिदसमेतपरिच्छदस्त्रियामाम् ॥ २६ ॥

उस राजा (दशरथ) ने परिच्छद (अर्थात् परिजनों अथवा शयनादि की सामग्री) से रहित होकर कहीं (या कभी-कभी) मनोहर फूलों एवं पत्तों की सेजवाली तथा अत्यन्त प्रकाशमान महोषधियों रूप दीपिकाओं से युक्त रात्रि को बिताया । (भाव यह कि वे शिकार में इतने व्यस्त हो गए कि सभी साथी एवं सामग्री पीछे ही छूट गई अतः इन्हें फूलों एवं पत्तों पर ही सोकर कभी-कभी रात बितानी पड़ी ।) ॥ २६ ॥

(इति) विस्मृतान्यकरणीयमात्मनः
सचिवावलम्बितधुरं धराधिपम् ।
परिवृद्धरागमनुबन्धसेवया
मृगया जहार चतुरेव कामिनी ॥ २७ ॥

इस प्रकार (पूर्वोक्त ढङ्ग से मृगया से भिन्न राज्यसम्बन्धी) अपने अन्य कार्यों को भूले हुए, एवं मन्त्रियों पर आश्रित राज्यभार वाले तथा निरन्तर सेवा के कारण (अपने प्रति) बढ़े हुए अनुराग वाले राजा (दशरथ) को विदग्ध रमणी के समान मृगया ने अपनी ओर आकृष्ट कर लिया ॥ २७ ॥

अथ जातु रुरोर्गृहीतवर्त्मा
विपिने पार्श्वचरैरलक्ष्यमाणः ।
श्रमफेनमुचा तपस्विगाढां
तमसां प्राप नदीं तुरङ्गमेण ॥ २८ ॥

इसके अनन्तर कभी रुरु (मृगविशेष) के मार्ग को पकड़े हुए (अर्थात् उसका पीछा किए हुए) जङ्गल में साथ चलने वालों द्वारा न दिखाई पड़ने वाले राजा दशरथ, (अत्यधिक वेगपूर्वक दौड़ने के) परिश्रम के कारण मुंह से फेन गिराने वाले घोड़े से मुनियों द्वारा सेवन की जाने वाली तमसा (नामक) नदी को प्राप्त किया ॥ २८ ॥

शापोऽप्यदृष्टतनयाननपद्मशोभे
सानुग्रहो भगवता मयि पातितोऽयम् ।
कृष्यां दहन्नपि खलु क्षितिमिन्धनेद्धो
बीजप्ररोहजननीं ज्वलनः करोति ॥ २९ ॥

पुत्र के मुखकमल की शोभा को न देखनेवाले मुझ (दशरथ) के प्रति दिया गया आपका (पुत्र शोक से तुम भी मरोगे) यह शाप भी उपकारयुक्त ही है । (अर्थात् मेरे पुत्र नहीं है, अब आपके शाप को सफल करने के लिए मुझे अवश्य ही पुत्र की प्राप्ति होगी । अतः यह आपका शाप मेरे लिए उपकारपूर्ण है । क्यों न हो ?) काष्ठ से प्रज्वलित हुई आग खेती के योग्य भूमि को भस्म करती हुई भी बीज के अङ्कुरों को उत्पन्न करने में समर्थ बना देता है ॥ २९ ॥

कथावैचित्र्यपात्रं तद्वक्रिमाणं प्रपद्यते ।
यदङ्गं सर्गबन्धादेः सौन्दर्याय निबध्यते ॥ ९ ॥

काव्य की विचित्रता का भाजन जो अङ्ग (अर्थात् प्रकरण) काव्य आदि की

सुन्दरता के लिये उपनिबद्ध किया जाता है, वह (प्रकरण) वक्रता को प्राप्त करता है ॥ ९ ॥

प्रसङ्गेनास्या एव प्रभेदान्तरमुन्मीलयति ।·········वक्रिमाणम् । किं विशिष्टम्—कथावैचित्र्यपात्रम्, प्रस्तुतसंविधानकभङ्गीभाजनम् । किं तत्—यदङ्गं सर्गबन्धादेः सौन्दर्याय निबध्यते । यज्जलक्रीडादिप्रकरणं महाकाव्यप्रभृतेरुपशोभानिष्पत्त्यै निवेश्यते । अयमस्य परमार्थः—प्रबन्धेषु जलकेलिकुसुमावचयप्रभृति प्रकरणं प्रक्रान्तसंविधानकानुबन्धि निबध्यमानं निधानमिव कमनीयसम्पदः सम्पद्यते ।

प्रसङ्गानुकूल इसी (प्रकरण वक्रता) के दूसरे भेद को प्रकाशित करते हैं । ······वक्रता को (प्राप्त होता है) कैसा —कथावैचित्र्य का पात्र, अर्थात् प्रस्तुत योजना की विच्छित्ति के योग्य (प्रकरण) । क्या है वह—जो प्रकरण महाकाव्य आदि के सौन्दर्य के लिए उपनिबद्ध किया जाता है । जो जलविहार आदि प्रकरण महाकाव्य आदि की सौन्दर्यसिद्धि के लिये सन्निविष्ट किया जाता है । इसका सार यह है कि —प्रबन्धों में प्रस्तुत योजना से सम्बन्धित रूप में जलक्रीडा एवं पुष्पचयन आदि प्रकरण उपनिबद्ध होकर रमणीयसम्पत्ति के कोश बन जाते हैं ।

अथोर्मिलोलोन्मदराजहंसे रोधोलतापुष्पवहे सरय्वाः ।
विहर्तुमिच्छा वनितासखस्य तस्याम्भसि ग्रीष्मसुखे बभूव ॥ ३० ॥

इसके अनन्तर लहरों में (रमणहेतु) सतृष्ण एवं उन्मत्त राजहंसों वाले तट की लताओं के फूलों के बहाने वाले, एवं गर्मी में सुख देने वाले, सरयू नदी के, जल में उन (कुश) की पत्नी के साथ विहार करने की इच्छा हुई ॥ ३० ॥

इस प्रकार विहार करने की इच्छा होने पर कुश का वनिताओं के साथ सरयू के तट पर डेरा पड़ गया । पहले स्त्रियों ने जल में प्रवेश किया । उन्हें स्नान करते देख कर कुश भी जल में कूद कर जलविहार करने लगे । उन्हीं के साथ विहार करते समय कुश की भुजा पर बंधा हुआ 'जैत्र' नामक आभूषण पानी में गिर पड़ा जिसे राम ने राज्य के साथ ही कुश को दे दिया था जिसे उन्हें ऋषि अगस्त्य ने प्रदान किया था और जो सदा जिताने वाला था । स्नान के अनन्तर उस आभूषण को धीवरों ने बहुत खोजा पर न पा सके और आकर कुश से कहा कि शायद लोभवश उस जल में रहने वाले कुमुद नामक नाग ने उसे चुरा लिया है । यह सुनते ही क्रोधपूर्वक कुश ने ज्यों ही धनुष उठाया, सभी जल के जीव जन्तु व्याकुल हो गये । इतने में ही एक कन्या को साथ में लिए जैत्र आभूषण हाथ में लिए कुमुदनाग निकल कर कुश से कहता है कि—

अवैमि कार्यान्तरमानुषस्य विष्णोः सुताख्यामपरां तनुं त्वाम् ।
सोऽहं कथन्नाम तवाचरेयमाराधनीयस्य धृतेर्विघातम् ॥३१॥

मैं तुम्हें (राक्षस विनाश रूप) कार्य हेतु मनुष्य रूप धारण करने वाले विष्णु की पुत्र कहे जाने वाली मूर्ति समझता हूँ भला वही मैं पूजनीय आपकी प्रीति का ('धृ प्रीतो' इति धातोः स्त्रियां क्तिन्) विघात कैसे कर सकता हूँ (अर्थात् आपसे शत्रुता का आचरण कैसे कर सकता हूँ) ॥ ३१ ॥

कराभिघातोत्थितकन्दुकेयमालोक्य बालातिकुतूहलेन ।
ह्रदात्पतज्ज्योतिरिवान्तरिक्षादादत्त जैत्राभरणं त्वदीयम् ॥ ३२ ॥

हाथ के धक्के से उछल गए गेंद वाली इस बाला (कुमुद्वती) ने अत्यन्त कुतूहल के साथ अन्तरिक्ष से गिरते हुए नक्षत्र के समान तालाब से गिरते हुए आप के 'जैत्र' नामक आभूषण को पकड़ लिया ॥ ३२ ॥

तदेतदाजानुबिलम्बिना ते ज्याघातरेखाकिणलाञ्छनेन ।
भुजेन रक्षापरिघेण भूमेरुपैतु योगं पुनरंसलेन ॥ ३३ ॥

तो यह (आभूषण) पुनः आपके घुटनों तक लटकने वाली, प्रत्यञ्चा की चोट की रेखा के चिह्न रूप लाञ्छन वाली भूमि की रक्षा के लिये अर्गल रूप बलवान् भुजा से युक्त हो जाये (अर्थात् इसे आप अपनी भुजा में बाँध लें) ॥ ३३ ॥

इमां स्वसारञ्च यवीयसीं मे कुमुद्वतीं नार्हसि नानुमन्तुम् ।
आत्मापराधं नुदतीं चिराय शुश्रूषया पार्थिव पादयोस्ते ॥ ३४ ॥

तथा हे राजन् ! आपके चरणों की चिरकाल तक सेवा के द्वारा अपने (आभूषण हरण रूप) अपराध को मिटाने की इच्छा वाली इस मेरी छोटी बहन कुमुद्वती को आज्ञा प्रदान करने की कृपा करें ॥ ३४ ॥

पुनरप्यस्याः प्रभेदमुद्भावयति—

यत्राङ्गिरसनिष्यन्दनिकषः कोऽपि लक्ष्यते ।
पूर्वोत्तरैरसम्पाद्यः साङ्कादेः कापि वक्रता ॥ १० ॥

फिर भी इस (प्रकरण वक्रता) के प्रभेद को प्रकाशित करते हैं—

जहाँ पर पहले तथा बाद के (अङ्कों) द्वारा सम्पादित न की जाने वाली अङ्गी रस के प्रवाह की कोई विशेष कसौटी दिखाई पड़ती है वह अङ्क आदि (प्रकरण) की कोई लोकोत्तर वक्रता होती है ॥ १० ॥

साङ्कादेः कापि वक्रता······प्रकरणस्य सा काप्यलौ ककी वक्रता -वक्रभावो भवतीति सम्बन्धः । यत्राङ्गिरसनिष्यन्दनिकषः कोऽपि

लक्ष्यते—यत्र यस्यामङ्गी रसो यः प्राणरूपः तस्य निष्यन्दः प्रवाहः, तस्य काञ्चनस्येव निकषः परीक्षापदविषयो विशेषः कोऽपि [1]भूतनिर्वाण-निरुपमो लक्ष्यते......। किं विशिष्टः पूर्वोत्तरैरसम्पाद्यः, प्राक्परवृत्तैरङ्काद्यैः सम्पादयितुमशक्यः। यथा—

वह अङ्क आदि की कोई वक्रता (होती है)......प्रकरण की वह कोई लोकोत्तर वक्रता अर्थात् बांकपन होता है। जहाँ अङ्गी (प्रधान) रस के प्रवाह की कोई कसौटी दिखाई पड़ती है। जहाँ अर्थात् जिसमें जो प्राणभूत मुख्य रस होता है, उसका निष्यन्द अर्थात् जो प्रवाह उसकी सोने की कसौटी के समान परीक्षा-स्थान का कोई विशेष विषय प्राणी के मोक्षतुल्य निरुपम परिलक्षित होता है। कैसा—(विषय)—पूर्व तथा उत्तर वालों के द्वारा असम्पाद्य अर्थात् पहले तथा बाद में स्थित अङ्क आदि के द्वारा सम्पादित न किया जा सकने वाला (विशेष दिखाई पड़ता है)। जैसे—

विक्रमोर्वश्यामुन्मत्ताङ्कः। (यत्र) विप्रलम्भश्रृङ्गारोऽङ्गी रसः।

तथा च तदुपक्रम एव राजा (ससम्भ्रमम्)—आ दुरात्मन्, तिष्ठ तिष्ठ, क नु खलु प्रियतमामादाय गच्छसि। (विलोक्य) कथं शैल-शिखराद् गगनमुत्प्लुत्य बाणैर्मामभिवर्षति। (विभाव्य सबाष्पम्) कथं विप्रलब्धोऽस्मि।

विक्रमोर्वशीय में 'उन्मत्ताङ्क'। (जहां) बिप्रलम्भ श्रृङ्गार अङ्गी रस है। जैसे कि उसके प्रारम्भ में ही–राजा (घबड़ाहट के साथ) ऐ दुरात्मा, ठहर, ठहर ! (मेरी) प्रियतमा को लेकर कहाँ जा रहा है ? (देख कर) अरे ! यह पहाड़ की चोटी से आकाश में उड़ कर मुझ पर बाण बरसा रहा है। (समझ कर आँखों में आँसू भर कर) कैसा ठगा गया हूँ।

नवजलधरः सन्नद्धोऽयं न दृप्तनिशाचरः
सुरधनुरिदं दूराकृष्टं न नाम शरासनम्।
अयमपि पटुर्धारासारो न बाणपरम्परा
कनकनिकषस्निग्धा विद्युत् प्रिया न ममोर्वशी॥ ३५॥

(आकाश में दिखाई पड़ने वाला यह तो नवीन बादल है न कि युद्ध करने के लिए तैयार मतवाला राक्षस। दूर तक खींचा गया यह इन्द्र का धनुष है न कि राक्षस का धनुष। तथा यह भी तीव्र जलधारा का सम्पात है न कि बाणों

---

१. यहाँ डा० डे ने 'भूतनिर्वाण' को मूल से हटा कर पता नहीं क्यों पादटिप्पणी में दे दिया था। हमने उसे संगत समझ कर मूल में दे दिया है।

की परम्परा । तथा यह सोने की सान पर खींची गई रेखा के समान चमकदार बिजली है न कि मेरी प्यारी उर्वशी ।। ३५ ।।

(अन्यच्च)—

पद्भ्यां स्पृशेद्वसुमतीम्······ । इत्यादि ।। ३६ ।।

(और भी)

(उदाहरण संख्या ३।२६ पर पूर्वोद्धृत)

पद्भ्यां स्पृशेद्वसुमतिम्—।। इत्यादि श्लोक ।। ३६ ।।

(अन्यच्च)—

तरङ्गभ्रूभङ्गा क्षुभितविहगश्रेणिरसना । इत्यादि ३७ ।।

(तथा)

उदाहरण संख्या ३।४१ पर पहले उद्धृत

तरंग भ्रूभङ्गाक्षुभितविहगश्रेणिरसना ।। इत्यादि श्लोक ।। ३७ ।।

यथा वा—

किरातार्जुनीये बाहुयुद्धप्रकरणम् ।

अथवा जैसे—किरातार्जुनीय में बाहुयुद्ध का प्रकरण जहाँ वीर रस उद्दीप्त किया गया है ।।

पुनरिमामेवान्यथा प्रथयति—

फिर इसी (प्रकरणवक्रता) को दूसरे ढङ्ग से प्रस्तुत करते हैं—

प्रधानवस्तुनिष्पत्त्यै वस्त्वन्तरविचित्रता ।
यत्रोल्लसति सोल्लेखा सापराप्यस्य वक्रता ।। ११ ।।

प्रधाम (आधिकारिक) वस्तु की सिद्धि के लिए जहाँ अन्य (प्रासङ्गिक) वस्तु का उल्लेखपूर्ण विचित्रता उन्मीलित होती है वह इस (प्रकरण) की अन्य (सातवीं) वक्रता होती है ।। ११ ।।

अपरापि अस्य प्रकरणस्य वक्रता वक्रभावो भवतीति सम्बन्धः । यतोल्लसति उन्मीलति सोल्लेखा अभिनवोद्भेदभङ्गीसुभगा······प्रतिरूपमितरद्वस्तु तस्य विचित्रता वैचित्र्यं नूतनचमत्कार इति यावत् । किमर्थम्—प्रधानवस्तुनिष्पत्त्यै । प्रधानमविकृतं प्रकरणं कामपि वक्रिमाणमाक्रामति ।

इस प्रकरण की दूसरी भी वक्रता अर्थात् बांकपन होता है । जहाँ (उल्लसित अर्थात् उन्मीलित होती है) उल्लेखपूर्ण अर्थात् नवीन उन्मेष की भङ्गिमा से रमणीय······प्रतिरूप जो दूसरी (प्रासङ्गिक) वस्तु उसकी विचित्रता अर्थात् वैचित्र्य अथवा अभिनव चमत्कार (जहाँ उन्मीलित होता है) किसलिए—

प्रधान वस्तु की निष्पत्ति के लिए। (जिसके कारण) प्रधान, प्रकरण किसी अद्वितीय सौन्दर्य को प्राप्त करता है।

इस प्रकरणवक्रता के उदाहरण रूप में कुन्तक ने 'मुद्राराक्षस' के षष्ठ अङ्क के उस प्रकरण को प्रस्तुत किया है जिसमें कि जिष्णुदास का मित्र बना हुआ एक रज्जुधारी पुरुष जिष्णुदास के अग्निप्रवेश को जानकर आत्महत्या करने के प्रयास में महामात्य राक्षस द्वारा अपनी आत्महत्या का कारण पूछने पर अपने मित्र जिष्णुदास के अग्निप्रवेश को बताता है। तथा जिष्णुदास के अग्निप्रवेश का कारण उसके मित्र चन्दनदास (जो कि महामात्य राक्षस के परिवार की रक्षा करने के कारण मारा जाता है उस) को बताता है। इस प्रसङ्ग में कुंतक ने अधोलिखित 'छग्गुण' आदि पद्य को उद्धृत कर उसकी व्याख्या प्रस्तुत की है किन्तु पाण्डुलिपि के अत्यन्त भ्रष्ट होने के कारण वह पढ़ी नहीं जा सकी। उक्त श्लोक इस प्रकार है—

(ततः प्रविशति रज्जुहस्तः पुरुषः)

(इसके अनन्तर हाथ में रस्सी लिए एक पुरुष प्रवेश करता है)

पुरुषः—

छग्गुणसञ्जोअदिढा उवाअपरिवाडिदपासमुही।
चाणक्कणीदिरज्जू रिउसञ्जमणउजुआ जअदि॥ ३८॥
[षड्गुणसंयोगदृढा उपायपरिपाटीघटितपाशमुखी।
चाणक्यनीतिरज्जू रिपुसंयमनऋजुका जयति॥][1]

---

१. नोट—इस श्लोक को उद्धृत करने के बाद आचार्य विश्वेश्वर जी ने उस पुरुष के आगे के कथन को भी उद्धृत किया है जब कि उसका कोई निर्देश डा० डे ने नहीं किया। इस श्लोक के बाद हमने जो अंश उद्धृत किया है उसके बीच में 'मुद्राराक्षस' में गद्यभाग के अतिरिक्त ११ पद्य और भी हैं। कोई भी ग्रन्थकार इतना बड़ा प्रकरण नहीं उद्धृत करेगा। साथ ही उस पूरे प्रकरण से इस प्रकरण वक्रता पर कोई विशेष असर भी नहीं पड़ता। डा० डे ने उस पूरे प्रकरण के विषय में नहीं निर्देश किया। उनका कहना है—

"As an example is quoted the episode from the मुद्राराक्षस introduced with ततः प्रविशति रज्जुहस्तः पुरुषः (Act VI.) and the conversation which follows. In this connexion the verse छग्गुणसजोअदिढा (Act VI. 4) quoted and commented on, but the verse is so corrupt in the Ms. that it is almost beyond recognition. The drift of the whole conversation between राक्षस

पुरुष—(सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव तथा आश्रय रूप) षाड्गुण्य के संयोग से सुदृढ़ तथा (साम, दाम, दण्ड और भेद रूप) उपायों की परम्परा से निर्मित पाशमुख वाली चाणक्य की नीति छः रस्सियों (अथवा ६ गुनी रस्सियों) के संयोग से सुदृढ़ अनेकों उपायों से निर्मित फन्देवाली रस्सी के समान शत्रु को वश में करने (या बांधने में बड़ी ही सरलता से समर्थ है (अतः) सर्वोत्कर्ष युक्त है ॥ ३८ ॥

इस पद्य की उन्होंने क्या आलोचना की यह पता नहीं, उसके बाद उन्होंने नीचे उद्धृत प्रकरण को उद्धृत किया है तथा उसकी भी प्रकरणवक्रता को दिखाते हुए व्याख्या की है जो पढ़ी नहीं जा सकी। वह प्रकरण इस प्रकार है—

राक्षसः—भद्र ! अथाग्निप्रवेशे तव सुहृदः को हेतुः ? किमौषधिपथातिगैरुपहतो महाव्याधिभिः ।

राक्षस—अच्छा महाशय जी ! आप के मित्र के अग्नि में प्रवेश करने का क्या कारण है ? क्या औषधिपथ का अतिक्रमण करने वाली (दवाओं से असाध्य) महाव्याधियों के द्वारा उत्पीडित हैं (जो मरना चाहते हैं)

पुरुषः—अज्ज ! णहि णहि । । आर्य ! नहि नहि । ।

पुरुष—श्रीमान् जी, नहीं, नहीं (ऐसी बात नहीं है)

राक्षसः—किमग्निविषकल्पया नरपतेर्निरस्तः क्रुधा ?

राक्षस—(तो) क्या अग्नि और विष के समान (भयंकर) राजा के क्रोध से प्रताडित किए गए हैं (जो मरना चाहते हैं) ।

पुरुषः—अज्ज ! सन्तं पावं, सन्तं पावं। चन्दउत्तस्स जणपदेसु अणिसंसा पडिवक्षी। (आर्य ! शान्तं पापं शान्तं पापम्। चन्द्रगुप्तस्य जनपदेष्वनृशंसा प्रतिपत्तिः ।

---

and the पुरुष relating to चन्दनदास begining with भद्रमुख, अग्निप्रवेशे सुहृदस्ते को हेतुः and ending with पुरुष swords अज्ज अधई is explained with reference to the above कारिका." (व० जी० पृ० २३४)

स्पष्ट है कि यदि आचार्य जी डा० डे के इस कथन को सावधानी से समझते तो उन्हें यह लिखने की आवश्यकता न पड़ती कि—

"उद्धरण बहुत लम्बा हो जाने के भय से यहाँ बीच का बहुत सा भाग छोड़ दिया गया है" (व० जी० पृ० ५१९)

क्योंकि यदि मूलग्रन्थकर्ता ने उस भाग को अपनी पाण्डुलिपि में उद्धृत कर रखा है तो सम्पादक को क्या अधिकार कि उसे घटा दे ।

पुरुष—श्रीमान् जी, पाप शान्त हो, पाप शान्त हो। चन्द्रगुप्त की अपने प्रजाजन पर ऐसी नृशंस बुद्धि कहाँ ? (हो सकती है)

राक्षसः—अलभ्यमनुरक्तवान् किमयमन्यनारीजनम् ?

राक्षस—तो फिर क्या ये किसी अप्राप्य पराई स्त्री में अनुरक्त हो गए थे (जिसके न मिलने पर मरने जा रहे हों)।

पुरुषः—(कर्णौ पिधाय) अज्ज ! सन्तं पावं, सन्तं पावं। अभूमी क्खु एसो विणअणिधाणस्स सेट्ठिजणस्स, बिसेसदो जिष्णुदासस्स। (आर्य ! शान्तं पापं, शान्तं पापम्। अभूमिः खल्वेष विनयनिधानस्य वणिग्जनस्य, विशेषतो जिष्णुदासस्य।)

पुरुष—(दोनों कान बन्द करके) महाशय जी, पाप शान्त हो, पाप शान्त हो, अरे यह तो विनम्रता के आगार वाणिग्जन के लिए सर्वथा असम्भव (अभूमि) है, विशेष कर फिर जिष्णुदास के लिए (तो इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती)।

राक्षसः—किमस्य भवतो यथा सुहृद एव नाशो विषम्।

राक्षस—तो फिर क्या इसके (भी विनाश) का जहर (तुम्हारी ही तरह) मित्र का विनाश है।

पुरुष—आर्य। अथ किम् (अज्ज ! अध इं)।

पुरुष—हाँ महोदय, तब क्या (सुहृद्विनाश ही तो इसकी मृत्यु का कारण है)।

पुनर्भङ्ग्यन्तरेण व्याचष्टे—

सामाजिकजनाह्लादनिर्माणनिपुणैर्नटैः।
तद्भूमिकां समास्थाय निर्वर्तितनटान्तरम्॥ १२॥
क्वचित्प्रकरणस्यान्तः स्मृतं प्रकरणान्तरम्।
सर्वप्रबन्धसर्वस्वकलां पुष्णाति वक्रताम्॥ १३॥

पुनः दूसरी विच्छत्ति के द्वारा (प्रकरण वक्रता के अष्टम भेद की) व्याख्या करते हैं—

कहीं (किसी एक) प्रकरण के अन्तर्गत, सामाजिक लोगों के आनन्द को उत्पन्न करने में सिद्धहस्त नटों द्वारा, उन (सामाजिकों) की भूमिका में स्थित होकर (अर्थात् सामाजिक बन कर), दूसरे नटों का निर्माण कर उपस्थित किया गया (स्मृत) अन्य प्रकरण सम्पूर्ण प्रबन्ध की प्राणभूत वक्रता को पुष्ट करता है॥ १२–१३॥

सर्वप्रबन्धसर्वस्वकलां पुष्णाति वक्रताम्, सकलरूपकप्राणरूपकं समुल्लासयति वक्रिमाणम्। क्वचित्प्रकरणस्यान्तः स्मृतं प्रकरणान्तरम्—कस्मिंश्चित्कविकौशलोन्मेषशालिनि नाटके, न सर्वत्र। एकस्य मध्यवर्ति अङ्कान्तरगर्भीकृतम् गर्भो वा नाम इति यावत्। किंविशिष्टम्—निर्वतितनटान्तरम्, विभावितान्यनर्तकम्। नटैः कीदृशैः—सामाजिकजनाह्लादनिर्माणनिपुणैः सहृदयपरिषत्परितोषणनिष्णातैः। तद्भूमिकां समास्थाय सामाजिकीभूय।

समस्त प्रबन्ध की सर्वस्वभूत वक्रता का पोषण करता है अर्थात् सम्पूर्ण रूपक के प्राणरूप वक्रभाव को व्यक्त करता है। कहीं प्रकरण के भीतर स्मरण किया गया दूसरा प्रकरण। किसी कवि कौशल की सृष्टि से सुशोभित होने वाले नाटक में, सब जगह नहीं। अर्थात् एक (अङ्क) के मध्य में स्थित दूसरे अङ्क में निवेशित अथवा जिसका गर्भाङ्क यह नाम होता है। किस प्रकार का—अन्य नटों के निर्माण वाला अर्थात् दूसरे नर्तक की कल्पना वाला। कैसे नटों के द्वारा—सामाजिक लोगों के आनन्द का निर्माण करने में दक्ष (नटों) के द्वारा अर्थात् सहृदयगोष्ठी को सन्तुष्ट करने में सिद्ध हस्त (नटों) के द्वारा। उनकी भूमिका में स्थित होकर अर्थात् सामाजिक बनकर।

इदमत्र तात्पर्यम्—कुत्रचिदेव निरङ्कुशकौशलाः कुशीलवा स्वीयभूमिकापरिग्रहेण रङ्गमलङ्कुर्वाणाः नर्तकान्तरप्रयुज्यमाने प्रकृतार्थजीवित इव गर्भवर्तिनि अङ्कान्तरे तरङ्गितवक्रतामहिम्नि सामाजिकीभवन्तो विविधाभिर्भावनाभङ्गीभिः साक्षात्सामाजिकानां किमपि चमत्कारवैचित्र्यमासूत्रयन्ति। यथा—बालरामायणे चतुर्थेऽङ्के लङ्केश्वरानुकारी प्रहस्तानुकारिणा नटो नटेनानुवर्त्यमानः।

यहाँ आशय यह है कि—कहीं-कहीं पर ही असीम कौशल वाले नट अपनी भूमिका के निर्वाह से रङ्गमञ्च को अलंकृत करते हुए अन्य नर्तकों द्वारा प्रस्तुत किये जाने वाले एवं प्रस्तुत पदार्थ के प्राण सदृश, तथा वक्रता के माहात्म्य को उल्लसित करने वाले मध्यवर्ती दूसरे प्रकरण में सामाजिक से होकर नाना प्रकार की भावनाओं के वैचित्र्यों से साक्षात् सामाजिकों के किसी अपूर्व चमत्कार की विचित्रता को प्रस्तुत करते हैं। जैसे—बालरामायण के चतुर्थ अङ्क (वस्तुतः प्राप्त संस्करण में यह तृतीय अङ्क में आता है) में प्रहस्त का अनुकरण करने वाले नट से अनुसरण किया जाता हुआ रावण का अनुवर्तन करने वाला नट (गर्भाङ्क में प्रस्तुत 'सीतास्वयंवर' नाटक को सामाजिक रूप में स्थित होकर देखते हुए वैचित्र्य की सृष्टि करता है। उस 'सीतास्वयंवर' नामक गर्भाङ्क नाटक का नान्दी इस प्रकार है—)

कर्पूर इव दग्धोऽपि शक्तिमान् यो जने जने।
नमः शृङ्गारबीजाय तस्मै कुसुमधन्वने ॥ ३९ ॥

कर्पूर के समान जला दिए गए भी जो जन-जन में शक्तिमान (रूप से विद्यमान) है उस फूलों का धनुष धारण करने वाले शृङ्गार के बीजभूत (कामदेव) को नमस्कार है ॥ ३९ ॥

श्रवणैः पेयमनेकैर्दृश्यं दीर्घैश्च लोचनैर्बहुभिः।
भवदर्थमिव निबद्धं नाट्यं सीतास्वयंवरणम् ॥ ४० ॥

यह 'सीतास्वयंवरण' नामक नाटय मानों आप लोगों के लिये ही विरचित है इसकी (संगीत सुधा आप लोगों) के श्रवणों के द्वारा पान करने योग्य है और इसकी (अभिनयरमणीयता आपके) अनेकानेक बिशाल लोचनों के द्वारा दर्शनीय है ॥ ४० ॥

इसकी जो व्याख्या कुन्तक ने की है वह पाण्डुलिपि की भ्रष्टता के कारण उद्धृत नहीं की जा सकी।

इसके बाद कुन्तक ने उत्तररामचरितम् के सातवें अङ्क से उद्धरण प्रस्तुत किया है जहां राम 'हा कुमार हा लक्ष्मण' इत्यादि कहते हैं।

अपरमपि प्रकरणवक्रतायाः प्रकारमाविष्करोति—

प्रकरन वक्रता के अन्य (नवम) भेद को प्रस्तुत करते हैं—

मुखादिसन्धिसन्धायि संविधानकबन्धुरम्।
पूर्वोत्तरादिसाङ्गत्यादङ्गानां विनिवेशनम् ॥ १४ ॥
न त्वमार्गग्रहग्रस्तग्रहकाण्डकदर्थितम्।
वक्रतोल्लेखलावण्यमुल्लासयति नूतनम् ॥ १५ ॥

मुखादि सन्धियों की मर्यादा के अनुरूप, कथानक से शोभित होने वाला, पूर्व तथा उत्तर के समन्वय से अङ्गों (अर्थात् प्रकरणों) का विन्यास वक्रता की सृष्टि से अपूर्व सौन्दर्य को प्रकट करता है न कि अनुचित मार्ग रूपी ग्रह से ग्रस्त ग्रहण के अवसर से कदर्थित प्रकरण ॥ १४–१५ ॥

नोट—दुर्भाग्य से इस कारिका की वृत्ति का एक भाग पाण्डुलिपि में गायब हो गया है। तथा जो शेष बचा है वह इतना भ्रष्ट है कि वह भी एक सही अभिप्राय को दे सकने में सर्वथा असमर्थ है। कारिका में आये हुए 'पूर्वोत्तरादि-साङ्गत्याद्' की व्याख्या डा० डे द्वारा सम्पादित इस प्रकार है—

कस्मात्—पूर्वोत्तरादिसाङ्गत्यात्, पूर्वस्य पूर्वस्योत्तरेणोत्तरेण यत्साङ्गत्यमतिशयितसौगम्यम् उपजीव्योपजीवकभावलक्षणं तस्मात्।

किससे—पूर्वोत्तरादि के साङ्गत्य से, पूर्व-पूर्व का उत्तर-उत्तर के साथ जो साङ्गत्य अर्थात् उपजीव्य उपजीवक भावरूप अत्यधिक सुगमता उससे (प्रकरणों का विन्यास आह्लादकारी होता है)।

इदमुक्तम्भवति—प्रबन्धेषु पूर्वप्रकरणम् अपरस्मात् परस्य परस्य प्रकरणान्तरस्य सरससम्पादितसन्धिसम्बन्धसंविधानकसमर्प्यमाणकता प्राणं प्रौढिप्ररूढवक्रतोल्लेखमाह्लादयति।

उत्तरोत्तर कहने का अभिप्राय यह है कि—प्रबन्धों में पूर्व पूर्व प्रकरण उत्तरोत्तर अन्य प्रकरणों की सरस ढङ्ग से सम्पादित की गयी (मुख आदि) सन्धियों के सम्बन्ध के संविधान द्वारा की गई प्राणप्रतिष्ठा वाली प्रौढि से उत्पन्न होने वाला वक्रता विधान आह्लादित करता है।

यथा 'पुष्पदूषितके' प्रथमं प्रकरणम्। अतिदारुणाभिनव···वेदनानिरानन्दस्य···समागतस्य समुद्रतीरे समुद्रदत्तस्योत्कण्ठाप्रकाशनम्। द्वितीयमपि—प्रस्थानात् प्रतिनिवृत्तस्य निशीथिन्यामुत्कोचालङ्कारदानमूकीकृतकुवलयस्य कुसुमवाटिकायामनाकलितमेव तस्य सहचरीसङ्गमनम्। तृतीयमपि—सम्भावितदुर्विनयेऽपि(?)नयदत्तनन्दिनीनिर्वासनव्यसनतत्समाधाननिबन्धनम्। चतुर्थमपि—मथुराम्प्रतिनिवृत्तस्य कुवलयप्रदृश्यमानाङ्गुलीयकसमावेदितविमलसम्पदः। कठोरतरगर्भभारखिन्नायां स्नुषायां निष्कारणनिष्कासनादनाहितप्रवृत्तेर्महापातकिनमात्मानं मन्यमानस्य सार्थवाहसागरदत्तस्य तीर्थयात्राप्रवर्तनम्। पञ्चममपि—वनान्तः···समुद्रदत्तकुशलोदन्तकथनम्। षष्ठमपि—सर्वेषां विचित्रसङ्ख्यासमागमाभ्युपायसम्पादकमिति। एवमेतेषां··रसनिष्यन्दतत्पराणां तत्परिपाटिः कामपि कामनीयकसम्पदमुद्भावयति।

जैसे पुष्पदूषितक में प्रथम प्रकरण अत्यन्त दारुण नयी······वेदना के कारण आनन्दहीन—और समुद्र के किनारे आये हुए समुद्रदत्त की उत्कण्ठाविशेष का प्रकाशन किया गया है। दूसरा (प्रकरण) भी—यात्रा से वापस लौटे हुए, तथा रात में घूंस रूप में (अंगूठी रूप) आभूषण देकर (द्वारपाल) कुवलय को मूक कर देने वाले उस (समुद्रदत्त) का पुष्पवाटिका में असम्भावित सहचरी के साथ समागम (ही प्रस्तुत करता है) तीसरा (प्रकरण भी)—सम्भावित धृष्टता वाले होने पर भी नयदत्त की पुत्री के निर्वासन की विपत्ति एवं उसके समाधान का वर्णन (प्रस्तुत करता है)। चतुर्थ (प्रकरण) भी—मथुरा को लौट आए हुए कुवलय के द्वारा दिखाई जाती हुई अँगूठी से सूचित विमल सुख सम्पदा वाले अत्यन्त परिपक्व गर्भ के भार से खिन्न पुत्रवधूविषयक निष्कारण निष्कासन के कारण प्रवृत्तिहीन और अपने को महापापी मानने वाले व्यापारी सागरदत्त के

तीर्थयात्रा की प्रवृत्ति को प्रस्तुत करता है। पञ्चम (प्रकरण) भी—वन के मध्य में······(कुछ लोगों द्वारा) समुद्रदत्त के कुशल वृतान्त का निवेदन (प्रस्तुत करता है)। षष्ठ प्रकरण भी सभी के विचित्र बोध की प्राप्ति कराने वाले उपाय को सम्पादित करता है। इस प्रकार इन······रसनिष्यन्द में लगे हुए (सभी प्रकरणों की) परम्परा किसी अनिर्वचनीय रमणीयता की सम्पत्ति को प्रस्तुत करती है।

यथा वा कुमारसम्भवे—पार्वत्याः प्रथमतारुण्यावतारवर्णनम्। हरशुश्रूषा दुस्तरतारकपराभवपारावारोत्तरणकारणमित्यरविन्दसूतेरुपदेशः। कुसुमाकरसुहृदः कन्दर्पस्य पुरन्दरादेशाद् गौर्याः सौन्दर्यबलाद्विप्रहरतो हरविलोचनविचित्रभानुना भस्मीकरणदुःखावेशविवशाया रत्याः विलपनम्। विवक्षितं विकलमनसो मेनकात्मजायास्तपश्चरणम्।···निरर्गलप्राग्भारपरिभ्रष्टचेतसा विचित्रशिखण्डिभिः शिखरिनाथेन वारणम्, पाणिपीडनम् इति प्रकरणानि पौर्वापर्यपर्यवासितसुन्दरसंविधानबन्धुराणि रामणीयकधारामधिरोहन्ति।

अथवा जैसे कुमारसम्भव में—(पहले) पार्वती के पहले पहल यौवन के प्रारम्भ का वर्णन। (फिर) तारकासुर के पराजय रूप दुस्तर सागर के पार उतरने की बीज शङ्कर की सेवा है, ऐसा कमलोद्भव ब्रह्मा का उपदेश (का वर्णन)। (तदनन्तर) इन्द्र के निवेदन एवं पार्वती के सौन्दर्य बल से (शङ्कर पर) प्रहार करते हुए वसन्त के सखा कामदेव के शङ्कर के (तृतीय) नेत्र की अद्भुत आग से जलाये जाने के दुःखावेश से विवश रति का विलाप (वर्णन)······। उसके अनन्तर) विह्वल हृदय मेनकात्मजा पार्वती की विवक्षित तपश्चर्या (का वर्णन)। (फिर) विचित्र मयूरों द्वारा (अध्युषित) विशृंखल ढलाने से परिमुषित मनोवृत्ति वाले पर्वतराज (हिमालय) के द्वारा वरण कराया गया हुआ विवाह (वर्णन)। ये प्रकरण पौर्वापर्य के कारण सुन्दर संविधान में परिणत होकर मनोहारी हैं और सुन्दरता की चरमसीमा को पहुँचे हुए हैं।

इससे स्पष्ट है कि कुन्तक को जिस कुमारसम्भव का पता था वह भगवती पार्वती के विवाह के प्रकरण तक की ही कथा को प्रस्तुत करता था। मल्लिनाथ की टीका भी अष्टम सर्ग तक ही मिलती है। इससे सिद्ध होता है कि कालिदास की रचना निश्चित रूप से अष्टमसर्गान्ता थी। बाद के सर्ग प्रक्षिप्त हैं। और वे कालिदासकृत नहीं माने जा सकते।

एवमन्येष्वपि महाकविप्रबन्धेषु प्रकरणवक्रतावैचित्र्यमेव विवेचनीयम्।

इस प्रकार महाकवियों के अन्य प्रबन्धों में भी प्रकरणवक्रता की विचित्रता ही समझना चाहिए।

इसके बाद कुन्तक ने प्रकरण वक्रता के इस भेद के उदाहरण रूप में वेणी-संहार के द्वितीय अङ्क को उद्धृत किया है—

(यथा वेणीसंहारे प्रतिमुखसन्ध्यङ्गभागिनि द्वितीयेऽङ्के)

तथा कुछ उद्धरण शिशुपालवध से प्रस्तुत किए हैं। इनके विवेचन का सारा का सारा विषय 'अन्तरश्लोकों' से भरा पड़ा है, जो कि पाण्डुलिपि में अत्यन्त भ्रष्ट तथा अपूर्ण है। अतः डा० डे उन्हें नहीं प्रस्तुत कर सके।

इस प्रकार कुन्तक प्रकरणवक्रता के विवेचन को समाप्त कर प्रबन्धवक्रता का विवेचन प्रस्तुत करते हैं जो कि स्पष्ट रूप से विवेचन का अन्तिम विषय है। प्रबन्धवक्रता का लक्षण प्रस्तुत करने वाली कारिका इस प्रकार प्रारम्भ होती है—

इतिवृत्तान्यथावृत्त-रससम्पदुपेक्षया ।
रसान्तरेण रम्येण यत्र निर्वहणं भवेत् ॥ १६ ॥
तस्या एव कथामूर्तेरामूलोन्मीलितश्रियः ।
विनेयानन्दनिष्पत्त्यै सा प्रबन्धस्य वक्रता ॥ १७ ॥

(राजपुत्रादि) विनेयों के लिये आनन्द की सृष्टिहेतु जहाँ इतिहास में अन्य प्रकार से किए गये निर्वाह वाली रस सम्पत्ति का तिरस्कार कर, प्रारम्भ से ही उन्मीलित किए गये सौन्दर्य वाले काव्य शरीर का दूसरे मनोहर रस के द्वारा निर्वाह किया गया हो वह प्रबन्ध की वक्रता होती है) ॥ १६–१७ ॥

सा प्रबन्धस्य नाटकसर्गबन्धादेः वक्रता वक्रभावो भवतीति सम्बन्धः। यत्र निर्वहणं भवेत्, यस्यामुपसंहरणं स्यात्, रसान्तरेण इतरेण रम्येण रसेन रमणीयकविधिना। कया—इतिवृत्तान्यथावृत्तरससम्पदुपेक्षया। इतिवृत्तमितिहासोऽन्यथापरेण प्रकारेण वृत्ता निर्व्यूढा या रससम्पत् श्रृङ्गारादिभङ्गी तदुपेक्षया तदनादरेण तां परित्यज्येति यावत्। कस्याः—तस्या एव कथामूर्तेः, तस्यैव काव्यशरीरस्य। किम्भूतायाः—आमूलोन्मीलितश्रियः। आमूलं प्रारम्भादुन्मीलिता श्रीर्वाच्यवाचकरचनासम्पद् यस्यास्तथोक्ता तस्याः। किमर्थम्—विनेयानन्दनिष्पत्त्यै, प्रतिपाद्यपार्थिवादिप्रमोदसम्पादनाय।

वह प्रबन्ध अर्थात् नाटक तथा काव्य आदि की वक्रता या बांकपन होता है। जहां निर्वाह हो। अर्थात् जिसमें उपसंहार हो। रसान्तर के द्वारा, दूसरे रस के द्वारा रम्य अर्थात् रमणीयता के विधान द्वारा। किस प्रकार से—इतिवृत्त

तथा अन्यथा निर्वाह की गई रस सम्पत्ति की उपेक्षा से। इतिवृत्त का अर्थ है इतिहास, (उसमें) अन्यथा अर्थात् दूसरे ढङ्ग से वृत्त अर्थात् निर्वाह की गई जो रससम्पत्ति अर्थात् शृङ्गार आदि की छटा उसकी अपेक्षा अर्थात् उसके अनादर द्वारा, उसका परित्याग कर के (जहाँ अन्य रम्य रस के द्वारा निर्वाह किया जाता है)। किसका (निर्वाह)—उसी कथामूर्ति का अर्थात् उसी काव्य शरीर का (निर्वाह) कैसी (कथामूर्ति का) मूल से ही उन्मीलित शोभा वाली (कथामूर्ति का) आमूल अर्थात् प्रारम्भ से ही उन्मीलित की गई है जिसकी श्री अर्थात् शब्द एवं अर्थ रचना की सम्पत्ति उस (कथामूर्ति का निर्वाह)। किस लिए—विनेयों के आनन्द की निष्पत्ति के लिए अर्थात् प्रतिपाद्य राजा आदि के आनन्द को सम्पादित करने के लिए (जहाँ उस कथामूर्ति का अन्य रस के द्वारा निर्वाह हो, उसे प्रबन्ध वक्रता कहते हैं)॥

प्रबन्धवक्रता के इस प्रकार के उदाहरण रूप में कुन्तक वेणीसंहार' तथा उत्तररामचरित' को उद्धृत करते हैं। ये दोनों नाटक क्रमशः 'महाभारत' एवं 'रामायण' पर आधारित हैं जिनमें कि प्रधान रस 'शान्त रस' है। जैसा कि कुन्तक कहते हैं—

'रामायणमहाभारतयोश्च शान्ताङ्गित्वं पूर्वसूरिभिरेव निरूपितम्।'

किन्तु इन दोनों नाटकों में इतिवृत्त कुछ दूसरे ढङ्ग से प्रस्तुत किया गया है, जिसमें क्रमशः वीर रस तथा 'शृङ्गार रस' अङ्गी रूप में वर्णित हैं।

कुन्तक एक 'अन्तरश्लोक' उद्धृत कर इस विषय को समाप्त करते हैं किन्तु पाण्डुलिपि की भ्रष्टता के कारण डा० डे वह श्लोक उद्धृत नहीं कर सके।

इसके अनन्तर कुन्तक प्रबन्धवक्रता के दूसरे भेद का निरूपण करते हैं—

त्रैलोक्याभिनवोल्लेखनायकोत्कर्षपोषिणा।
इतिहासैकदेशेन प्रबन्धस्य समापनम्॥ १८॥
तदुत्तरकथावर्तिविरसत्वजिहासया।
कुर्वीत यत्र सुकविः सा विचित्रास्य वक्रता॥ १९॥

जहाँ श्रेष्ठ कवि तीनों लोको में अपूर्व वर्णन के कारण नायक के उत्कर्ष को पुष्ट करने वाले इतिहास के एक अंश से, उसके बाद की कथा में विद्यमान नीरसता का परित्याग करने की इच्छा से, प्रबन्ध को समाप्त कर दे, वह इस (प्रबन्ध) की विचित्र वक्रता होती है॥ १८-१९॥

सा विचित्रा विविधभङ्गीभ्राजिष्णुरस्य प्रबन्धस्य वक्रता वक्रभावो भवतीति सम्बन्धः। कुर्वीत यत्र सुकविः—कुर्वीत विदधीत यत्र यस्यां

सुकविः औचित्यपद्धतिप्रभेदचतुरः। प्रबन्धस्य समापनम्—प्रबन्धस्य सर्गबन्धादेः समापनमुपसंहरणं, समर्थनमिति यावत्। इतिहासैकदेशेन इतिवृत्तस्यावयवेन।

वह प्रबन्ध की विचित्र अर्थात् अनेको प्रकार की छटाओं से सुशोभित होने वाली वक्रता अर्थात् बांकपन होता है। जहाँ सुकवि करे। जिसमें सुकवि अर्थात् औचित्यमार्ग के प्रभेदों में दक्ष कवि कर दे। (क्या ?) प्रबन्ध की समाप्ति प्रबन्ध अर्थात् महाकाव्य आदि का समापन अर्थात् उपसंहार अथवा समर्थन (करे)। (किससे)—इतिहास के एकदेश से अर्थात् इतिवृत्त के एक अंश से।

किम्भूतेन—त्रैलोक्याभिनवोल्लेखनायकोत्कर्षपोषिणा, जगदसाधारणस्फुरितनेतृप्रकर्षप्रकाशकेन किमर्थम्—तदुत्तरकथावर्तिविरसत्वजिहासया। तस्मादुत्तरा या कथा तद्वर्ति तदन्तर्गतं यद्विरसत्वं वैरस्यमनार्जवं तस्य जिहासया परिजिहीर्षया।

कैसे (अंश) से—तीनों लोकों में अभिनव उल्लेख के कारण नायक के उत्कर्ष को पुष्ट करने वाले (अंश) से, अर्थात् संसार में असामान्य स्पन्द वाले नेता के प्रकर्ष को व्यक्त करने वाले (इतिहास के एकदेश) से (कथा को समाप्त कर दे) किस लिये उसके बाद की कथा में वर्तमान नीरसता का त्याग करने की इच्छा से। उससे बाद में आने वाली जो कथा है उसमें विद्यमान, उसके अन्दर निहित जो विरसता अर्थात् वैरस्य याने कठोरता उसके त्याग की इच्छा से दूर कर देने की अभिलाषा से (प्रबन्ध को एक अंश से जहां कवि समाप्त कर दे वह प्रबन्ध वक्रता होती है।)

इदमुक्तम्भवति—इतिहासोदाहृतां कश्चन महाकविः सकलां कथां प्रारभ्यापि तदवयवेन त्रैलोक्यचमत्कारकारणनिरूपमाननायकयशःसमुत्कर्षोदयदायिना तदग्रिमग्रन्थप्रसरसम्भावितनीरसभावहरणेच्छया उपसंहरमाणस्य प्रबन्धस्य कामनीयकनिकेतनायमानवक्रिमाणमादधाति। यथा किरातार्जुनीये सर्गबन्धे—

कहने का अभिप्राय यह है—कोई महाकवि इतिहास से उद्धृत सम्पूर्ण कथा का प्रारम्भ करके भी तीनों लोकों के चमत्कार के कारणभूत अद्वितीय नायक की कीर्ति के अतिशय को व्यक्त करने वाले उस कथा के एक अंश से ही, उसके आगे ग्रन्थ विस्तार से आ जाने वाली नीरसता का परित्याग करने की इच्छा से समाप्त होने वाले महाकाव्य आदि की कमनीयता से सदन की भांति आचरण करने वाली वक्रता को प्रतिपादित करता है। जैसे 'किरातार्जुनीय' महाकाव्य में महाकवि भारवि द्वारा—

द्विषां विघाताय विधातुमिच्छतो रहस्यनुज्ञामधिगम्य भूभृतः ॥४१॥

× × ×

रिपुतिमिरमुदस्योदीयमानं दिनादौ
दिनकृतमिव लक्ष्मीस्त्वां समभ्येतु भूयः ॥ ४२ ॥

× × ×

एने दुरापं समवाप्य वीर्यमुन्मूलितारः कपिकेतनेन ॥ ४३ ॥

शत्रुओं के विवश के लिये व्यापार करने की इच्छा रखने वाले राजा (युधिष्ठिर) की एकान्त में अनुमति प्राप्त कर (वनेचर ने कहा) ॥ ४१ ॥

× × ×

(तथा) अन्धकार के समान शत्रुओं को दूर कर उदित होने वाले सूर्य की भाँति उदीयमान तुम्हे लक्ष्मी पुनः प्राप्त हो ॥ ४२ ॥

× × ×

तथा (इस प्रकार पाशुपत आदि के लिये तपस्या कर उनकी प्राप्ति से) दुर्लभ पराक्रम को प्राप्त कर अर्जुन इन (दुर्योधनादि शत्रुओं) का उन्मूलन करेंगे । ४३ ॥

इत्यादिना दुर्योधननिधनान्तां धर्मराजाभ्युदयदायिनीं सकलामपि कथामुपक्रम्य कविना निबध्यमानं यत् तेजस्विवृन्दारकस्य दुरोदरद्वारा दूरीभूतविभूतेः प्रभूतद्रुपदात्मजानिकारनिरतिशयोद्दीपितमन्योः कृष्णद्वैपायनोपदिष्टविद्यासंयोगसम्पदः पाशुपतादिदिव्यास्त्रप्राप्तये तपस्यतो गाण्डीवसुहृदः पाण्डुनन्दनस्यान्तरा किरातराजसम्प्रहरणात समुन्मीलितानुपमविक्रमोल्लेखं कमप्यभिप्रायं प्रकाशयति ।

इत्यादि के द्वारा दुर्योधन के मरणपर्यन्त युधिष्ठिर के अभ्युदय को प्रदान करनेवाली सम्पूर्ण कथा को भी प्रारम्भ कर उपनिबद्ध किया जाने वाला जो, तेजस्वियों में प्रधान, जुंए के द्वारा दूर हो गये ऐश्वर्य वाले, द्रौपदी के प्रचुर अपकार से अत्यधिक उद्दीप्त क्रोध वाले, कृष्णद्वैपायन द्वारा शिक्षित विद्या के संयोग की सम्पत्ति वाले पाशुपत आदि दिव्य अस्त्रों की प्राप्ति के लिये तपस्या करते हुए गाण्डीवसखा पाण्डुपुत्र अर्जुन के किरातराज से युद्ध के बीच प्रकट किए गए अद्वितीय पराक्रम का वर्णन है । (वह) किसी (अनिर्वचनीय) आशय को व्यक्त कर रहा है ।

इस प्रकार व्याख्या, इस विवेचन को और अधिक विस्तृत रूप में प्रस्तुत करती हुई एक अन्तरश्लोक के साथ समाप्त हो जाती है । उस स्थल के पाण्डुलिपि में अत्यधिक अस्पष्ट एवं अपूर्ण होने से उसे डा० डे उद्धृत नहीं कर सके ।

इसके बाद कुन्तक इस प्रबन्धवक्रता के अन्य भेद का विवेचन प्रस्तुत करते हैं, जो इस प्रकार है—

भूयोऽपि भेदान्तरमस्याः सम्भावयति—

फिर भी इस (प्रबन्ध-वक्रता) के अन्य (तृतीय) भेद को प्रस्तुत करते हैं—

प्रधानवस्तुसम्बन्धतिरोधानविधायिना ।
कार्यान्तरान्तरायेण विच्छिन्नविरसा कथा ॥ २० ॥
तत्रैव तस्य निष्पत्तेर्निर्निबन्धरसोज्ज्वलाम् ।
प्रबन्धस्यानुबध्नाति नवां कामपि वक्रताम् ॥ २१ ॥

प्रधान वस्तु (अर्थात् अधिकारिक कथावस्तु) के सम्बन्ध का तिरोधान कर देने वाले दूसरे कार्य के बिघ्न से बिच्छिन्न एवं नीरस हो गई कथा, वहीं उस (प्रधान कार्य) की सिद्धि हो जाने से प्रबन्ध की निर्विघ्न रस से देदीप्यमान (सहृदयों द्वारा अनुभूयमान) किसी अपूर्व वक्रता को पुष्ट करती है ॥२०-२१॥

प्रबन्धस्य सर्गबन्धादेरनुबध्नाति द्रढयति नवामपूर्वोल्लेखां कामपि सहृदयानुभूयमानाम्—न पुनरभिधागोचरसचमत्काराम् वक्रतां वक्रिमाणम्। काऽसौ—कार्यान्तरान्तरायेण विच्छिन्नविरसा कथा। कार्यान्तरान्तरायेण अपरकृत्यप्रत्यूहेन। विच्छिन्नविरसा विच्छिन्ना चासौ विरसा च सा, विच्छिद्यमानत्वादनावर्जनसञ्ज्ञेत्यर्थः। किम्भूतेन—प्रधानवस्तुसम्बन्धतिरोधानविधायिना, आधिकारिकफलसिद्ध्युपायतिरोधानकारिणा। कुतः—तत्रैव तस्य निष्पत्तेः तत्रैव कार्यान्तरानुष्ठाने एतस्याधिकारिकस्य निष्पत्तेः संसिद्धेः। तत एव निर्निबन्धरसोज्ज्वलां निरन्तरायतरङ्गिताङ्गिरसप्रभाभ्राजिष्णुम्।

प्रबन्ध अर्थात् महाकाव्य आदि की नवीन अर्थात् अपूर्व सृष्टि वाली किसी, सहृदयों के द्वारा अनुभव की जाने वाली, न कि अभिधा के विषयभूत चमत्कार से युक्त वक्रता अर्थात् बांकपन को पुष्ट करती है अर्थात् दृढ़ करती है। कौन है यह (पुष्ट करने वाली)—अन्य कार्य के विघ्न से विच्छिन्न एवं विरस कथा। कार्यान्तर के अन्तराय से अर्थात् दूसरे कार्य के विघ्न से, विच्छिन्न-विरस अर्थात् भङ्ग हो गई एवं नीरस वह कथा अर्थात् (प्रधान कार्य के बीच में ही) भङ्ग हो जाने के कारण आकर्षणहीन कही जाने वाली कथा (वक्रता को पुष्ट करती है)। कैसे (कार्यान्तर के विघ्न) के द्वारा (विरस)—प्रधान वस्तु के सम्बन्ध का तिरोधान करने वाले अर्थात् आधिकारिक फल की निष्पत्ति के उपाय को आच्छादित कर देने वाले (कार्यान्तर के द्वारा)। कैसे (वक्रता को

पुष्ट करती है)—वहीं उसकी निष्पत्ति हो जाने से वहीं अर्थात् दूसरे कार्य की सिद्धि में ही इस आधिकारिक (फल) की सिद्धि हो जाने से। और इसी लिए निर्विघ्न रस से उज्ज्वल अर्थात् बिना किसी, बाधा के प्रवाहित होने वाले मुख्य रस की कान्ति से सुशोभित (प्रबन्ध वक्रता को दृढ़ करती है)

अयमस्य परमार्थः—या कलाधिकारिककथानिषेधिकार्यान्तरव्यवधानाज्झगिति विघटमाना अलब्धावकाशापि विकाश्यमाना सा प्रस्तुतेतरव्यापारादेवं प्रस्तुतनिष्पन्नेन्दीवरसितरसनिर्भरा प्रबन्धस्य रामणीयकमनोहरं वक्रिमाणमादधाति।

इसका सार यह है कि—जो आधिकारिक कथा, बाधक अन्य कार्य के व्यवधान से शीघ्र ही विघटित होकर अवसर न पाकर भी विकसित होने वाली होती है, वह इस प्रकार प्रस्तुत से भिन्न व्यापार के कारण प्रस्तुत को निष्पन्न कर देनेवाली सफेद कमल के रस से परिपूर्ण सी प्रबन्ध की रममणीयता से मनोहर वक्रता को धारण करती है। इसके उदाहरण रूप में कुन्तक ने 'शिशुपालवध' को उद्धृत किया है।

इसके बाद प्रबन्धवक्रता के अन्य भेद का विवेचन प्रारम्भ किया गया है जो इस प्रकार है—

यत्रैकफलसम्पत्ति-समुद्युक्तोऽपि नायकः।
फलान्तरेष्वनन्तेषु तत्तुल्यप्रतिपत्तिषु ॥ २२ ॥
धत्ते निमित्ततां स्फारयशःसम्भारभाजनम्।
स्वमाहात्म्यचमत्कारात् सापरा चास्य वक्रता ॥ २३ ॥

जहाँ प्रभूत यशःसमृद्धि का पात्र नामक अपने माहात्म्य के चमत्कार से एक ही फल की प्राप्ति में लगा हुआ होने पर भी उसी के सदृश सिद्धियों वाले दूसरे असंख्य फलों के प्रति निमित्त बन जाता है वह इस (प्रबन्ध) की अन्य (चतुर्थ) वक्रता होती है ॥ २२-२३ ॥

सापरापि अन्यापि, न प्रागुक्ता, अस्य रूपकादेर्वक्रता वक्रभावो भवतीति सम्बन्धः। यत्रैकफलसम्पत्तिसमुद्युक्तोऽपि नायकः—यत्र यस्याम् एकफलसम्पत्तिसमुद्युक्तोऽपि अपराभिमतवस्तुसाधनव्यवसितोऽपि नायकः फलान्तरेष्वनन्तेषु तत्तुल्यप्रतिपत्तिषु धत्ते निमित्तताम्। फलान्तरेष्वपि साध्यरूपेषु वस्तुषु अनन्तेषु अगणनां नीतेषु तत्तुल्यप्रतिपत्तिषु आधिकारिकफलसमानोपपत्तिषु, प्रस्तुतार्थसिद्धेरेवाधिगतसिद्धिष्विति।

वह अपर अर्थात् अन्य भी, पहले न प्रतिपादित की गई, इस रूपक आदि

वक्रता अर्थात् बांकापन होता है। जहाँ एक फल की प्राप्ति में लगा हुआ भी नायक अर्थात् जिसमें एक फल की प्राप्ति में लगा हुआ अर्थात् एक ही अभीष्ट वस्तु के सिद्ध करने में प्रयत्न करता हुआ भी नायक उसके समान सिद्धियों वाले दूसरे अनन्त फलों के प्रति निमित्त बनता है। अनन्त अर्थात् असंख्य उसके समान प्रतिपत्तियों वाले अर्थात् अधिकारिक फल के समान सिद्धियों वाले फलान्तर अर्थात् साध्य रूप अन्य वस्तुओं के प्रति अर्थात् प्रस्तुत अर्थ की सिद्धि से ही सिद्धि को प्राप्त कर लेने वाले (फलों का निमित्त बन जाता है)।

इसके बाद इस कारिका की वृत्ति का शेष भाग गायब प्रतीत होता है यद्यपि पाण्डुलिपि में पाठलोप सूचक कोई चिह्न नहीं है परन्तु यह बात अत्यन्त स्पष्ट है, क्योंकि कारिका के कुछ शब्दों की उक्त वृत्ति भाग में व्याख्या नहीं की गई है एवं कोई उदाहरण भी नहीं प्रस्तुत किया गया है। साथ ही आगे आने वाली कारिका का भी एक चरण गायब ही है। और वह वृत्ति के साथ ही पाण्डुलिपि में आयी है। अतः प्रतीत होता है कि सम्भवतः एक पन्ना ही गायब हो गया है, इसीलिए पाठलोपसूचक चिह्न नहीं दिया गया है।

इस कारिका की वृत्ति का एक अंश २५ वीं कारिका की वृत्तिभाग के अन्त में उद्धृत प्रतीत होता है जो इस प्रकार है—

यथा नागानन्दे—तत्र दुर्निवारवैरादपि वैनतेयान्तकादेक (म्) सकलकारुणिकचूडामणिः शंखचूडं जीमूतवाहनो देहदानादभिरक्षन्न केवलं तत्कुल (म्)···॥

अर्थात्—जैसे नागानन्द में। वहाँ दूर न किये जा सकने वाले वैर वाले गरुड से अकेले शंखचूड को समस्त दयालुओं के शिरोमणि जीमूतवाहन ने (अपने) शरीर को प्रदान करने से रक्षा करते हुए केवल उसके कुल को (ही नहीं बचाया अपितु अनेक अन्य राज्यलाभादि फलों को प्राप्त किया)।

कुन्तक अब अन्य प्रबन्धवक्रता प्रकार को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं--

अस्तां वस्तुषु वैदग्ध्यं काव्ये कामपि वक्रताम् ।
प्रधानसंविधानाङ्कनाम्नापि कुरुते कविः ॥ २४ ॥

काव्य में प्रतिपाद्य पदार्थ के सौन्दर्य को तो रहने दीजिये, केवल प्रधान योजना के चिह्न वाले नाम के द्वारा भी कवि किसी (अपूर्व) वक्रता को उत्पन्न कर देता है ॥ २४ ॥

आस्तां वस्तुषु वैदग्ध्यम्—आस्तां दूरत एव वर्ततां वस्तुषु अभिधेयेषु प्रकरणेषु प्रतिपाद्येषु वैदग्ध्यं विच्छित्तिः। काव्ये कामपि वक्रता

कुरुते कविः—काव्ये नाटके सर्गबन्धादौ कामपि वक्रतां कुरुते विदधाति कविरित्यद्भुतप्रतिभाप्रसारप्रकाशः। केन संविधानाङ्कनाम्नापि। प्रधान-प्रबन्धप्राणगतप्रायं यत्संविधानं कथायोजनं तदङ्कश्चिह्नमुपलक्षणं यस्य तत्तथोक्तं तच्च तन्नाम······। 'अपि'—शब्दो विस्मयमुद्योतयति।

वस्तुओं में वैदग्ध्य रहने दीजिए अर्थात् प्रतिपादित किए जाने वाले प्रकरणों में प्रतिपाद्य वस्तु में वैदग्ध अर्थात् सौन्दर्य तो दूर ही रहे। काव्य में कवि किसी वक्रता को उत्पन्न करता है—काव्य अर्थात् नाटक एवं महाकाव्य आदि में कवि अर्थात् अद्भुत प्रतिभा के विकास के प्रकाश वाला (ही) कवि किसी वक्रता को करता है अर्थात् उपनिबद्ध कर देता है। किससे-संविधान के चिह्न वाले नाम से भी। प्रधान प्रबन्ध का प्राण रूप जो संविधान अर्थात् कथा की योजना उसका अङ्क चिह्न है उपलक्षण जिसका उसे हम कहेंगे संविधानाङ्क नाम (उसके द्वारा भी) 'अपि' शब्द विस्मय का बोध कराता है।

यथा—अभिज्ञानशाकुन्तल-मुद्राराक्षस-प्रतिमानिरुद्ध - मायापुष्पक-कृत्यारावण-च्छलितराम-पुष्पदूषितकादीनि।······न पुनर्हयग्रीववध-शिशुपालवध-पाण्डवाभ्युदय-रामानन्द-रामचरितप्रायाणि।

जैसे—अभिज्ञानशाकुन्तल, मुद्राराक्षस, प्रतिमानिरुद्ध, मायापुष्पक, कृत्या-रावण, छलितराम तथा पुष्पदूषितक आदि।······न कि हयग्रीववध, शिशुपाल-वध, पाण्डवाभ्युदय, रामानन्द तथा रामचरित आदि)

प्रबन्धवक्रतायाः प्रकारान्तरमप्याह—

प्रबन्ध वक्रता के अन्य (छठवें) भेद को भी बताते हैं—

अप्येककक्ष्यया बद्धाः काव्यबन्धाः कवीश्वरैः।
पुष्णन्त्यनर्घामन्योऽन्यवैलक्षण्येन वक्रताम्॥ २५॥

श्रेष्ठ कवियों द्वारा एक ही कक्षा से उपनिबद्ध किए गये काव्यबन्ध परस्पर एक दूसरे से असमान (विलक्षण) होने के कारण अमूल्य वक्रता को पुष्ट करते हैं॥ २५॥

पुष्णन्ति उल्लासयन्ति अनर्घामपरिच्छेद्याम् अन्योऽन्यवैलक्षण्येन परस्परवैसादृश्येन वक्रताम् वक्रभावम्। के ते—काव्यबन्धाः रूपकपुरः-सराः किंविशिष्टाः—अप्येककक्ष्या बद्धाः एकेनापीतिवृत्तेन योजिताः। कैः—कवीश्वरैः। एकत्र विस्तीर्णं वस्तु सङ्क्षिपद्भिः, अन्यत्र सङ्क्षिप्तं वा विस्तारयद्भिः······विचित्रवाच्यवाचकालङ्करणसङ्कलनया नवतां नयद्भि-रित्यर्थः।

पुष्ट करते हैं अर्थात् उन्मीलित करते हैं। (किसे) अनर्घ अर्थात् अमूल्य, इयत्ता से रहित। एक दूसरे से विलक्षण होने के कारण अर्थात् आपस में समान न होने के कारण वक्रता अर्थात् बांकपन को (पुष्ट करते हैं। कौन हैं वे पुष्ट करने वाले) काव्यबन्ध अर्थात् रूपक आदि। कैसे (काव्यबन्ध)—एक ही कथा से उपनिबद्ध अर्थात् एक ही इतिवृत्त से संयोजित किए गए। किनके द्वारा (उपनिबद्ध किए गए) कवीश्वरों के द्वारा। एक स्थान पर विस्तृत वस्तु को संक्षिप्त करने वाले अथवा दूसरी जगह संक्षिप्त वस्तु को विस्तृत करने वाले शब्द तथा अर्थ के विचित्र अलङ्कारों को एकत्र कर नवीनता को प्राप्त कराने वाले (कवीश्वरों द्वारा काव्यबन्ध वक्रता को पुष्ट करते हैं)।

इदमत्र तात्पर्यम्—एकामेव कामपि कन्दलितकामनीयकां कथां निवहद्भिर्बहुभिरपि कविकुञ्जरैर्निबध्यमाना बहवः प्रबन्धा मनागप्यन्योऽन्यसंवाद्मनासादयन्तं सहृदयहृदयाह्लादकं कमपि वक्रिमाणमादधाति। यथा—रामाभ्युदय-उदात्तराघव-वीरचरित-बालरामायण-कृत्यारावण-मायापुष्पकप्रभृतयः ते हि प्रबन्धप्रवरास्तेनैव कथामार्गेण निरर्गलरसासारगर्भसम्पदा प्रतिपदं प्रतिवाक्यं प्रतिप्रकरणञ्च प्रकाशमानाभिनव-भङ्गीप्राया रमणीयताभ्राजिष्णवो नवनवोन्मीलितनायकगुणोत्कर्षास्तेषां हर्षातिरेकममेकशोऽप्यास्वाद्यमाना समुत्पादयन्ति सहृदयानाम्। एवमन्यदपि निदर्शनान्तरमुद्भावनीयम्।

यहाँ इसका आशय यह है कि—कमनीयता को उत्पन्न करने वाली किसी एक ही कथा का निर्वाह करने वाले बहुत से श्रेष्ठ कवियों द्वारा विरचित बहुत से प्रबन्ध थोड़ा भी एक दूसरे के सादृश्य को न प्राप्त करते हुए सहृदयों के हृदयों को आनन्दित करने वाली किसी (अपूर्व) वक्रता को धारण करते हैं। जैसे—(एक ही राम कथा पर आधारित) रामाभ्युदय, उदात्तराघव, वीरचरित, बालरामायण, कृत्यारावण, मायापुष्पक आदि (अनेक प्रबन्ध परस्पर वैलक्षण्य के कारण वक्रता का वहन करते हैं)। वे श्रेष्ठ प्रबन्ध उसी (एक ही) कथामार्ग से (उपनिबद्ध होकर भी) स्वच्छन्द रस को प्रवाहित करने वाली सम्पत्ति के द्वारा पद-पद में, वाक्य-वाक्य में, प्रकरण-प्रकरण में (सर्वत्र) अपूर्व भङ्गिमा को प्रस्तुत करते हुए रमणीयता को धारण करते हुए नायक ने नये-नये उन्मीलित किए गए गुणों के उत्कर्ष से युक्त होकर अनेकों बार आस्वादित किए जाने पर भी उन सहृदयों के हर्षातिरेक को उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार दूसरे भी उदाहरण स्वयं देने लेने चाहिए।

कथोन्मेषसमानेऽपि वपुषीव निजैर्गुणैः।
प्रबन्धाः प्राणिन इव प्रभासन्ते पृथक् पृथक् ॥ ४४ ॥

इत्यन्तरश्लोकः ।

कथा की उत्पत्ति के समान होने पर भी (सभी श्रेष्ठ कवियों द्वारा विरचित) प्रबन्ध अपने-अपने गुणों से उसी प्रकार भिन्न-भिन्न मालूम पड़ते हैं—जैसे कि प्राणी शरीर के समान होने पर भी अपने-अपने गुणों से भिन्न-भिन्न मालूम पड़ते हैं ॥ ४४ ॥

यह अन्तरश्लोक है ।

नूतनोपायनिष्पन्न-नयवर्त्मोपदेशिनाम् ।
महाकविप्रबन्धानां सर्वेषामस्ति वक्रता ॥ २६ ॥

नवीन (सामादि) उपयों से सिद्ध होने वाले नीतिमार्ग की शिक्षा देने वाले महाकवियों के सम्पूर्ण प्रबन्धों में वक्रता रहती है ॥ २८ ॥

महाकविप्रबन्धानां नवनिर्माणनैपुण्यनिरुपमानकविप्रकाण्डानां प्रबन्धानां सर्वेषां सकलानामस्ति वक्रता वक्रभावविच्छित्तिः । कीदृशानाम्—नूतनोपायनिष्पन्ननयवर्त्मोपदेशिनाम । नूतनाः प्रत्यग्राः उपायाः सामादिप्रयोगप्रकारास्तद्विदां गोचरा ये तैर्निष्पन्नं सिद्धं यन्नयवर्त्म नीतिमार्गः तदुपदिशन्ति शिक्षयन्ति ये ते तथोक्तास्तेषाम ।

महाकवियों के समस्त प्रबन्धों में अर्थात् अपूर्व सृष्टि की कुशलता में अद्वितीय श्रेष्ठ कवियों के सम्पूर्ण (महाकाव्य आदि) प्रबन्धों में वक्रता अर्थात् बांकपन की शोभा रहती है । कैसे (प्रबन्धों) में—नवीन उपायों से सिद्ध नीतिमार्ग का उपदेश करने वाले (प्रबन्धों) में । नूतन अर्थात् नये-नये उपाय अर्थात् उन्हें जानने वालों के ज्ञान के विषयभूत सामादि के प्रयोग के ढङ्ग, उनके द्वारा निष्पन्न अर्थात् सिद्ध जो नीतिमार्ग-नीतिपथ उसका जो उपदेश करते है अर्थात् सिखाते हैं वे (नीतिमार्ग का उपदेश करने वाले हुए) उन प्रबन्धों में (वक्रता रहती है) ।

इदमुक्तम्भवति—सकलेष्वपि सत्कविप्रबन्धेषु अभिनवभङ्गीनिवेशपेशलताशालि नीत्याः फलमुपपद्यमानं प्रतिपाद्योपदेशद्वारेण किमपि कारणमुपलभ्यत एव । यथा—मुद्राराक्षसे । तत्र हि प्रवरप्रज्ञाप्रभावप्रपञ्चितविचित्रनीतिव्यापाराः प्रगल्भ्यन्त एव । तापसवत्सराजोद्देश एव व्याख्यातः । एवमन्यदप्युत्प्रेक्षणीयम् ।

तो कहने का आशय यह है श्रेष्ठ कवियों के समस्त प्रबन्धों में अभिनव वक्रता के सन्निवेश के कारण रमणीय नीति का फल रूपी एक अनिर्वचनीय कारण प्रतिपाद्य के उपदेश के द्वारा उत्पन्न किया जाता हुआ मिलता ही है । जैसे—

मुद्राराक्षस में। वहाँ पर श्रेष्ठ प्रज्ञा के प्रभाव से वितत अद्भुत नीति के व्यापार परिस्फुरित होते ही हैं। तापसवत्सराज का उद्देश्य पहले ही व्याख्यात हो चुका है। इसी प्रकार अन्य उदाहरणों को स्वयं समझ लेना चाहिए।

वक्रतोल्लेखवैकल्य……………लोक्यते।
प्रबन्धेषु कवीन्द्राणां कीर्तिकन्देषु किं पुनः ॥ ४५ ॥

इत्यन्तरश्लोकः।

इसके अनन्तर कुन्तक का 'वक्रतोल्लेख' आदि अपूर्ण अन्तर श्लोक प्राप्त होता है; अतः उसका सुसंश्लिष्ट अर्थ नहीं दिया जा सकता। इस अन्तरश्लोक को पूर्ण करने का स्वतन्त्र प्रयास आचार्य विश्वेश्वर के संस्करण में दृष्टिगत होता है परन्तु इस प्रकार के स्वेच्छासमावेश की कोशिश सर्वथा उचित नहीं मानी जाती है। रूपान्तरकार अथवा व्याख्याकार का उद्देश्य उपलब्ध मूल के अंश को ही समझाना हुआ करता है उसमें परिवर्तन या परिवर्धन करना सर्वथा अनुचित है।

डा० डे ने इस ग्रन्थ के असमाप्त होने का ही संकेत दिया है। परन्तु ग्रन्थ के विवेच्य विषय से यह पता लगता है कि थोड़ा ही अंश अवशिष्ट है। उसके विषय में अभी कोई सुनिश्चित मत देना समीचीन नहीं।

द्वितीयाचन्द्रवन्द्येयं कुन्तकस्य कृतिर्मुदे।
स्यात्कविसहृदयानां व्याख्यातॄणां सदैव वै॥
शास्त्रकृत्प्रतिभास्वर्णकषणे निकषायितम्।
क्व मन्दा मम बुद्धिश्च क्व च वक्रोक्तिजीवितम्॥
राष्ट्रभाषां समाश्रित्य गुरूणामनुकम्पया।
व्यधायि व्याख्या मिश्रेण राधेश्यामेन मेधया॥

असमाप्तोऽयं ग्रन्थः

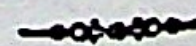
परिशिष्ट–१

कारिकानुक्रमणिका

परिशिष्ट—२

वृत्तिगतोद्धरणानुक्रमणिका

तृतीय उन्मेषः



परिशिष्ट–३

वृत्तिगतान्तरादिश्लोकानुक्रमणिका

परिशिष्ट—४

उद्धृत ग्रन्थों एवं ग्रन्थकारों की सूची

अन्य महत्वपूर्ण ग्रन्था:

- **अलङ्कार सर्वस्वम्।** राजानक रूय्यक तथा मङ्ख कृत। जयरथ कृत **'विमर्शिनी'** तथा रेवा प्रसाद द्विवेदी कृत हिन्दी टीका। परीक्षांस एवम् सम्पूर्ण (का. २०६)
- **काव्यालङ्कारः।** भामह कृत। बटुकनाथ शर्मा तथा बलदेव उपाध्याय कृत भूमिका (का. ६१)
- **काव्यालङ्कारसूत्राणि।** वामन कृत। गोपेन्द्र त्रिपुरहर भूपाल कृत **'काव्यालंकार-कामधेनु'** संस्कृत टीका तथा बेचन झा कृत हिन्दी टीका। रेवाप्रसाद द्विवेदी भूमिका। तृतीयाधिकरणमात्रम् एवं सम्पूर्ण (का. २०९)
- **चन्द्रलोकः।** पीयूषवर्ष जयदेव कृत। पद्मनाभ मिश्र प्रद्योतन भट्टाचार्यकृत 'शरदागमचन्द्रालोकप्रकाश' टीका व **'आलोकवर्धिनी '** संस्कृत-हिन्दी टीका डा० गंगासागर राय। पञ्चम मपूख एवं सम्पूर्ण (का. ७५)
- **ध्वन्यालोक।** आनन्दवर्धनाचार्य कृत । अभिनव गुप्त कृत **'लोचन'** संस्कृत एवं **'गंगा'** विस्तृत हिन्दी व्याख्या। डॉ० गंगासागर राय। प्रथम उद्योत, द्वितीय उद्योत एवम् संपूर्ण (चौ.सं.भ. ४२)
- **साहित्यदर्पणः।** विश्वनाथ कविराज कृत। कृष्णमोहन शास्त्री कृत 'लक्ष्मी' संस्कृत टीका नोट्स आदि (१-६ परि०), (७-१० परि०), (६ परि०), (१ परि०) एवं सम्पूर्ण (का. १४५)

शाखाएं :

चौखम्भा संस्कृत भवन
पोस्ट बाक्स नं0 1160
चौक, (बैंक ऑफ बड़ौदा बिल्डिंग)
वाराणसी-221 001 (भारत)
फोन : 0542-2420414

चौखम्भा पब्लिकेशन्स
4262/3 अंसारी रोड, दरियागंज
नई दिल्ली-110002
फोन : 011-23268639, 23259050
E-mail : chaukhambha@mantraonline.com

आवरण मुद्रक : मित्तल आफसेट, वाराणसी, फोन : 2454442